सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

डा॰ बैजनाथ पुरी
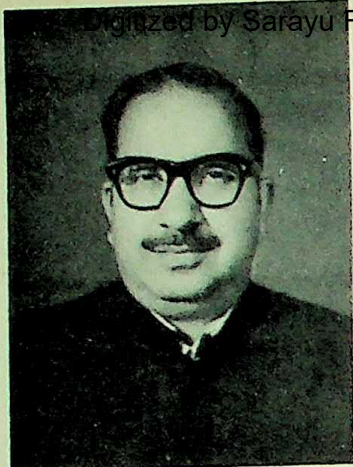
W

डा० बैजनाथ पुरी

आपका जन्म २५ जनवरी १९१६ को हुआ था। आप मंसूरी में "नेशनल एकेडमी आफ ऐडमिनिस्ट्रेशन" में भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्राध्यापक हैं। आपने भारतीय संस्कृति और उसके इतिहास का विशेष अध्ययन किया है। हिन्दी तथा अंग्रेजी में आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

(१) पतंजलि कालीन भारत (अंग्रेजी)

(२) गुर्जर प्रतिहारों का इतिहास (अंग्रेजी)

(३) यूनानी इतिहासकारों का भारत वर्णन (अंग्रेजी तथा हिन्दी)

(४) भारत और कम्बुज (हिन्दी)

(५) भारतीय संस्कृति और इतिहास (अंग्रेजी तथा हिन्दी)

(६) भारतीय संस्कृति के मूल तत्व (अंग्रेजी तथा हिन्दी)

(७) पुरातत्त्व विज्ञान (अंग्रेजी तथा हिन्दी)

(८) भारत के प्राचीन नगर (अंग्रेजी तथा हिन्दी)

रु० १५·००

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला – ५८

सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

लेखक

डा० बैजनाथ पुरी

एम. ए., बी. लिट., डी. फिल. (आक्सन)

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

प्राचीन काल में भारत अपने धन-वैभव, विद्या और सभ्यता-संस्कृति के लिए सुख्यात था। उसके निवासी व्यापार-वाणिज्य की संवृद्धि तथा ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान, पर्यटन आदि की दृष्टि से विदेशों को जाया-आया करते थे। "सुदूर पूर्व" अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से तो उनका चिर काल तक घनिष्ठ सम्पर्क रहा। जावा, सुमात्रा, बाली, कम्बोडिया, अनम आदि में वे दूर दूर तक फैल गये थे। वहां उन्होंने अपने उपनिवेश ही स्थापित नहीं कर लिये थे वरन् शताब्दियों तक वे वहाँ शासन भी करते रहे। अपने रीति-रिवाज, संस्कृति और धार्मिक विश्वास उन्होंने बहुत कुछ सुरक्षित रखे और अनेक स्थानों पर मन्दिरों तथा अन्य भव्य भवनों का निर्माण कराया, जिनके अवशेष आज भी वहाँ यथेष्ट संख्या में विद्यमान हैं। इस पुस्तक में इन्हीं अवशेषों, शिला-लेखों तथा अन्य स्रोतों के आधार पर वहाँ के उक्त प्राचीन भारतीय शासन तथा संस्कृति का वर्णन किया गया है।

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला की यह ५८ वीं पुस्तक है। इसके रचयिता डाक्टर वैजनाथ पुरी नैशनल ऐकेडमी आफ ऐडमिनिस्ट्रेशन", मसूरी में भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्राध्यापक हैं। आपने इस विषय का गम्भीर अध्ययन किया है और अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय संस्कृति के परिचायक अवशेषों सम्बन्धी २० चित्र तथा ४ मानचित्र भी पुस्तक के अन्त में दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गयी है।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

भाग १ : मलाया-कम्बुज

भाग २ : चम्पा

भाग ३ : कम्बुज देश

भाग ४ : शैलेन्द्र साम्राज्य

चित्रों की सूची

मानचित्र

अन्य चित्र

प्रस्तावना

सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और इतिहास के चित्रण का श्रेय मुख्यतया फ्रांसीसी और डच विद्वानों को है। उन्होंने लगभग ८० वर्ष की खोज के फलस्वरूप हिन्द-चीन और हिन्दनेशिया में भारतीय संस्कृति और कला को प्रदर्शित किया है। उन देशों के शासकों—जिनका नाम भारतीय था—ने, लगभग एक सहस्र वर्ष तक उस विशाल क्षेत्र में राज्य किया जो वर्तमान टोंकिंग से लेकर दक्षिण में बटाविया तक फैला था। यह क्षेत्र चार भागों में बाँटा जा सकता है—चम्पा (अनम), कम्बुज (कम्बोडिया), जावा, सुमात्रा तथा अन्य द्वीप (हिन्दनेशिया), और मलाया तथा स्याम। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन चारों भागों का अलग अलग इतिहास दिया गया है। भारतीयों ने वहां जाकर पहिले अपने छोटे छोटे उपनिवेश स्थापित किये जिन्होंने आगे चलकर विशाल साम्राज्यों का रूप धारण किया। भारतीय होते हुए भी वे भारत का अंग न थे।

इतिहास के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति—शासनव्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन, शिक्षा, साहित्य और कला—के विभिन्न अवयवों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। मूल भारतीय और पाश्चात्य क्षेत्रों तथा प्राप्त सामग्री का पूर्णतया उपभोग किया गया है। इस सम्बन्ध में मैं डा० रमेशचन्द्र मजुमदार का विशेषरूप से आभारी हूं। उन्होंने स्वयं भी इस विषय पर कई ग्रन्थ आंग्लभाषा में लिखे—'चम्पा', 'सुवर्णद्वीप' (दो भाग) तथा 'कम्बुज देश'। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् सिडो के ग्रन्थों से भी मुझे विशेष सहायता मिली है।

चित्रों की प्राप्ति और प्रकाशन-अनुमति के लिए 'सुदूरपूर्व के फ्रांसीसी स्कूल तथा 'कर्न इंस्टीचूट' हालैंड का मैं आभारी हूँ।

आशा है, यह ग्रन्थ विश्वविद्यालय के उन विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जो इस विषय का अध्ययन करते हैं, पर जिन्हें हिन्दी में इस पर कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

बैजनाथ पुरी

प्रथम भाग—मलाया-कम्बुज

अध्याय १

भौगोलिक परिचय

भारतीय संस्कृति का प्रवाह आदिकाल से ही विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। ईसवी पूर्व १४वीं शताब्दी में मेसोपोटामिया के हिटाइटी और मितानी सम्राटों ने अपनी मैत्री की संधि को स्थायी रूप देने के लिए भारतीय देवताओं——इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य का आवाह्न किया था। इस उदाहरण से इन देवताओं के प्रति उनकी आस्था ही नहीं प्रतीत होती, वरन् इससे विदेशों में भारतीय वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रवेश भी प्रमाणित होता है।[1] भारत ने कभी भी तलवार के जोर से विदेशों को जीतने और वहाँ अपना धर्म तथा संस्कृति फैलाने का प्रयास नहीं किया; फिर भी यहाँ की संस्कृति की गहरी छाप पश्चिमी एशिया, मिस्र और रोम से लेकर पूर्व में चीन तक, तथा मध्य एशिया के चीनी तुर्किस्तान से लेकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्द-चीन, हिन्देनेशिया तथा अन्य द्वीपसमूहों तक पड़ी। इस सफलता का श्रेय उन व्यापारियों, धर्म-प्रवर्त्तकों, सांस्कृतिक शिष्ट मंडलों तथा ऐसे वीरों को है जिन्होंने भौगोलिक शृंखलाओं को तोड़कर यातायात की असुविधाओं को झेलते हुए, विदेशों में जाकर अपनी संस्कृति का बीज बोया। इस प्रयास ने उस महान् वृक्ष का रूप शीघ्र ही धारण कर लिया जिसकी छत्रच्छाया में अनेकों राज्य फूले-फले, और भारतीय संस्कृति अपने अतीत गौरव का आंचल ओढ़े मध्य युग के उस समय में अपने सौन्दर्य को लुटने से बचा सकी, जबकि भारत में विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों से राजनीतिक अशान्ति फैली हुई थी।

१. स्टेनकोनो के मतानुसार इस लेख में द्वन्द्व समास का प्रयोग, इन देवताओं के भारतीय होने का प्रमाण है। आटोस्टाइन ने सुप्पिलुल्यूस और मत्तिवज की संधिसम्बन्धी ई० पू० १४वीं शताब्दी के इस लेख में वैदिक देवता अग्नि का नाम भी ढूँढ़ा है और इन देवताओं को भारतीय माना है। इंडियन कल्चर (इ० क०), भाग ४, पृष्ठ ३००।

सुदूरपूर्व का प्राचीन इतिहास वास्तव में इसी भारतीय संस्कृति का एक अंग है। वहाँ के नरेशों के नाम भारतीय थे और उनके रक्त में भारतीयता की मात्रा प्रधान थी। उनके पूर्वज भारत से ही जाकर वहाँ बस गये थे और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण किया था। उन्होंने वहाँ के देशवासियों को भारतीय संस्कृति के रंग में रँगा; भारत से समय-समय पर वहाँ विद्वान् तथा वीर पुरुष गये, जिनका स्वागत ही नहीं हुआ, वरन् उन्हें समाज और राज्य में विशिष्ट स्थान दिया गया। भारत के साथ उनका सम्पर्क भी रहा, पर उन्होंने अपना स्वतंत्र अस्तित्व कभी नहीं खोया, और न वे भारत का उपनिवेश ही बनकर रहे। चोल और शैलेन्द्र राजाओं के बीच लम्बे काल के युद्ध से यह बात भलीभाँति विदित है कि अपने को भारतीय समझते हुए भी श्रीविजय के शासक अपने राष्ट्रीय गर्व का बलिदान नहीं कर सके। दक्षिण एशिया के सुदूरपूर्व देशों में अनेक वंशों के राजाओं ने राज्य किया, उनका आपस में संघर्ष भी हुआ, पर उनकी संस्कृति को ठेस नहीं पहुँची और वह पूर्णतया भारतीय रही। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक और शिक्षा तथा कला के क्षेत्रों में भारतीय अनुदान प्रधान था, पर समय की गति के साथ-साथ स्थानीय प्रवृतियाँ भी प्रत्येक क्षेत्र में उठने लगीं। न तो वे भारतीय संस्कृति में स्वतः लुप्त हो गयीं और न उन्होंने इस संस्कृति का स्थान ही ले लिया। इन दोनों के सम्मिश्रण से कुछ जाग्रति अवश्य हुई, जिसका आभास मुख्यतया हमको उन स्थानों के प्राचीन मन्दिरों की कला अ.र शैली में मिलता है। सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय संस्कृति और इतिहास का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उनका भौगोलिक परिचय, वहाँ के निवासी तथा उनका भारतीयों से सम्बन्ध, यातायात के मार्ग और साधन, तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर सूक्ष्म रूप से सर्वप्रथम प्रकाश डालना आवश्यक है।

भौगोलिक परिचय

सुदूरपूर्व अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया को 'बृहत्तर भारत' के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।[२] इस विशाल क्षेत्र में ब्रह्मा, थाइलैंड, हिन्दचीन, मलाया,

२. चन्द्रगुप्त वेदालंकार, 'वृहत्तर भारत'; वेल्स, 'दी मेकिंग आफ ग्रेटर इंडिया (मे० ग्रे० इं०)' हाल ने अपने दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास में इन विद्वानों के इस

तथा जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बालि और सेलिवीज़ इत्यादि छोटे-बड़े हिन्द और प्रशान्त महासागर के बीच के वे द्वीप भी सम्मिलित हैं जहाँ भारतीय संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भारत से निकट होने के कारण तथा इससे सम्पर्क स्थापित रखने के फलस्वरूप इन देशों पर केवल भारतीय प्रभाव पड़ सका। चीनी प्रभाव अनाम अथवा चम्पा के उत्तर में केवल टौंकिन प्रान्त तक ही सीमित रहा। उसके आगे यह न बढ़ सका, यद्यपि प्रायः सभी देशों का चीन के साथ राजनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध बराबर बना रहा। अरब व्यापारियों तथा इस्लाम, और यूरोपियन औपनिवेशिकों के प्रवेश से पहले सम्पूर्ण क्षेत्र में भारतीय राज्य थे। हिन्दचीन में तो इस्लाम धर्म का प्रवेश ही न हो सका, पर मलाया और हिन्दनेशिया में अरब व्यापारियों ने राज्य-वंशों में अपना धर्म फैलाकर, वहां इस्लामी राज्य स्थापित कर दिये। यूरोपियन शक्तियों में अंग्रज़, डच और फ्रांसीसियों ने क्रमशः मलाया, हिन्दनेशिया और हिन्दचीन पर अपना अधिकार स्थापित किया। थोड़े ही दिन हुए, जब ये देश पाश्चात्य औपनिवेशिक सत्ता से मुक्त हुए और इन्होंने स्वतंत्रता की साँस ली।

भारत के सबसे निकट ब्रह्म देश है जहाँ स्थल और सामुद्रिक मार्ग से प्रवेश करना सरल था। योम नामक उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली पहाड़ियाँ इसे घेरे हुए हैं और इरावदी, चिन्दविन, सितंग तथा साल्वीन नदियों ने इसकी भूमि बहुत उपजाऊ बना रखी है। इसीलिए भारतीय यहाँ सबसे पहले पहुँचकर अपने पैर जमा सके। उत्तरी ब्रह्मा में भारतीयों ने स्थल मार्ग से प्रवेश किया, अन्य क्षेत्रों में वे समुद्री मार्ग से आकर आगे बढ़े। ब्रह्मा में जिन हिन्दू राज्यों की स्थापना हुई उनमें धन्यावती, बसीन, रामावती, हंसावती और सुधम्मावती उल्लेखनीय

क्षेत्र के देशों को 'बृहत्तर भारत' नाम से सम्बोधित करने पर आपत्ति प्रकट की है। इस रूप में उनका स्वतंत्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है, और वे केवल भारत का एक अंग बनकर ही रह जाते हैं। सिडो ने हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के प्राचीन हिन्दू राज्यों का विस्तृत रूप से इतिहास लिखा है। राजनीतिक दृष्टिकोण से हम इन देशों को 'बृहत्तर भारत' के नाम से सम्बोधित न भी करें, पर वहां के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति को मेटा नहीं जा सकता। इस ग्रन्थ में 'बृहत्तर भारत' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

हैं। इनकी समानता क्रमशः अराकान, बसीन, रंगून, पेगू और थरान से की जाती है। उत्तरी ब्रह्मा में प्यू का राज्य सबसे प्राचीन था। ब्रह्मा के पूर्व में स्याम या थाइलैंड का उत्तरी भाग साल्वीन और उत्तरी मेकांग के बीच छोटी छोटी पहाड़ियों से घिरा है। मध्य स्याम की भूमि मीनम तथा अन्य छोटी नदियों के कारण बड़ी उपजाऊ है। दक्षिणी स्याम में क्र-भूडमरूमध्य से लेकर मलाया प्रायद्वीप का उत्तरी भाग सम्मिलित है। स्याम देश पहले फूनान राज्य का अंग था, पर उसके पतन के बाद यहां द्वारावती राज्य स्थापित हुआ। आगे चलकर बृहत् कम्बुज देश के शासकों का इस पर अधिकार हो गया।

दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप, जिह्वा की भाँति, १९०० मील तक की लम्बाई में स्याम की खाड़ी से लेकर सिंगापुर तक विस्तृत है। इसकी चौड़ाई बहुत कम है और पहाड़ियां दूर-दूर तक फैली हैं जिनमें बीच में घने जंगल हैं। यहाँ पर बहुत सी छोटी-छोटी नदियां हैं। समुद्री मार्ग से भारतीयों ने तकुआ-पा (वर्तमान तकोला) में उतरकर मलाया में प्रवेश किया और उन्होंने कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये जिनका विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा।

हिन्द-चीन में सबसे उत्तर-पूर्व में अनम देश है जहाँ पर प्राचीन काल में चम्पा राज्य था। यह उत्तर में टोंकिन और दक्षिण में कोचीन-चीन के बीच में है। इसके पूर्व में चीन सागर है और पश्चिम की पहाड़ियाँ इसे दक्षिणी लाओस तथा कम्बोडिया से पृथक् करती हैं। कहीं पर चम्पा राज्य की सीमा ७० मील से अधिक चौड़ी नहीं रही। इस विशाल क्षेत्र की छोटी-छोटी नदियों पर स्थित कई केन्द्र थे जिन्हें बीच की पहाड़ियाँ एक दूसरे से पृथक् करती हैं और यातायात की असुविधाओं के कारण यहाँ के छोटे-छोटे राज्य अपना अस्तित्व बनाये रहे।

ब्रह्मा तथा स्याम और पूर्व में टोंकिन तथा अनम के बीच के क्षेत्र में लाओस, कम्बोडिया तथा कोचीन चीन है जो प्राचीन काल में विस्तृत कम्बुज साम्राज्य के अंग थे। इस क्षेत्र की समृद्धि में मेकांग नदी का वैसा ही हाथ रहा है जैसा कि भारत में गंगा और मिस्र में नील नदी का रहा है। इसी नदी पर कम्बुज की राजधानी नोम-पेन्ह स्थित है। कम्बुज देश की तोनले-सप नामक विशाल झील ने भी, जो नोम-पेन्ह से उत्तर-पश्चिम में मेकांग नदी में मिलती है, इस देश के इतिहास और इसकी समृद्धि में अंशदान किया है।

हिन्द-चीन के अतिरिक्त पूर्वी द्वीपसमूहों में भी भारतीयों ने जाकर राज्य किया और अपनी संस्कृति फैलायी। द्वीपों में प्रवेश के लिए मलाया ही सबसे

निकट पड़ता है। मलाका की पतली खाड़ी मलाया और सुमात्रा द्वीप के बीच में है और सुन्ड की खाड़ी इस द्वीप को जावा से पृथक् करती है। जावा के दक्षिण-पूर्व में बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप हैं। सबसे निकट में बालि है जो आज भी हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक है। इनके उत्तर में बोर्नियो तथा सेलिबीज़ सबसे बड़े और प्रमुख द्वीप हैं और ये भी प्राचीन भारतीय सभ्यता के केन्द्र रहे, तथा उनका राज्य भी रहा। सुदूरपूर्व के लगभग ६००० द्वीपों के समूह को कई नामों से सम्बोधित किया गया है। पर हिन्दनेशिया से उन सब द्वीपों का संकेत होता है जिन पर इस देश का अधिकार है और वहाँ के भग्नावशेष अपनी कहानी सुनाने के लिए आज भी मौजूद हैं। सिडो महोदय ने इस विशाल भौगोलिक क्षेत्र को हिन्द-चीन और हिन्दनेशिया नामक दो भागों में बांटा है और इसी आधार पर उनका इतिहास लिखा है।

आदि निवासी

सुदूरपूर्व के निवासियों और उनकी संस्कृतियों के विषय में विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। जावा में प्राप्त किसी आदि निवासी के कपाल (खोपड़ी) को, जिसे पिथीकैन्थ्रपस नाम से सम्बोन्धित किया गया है, समानता पीकिंग में मिले सिआनन्थ्रोपस से दिखाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि ये दोनों एक ही वर्ग के थे और मंगोल जाति इन्हीं से निकली थी।[३] स्मिट के मतानुसार[४] हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के आदि निवासी भारतीय आदि निवासियों से मिलते-जुलते थे। इसीलिए मों, ख्मेर, चम तथा मलय भारत के मुन्ड और खस जातियों

३. हाल, 'ए हिस्ट्री आफ साउथ-ईस्ट एशिया' (हि० सा० इ० ए०) पृ० ५।

४. बु० इ० फ्रा० ७, पृ० २१३। प्राच्य मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से इस विस्तृत क्षेत्र की जातियों का सुन्दर अध्ययन किया गया है। इन्हें तिब्बती बर्मन् तथा मो ख्मेर वर्गों में बांटा गया है। प्रथम वर्ग की समानता भारत की अभोर और मिशिन जातियों से की गयी है तथा द्वितीय वर्ग की जातियाँ मुंड और खस से मिलती-जुलती हैं। मों दक्षिण-ब्रह्मा में बस गये और वहीं से मीनम की घाटी को पार कर स्याम पहुंचे। ख्मेर कम्बोडिया में बस गये और वहीं से पश्चिम की ओर बढ़ कर वे स्याम में मों से मिले। चम्पा के निवासी चम और मलाया के मलय कहलाये।

से मिलते-जुलते हैं। इस विद्वान् ने इन सब जातियों का उद्गम-स्थान भारत ही माना है। भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार भारत की मुंड भाषा के कुछ शब्द सुदूर-पूर्व की मों तथा ख्मेर भाषाओं के शब्दों की तरह हैं। फ्रांसीसी विद्वान् लेवी[५] ने भी इस मत को माना। आगे बढ़कर स्मिट ने आस्ट्रोएशियाटिक वर्ग का सम्बन्ध आस्ट्रोनेशियन वर्ग से दिखाकर, आस्ट्रिक नामक एक बृहत् क्षेत्र का अनुमान किया जिसमें उसने हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के आदि निवासियों तथा उत्तरी पूर्वी भारत के खस, मुंड और मध्य भारत की अन्य जंगली जातियों को रखा।[६] यह प्रतीत होता है कि भारत से ही आदिकाल में कोई जनसमूह सुदूरपूर्व गया और वहाँ जाकर बस गया। इस विचारधारा के विपक्ष में डच पुरातत्त्व वैज्ञानिक क्रोम[७] का कथन है कि पहले जावा के आदि निवासियों का एक समूह भारत में आकर बसा और बाद में भारतीयों का उस ओर प्रस्थान हुआ।

५. लेवी, प्रिजुलुस्की तथा जू-ब्लाक के उपर्युक्त विषय पर लिखित लेखों का संकलन बागची ने अपने ग्रन्थ 'प्री-आर्यन और प्री-ड्रवीडियन इंडिया' में किया है (कलकत्ता, १९२९)। भाषा-विज्ञान के आधार पर इन देशों के भारत के साथ सम्बन्ध पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है।

६. इस वर्ग में मों-ख्मेर, मलाका की सेनोई (सकेई), सेमांग, निकोबारी, मुंड, तथा कोल इत्यादि भाषा-वर्गों को रखा गया है (बागची पृ० ६) स्मिट के विचारों पर कई विद्वानों ने टीका-टिप्पणी की है। विग्स के मतानुसार स्मिट के विचार अवैज्ञानिक तथा रूढ़िवादी हैं। फ्रांसीसी विद्वानों तथा डच पुरातात्त्विक वैज्ञानिकों की खोज से पता चलता है कि उपर्युक्त जातियों के व्यक्ति प्रोटो-आस्ट्रोलियड, पपुअन, प्रोटो-मेलानेशियन, नेगरिटो तथा प्रोटो-इंडोनेशियन वर्ग के थे। नेगरिटो को छोड़कर अन्य जातियां डोलीसिफेलस है। जरनल अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी (ज० अ० ओ० सो०) भाग ६, (१९४५) पृ० ५५-५७।

७. हिन्दू-जावानीज-गेशछाइडेनिस (हि० जा०), पृ० ३८ से। हारनेल के मतानुसार पोलिनेशियन प्रभाव पड़ा। उनके विचार में मलाया के निवासी भारत आये और अपने साथ में कोका लेते आये। जरनल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल। (ज० ए० सो० बं०) ७, (१९२०), पृ० १७।

कैलेम बेल्स स्टाइन[८] ने भारत और मलाया के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध को तीन युगों में रखा है। पहले युग में मलाया की सभ्यता का भारत पर प्रभाव पड़ा, दूसरे में दोनों का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहा और तीसरे युग में मलाया की संस्कृति और सभ्यता पर भारतीय प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, पर भाषा की समानता भारत की मुंड तथा खस और अन्य जंगली जातियों के सुदूरपूर्व के मों, ख्मेर आदि निवासियों के साथ एकीकरण का अवश्य संकेत करती है।

वेल्स[९] ने सुदूरपूर्व को दो क्षेत्रों में बाँटा है। उन्होंने पश्चिमी क्षेत्र में सीलोन, ब्रह्मा, मध्य स्याम, मलाया तथा सुमात्रा को, और पूर्वी क्षेत्र में जावा, चम्पा तथा कम्बोडिया को रखा है। प्रथम क्षेत्र में स्थानीय संस्कृति भारतीय में ही मिलकर नष्ट हो गयी, पर दूसरे में वहाँ की संस्कृति ने भारतीय को तो अपना लिया, किन्तु अपना अस्तित्व नहीं नष्ट होने दिया। इन दोनों क्षेत्रों के निवासी भी इसी आधार पर दो वर्गों में बँटे थे। भारतीयों के आगमन से पहले पश्चिमी क्षेत्र वाले उतने आगे नहीं बढ़े थे जितना कि पूर्वी क्षेत्र वाले और इसीलिए पश्चिमी क्षेत्र की स्थानीय संस्कृति भारतीय संस्कृति के प्रवाह में लुप्त हो गयी। यह धारणा विवादास्पद है, तथा यह कहना कठिन है कि दोनों क्षेत्रों के निवासियों की संस्कृति एक दूसरे से भिन्न थी। किंवदन्तियों के अनुसार[१०] भारतीय कौंडिन्य ने फूनान (कम्बुज

८. एनवल बिब्लियोग्राफी, आफ० इंडियन आर्कियोलाजी (ए० वि० इ० आ० १९३६) टाइम्स आफ इंडिया, जनवरी २९, १९३५।

९. मे० ग्रे० ई० पृ० १८।

१०. कैंगटाई ने जिसे चीनी मेगास्थनीज़ कहा गया है, ईसवी की तीसरी शताब्दी की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है। इसके फूनान श्वान सम्बन्धी वृत्तान्त को ली टाओ युवन ने (जिसकी तिथि ईसवी की पाँचवीं शताब्दी के अंतिम और छठवीं के आरम्भिक भाग में रखी गयी है) अपनी पुस्तक चाऊकिंग चाऊ में उद्धृत किया है। जनरल एशियाटिक (ज० ए०) मई-जून, १९१९, पृ० ४५८। कम्बुज के लेखों में कौंडिन्य के भारत से आगमन और फूनान की राज्ञी सोमा को हरा कर उसके साथ विवाह तथा नवीन वंश स्थापना का उल्लेख मिलता है। देखिए, मजुमदार 'कम्बुज इंसक्रिपशंस' (क० इ०) नं० १११, पृ० २८४।

के दक्षिणी भाग) की रानी सोमा को वस्त्र पहनना सिखाया था। यदि यह बात मान ली जाय तो यह कहना गलत होगा कि पूर्वी क्षेत्र के निवासियों का सांस्कृतिक स्तर किसी प्रकार भी पश्चिमी क्षेत्र वालों से ऊँचा था। सिडो महोदय का कथन है[११] कि सुदूरपूर्व में भारतीयों के आगमन से पहले पाषाणयुग-निवासी रहते थे। इस बात की पुष्टि स्याम की खाड़ी से कोई १६ मील अन्दर ओसियो नामक स्थान में एक प्राचीन नगर के अवशेष से भी होती है जो पाषाणकालीन है।[१२] पाषाण युग से भारतीय युग में स्थानीय संस्कृति का प्रवेश ओसियो के अतिरिक्त अनम के सहयून्ह, कम्बोडिया के समरांग स्यू और सेलिबीज़ के सेंपागा के भग्नावशेषों से भी प्रतीत होता है।[१३] अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भारतीयों के आगमन से पहले सुदूरपूर्व के निवासी उत्तरार्ध पाषाणकालीन युग से गुजर रहे थे।

यातायात के मार्ग

यद्यपि भारतीय उपनिवेशों की स्थापना ईसवी की पहली शताब्दी में निश्चित की जाती है, पर भारत का सुदूरपूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध कई सौ वर्ष पहले ही आरंभ हो चुका था। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में चीनी व्यापारी उत्तर भारत और अफगानिस्तान से आगे बैक्ट्रिया तक जाते थे।[१४] एक चीनी लेखक किअन्तन का कथन है कि अनम और भारत के बीच यातायात का एक स्थल मार्ग था।[१५] यह मार्ग पूर्वी बंगाल, मनीपुर और असम होकर अनम जाता था, और इसी से भारतीयों ने जाकर उत्तरी ब्रह्मा, इरावदी, साल्वीन, मेकांग नदी की घाटियों तथा युन्नान तक में जिसका नाम उन्होंने गांधार रखा,

११. ए० हि०, पृ० ३४।

१२. देखिए, ल्यू मैलेरे का ओन्नियो तथा कोचीन-चीन के अन्य फूनानी नगर पर लेख, जो 'एनवल बिब्लियोग्राफी आफ इंडियन आर्कियोलाजी' में छपा (१९४०-४७), पृ० ५१।

१३. सिडो, ए० हि०, पृ० ३४।

१४. पिलियो, बु० ए० फ्रा० ४, पृ० १४२-४३।

१५. जू० ए० २:१२ (१९१९), पृ० ४६।

अपने उपनिवेश स्थापित किये। ईतसिंह के मतानुसार स्थलमार्ग से कोई २० चीनी भिक्षु भारत आये थे जिनके लिए एक भारतीय सम्राट् ने एक मन्दिर का निर्माण कराया था। मुख्य स्थल मार्ग पर स्थित कई केन्द्रों से दक्षिण ब्रह्मा और हिन्दचीन में प्रवेश करने की सुविधाएँ थीं। ओसियो नामक हिन्दचीन के एक प्राचीन स्थान में मिली बहुत-सी भारतीय मोहरें तथा कुछ रोमन पदार्थ, जिनमें सोने का एक पदक भी है जिस पर १५२ ई० के अंतोनिन की मूर्ति अंकित है, संकेत करते हैं कि विदेशियों का भारत होकर सुदूरपूर्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापार में जल के अतिरिक्त स्थल मार्ग का भी प्रयोग होता था।[१६] रोम के मिले पदार्थों में पोंग टुंग से प्राप्त उसी काल का एक दीप भी उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि रोम से चीन की ओर ब्रह्मा के मार्ग से जाते हुए संगीतज्ञों और नटों का एक दल ईसवीं के १२० वर्ष में गया था तथा १६६ ई० में मारकस अरीलियस ने भी एक दूत चीन भेजा था।[१७] भारत से ब्रह्मा होकर चीन आने का मार्ग प्राचीन प्रतीत होता है। जलमार्ग से भी भारतीय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में यहाँ से अनम तक जाने लगे थे।[१८] ये जहाज़ समुद्रतट के किनारे-किनारे ही चलते थे और भारतीय नाविक उस क्षेत्र से पूर्णतया परिचित थे।

भारतीय व्यापारियों के बड़े-बड़े जत्थों को लेकर साहसिक नाविक पश्चिमी तट के शूरपारक (सौपारा) तथा मरुकच्छ (भ्रोच) और पूर्वी तट पर बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाह ताम्रलिप्ति (तामलुक) तथा अन्य बन्दरगाहों से विदेशों के लिए प्रस्थान करते थे। इनके अतिरिक्त पूर्वी और पश्चिमी तट पर बहुत-से बन्दरगाह थे जिनका उल्लेख अज्ञात यूनानी लेखक के ग्रन्थ 'पेरीप्लस'[१९] तथा तालमी

१६. सिडो, ए० हि०, पृ० ३८।

१७. मजुमदार, एंशेन्ट इंडियन कालोनिजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया, बरौदा लेक्चर (ए० इ० क०), पृ० १२।

१८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (इ० ह० क०), १४, पृ० ३८०।

१९. शाफ नोट ६०, सिडो, ए० हि० पृ० ५६।

पेरीप्लस के अज्ञात लेखक के अनुसार चोल देश के व्यापारिक केन्द्रों और बन्दरगाहों में तीन स्थान मुख्य थे, जो क्रमशः उत्तर से कमार (तालमी के अनुसार खबेरिस), जिसकी समानता कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित कावेरी पट्टनम से

के 'भूगोल' में मिलता है। तालमी के मतानुसार[२०] मलाया प्रायद्वीप और उससे आगे जाने वाले जहाज बंगाल की खाड़ी में स्थित पलौरा नामक बन्दरगाह तक समुद्र तट के किनारे-किनारे जाते थे। यह प्राचीन बन्दरगाह गंजाम ज़िले के गोपालपुर के निकट है। यहां से वे मलाया की ओर सीधे जाते थे और वहां से फिर मलाका की खाड़ी होते हुए हिन्दनेशिया के विभिन्न टापुओं तथा हिन्दचीन की ओर प्रस्थान करते थे। इस लम्बी यात्रा को कम करने के लिए दूसरे मार्ग भी थे। यात्री तकुआ-पा तथा केडा में भी उतर सकते थे। इस क्षेत्र में मिले बहुत-से प्राचीन अवशेष इस बात की पुष्टि करते हैं।[२१] तकुआ-पा से सीधे छैया जा सकते थे और केडा से पूर्व में सिगनोरा तथा इन दोनों के बीच में त्रंग से पटलुग, प्राचीन लिगोर तथा वंडो और चूमपो जाने के सरल मार्ग थे। वेल्स के मतानुसार[२२] भारतीय आकृति के पुरुष तकुआ-पा के पश्चिम की ओर बहुतायत में पाये जाते हैं, और वंडों की खड़ी के निकट भी ऐसे व्यक्ति इसी मार्ग से आये हुए अपने भारतीय पूर्वजों

की गयी है; पोडुके (पांडिचेरी), जिसके निकट अरिकमेडू में की गयी खुदाई से इसके प्राचीन व्यापारिक केन्द्र होने का पता चलता है, तथा सोपत्म (मरकरम, पहले इसे शोपट्टिनम कहा जाता था) थे। इन स्थानों से छोटे और बड़े जहाज व्यापारिक सामान लेकर विदेशों को जाते थे। छोटे जहाज 'सगर' और बड़े 'कालं-डिया' कहलाते थे, जो उत्तर के गंगा के मुहाने तथा पूर्व में क्रीसे देश की ओर जाते थे। इस देश को अज्ञात लेखक ने पूर्व में रखा था और उसकी समानता मलाया से की गयी है। देखिए, शास्त्री, इंडो-एशियन कल्चर (इ० ए० क०) भाग १, पृ० ४५; मजुमदार, 'सुवर्ण द्वीप' भाग १, पृ० ६।

२०. तालमी के मतानुसार इस स्थान के दक्षिण से जहाज गहरे समुद्र में प्रवेश कर मलाया की ओर जाते थे (मैक्रंडल 'तालमी', पृ० ६६-६९) लेवी ने इसकी समानता कलिंग के दंतपुर से की है (जू० ए० जनवरी-मार्च, १९२५, पृ० ४६-५१); जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। दीघनिकाय २, पृ० २३५। महावस्तु ३, पृ० ३६१।

२१. वेल्स : 'ए न्यूली एक्सप्लोर्ड रूट' इंडियन आर्ट्स एन्ड लेटर्स (इ० आ० ले०) ९, पृ० १।३१।

२२. सिडो, ए० हि०, पृ० ५४।

की याद दिलाते हैं। वेल्स का मत चाहे विवादास्पद प्रतीत हो, पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भारतीय नाविक गहरे समुद्र की लहरों के थपेड़े सहते हुए अपने यानों में सुदूरपूर्व जाते थे और पलौरा से वे सीधे मलाया प्रायद्वीप पहुँच जाते थे। वहाँ से वे जल तथा स्थल मार्गों से अन्य क्षेत्रों की ओर प्रस्थान करते थे।

हिन्द-चीन की ओर जाने वाले उत्तरी भारत के वे नाविक जो तट के किनारे ही चलते थे, तवों में उतरकर तीन पगोडा के मार्ग से मीनम के मोहाने तक[२३] पहुँचते थे। इस क्षेत्र में पोंग-तुक तथा प्र-पथोम, नामक प्राचीन स्थान है। उत्तर में मूलमिन बन्दरगाह से मीनम नदी की एक शाखा पर स्थित रहेंग नगर तक भी एक मार्ग था। मीनम तथा मैकांग के बीच कोरत के समस्थल से होकर तथा मून नदी की घाटी पार कर मैकांग के मोहाने तक जाने का स्थल मार्ग था।[२४] इस मार्ग पर सि-थेप, नामक स्थान में प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण भारत से भी व्यापारी या तो अंडमन और निकोवार द्वीप के बीच से होकर अथवा निकोबार और सुमात्रा के अचिन के बीच सामुद्रिक मार्ग से मलाया की ओर जाते थे और तकुआ-पा अथवा केडा पहुँचकर उतरते थे। आंध्र प्रदेश से पूर्व की ओर जाने वाले व्यक्ति भी सीधे तकुआ-पा ही जाते थे। ये व्यापारी प्राचीन कलिंग के गोपालपुर अथवा मसूलीपट्टम के निकट बन्दरगाहों से चलते थे। तालमी ने तकोला[२५] का उल्लेख किया है जिसकी समानता तकुआ-पा से की जाती है। इस स्थान पर टिन का उत्पादन खूब होता था। यहीं से दक्षिण की ओर मलाका की खाड़ी को पार कर हिन्दनेशिया के द्वीपों में अथवा पूर्व की ओर, हिन्द चीन की ओर प्रस्थान किया जाता था। दक्षिण भारत से सुदूरपूर्व जाने के लिए पेरीप्लस में[२६] कमार (तालमी का खवरिस कावेरीपट्टम) पोडुके (पांडेचेरी) तथा सोपत्म नामक तीन बन्दरगाहों का उल्लेख है जो एक दूसरे के निकट थे और वहाँ से कालंडिया नामक जहाज विदेशों के लिए जाते थे। दक्षिण भारतीय संगम साहित्य में भी बन्दरगाहों का उल्लेख है।[२७]

२३. सिडो, यही, पृ० ५५।
२४. वेल्स, 'टुवर्डस अंकोर, पृ० १११; सिडो, पृ० ५५।
२५. एंशेन्ट इंडिया (मजूमदार शास्त्री), पृ० १९७।
२६. उपयुक्त उल्लिखित (उ० उ०) देखिए नोट १९।
२७. सिडो, ए० हि०, पृ० ५६, नोट ४।

औपनिवेशिकों ने सुदूरपूर्व पहुँचकर अपने देश तथा प्रान्त के आधार पर वहाँ के स्थानों के नाम रखे और इसी से उनके उद्गम स्थान का भी पता चलता है। चम्पा, द्वारावती, अयोध्या इत्यादि नामों से उत्तर भारतीय व्यक्तियों का वहाँ पहुँचने का संकेत मिलता है। उस्स (ओद्र=उड़ीसा), श्रीक्षेत्र (पुरी), ब्रह्मा के पेगू और प्रोम में उड़ीसा-निवासियों का प्रवेश संकेत करता है और इनका जावा तक पहुँचकर वहाँ राज्य स्थापित करना चीनी नाम हो-लिंग (कलिंग) से प्रतीत होता है।[२८] स्टूटरहाइम का कथन है[२९] कि जावा के चंगल के लेख में कुंजर-कुंज का उल्लेख दक्षिण भारत के किसी स्थान का द्योतक है। भारतीय विद्वानों ने सुदूरपूर्व में पाये गये लेखों की लिपि को लेकर उनके उद्गम स्थान पर अपने विचार प्रगट किये हैं। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[३०] हिन्दू औपनिवेशिक दक्षिण भारत के पांड्य देश से सीधे जावा गये और इसलिए वहाँ के लेख पल्लव लिपि में हैं। डा० मजुमदार का कथन है[३१] कि हिन्द-चीन का सबसे प्राचीन लेख कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में है। अतः यह उत्तर भारतीय व्यक्तियों का वहाँ सबसे पहिले पहुँचने का संकेत करता है। इस वाद-विवाद में सिडो[३२] ने इसे उत्तरी भारतीय तथा दक्षिणी भारतीय प्रश्न का रूप देना चाहा है। पोसेन ने ठीक ही कहा है[३३] कि सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान करने और वहाँ राज्य स्थापित करने का श्रेय सम्पूर्ण भारतीय वर्ग को है जो मार्ग की असुविधाएँ झेलते हुए वहाँ पहुँचे, पर इस प्रयास में दक्षिण भारतीय औपनिवेशिकों का हाथ अधिक था। इस सम्बन्ध में दोनों क्षेत्रों के प्राचीन साहित्य का भी पूर्णतया अध्ययन करना आवश्यक है जिससे यह प्रतीत हो सके कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व भारत का सुदूरपूर्व के देशों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

२८. यही, पृ० ५८।
२९. ए० वि० इ० आ० १९३८, पृ० ३२।
३०. बु० इ० फ्रा०, ३५, पृ० २३३ से।
३१. यही, ३२, पृ० १२७ से।
३२. ए० हि०, पृ० ५९।
३३. 'इस्ट्वाग डो लैंड डेव्यू० कनिष्क', पृ० २९३।

अध्याय २

प्राचीन साहित्य में सुदूरपूर्व

प्राचीन भारतीय तथा विदेशी साहित्य में 'सुवर्ण भूमि' और 'सुवर्ण द्वीप' का उल्लेख बराबर मिलता है जिससे विदित होता है कि भारतीयों को इन स्थानों का पूरा ज्ञान था, और वे व्यापार के सम्बन्ध में वहाँ जाते थे। मार्ग की कठिनाइयाँ तथा विदेश की असुविधाएँ उनका साहस न तोड़ सकीं। उनके अनुभवों ने कथा-कहानियों के रूप में भारतीय साहित्य में स्थान पा लिया। जातक कथाएँ, 'कथा-कोश', तथा 'बृहत् कथा' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इनको स्थान मिला, हाँ यह सच है कि वैदिक साहित्य में सुदूरपूर्व का उल्लेख कहीं नहीं है। सर्वप्रथम हमको जातकों में ही सुवर्ण द्वीप अथवा भूमि सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं। सीलोन के 'महावंश' तथा 'द्वीपवंश' के अनुसार सोण और उत्तर नामक बौद्ध थेरो (भिक्षुओं) ने सुवर्ण भूमि में जाकर अपना धर्म फैलाया था। भारत के मरुकच्छ (भ्रोच), शूरपारक (सोपारा), बनारस, मिथिला, सावत्थी (श्रावस्ती), पाटलिपुत्र इत्यादि नगरों से सुवर्ण भूमि की ओर व्यापारियों के प्रस्थान करने का भी उल्लेख मिलता है। भारतीय साहित्य में संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा दक्षिणी भाषाओं के ग्रन्थों के अतिरिक्त तिब्बती तथा बर्मी स्रोतों से भी हमको भारतीयों के सुदूरपूर्व के देशों की ओर जाने का वृत्तान्त मिलता है। इनके अतिरिक्त यूनानी, लेटिन, अरबी तथा चीनी ग्रन्थों से भी इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। अतः इनका क्रमरूप से उल्लेख कर मूल्यांकन करना आवश्यक है।

पालि साहित्य

पालि साहित्य में जातक की कथाएँ प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमें से कई एक में सुवर्ण द्वीप अथवा सुवर्णभूमि का उल्लेख मिलता है। सुस्सोन्दी[1] जातक

१. कावेल ३.१२४।

में सग्ग नामक व्यक्ति का मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्ण भूमि की ओर जहाज में जाने का उल्लेख है। बीच में जहाज के टूट जाने पर वह एक तख्ते पर बैठकर नागद्वीप के किनारे लगा। वहाँ बनारस के राजा तम्ब की रानी सुस्सोंदी बन्दी के रूप में थी और उसने इसका स्वागत किया। बनारस के कुछ व्यापारी लकड़ी और पानी लेने इस द्वीप में उतरे और उन्हीं के साथ यह वापस आ गया। इस जातक कथा से यह बात विदित होती है कि बनारस से व्यापारी सुदूरपूर्व जाते थे और प्रायः मरुकच्छ से सुवर्ण भूमि के लिए जहाज में यात्रा करते थे।

सुप्पारक जातक[२] में भी मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्णभूमि की ओर प्रस्थान का उल्लेख है। सुप्पारक कुमार नामक एक अन्धा नाविक एक बड़े जहाज में ७०० व्यक्तियों को लेकर सुवर्ण द्वीप की ओर चला। ७ दिनों तक तो यात्रा सकुशल रही, पर उसके बाद चार महीने तक जहाज अनिश्चित रूप से चलता रहा। इस बीच में वह क्रमशः खुरमाल सागर, अग्गीमालि सागर, दधिमाली, नीलवण-कुशमाला, कुसमालि, नलमालि तथा बलमाखुक सागर पहुँचा जहाँ से लौटना दुष्कर था।[३] इस कथा में सत्यता का आभास न भी मिले, पर मरुकच्छ से सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान और सामुद्रिक कठिनाइयों का संकेत अवश्य मिलता है। अग्गि-मालि सागर में सोने की खान थी।

महाजनक जातक[४] में मिथिला के राजकुमार महाजनक की सुवर्ण भूमि की यात्रा का उल्लेख है। उसकी मां मिथिला के राजा अरिट्ठजनक के पोलजनक द्वारा वध करने पर चम्पा आ गयी थी जहाँ एक ब्राह्मण विद्वान् ने उसे शरण दी। अपनी मां से संचित धन का आधा भाग लेकर वह सुवर्णभूमि के लिए कुछ व्यापा-रियों के साथ प्रस्तुत हुआ। उस जहाज पर अपने सामान सहित सात सार्थवाह (व्यापारी) थे और जहाज ने सात दिनों में ७०० लीग-योजना का मार्ग तय किया। इसके बाद का वृत्तान्त विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

पालि धार्मिक ग्रन्थ 'निद्देश', में भी, जो 'सुक्तनिपात'[५] पर की गयी व्याख्या

२. कावेल ४.८६।
३. हार्डी, 'मैनवल आफ बुद्धिज्म', पृ० १२ से
४. ६.२२
५. विंटरनिज, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० १५६ से

है, सुवर्ण भूमि तथा अन्य देशों की ओर सामुद्रिक यात्राओं का उल्लेख है। सुक्त-निपात में केशों की व्याख्या करते हुए नाविकों के कष्टों का उल्लेख है जो उन्हें धन की खोज में जाने के लिए झेलने पड़ते थे। इसमें २४ स्थानों और १० कठिन मार्गों[६] का उल्लेख है जहाँ व्यापारी समुद्र मार्ग से जाते थे। लेवी महोदय ने यह

६. 'निद्देश' में जिन स्थानों का उल्लेख है वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) गुम्ब, (२) तक्कोला, (३) तक्खसिला, (४) कालमुख, (५) मरणपार, (६) वेसुंग, (७) वेरापथ, (८) जावा, (९) तमली, (१०) वंश, (११) एलवद्धन, (१२) सुवन्नकूट, (१३) सुवर्णभूमि, (१४) तम्बपण्णि, (१५) सुप्पारा, (१६) मरुकच्छ, (१७) सुरठ्ठ, (१८) अंगणेक, (१९) गण्गन, (२०) परमगण्गन, (२१) योन, (२२) परमयोन, (२३) अल्लसन्द, (२४) मरुकत्तार (२५) जण्णुपथ, (२६) अजपथ, (२७) मेन्डपथ, (२८) शंकुपथ, (२९) छत्तपथ, (३०) वंसपथ, (३१) सकुणपथ, (३२) मूसिकपथ, (३३) दरिपथ, (३४) वेत्तधार। इन स्थानों में १५-२४ पश्चिमी भारत में स्थित हैं और उनका सुदूरपूर्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुवन्नभूमि (सुवर्णभूमि) के विषय में प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से विवेचना की गयी है। इसकी समानता तालमी के छैरेस छोरा से की जाती है तथा वेसुंग (६), वेरापथ (७) और तक्कोला को इस भौगोलिक शास्त्रज्ञ ने वेसिंगाइटे, वेरावाई और तक्कोला के नाम से सम्बोधित किया है। इन पर विशेष रूप से आगे प्रकाश डाला जायेगा। मिलिन्दपञ्होंमें भी सुव्वनभूमि तक्कोला से सम्बन्धित है और इसीलिए इसे ब्रह्मा में रखा गया है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १, पृ० ५१। काल मुख (४) का उल्लेख रामायण तथा महाभारत में एक विशेष जाति के पुरुषों के सम्बन्ध में है (२.११७१) जावा के विषय में कोई संदेह नहीं है। तमली अथवा ताम्ब्रलिंग (चीनी तन-माई-लिओ) जिसका उल्लेख मलाया के छठवीं शताब्दी के एक लेख में है, लिगोर के निकट था (बु० इ० फ्रा० १८।६, पृ० १७) सिडो; (ए० हि० पृ० ७२); सुवन्नकूट (१२) और सुवर्णकुडच एक ही है जो विरमनी अथवा मलाया प्रायद्वीप में होगा। तम्बपणि-ताम्रपर्णि लंका है। 'निद्देश' में उल्लिखित गुम्ब (१), मरणपार (५) तथा एलवद्धन (११) की समानता किसी स्थान से नहीं की जा सकती।

में सग्ग नामक व्यक्ति का मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्ण भूमि की ओर जहाज में जाने का उल्लेख है। बीच में जहाज के टूट जाने पर वह एक तख्ते पर बैठकर नागद्वीप के किनारे लगा। वहाँ बनारस के राजा तम्ब की रानी सुस्सोंदी बन्दी के रूप में थी और उसने इसका स्वागत किया। बनारस के कुछ व्यापारी लकड़ी और पानी लेने इस द्वीप में उतरे और उन्हीं के साथ यह वापस आ गया। इस जातक कथा से यह बात विदित होती है कि बनारस से व्यापारी सुदूरपूर्व जाते थे और प्राय: मरुकच्छ से सुवर्ण भूमि के लिए जहाज में यात्रा करते थे।

सुप्पारक जातक[2] में भी मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्णभूमि की ओर प्रस्थान का उल्लेख है। सुप्पारक कुमार नामक एक अन्धा नाविक एक बड़े जहाज में ७०० व्यक्तियों को लेकर सुवर्ण द्वीप की ओर चला। ७ दिनों तक तो यात्रा सकुशल रही, पर उसके बाद चार महीने तक जहाज अनिश्चित रूप से चलता रहा। इस बीच में वह क्रमशः खुरमाल सागर, अग्गीमालि सागर, दधिमाली, नीलवण-कुशमाला, कुसमालि, नलमालि तथा बलमाखुक सागर पहुँचा जहाँ से लौटना दुष्कर था।[3] इस कथा में सत्यता का आभास न भी मिले, पर मरुकच्छ से सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान और सामुद्रिक कठिनाइयों का संकेत अवश्य मिलता है। अग्गि-मालि सागर में सोने की खान थी।

महाजनक जातक[4] में मिथिला के राजकुमार महाजनक की सुवर्ण भूमि की यात्रा का उल्लेख है। उसकी मां मिथिला के राजा अरिट्ठजनक के पोलजनक द्वारा वध करने पर चम्पा आ गयी थी जहाँ एक ब्राह्मण विद्वान् ने उसे शरण दी। अपनी मां से संचित धन का आधा भाग लेकर वह सुवर्णभूमि के लिए कुछ व्यापा-रियों के साथ प्रस्तुत हुआ। उस जहाज पर अपने सामान सहित सात सार्थवाह (व्यापारी) थे और जहाज ने सात दिनों में ७०० लीग-योजना का मार्ग तय किया। इसके बाद का वृत्तान्त विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

पालि धार्मिक ग्रन्थ 'निद्देश', में भी, जो 'सुक्तनिपात'[5] पर की गयी व्याख्या

२. कावेल ४.८६।
३. हार्डी, 'मैनवल आफ बुद्धिज्म', पृ० १२ से
४. ६.२२
५. विंटरनिज, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० १५६ से

है, सुवर्ण भूमि तथा अन्य देशों की ओर सामुद्रिक यात्राओं का उल्लेख है। सुक्त-निपात में केशों की व्याख्या करते हुए नाविकों के कष्टों का उल्लेख है जो उन्हें धन की खोज में जाने के लिए झेलने पड़ते थे। इसमें २४ स्थानों और १० कठिन मार्गों[६] का उल्लेख है जहाँ व्यापारी समुद्र मार्ग से जाते थे। लेवी महोदय ने यह

६. 'निद्देश' में जिन स्थानों का उल्लेख है वे क्रमशः निम्नलिखित हैं---

(१) गुम्ब, (२) तक्कोला, (३) तक्खसिला, (४) कालमुख, (५) मरणपार, (६) वेसुंग, (७) वेरापथ, (८) जावा, (९) तमली, (१०) वंश, (११) एलवद्धन, (१२) सुवन्नकूट, (१३) सुवर्णभूमि, (१४) तम्बपण्णि, (१५) सुप्पारा, (१६) भरुकच्छ, (१७) सुरठ्ठ, (१८) अंगणेक, (१९) गण्णन, (२०) परमगण्णन, (२१) योन, (२२) परमयोन, (२३) अल्लसन्द, (२४) मरुकत्तार (२५) जण्णुपथ, (२६) अजपथ, (२७) मेन्डपथ, (२८) शंकुपथ, (२९) छत्तपथ, (३०) वंसपथ, (३१) सकुणपथ, (३२) मूसिकपथ, (३३) दरिपथ, (३४) वेत्तधार। इन स्थानों में १५-२४ पश्चिमी भारत में स्थित हैं और उनका सुदूरपूर्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुवन्नभूमि (सुवर्णभूमि) के विषय में प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से विवेचना की गयी है। इसकी समानता तालमी के छैरेस छोरा से की जाती है तथा वेसुंग (६), वेरापथ (७) और तक्कोला को इस भौगोलिक शास्त्रज्ञ ने वेसिंगाइटे, वेरावाई और तक्कोला के नाम से सम्बोधित किया है। इन पर विशेष रूप से आगे प्रकाश डाला जायेगा। मिलिन्दपञ्होंमें भी सुव्वनभूमि तक्कोला से सम्बन्धित है और इसीलिए इसे ब्रह्मा में रखा गया है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १, पृ० ५१। काल मुख (४) का उल्लेख रामायण तथा महाभारत में एक विशेष जाति के पुरुषों के सम्बन्ध में है (२.११७१) जावा के विषय में कोई संदेह नहीं है। तमली अथवा ताम्ब्रलिंग (चीनी तन-माई-लिओ) जिसका उल्लेख मलाया के छठवीं शताब्दी के एक लेख में है, लिगोर के निकट था (बु० इ० फ्रा० १८।६, पृ० १७) सिडो; (ए० हि० पृ० ७२); सुवन्नकूट (१२) और सुवर्णकुड्य एक ही है जो विरमनी अथवा मलाया प्रायद्वीप में होगा। तम्बपणि-ताम्रपर्णि लंका है। 'निद्देश' में उल्लिखित गुम्ब (१), मरणपार (५) तथा एलवद्धन (११) की समानता किसी स्थान से नहीं की जा सकती।

प्रमाणित करना चाहा है[7] कि निद्देश में जिन २४ स्थानों का उल्लेख है वे सब सुवर्ण भूमि अथवा सुवर्ण द्वीप के अन्तर्गत थे, और इनमें से कुछ स्थानों का उल्लेख तालमी ने भी किया है। इस आधार पर यह ईसवी की प्रथम शताब्दी की व्यापारिक परिस्थिति चित्रित करता है।

सीलोन के प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश'[8] और 'दीपवंश'[9] में थेर उत्तर और थेर सोण के सुवर्णभूमि में जाकर बौद्ध धर्म फैलाने का उल्लेख है। अशोक के समय में तीसरी बौद्ध संगति के उपरान्त सोण और उत्तर इस देश में बौद्ध धर्म का संदेश पहुँचाने के लिए चले। उस समय समुद्र में एक राक्षसी रहती थी जो सम्राट् की सन्तान का भक्षण कर लेती थी। इन थेरों के आने पर वहाँ पर सम्राट् के एक पुत्र हुआ। इन्होंने ब्रह्मजात सुत्त पढ़कर उस राक्षसी की शक्ति का नाश किया और तब ६०,०००.व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया तथा १५०० युवक और इतनी युवतियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। उसी समय से राज्य वंशज सोणुत्तर कहलाये। 'महाकर्म विभेद' (पृ० ६२) के अनुसार सुवर्णभूमि में बौद्ध धर्म फैलाने का श्रेय गवाम्पति को है। इसकी यात्रा का उल्लेख 'सासनवंस' (पृ० ३६) में मिलता है।

इनके अतिरिक्त 'पेतवत्थु व्याख्या' (पृ० ४७, २७१) में क्रमशः सावत्थी (श्रावस्ती) और पाटलिपुर तथा सुवर्णभूमि के बीच व्यापार का उल्लेख मिलता है। 'अंगुत्तरनिकाय' पर की गयी व्याख्या 'मनोरथापुरणि' (पृ० १, २६५) में लंका और सुवर्ण भूमि के बीच ७०० योजन की दूरी का उल्लेख है और वहाँ पहुँचने के लिए ७ दिन और ७ रातें लगती थीं।

'मिलिन्दपञ्हों' नामक पालि[10] ग्रन्थ में भी सुवर्णभूमि का उल्लेख मिलता है।

७. एट्रेडिये, एशियाटिक, भाग २, पृ० १-५५।

८. बारह, ७.४४ से

९. आठ १२, समन्तपासादिका १.६४। सुवर्णभूमि की समानता रामञ्ञदेश या थटान से की गयी है जो उस देश के मुख्य नगर सद्धम्मपुर का अपभ्रंश रूप है। सद्धान < सटोन < सटन या ज़टन < थटान बना। इलियट, 'हिन्दूइज्म ऐंड बुद्धिज्म भाग ३, पृ० ५०। सुद्धमनगर के विषय में देखिए, सासनवंश, पृ० ४ और नोट ३।

१०. ५.३५९, एस० बी० इ० ३६, पृ० २६९

इसमें विदेशों के कुछ व्यापारिक केन्द्रों का विवरण है। बन्दरगाहों पर जहाजों के मालिक शुल्क लेकर धनी हो जाते थे और वे तकोला, चीन तथा सुवर्ण भूमि की ओर प्रस्थान करते थे।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[११] में सुदूरपूर्व के देशों का उल्लेख मिलता है। मणि की परीक्षा के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कूट से प्राप्त कौट, मूलेय से मौलेयक और इसी सम्बन्ध में समुद्र पार से प्राप्त मणियों को 'पारसमुद्रक' कहकर सम्बोधित किया है। इसी अध्याय में सुवर्णकुड्य से प्राप्त लाल पीले रंग के अगुरु, और पूर्णद्वीप का भी उल्लेख है। वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय में मलाया, सुवर्णद्वीप तथा अन्य निकटवर्ती द्वीपों के साथ भारतीय व्यापार होता था। 'बृहत्कथा' जो लुप्त हो चुकी है, पर आधारित 'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथा मंजरी' और 'बृहत्श्लोक संग्रह' में सुवर्णद्वीप सम्बन्धी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। अन्तिम ग्रन्थ में सानुदास का अपने अन्य साथियों के साथ समुद्र पार कर स्थल मार्ग की ओर पुनः प्रस्थान का उल्लेख है।[१२] इस यात्रा का वर्णन बड़ा ही रोचक है। आचेरा नामक एक यात्री के झुंड के साथ सानुदास सुवर्णभूमि की ओर चल पड़ा। उन्होंने समुद्र पार कर पुनः स्थल मार्ग का अनुसरण किया। पहाड़ पर चढ़ने के लिए वेत्रपथ और नदी को पार करने के लिए 'वेशपथ' (बाँस) का सहारा लिया। दो पहाड़ियों के बीच में उन्हें बकरियों के मार्ग से चलना पड़ा जो बहुत तंग था और किरातों से इन बकरियों को लेकर वे आगे बढ़े जहाँ उनका संघर्ष दूसरी ओर से आने वाले व्यक्तियों से हुआ। सुवर्ण की खोज में जाने वाले इन व्यक्तियों के नेता आचेरा की आज्ञा से बकरियों को मारकर उनकी खाल पहन ली। सानुदास को एक पंछी उठाकर ऊपर ले गया तथा इसे जंगल के बीच में एक तालाब में छोड़ दिया। दूसरे दिन वह एक नदी के किनारे आया जहाँ की बालू सुनहरी थी। इस वृत्तान्त में केवल इतना सारांश सत्य है कि सुवर्ण की खोज के लिए जल और

११. २.११ मणि ३ कोटो मौलेयक पारसमुद्रकश्च २९।

१२. लाकोट 'गुणाढ्य एन्ड बृहत्कथा' (पृ० १७५) तवार्ड द्वारा अनूदित, पृ० १३१, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग १, पृ० ५८

स्थल मार्ग से भौगोलिक कठिनाइयों को पार करते हुए भारत से बहुत-से व्यक्ति सुदूरपूर्व जाते थे। कठिन मार्गों और असुविधाओं का उल्लेख जातक, मिलिन्द-पञ्हों, वायुपुराण, मत्स्यपुराण, कात्यायन के वार्त्तिकों और गणपाठ में मिलता है।[१३] कात्यायन ने व्यापारियों द्वारा इन कठिन मार्गों के अनुसरण का उल्लेख किया है और मिलिन्दपञ्हो में व्यापारियों के स्थान पर सुवर्ण खोजने वालों का संकेत है। 'विमानवत्थु' तथा पुराणों में इनका सम्बन्ध बाहर से बाहर के देशों से है।

'कथासरित्सागर' में भी ऐसी बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है। समुद्रसूर नामक एक व्यापारी का जहाज में सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान, तथा वहाँ के मुख्य नगर कलसपुर का उल्लेख इस ग्रन्थ में है।[१४] सुवर्णद्वीप से लौटते समय रुद्र नामक एक व्यापारी का जहाज समुद्र में नष्ट हो गया था।[१५] इसी प्रकार से कटाह की राजकुमारी का जहाज भी भारत आते समय सुवर्णद्वीप के निकट नष्ट हो गया था और राजकुमारी ने उस द्वीप में शरण ली। उसकी मां सुवर्णद्वीप की रहने वाली थी। कटाह द्वीप बड़ा समृद्धिशाली था और सुवर्णद्वीप के निकट होने के कारण दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध था।[१६] इस द्वीप के सम्बन्ध में 'कथासरित्सागर' में और भी कथाएँ मिलती हैं। देवसमिता का अपने पति गुहसेन नामक व्यापारी के पीछे ताम्रलिप्ति से कटाह जाने का विवरण भी इसी ग्रन्थ में मिलता है।[१७] एक अन्य स्थान पर एक मूर्ख व्यापारी की कथा उल्लिखित है जो कटाह की ओर गया था।[१८] यशःकेतु की रहस्यमयी यात्रा में सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान का विवरण है।[१९]

१३. मजुमदार 'स्वर्णद्वीप' भाग १, पृ० ६०, 'एटुडिये एशियाटिक' (ए० ए०) भाग २, पृ० ४५ से ५०। मिलिन्दपञ्हों (पृ० २८०), वायुपुराण (अ० ४७.५.५४), मत्स्यपुराण (अ० १२१.५.५६), पतंजलि ५.१.७७, गणपाठ ५.३.१००।

१४. तरंग ५४, श्लोक ९७ से।

१५. वही, ५४.८६ से।

१६. यही, १२५.१०५ से।

१७. यही, १३.७० से।

१८. यही, ६१.३।

१९. यही, ८६.३३.६२।

सुवर्णभूमि जाते हुए ईश्वरवर्मन् नामक एक व्यापारी कत्रेनपुर में उतरा था जिसकी समानता सुवर्णपुर से की जाती है।[20]

'कथाकोश' में नागदत्त का पांच सौ जहाजों को लेकर धन पैदा करने के लिए विदेश जाने का विवरण है। घूमे हुए सर्पाकार पहाड़ के कोटर में जहाज नष्ट हो गये और सुवर्णद्वीप के सुन्दर नामक सम्राट् के प्रयास से ये बच सके। नागदत्त पर आयी हुई विपत्ति का ज्ञान उसे उस पत्र से प्राप्त हुआ जो एक तोते के पैर में बाँध दिया गया था।[21]

पुराणों में भी भारतवर्ष के बाहर एक देश का उल्लेख है जिसकी भूमि और पहाड़ सोने के थे।[22] 'दिव्यावदान' में सुवर्णभूमि तक पहुँचने के लिए कठिनाइयों का उल्लेख है।[23] सुवर्णभूमि से कदाचित् उस स्थान का संकेत रहा होगा जहां सोना मिलता था। लेवी महोदय ने नेपाल के एक हस्तलिखित ग्रन्थ में सुवर्णपुर के विजयपुर नामक नगर का उल्लेख पाया,[24] जहां लोकनाथ (अवलोकितेश्वर) की मूर्ति मिली। सुवर्णपुर के विषय में बाण ने भी लिखा है कि यह पूर्वी समुद्र और किरातों के निवासस्थान से दूर न था।[25]

सुवर्णभूमि और निकटवर्ती द्वीपों तथा उनके भौगोलिक सम्बन्ध के विषय में 'कथासरित्सागर' और पुराणों से विशेष रूप से सामग्री मिल सकती है। 'कथा-सरित्सागर'[26] में चन्द्रस्वामिन् का अपने पुत्र और छोटी बहिन की खोज में द्वीपों की ओर प्रस्थान का वृत्तान्त है। कनकवर्मन् नामक एक व्यापारी ने उनको बचाया था। उनके नारिकेल द्वीप की ओर जाने की बात सुनकर चन्द्रस्वामिन् एक जहाज में समुद्र पार कर उस द्वीप की ओर गया। वहाँ उसे पता चला कि कनकवर्मन् कटाह द्वीप चला गया है। चन्द्रस्वामिन् ने उस ओर प्रस्थान किया, पर व्यापारी

२०. वही, ५७.७६।
२१. टानी द्वारा अनूदित, पृ० २८-२९।
२२. मत्स्य ११३, १२, ४२, देखिए : गरुण ५५, श्लोक ५; वामन १३.७.१०।
२३. कावेल और नील पृ० १०७।
२४. जू० ए० (२.२०), पृ० ४२-४३।
२५. रेडिंग द्वारा अनूदित 'कादम्बरी', पृ० ९०-९१।
२६. तरंग ५६, श्लोक ५४ से।

वहाँ से कर्पूरद्वीप जा चुके थे। इस प्रकार चन्द्रस्वामिन् क्रम से नारिकेल द्वीप, कटाहद्वीप, कर्पूरद्वीप, सुवर्णद्वीप और सिंहलद्वीप गया।[२७] नारिकेल द्वीप की समानता वर्तमान निकोबार, कटाह की केड़ा (मलाया का भाग) कर्पूर की सुमात्रा के उत्तरी पश्चिमी भाग से की गयी है। सुवर्णद्वीप के विषय में विस्तृत रूप से आगे चलकर विचार होगा। सिंहलद्वीप सीलोन है।

पुराणों में भी सुदूरपूर्व के द्वीपों का उल्लेख है। वायुपुराण (अध्याय ४८) में भारत के दक्षिण की ओर स्थित द्वीपों का उल्लेख है। कुछ विद्वानों ने इनकी समानता बताने का प्रयास किया है और अन्य ने इन्हें केवल काल्पनिक ठहराया[२८] है। इनमें अनुद्वीप के अंगद्वीप, यमद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वराह-द्वीप निकटवर्ती थे। मलयद्वीप की समानता मलाया से की जा सकती है जिसमें सोना, कीमती पत्थर और चन्दन पैदा होता था और इसके प्रसिद्ध नगर लंका की समानता लेंकासुक से की जा सकती है।[२९] वायुपुराण में लिखा है[३०] कि यहां पर सुनहरे तोरण और गढ़ की दीवारें थीं। शंखद्वीप की समानता संखेद्वीप से की जाती है जिसके विषय में अरब लेखकों ने भी लिखा है[३१] और उनके मतानुसार मलय

२७. नारिकेल द्वीप का उल लेख ह्वानचांग ने भी किया है। बील : भाग २, पृ० २५२; इब्नसैद (१३वीं शताब्दी) ने इसे लंका के अधीन रखा है। इस विषय में देखिए : यूल-मारकोपोलो ३, अध्याय १२। बील ने इसे मालद्वीप माना है, पर यह ठीक नहीं है। कर्पूरद्वीप के विषय में अरबी लेखकों ने भी लिखा है। देखिए, फेरंड, जू० ए० (उपर्युक्त), पृ० १५७, ४२२, ५७०, ५७३। ब्लेगडेन के मता-नुसार सुमात्रा का यह उत्तरी पश्चिमी भाग है जहाँ वरुस का बन्दरगाह है और वहाँ के असली कपूर को कपूरवरुस कहते हैं। देखिए, पेंजर...द्वारा 'कथासरित्सागर' का अंग्रेजी अनुवाद भाग ४, पृ० २२४, नोट १।

२८. जे० आर० ए० एस०, १८९४ पृ० २३१, रायचौधरी-एसेज इन इंडियन एण्टीक्वीटिज, पृ० ६२।

२९. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १, पृ० ५३, ७१।

३०. ४८.२७.२

३१. फेरण्ड (उपर्युक्त उल्लिखित) पृ० ५८३-४। मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ५३।

से यह तीन दिन यात्रा की दूरी पर था, और यह श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत था। अंगद्वीप की समानता अरब लेखकों के अंगदिय से की जाती है। यह बंगाल की खाड़ी में था और स्याम तट पर स्थित एक स्थान के बाद इसका उल्लेख है। अरब लेखकों द्वारा उल्लिखित बरवाद्वीप की समानता वायुपुराण के वराहद्वीप से की जा सकती है। यमद्वीप कदाचित् यमकोटि है। अलबेरुनी के मतानुसार लंका से यह ९०° पूर्व में था।[३२]

वायुपुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों में बृहत्तर भारत के अन्य द्वीपों का उल्लेख मिलता है। इनमें भारतवर्ष के नवभागों का विवरण है। 'महाभारत' तथा भास्कराचार्य ने भी इनका उल्लेख किया है। यह क्रमशः इन्द्र, कसेरुमन, ताम्रपर्ण, गभस्तिमत्, नागद्वीप, सौम्य, कुमारिक, वरुण और गान्धर्व हैं।[३३] अलबेरुनी ने भी इनकी चर्चा की है। मजुमदार शास्त्री[३४] ने इन्द्रद्वीप की ब्रह्मा और कसेरुमन् की मलाया से समानता दिखायी है। एक अन्य विद्वान् ने इस पर शंका प्रकट की है,[३५] पर 'गरुड़' और 'वामन' में सौम्य और गांधर्व के स्थान पर कटाह और सिंहल को रखा है। कटाह की समानता मलाया के वर्तमान केड्डा से मानी गयी है। डा० मजुमदार के मतानुसार कटाहद्वीप से प्राचीन सुवर्णद्वीप का संकेत था और यह भारतवर्ष का एक अंग था।[३६] पहले ये दोनों एक थे पर आगे चलकर कटाह और सुवर्णद्वीप से विभिन्न स्थानों का संकेत था जैसा कि 'कथासरित्सागर' में कटाह देश कुमारी की कहानी से प्रतीत होता है। इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

३२. भाग, १, पृ० ३०३।

३३. भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् विबोध मे।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्।।
इन्द्रद्वीपः कशेरूमान् ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा।।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणो शतम्।।

३४. कनिंघम, ऐंशेण्ट ज्याग्रफी आफ इण्डिया, पृष्ठ ७४९।

३५. इ० ए० १९३०, पृ० २०४।

३६. सुवर्णद्वीप, भाग १, प० ५१।

रामायण में भी सुदूरपूर्व के द्वीपों का उल्लेख मिलता है और इन पर विचार करना आवश्यक है। लेवी महोदय[३७] ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी पर 'हरिवंश' और बौद्धसूत्र 'सधर्म संऋत्युपस्थान' का भी भौगोलिक वृत्तान्त आधारित है। इसमें यवद्वीप का उल्लेख है। (**यत्नवन्तो, यवद्वीपं सप्त-राज्योपशोभितम्, सुवर्ण रूप्यकाद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्**) इनका उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न रूप से हुआ है। सुवर्णरूप्यक द्वीप के स्थान पर 'रामायण-मंजरी' और 'हरिवंश' में सुवर्णकुड्य है जिसका उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में भी है। (२.११)। लेवी के अनुसार इसकी समानता चीनी किन-लिन से की जा सकती है जो फूनान (कम्बुज) से २००० ली की दूरी पर था।[३८] यह मलाया में होगा।

डा० मजुमदार के मतानुसार[३९] सुवर्ण-रूप्यक द्वीप से यूनानी रोमन छैरसे (सुवर्ण) और अर्ग्यरे (रूप्यक-चांदी) द्वीप का संकेत है। इसकी भूमि में सोना था। यह प्रतीत होता है कि रामायण में सुवर्ण और सुवर्ण-रूप्यक द्वीपों का संकेत है। इसके आगे क्षेमेन्द्र की 'रामायणमंजरी' में समुद्र द्वीप का उल्लेख है। (**अन्त-र्जलचरान् घोरान् समुद्रद्वीप संश्रयान्।**) जिसकी समानता कौटिल्य के 'पारसमुद्र' से की जा सकती है और इसके अपभ्रंश के रूप 'सुमुत्र' से सुमात्रा पड़ा। अतः रामायण में यव अथवा जावा और सुमात्रा का उल्लेख मिलता है।

यूनानी-रोम वृत्तान्त

यूनानी और रोम स्रोतों में भी सुदूरपूर्व के द्वीपों और उनके भारत के साथ सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। पामपोनियस मेला ने सम्राट् क्लाडियस (ई० ४१–५४) के राज्यकाल में अपने ग्रन्थ 'दि कोरोग्राफिया' में छैरसे (सुवर्णद्वीप) का सर्वप्रथम उल्लेख किया है।[४०] पेरीप्लस में भी इस द्वीप का उल्लेख है[४१] और

३७. जू० ए० (२.११) पृ० ५.१६०। **यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योप-शोभितम्, सुवर्णरूप्यक द्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।**

३८. ए० ए० भाग २, पृ० ३६।

३९. सुवर्णद्वीप, पृ० ५५।

४०. सिडो—पृ० १३।

४१. शाफ, पेरीप्लस पृ० ४५—४८।

प्लिनी ने भी इसका वर्णन किया है।[४२] इनके अतिरिक्त डिओनिसस पेरी गेटिस (ई० दूसरी शताब्दी), सोलिनस (ई० तृतीय शताब्दी), मार्टिआनस कैपेला (ई० पांचवी शताब्दी), सेविल के इसीडोर (ई० सातवीं शताब्दी), कास्मोग्राफी के लेखक (ई० सातवीं शताब्दी), थियोडल्फ (आठवीं शताब्दी) और निसे-फोरस (१३ वीं शताब्दी) तथा अन्य लेखकों ने इसका उल्लेख किया है।[४३]

तालमी ने छैरसे के स्थान पर छैरेसे-छोरा लिखा है जो 'सुवर्णभूमि' का मूल अनुवाद है और छैरेसे-छेरसेनिसस का उल्लेख किया है।[४४] जिससे 'सुवर्णद्वीप' का संकेत है। इसका उल्लेख टैयर के मेरीनास (ई० प्रथम शताब्दी), मारसियन (ई० पांचवी शताब्दी) तथा कई अन्य लेखकों ने किया है।[४५] इनके अतिरिक्त अरवी और चीनी लेखकों ने भी इन द्वीपो का उल्लेख किता है

अरवी और चीनी वृत्तान्त

अरबी लेखकों में अलबेरुनी (१, पृ० २१०) ने सुवर्णद्वीप और सुवर्णभूमि का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि हिन्दुओं के मतानुसार जावाज़ के द्वीप सुवर्णद्वीप कहलाते हैं। अन्य स्थान पर उसने कहा है कि इसे इसलिए सुवर्णद्वीप कहा जाता है (२, पृ० १०६) कि यहां पर मिट्टी को धोने से सोना प्राप्त होता है। 'बृहत्संहिता' में वर्णित उत्तरी-पूर्वी देशों की श्रेणी में इसने सुवर्णभूमि को रखा है (१, पृ० ३०३)। अन्य अरबी लेखकों में हरकी (ई० ११३८), याकूत (११७९-१२२९), शीराज़ी (मृत्यु ई० १३११) तथा बुज़ुर्ग विनशहरियार ने 'जावाज'

४२. सिडो, पृ० १५, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ५९।

४३. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ४०।

४४. तालमी के भूगोल में सुमात्रा द्वीप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उसने पाँच द्वीपों के समूह को बराओ सै और अन्य तीन को सवदाइवे के नाम से सम्बोधित किया है। इसके निकट उसने इबडिओस अथवा सबडिओस जव द्वीप को रखा जिसकी समानता निश्चय ही जावा से की जाती है। मजुमदार शास्त्री, तालमी, पृ० २३९।

४५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ४०।

अथवा सुवर्णभूमि का उल्लेख किया है।[४६] नूवायरी (मृत्यु १३३२ ई०) के मतानुसार सुमात्रा के पश्चिमी भाग का फनसूर (पनसूर अथवा वरोस) ही 'सोने की भूमि' था।[४७]

चीनी यात्री भी सुवर्ण-भूमि से अनभिज्ञ न थे। ईत्सिंग ने किन्-यू (सुवर्ण द्वीप) का उल्लेख किया है जिसकी समानता उसने चे-लि-फो-चे अथवा श्रीविजय से की है।[४८] चीनी और अरब लेखकों ने नरिकेल द्वीप का उल्लेख किया है। च्वान चांग के अनुसार यहां के निवासी केवल नारियल पर आश्रित थे। लंका से यह १००० ली की दूरी पर था। इबन-सैद ने इसका उल्लेख करते हुए इसे लंका के अधीन लिखा है। इस द्वीप की समानता निकोबार से की जाती है। कर्पूरद्वीप का भी अरबी लेखकों ने उल्लेख किया है।[४९] इसकी समानता ब्रोनियो अथवा सुमात्रा के उत्तर-पश्चिमी भाग से की गयी है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार धर्मपाल और पीपांकर अतीश क्रमशः ७वीं ११वीं शताब्दी में सुवर्णद्वीप गये थे।[५०]

दक्षिण भारतीय स्रोत

लिपि, भाषा, तथा कला के क्षेत्र में दक्षिण भारत का मलाया तथा सुदूरपूर्व के द्वीपों पर गहरा प्रभाव पड़ा, पर दक्षिण के प्राचीन साहित्य में इस विषय पर विशेष सामग्री नहीं मिलती। पट्टिनप्पालै में पुहार अथवा कावेरीपट्टिनम् में 'कालगत्तु आक्कमुम' अथवा कालगम से आये हुए सामान का उल्लेख है।[५१] जिसकी

४६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग १, पृ० ४१।
४७. जू० ए० ने २०२ पृ० ९।
४८. 'मेमोयर', पृ० १८१, १८७।
४९. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ५२ इस पर पहले व्याख्या की जा चुकी है।
५०. शरतचन्द्रदास, 'इण्डियन पंडितस', पृ० ५०।
५१. प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार यह ग्रन्थ चोलिकारिकोल के समय में लिखा गया और इसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी अथवा तृतीय का प्रथम भाग रखा जा सकता है। जरनल ग्रेटर इण्डिया सोसायटी (ज० ग्रे० इं० सो०) ११, पृ० २६।

समानता सिडो ने कडारम से की है।[५२] कडारम और कालगम के एकीकरण का तामिल शब्दकोश 'दिवाकरम्' में भी उल्लेख है। 'शिलप्पदिकारम्'[५३] में टोन्डी-निवासियों द्वारा बड़े-बड़े जहाजों में अगरु, रेशम, चन्दन, मसाले और कपूर को मदुरा भेजने का उल्लेख है। इन सब पदार्थों की उपज का स्थान पूर्वी देश था और पूर्वी हवा (कोंडल) के प्रवाह के साथ ये जहाज पूर्व से मदुरा की ओर आते थे। इस ग्रन्थ पर की गयी दो टीकाओं में प्रथम में वासम (मसाले) के अन्तर्गत तक्कोलम्, जातिक्काए और अन्य पदार्थों का उल्लेख है। दूसरे टीकाकार अडियार्क-कुनल्लार ने इस पर विस्तृत रूप से टीका की है। उसने टोन्डी को पूर्व का एक नगर माना है और वहाँ के राजा भेंट के रूप में मदुरा के सम्राट् को उपर्युक्त पदार्थ भेजते थे। उसने इन पदार्थों की विभिन्नताओं का भी उल्लेख किया है। अगरु लकड़ी तीन प्रकार की होती थी...अरुमणवन्, तक्कोली और किडावरन्... जो क्रमश: रामंज, तक्कोला और किडार (कड़ार) से प्राप्त होती थी। कालगम अथवा कड़ारम के कई प्रकार के रेशम (तुगील) का उल्लेख भी है। आरम (चन्दन) में हरिचन्द्र सबसे प्रसिद्ध था जिसकी अगस्त्य की मूर्तियां जावा में बनती थीं। वासम के अन्तर्गत लवंजमू (लौंग), तक्कोलम और अन्य पदार्थ भी तक्कोला और जातिक्काए से आते थे। कर्पूर भी १४ प्रकार का होता था जिसमें चीन चूडम् सबसे प्रसिद्ध था। टोंडी नाम का स्थान सुदूरपूर्व में मलाया में कहीं रहा होगा और यहीं से दक्षिण भारत में बहुत-सा सामान जाता था।[५४] कालिदास ने भी अपने 'रघुवंश' (६.५७) में इंदुमती के स्वयंवर के अवसर पर सुनन्दा के मुख से कलिंग राजा हेमांगद के सम्बन्ध में द्वीपान्तर (मलाया) से आयी हुई लौंग के सुगन्धित वृक्ष के पवन का उल्लेख किया है।

भारतीय तथा वैदेशिक साहित्य से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत का सुदूरपूर्व के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था तथा यहाँ से बहुत-से व्यक्ति वहाँ जाया करते थे। भारतीय इस क्षेत्र के भूगोल से अनभिज्ञ

५२. बु० इ० फ्रा० एक्स ओं० २८,६ पृ० १९ से: मु० इ० फ्रा० २८।६ प० १९ से।

५३. १४, १०६, १०।

५४. देखिए, शास्त्री, ज० ग्रे० ई० ९।

न थे। हो सकता है कि वृत्तान्त कहीं पर बढ़ा-चढ़ा कर दिया गया हो, पर उसमें सत्यता की मात्रा कम नहीं है। विद्वानों ने साहित्य में उल्लिखित बहुत-से प्राचीन स्थानों की समानता दिखाने का प्रयास किया है। इस विशाल क्षेत्र में भारतीयों ने छोटे-बड़े राज्य भी स्थापित किये जिनके इतिहास पर आगे चलकर क्रम रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

अध्याय ३

सुदूर पूर्व का आदि भारतीय उपनिवेश––मलाया

सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश सर्वप्रथम मलाया में ही हुआ जहाँ से औपनिवेशिक दक्षिण तथा पश्चिम की ओर बढ़े। इस देश में उन्होंने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण मलाया में ही उन राज्यों का निर्माण हुआ जिनका उल्लेख हमें चीनी साहित्य में मिलता है। मलय द्वीप तथा कटाह द्वीप का उल्लेख पुराणों में मिलता है। और तालमी[1] ने भी इस क्षेत्र को क्राइसे छेरसोनिसस के नाम से सम्बोधित किया है जिससे सुवर्ण द्वीप का संकेत है। मलाया के विभिन्न स्थानों का उल्लेख भी इस लेखक के 'भूगोल' में मिलता है, पर उनकी समानता किसी वर्तमान स्थान से दिखाना कठिन है। लेवी महोदय ने तकोला, जावा, ताम्रलिंग तथा कोकोनगर आदि नामों को भारतीय प्रमाणित किया है। उनके मतानुसार तकोला भारतीय शब्द है।[2] ईसवी

१. मैक्रण्डल पृ० १९७––८, २२६।

इससे मलाया का संकेत होता है। मजुमदार शास्त्री के अनुसार इरावदी के मोहाने तथा पेगू क्षेत्र को प्राचीन काल में सुवर्ण भूमि के नाम से सम्बोधित किया जाता था। ब्रह्मा के अवा के उत्तरी भाग को आज भी 'सोनपरान्त' कहा जाता है। (थोरण्टोन, गजेटियर आफ इण्डिया––बर्मा, उपर्युक्त पृ० १९९, नोट २६)। मलाया प्रायद्वीप क्र-जलडमरूमध्य से आरम्भ होकर ७५० मील दक्षिण तक सिंगापुर के पूर्व में रूमेनिया की खाड़ी तक जाता है। इसके उत्तर में स्याम तथा अन्य तीन ओर समुद्र हैं। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप'।

२. एटूडिये––एशियाटिक (ए० ए०) भाग २, पृ० ५ से तथा 'तालमी', 'निद्देश एट ला 'बृहत् कथा', पृ० २६। तकोला का उल्लेख 'मिलन्दपंऽहो' में भी है। इसकी समानता तकुआ-पा से की गयी है और यहीं से ईसवी की तृतीय शताब्दी में

की दूसरी शताब्दी में भारत और चीन के बीच क्र-जलडमरूमध्य, अथवा मलाका की खाड़ी होकर यातायात का मार्ग था। उस समय तक मलाया में भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। इन छोटे-छोटे राज्यों का उल्लेख हमें चीनी वृत्तान्तों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त होता है।

लंग-या-सु अथवा लंग-गा-सु

मलाया का सबसे प्राचीन हिन्दू राज्य लंग-या-सु के नाम से प्रसिद्ध था जिसका उल्लेख 'लिआंग वेश के इतिहास' (ई० ५०२-५५६) में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इस राज्य की स्थापना ४०० वर्ष पहले हुई थी। वहाँ का राजा चीनी सम्राट् को आदर की दृष्टि से देखता था और वहाँ संस्कृत भाषा प्रचलित थी।[३] धीरे-धीरे यह राज्य कमजोर होता गया। उस समय राजा के सम्बन्धियों में एक अति सज्जन व्यक्ति था जिससे प्रजा प्रभावित थी। सम्राट् ने उसे बन्दी कर लिया और फिर उसे देश से बहिष्कृत कर दिया। वह व्यक्ति भारत आ गया और यहाँ पर उसने एक राजवंश में अपना विवाह किया। लंग-या-सु के राजा की मृत्यु पर उसे भारत से बुलाकर वहाँ का नृप घोषित किया गया। उसने २० वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र भागदत्त सिंहासन पर बैठा। ई०-५१५ में उसने आदित्य नामक एक दूत को चीन भेजा। उसके बाद क्रमशः ५२३ और ५३१ ई० में इस सम्राट् की ओर से राजदूत चीन भेजे गये। पिलियों के मतानुसार[४] अन्तिम दूत ५६८ ई० में भेजा गया। लंग-या-सु के भारतीय उपनिवेश के

फूनान का राजदूत भारत के लिए जहाज पर चढ़ा था। इसे त्यो-क्यू-ली कहा गया है (सिडो, ए० हि०, पृ० ७३)। तकुआ-पा से बहुत-से प्राचीन शिल्पकला के प्रतीक तथा अवशेष मिले हैं और एक तामिल लेख भी मिला है। शास्त्री, के० ए० नीलकण्ठ, जरनल आफ ओरियंटल रिसर्च (ज० ओ० रि०) ६, पृ० २९९—३१० राजराज चोल के लेख में इसे तलैत्तक्कोलम् कहा गया है। सिडो पृ० २४१।

३. पिलिओ, बु० ए० फ्रा० ४, पृ० ३२०, फेरण्ड : जू० ए० जुलाई-अगस्त १९१८, पृ० १३९, सिडो, ए० हि० पृ० ७२, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १, पृ० ७० से, श्लेगल, टूंग-पाओ ९, पृ० १९१—२००।

४. बु० ए० फ्रा० ४, पृ० ४०५।

होने में कोई सन्देह नहीं जैसा कि भागदत्त तथा आदित्य नामकरणों तथा संस्कृत भाषा के प्रयोग से प्रतीत होता है। इस राज्य का ठीक ठीक-निर्णय करना कठिन है। पर यह मलाया में होगा, जैसा कि अन्य स्रोतों से प्रतीत होता है। ईत्सिह और च्वान-चांग ने क्रमशः लंग किया-सू और काम-लंक नामों से इसे सम्बोधित किया और श्रीक्षेत्र (प्रोम) तथा द्वारावती (स्याम) के बीच में रखा है। पिलिओ ने ह्यूबर के मत को मानते हुए इसकी समानता टेनासेरिम से की है, यद्यपि इसे क्रा-भूडमरूमध्य के निकट भी रखा गया है।[५] फ़्रांसीसी विद्वान सिडो का कथन[६] है कि दूसरी शताब्दी का लंग-या-सु, जो ७वीं शताब्दी में पुनः लंग-किया-चू और १२वीं लंग-या-स्युकिआ के नाम से प्रसिद्ध था, मलाया और जावा वृतान्तों का लंक-सुक था और यह पेरक की एक सहायक नदी के नाम में आज भी मिलता है।

लंग-या-सु की समानता पिलियो[७] ने टेनासिरम से की हैं क्योंकि इसका प्राचीन नाम नैन-कासी था जो चीनी नाम लंग-या-सु से मिलता जुलता है। श्रीक्षेत्र (प्रोम) और द्वारावती (स्याम) के बीच में होने के कारण इसका व्यापारिक महत्त्व अधिक था। इस सम्बन्ध में विंसटेड का कथन है[८] कि प्राचीन काल में केडा को लंक-सुक कहा जाता था और बाद में यह श्री विजय साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। यह पूर्व का प्रवेश-द्वार था और यहीं से सुंड और मलाका की खाड़ियों पर नियंत्रण रखा जाता था। चीनी ग्रन्थों में इसे लंग-या-सुय, लंक का-सु और लंग-या-सि नामों से सम्बोधित किया गया है जिनसे कदाचित् एक ही स्थान का संकेत है। इसकी स्थापना ईसवी की प्रथम शताब्दी में हुई थी और इसके नगरों के चारों ओर दीवारें थीं। यहाँ पर चन्दन और कपूर पैदा होता था। यहाँ के निवासियों की वेश-

५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७१।

६. ए० हि० पृ० ७२, ९०। 'नागरकृतागम' में भजपहित साम्राज्य का मलाया के जिन प्रान्तों पर अधिकार था उनमें लेंगकसुक भी था। कर्न पृ० २४१,२७८--७९ क्रोम, हि० जा० गे० पृ० ४१६--१७, सिडो, ए० हि०, पृ० ४०७। इस राज्य के नाम विभिन्न लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अलग-अलग दिये हैं। यहाँ इसका साधारण नाम लंग-या-सु दिया गया है।

७. बु० इ० फ्रा० १८।६, पृ० ११--१३।

८. जे० आर० ए० स०, अक्टूबर १९४४, पृ० १८२।

भूषा का ज्ञान सुमात्रा के तपनुली नामक स्थान में प्राप्त एक छोटी मूर्ति से हो सकता है।[९] आठवीं शताब्दी के बाद यहां पर पल्लव के स्थान पर पाल प्रभाव पड़ा जिसने नयी संस्कृत भाषा और लिपि का प्रवेश किया। वास्तव में लंग-या-सु अथवा लंग-गा-सु एक ही स्थान का संकेत करते हैं जिसकी सीमाएँ सदा एक-सी नहीं रहीं। जावानी और मलय वृत्तान्तों के अनुसार इसी को लेक-सुक कहा गया है और आज भी पेरक की एक सहायक नदी का यही नाम है। मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण की ओर इसकी पश्चिमी पूर्वी सीमाएँ क्रमशः बंगाल की खाड़ी और स्याम की खाड़ियां थीं।

लेवी महोदय ने लंग-किया-सु की लंग-का-सु अथवा लँग-का सु से भिन्नता दिखायी है और इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय स्रोतो से भी सहायता ली है। उक्त विद्वान् ने लंग-किया सु की समानता काम-लंक से की है[१०] जिसका उल्लेख श्वान-चांग ने किया है। राजेन्द्र चोल के लेख में इसी का "मेविलिंवुगम" नाम से उल्लेख किया गया है। भारतीय साहित्य में काम लंक को कर्मरंग नाम से सम्बोधित किया गया है। मंजुश्री मूलकल्प[११] में कर्मरंग द्वीप में नाड़ीकेर, वारुषक (वरोष, सुमात्रा) और निकोवार, बालि तथा जावा का उल्लेख है जहां की भाषा शुद्ध न थी। इस द्वीप के साथ में एक स्थान पर हरिकेल, कामरूप और कलश का भी उल्लेख है।[१२] वाण ने भी कामरंग का उल्लेख किया है और शंकर ने इसपर व्याख्या करते हुए यहाँ के निवासियों के चर्म का उल्लेख किया है। तालमी ने भी 'लेस्टाई जाति के व्यक्तियों के विषय में लिखा है जो कामरंग के निकट रहते थे। कर्मरंग देश से भारत में कामरंगा नामक फल आता था जो मलाया में वलिंविग अथवा वेलिंविंग नाम से प्रसिद्ध है और दक्षिण के राजेन्द्र चोल के तंजोर के लेख में उल्लिखित विलिंवुगमन से वेलिंविग अथवा कर्मरंग का संकेत है। इस प्रकार से लेवी के मतानुसार लंग-किया-सु और कर्मरंग एक ही स्थान का संकत करते हैं और यह लंक-सुक

९. बु० इ० फ्रा० ४० (१९४०) तसवीर ६।
१०. जू० ए० न० २०२, पृ० ४४।
११. 'मंजुश्रीमूलकल्प', पृ० ३३२।
१२. यही, पृ० ६४८।

(लंग-या सु) से भिन्न था।[१३] डा० मजुमदार के मतानुसार ये दोनों एक दूसरे के निकट थे।[१४]

को-लो-छो-फेन (कलसपुर)

तांग वंश के नवीन इतिहास में को-लो-छो-फेन नामक एक राज्य का उल्लेख है।[१५] उसी ग्रन्थ में इसे किया-लो-छो-फाऊ अथवा किया-लो-छो-फू नामों से भी सम्बोधित किया गया है। यह राज्य पन-पन[१६] से ऊपर टू-हो-लो से उत्तरी दिशा में स्थित था। टू-हो-लो की समानता द्वारावती से की गयी है जो मीनम की घाटी में एक राज्य था। कलसपुर का उल्लेख हमको कथासरित्सागर में भी मिलता है जिसमें लिखा है कि समुद्रसूर नामक एक व्यापारी का जहाज यहां टूट गया था

१३. व्रिग्स ने अपने लेख में ख्मेर साम्राज्य और मलय प्रायद्वीप में स्थित उन भारतीय उपनिवेशों की समानता दिखाने का प्रयास किया है जिनका उल्लेख चीनी ग्रन्थों में है। लैंग-या-स्यु, लिअंग-शु के अनुसार सबसे प्राचीन भारतीय केन्द्र था। सिडो ने अपने ग्रन्थ में (पृ० ७२) इसकी समानता चाओ-जु-कुआ उल्लिखित लिंग-या-स्सु-चिअ तथा मलाया और जावा के वृत्तान्तों के लंका-सुक से की है, और इसे प्रायद्वीप के दक्षिण भाग में रखा है। इसके पहले उसने इन दोनों को अलग मानकर लंग-या-सु और लंग-चिआ (काम लंक) को बिलकुल नीचे रखा था। व्रिग्स के मतानुसार लंग-चिआ की राजधानी मेरगुई-टेनासेरिम क्षेत्र में रखी जानी चाहिए (फ्रा० इ० क्वा ९, १९४९—५०, पृ० २५७)।

१४. 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७५, ब्लैगडेन का कथन है कि मलाया में लंक-सुक की स्मृति आज भी बाकी है (जे० आर० ए० स० १९०६, पृ० ११९)।

१५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७६; बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ४६०।

१६. ब्रिग्स ने अपने लेख में पन-पन और फूनान के साथ उसके सम्बन्ध का विवरण दिया है। उनके मतानुसार यह कदाचित् पहले वृत्तान्तों का चु-लि है और इसमें तकोला और तकोला-बड़ों मार्ग भी था। यह उत्तर में क्र-जलडमरूमध्य तक फैला था। सबसे पहले इसका फूनान के इतिहास में उल्लेख मिलता है और यहीं से होकर कौंडिन्य द्वितीय फूनान आया था। (फ्रा० इ० क्वा ९, १९४९—५०, पृ० २६१)।

और वह उस स्थान पर पहुँचा था, पर यदि चीनी वृत्तान्त को सत्य माना जाय तो किया-लो छो अथवा कलसपुर समुद्र से बहुत दूर था। इस सम्बन्ध में पिलियो का कथन है कि चीनी ग्रन्थ में दिशाओं का संकेत ठीक नहीं है और इसलिए उत्तर के स्थान पर यह पश्चिम की ओर था और इसे सिटांग नदी के मुहाने पर स्याम से पश्चिम की ओर रखना चाहिए। पन-पन के विषय में यह कहा जाता है कि उसकी समानता वैंडो अथवा मलाया में लिगोर से करनी चाहिए। कर्न ने कलसपुर के स्थान पर कलपपुर पढ़ना चाहा तथा इसे बटाविया माना। पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि चीनी ग्रन्थों में इसका किया-लो-छो-फू अथवा कलसपुर नाम ही मिलता है।[१७]

कल अथवा कोरा—फु-स-रा

पन-पन के दक्षिण-पूर्व में कोरा-फु-स-रा नामक एक राज्य था जिसका उल्लेख तांग वंश के नवीन इतिहास में मिलता है।[१८] यहां के शासक के वंश का नाम श्रीपोर तथा उसका नाम मि-सि-पो-रा था। ईसवी ६५०--६५६ के बीच में यहां से चीन-सम्राट् के यहां दूत भेजा गया। चीनी ग्रन्थ में इसका कुछ वृत्तान्त मिलता है। राजधानी के चारों ओर पत्थर की दीवारें थीं, पर इमारतें फूस की बनी थीं। देश २४ भागों में विभाजित था। इस राज्य की समानता केडा अथवा क्र से की जाती है[१९] जो कि पूर्व और पश्चिम के बीच व्यापार का बड़ा केन्द्र था और जिसका उल्लेख अरब यात्रियों ने भी किया है।

पो-हो-आंग

मलाया में पो-हो-आंग नामक एक और हिन्दू राज्य था जिसका उल्लेख 'नन-शि' और प्रथम शुंग वंश के इतिहास[२०] में मिल..ा है। इन स्रोतों से पता चलता है कि ४४९ में पो-हो आंग अथवा पहंग राज्य में सरिपाल-वर्म नामक राजा राज्य करता था

१७. देखिए, फेरण्ड का लेख, जू० ए० सितम्बर-अक्टूबर, १९१९।
१८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७६।
१९. सिडो, ए० हि० पृ० १५९, नोट ५।
२०. टूंग-पाओ १० (१८९९), पृ० ३९ से मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ११।

और उसने चीनी सम्राट् को बहुत-सी वस्तुएँ भेंट में भेजीं। इस स्थान से द-नपाति नामक इतिहासज्ञ भेंट की वस्तुएँ और एक पत्र लेकर ई० ४५१, ४५६ में चीन गया और चीनी सम्राट् ने उसे 'वीर सेनापति' की पदवी से विभूषित किया। ४५९ ई० में यहां के राजा ने लाल और सफेद तोते चीन भेजे, तथा ४६४ और ४६६ में पुनः भेंट भेजी। मिंग-टी सम्राट् ने इस बार द-सूरवान नामक इतिहासज्ञ दूत तथा प्रथम सेनापति द-नपाति को चीनी उपाधि प्रदान की। यह प्रतीत होता है कि मलाया के इस राज्य की सभ्यता बढ़ी-चढ़ी थी। श्लेगल ने पो-हो-आंग की समानता पहांग से की है।[२१] पर पिलियो इससे सहमत नहीं है।

कन-टो-ली

'लिअंग वंश' तथा 'प्रथम शुंग वंश' के इतिहास में कन-टो ली अथवा किन-टो-ली नामक एक और राज्य का उल्लेख है[२२] जो दक्षिण सागर के एक द्वीप में था।[२३] तंग तथा शुंग वंश के वृत्तान्तों में इसका उल्लेख नहीं है, पर मिंग वंश के इतिहास में इस राज्य का पुनः विवरण मिलता है और इसकी समानता प्राचीन सन-फो-त्सि से की गयी है। कुछ विद्वानों ने कन-टो-ली को वर्तमान पलमवंग माना है, पर जेरिनी के मतानुसार चीनी मिंग वंश के इतिहास में उल्लिखित इस स्थान की सन-फो त्सि से समानता विवादास्पद है और आज भी मलाया में खनटूली अथवा कन्तुरी नामक स्थान प्राचीन कैन-टो-ली का द्योतक है। मजुमदार के मतानुसार[२४] इसकी समानता प्राचीन कडार से करनी चाहिए। लिअंग वंश के इतिहास में

२१. यही।

२२. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २७२।

२३. कन-टो-ली सम्बन्धी चीनी वृत्तान्त तथा इसके वर्तमान स्थान-निर्णय के उल्लेख के लिए देखिए--ग्रोएनवेल्डर-नोट्स पृ० ६०, ६२, फेरण्ड जू० ए० २—१४ (१९१९), पृ० २३८—४१। जेरिनी, रिसर्चेज, पृ० ६०१—४०६, पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ४०१, श्लेगल, टूंग-पाओ २.२, पृ० १२२. ४। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', ७७.८, सिडो, ए० हि० पृ० ९५, तथा प्रिजूलुस्की, जु० ग्रे० इ० सो० १ (१९३४), पृ० ९२—१०१।

२४. 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७९।

कन-टो-ली राज्य का जो विवरण मिलता है उसके आधार पर यहां के आचार-विचार कम्बुज और चम्पा निवासियों के जैसे थे और वे तरह-तरह के सुन्दर सूती कपड़े बनाते थे। शुंग वंश के सम्राट् हिअ बू (४५४-४६५ ई०) के समय में यहां के राजा ये-पो-लो-न लिअन-टो (श्रीवर नरेन्द्र) ने चाओ-लिओ-टो (रुद्र भारतीय) द्वारा चीनी सम्राट् के पास सोने-चांदी के बहुमूल्य पदार्थ भेजे। ५०२ ई० में क्यू-टन-सिओ प-ट-लो (गौतम समुद्र) ने चीनी सम्राट् के पास दूत भेजे और उसके पुत्र पि-ये-प-मो (विजयवर्मन् अथवा प्रियवर्मन्) ने ५१९ और ५२० ई० में दूत तथा भेंट भेजी। चिन वंश के इतिहास के अनुसार ५६३ ई० में एक और दूत यहां से चीन भेजा गया था। इस वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि मलाया में कन-टो ली का हिन्दू राज्य ईसा की पांचवीं शताब्दी में स्थापित हो चुका था और छठी शताब्दी में यह वैभव प्राप्त कर सका था। यहां से चीनी सम्राट् के पास दूत भेजे जाते थे।

पुरातात्त्विक अवशेष प्रमाण

चीनी वृत्तान्तों के आधार पर मलाया के कुछ प्राचीन हिन्दू राज्यों के अस्तित्व का पता चलता है और इसकी पुष्टि इस देश में मि े पुरातात्त्विक अवशेषों से होती है। गुनोंग-जेरी (केडा) के नीचे सुंगई-वतु राज्य में एक हिन्दू मंदिर के अवशेष मिले हैं।[२५] दुर्गा, गणेश, नन्दी की केडा में मिली मूर्तियां प्राचीन काल के हिन्दुओं की याद दिलाती हैं। इनकी तिथि निर्धारित करना कठिन है, पर निकट ही केडा में स्थित ईंटों के बने बौद्ध विहार, जहां संस्कृत भाषा में चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी का एक लेख भी मिला है, यह संकेत करते हैं कि इस समय तक वहां हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे। इसी काल के वेलेजली प्रान्त में मिले कुछ स्तम्भ भी हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं।[२६] सेलिंगसिंग-पेरक में गरुड़ पर सवार विष्णु एक सुवर्ण आभूषण पर अंकित मिले, तथा एक स्थान पर एक मोहर मिली जिस पर पांचवीं शताब्दी के अंकों में श्री विष्णुवर्मन् का नाम अंकित है।[२७]

२५. यही, पृ० ८०।

२६. ए० हि०, पृ० ८८—८९।

२७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ०८१। देखिए, इण्डियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स ९, पृ० ८ से।

पश्चिमी तट पर तकुआ-पा में भी प्राचीन अवशेष मिले तथा फ्रा-नो-हिल में एक प्राचीन मन्दिर तथा विष्णु की एक मूर्ति भी मिली जो कदाचित् ६-७वीं शताब्दी की है। यहां पर एक मन्दिर के अवशेष भी मिले हैं जिसकी समानता सुंगई-वतु (केडा) के मन्दिर से की जा सकती है। खो-प्र-नरुई में ७-८ ई० की ब्राह्मण देवताओं की कई मूर्तियां मिलीं और यहां एक तामिल लेख भी मिला। पूर्वी तट पर बंड. की खाड़ी के निकट भी चाया, नख.न- श्रीथम्मरट (नखोन श्री धर्मराट्) और विएंगश्र में भी प्राचीन काल के अवशेष मिले। लिगोर और तकुआ-पा तथा चाया के स्तम्भ पर अंकित एक संस्कृत लेख से प्रतीत होता है कि वहां पर भारतीय ईसवी चौथी-पांचवीं शताब्दी तक अपने राज्य बना चुके थे।[२८]

पुरातात्विक अवशेषों के अतिरिक्त मलाया के विभिन्न स्थानों से प्राप्त लेख भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। ये संस्कृत भाषा में हैं और ईसा की चौथी-पांचवी शताब्दी की लिपि में अंकित हैं। इनमें से ७ वेलेजली प्रान्त के टोकून में, ४ इसी प्रान्त के उत्तरी भाग में, १ केडा में, १ तकुआ-पा में, पांच लिगोर तथा दो चाया में पाये गये हैं। दो लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। एक में महानाविक बुद्ध गुप्त का उल्लेख है, जो रक्त-मृत्तिका निवासी था। इस महानाविक का नाम और स्थान उसके भारतीय होने का संकेत करते हैं।[२९] इस स्थान की समानता मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण में गंगामाटी नामक स्थान से की गयी है।[३०] जिस पत्थर पर यह लेख लिखा है उसी पर एक स्तूप का आकार और सात छत्र भी अंकित हैं। लाजांकिये के मतानुसार[३१] मलाया में भारतीयों के उपनिवेश चुमफोन, चाया, बैंडों नदी की घाटी, नखोन-श्री-घम्मरट (लिगो.र), चल (पटनी) और सेलेनसिंग (पहेंग) मलाका, वे .जली प्रान्त,

२८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ८१।

२९. यह लेख इस समय भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है। देखिए, छावरा, जरनल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (ज० ए० सो० बं०) १ (१९३५), पृ० १५। सिडो, ए० हि० पृ० ८८--८९, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ८२।

३०. 'सुवर्णद्वीप', पृ० ८३। मजुमदार ने तालमी के 'रदमरकोत्त' नामक स्थान का उल्लेख किया है। मार्टिन ने इसकी समानता एक प्राचीन राजधानी रंगमती से की है और चूल ने इससे सहमत होकर इसका संस्कृत नाम 'रंगमृत्तिका' दिया है।

३१. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ८३।

तकुआ-पा तथा लनया और टेनासिरम के मुहाने पर थे। इन सबमें लिगोर का नखोन श्री-धम्मरट सबसे प्रसिद्ध था जो अन्य उपनिवेशों का केन्द्र था और यहां एक बड़ा स्तूप तथा पचास मन्दिर थे। यह बौद्ध धर्म का केन्द्र था, पर चाया पर पहले ब्राह्मणों का आधिपत्य था और फिर यह भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गया। वेल्स महोदय ने प्राचीन भारतीय उपनिवेशों के अवशेषों को ढूँढ़ने का बृहत् प्रयास किया और इस सम्बन्ध में उन्होंने उन मार्गों को भी ढूँढ़ना चाहा जिनका भारतीयों ने अनुसरण किया था।[३२] भारतीय पहले टकुआ-पा नामक स्थान में उतरते थे और यहीं से दक्षिण तथा पूर्व की ओर बढ़ते थे। पूर्व में वंडा की खाड़ी से वे सुदूरपूर्व की ओर जा सकते थे और इसी लिए इस तट पर कई उपनिवेश स्थापित हुए। विसंग-श्रा, चाया तथा नखोन श्री धर्म्मरट मुख्य केन्द्र थे। वेल्स ने अन्य मार्गों का भी उल्लेख किया है जिनका अनुसरण बाद में किया गया। इनमें से एक त्रंग से नखोन-श्री-धम्मरट को जाता था।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम तकुआ-पा में ही भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई और यहीं से पूर्व तथा दक्षिण की ओर भारतीयों का प्रवेश हुआ। नखोन-श्री धर्म्मरट में भारतीय ब्राह्मणों के वंशज मिलते हैं। लिआंग-सू के अनुसार द्वितीय कौडिन्य ने वंडो की खाड़ी के निकट पन-पन नामक स्थान को भारतीय संस्कृति प्रदान की थी। जिन भारतीयों ने मलाया में प्रवेश किया वे उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के निवासी थे। पुरातात्त्विक अवशेषों से पता चलता है कि यहां की प्राचीन वास्तुकला आदि ख्मेर, चम और भारतीय जावानी कला से मिलती-जुलती है। शिल्प कला के जो प्रतीक हैं वे पूर्णतया भारतीय हैं।

३२. इण्डियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स ९, पृ० १—३१।

अध्याय ४

जावा के प्राचीन हिंदू उपनिवेश

मलाया के अतिरिक्त हिन्दनेशिया के जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बालि इत्यादि द्वीपों में भी ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई, जिनका उल्लेख उक्त स्थानों में मिले कुछ लेखों, चीनी वृत्तान्तों तथा अन्य पुरातात्त्विक स्रोतों में मिलता है। इसके अतिरिक्त किंवदन्तियाँ भी इस विषय में प्रकाश डालती हैं। जावा की भौगोलिक स्थिति मलाया से विपरीत है और यहाँ औपनिवेशिक केवल जलमार्ग से ही आ सकते थे। ५१,००० वर्ग-मील क्षेत्र का यह द्वीप उत्तर में जावा-सागर, दक्षिण में विशाल हिन्द महासागर, पूर्व में बालि द्वीप से पृथक् करनेवाली दो मील चौड़ी एक खाड़ी तथा उत्तरपश्चिम में सुमात्रा से अलग करने-वाली सुंडा खाड़ी से घिरा हुआ है। इस द्वीप की लम्बाई ६२२ मील और चौड़ाई ५५ और २१ मील के अन्दर है। इसकी प्राकृतिक सुन्दरता और विशाल घाटियाँ आदिकाल से विदेशियों को आकर्षित करती आयी हैं और इसी लिए यहाँ हिन्दनेशिया के अन्य द्वीपों की अपेक्षा घनी बस्ती है। इसके इतिहास का प्रथम अध्याय भारतीय उपनिवेशों की स्थापना से ही आरम्भ होता है।

किंवदन्तियाँ

किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जाता है[1] कि सबसे पहले महाभारत युग के कुछ वीरों ने अजि शक के नेतृत्व में यहाँ प्रवेश किया। ये अस्तिन् अथवा हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे। बाद की किंवदन्ती के अनुसार औपनिवेशिकों का

१. रैफेल्स ने अपने जावा के इतिहास-ग्रन्थ में किंवदन्तियों का आश्रय लिया है (१८३०, लन्दन)। उपर्युक्त वृत्तान्त इसी ग्रन्थ पर आधारित डा० मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' में मिलता है जिसमें इनका पूर्णतया उल्लेख है (पृ० ९४ से)।

अग्रदल गुजरात से जावा में आया था।[२] इनके अतिरिक्त कलिंग से भी कोई २०,००० कुटुम्ब यहाँ आये थे।[३] बहुत काल तक वे असभ्य अवस्था में रहे, पर जावानी अथवा शक संवत् २८९ में कानो नामक एक कुमार हुआ। ४०० वर्ष तक तीन वंशों ने राज्य किया। उसके बाद अस्तिन् प्रान्त में पुलसर नामक एक राजा हुआ जिसके बाद उसके पुत्र अविआस और पौत्र पांडु देवनाथ ने १०० वर्ष तक राज्य किया। इनके उपरान्त जयमय ने अस्तिन् से उठाकर अपनी राजधानी केडिरी में बनायी और उसी ने यह वृत्तान्त भी लिखा। उपर्युक्त नामों से प्रतीत होता है कि पुलसर (पराशर), अविआस (व्यास) तथा पांडु भारतीय थे। जयमय अथवा जयभद्र ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ और उसने 'रामय-भारत युद्ध' नामक काव्य की रचना की।[४]

इन किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जावा में भारतीय संस्कृति और उपनिवेश की स्थापना का श्रेय अजिशक को था, जिसने इसका नाम यव द्वीप रखा। इसने जावा में शक संवत् के प्रथम वर्ष में प्रवेश किया। कुछ वृत्तान्तों के आधार पर कहा जाता है[५] कि त्रिट्रेस्त नामक ब्राह्मण को सर्वप्रथम जावा में भारतीय संस्कृति और धर्म की स्थापना का श्रेय है और उसी ने यह संवत् भी चलाया। भारतीयों के प्रवेश से पहले यह द्वीप नुस केंडंग कहलाता था और यहाँ के निवासी रसक्ष अथवा राक्षस थे। इन वृत्तान्तों से यह प्रतीत होता है कि पहले जावा असभ्य स्थिति में था और भारतीयों ने यहाँ संस्कृति, धर्म, साहित्य तथा शासन व्यवस्था चलायी। अजि-शक अथवा त्रिट्रेस्त के ऐति-हासिक अस्तित्व पर प्रकाश डालना कठिन है, पर यह मानना पड़ेगा कि इन किंवदन्तियों में वास्तविकता का आभास अवश्य है। यहाँ आनेवाले औपनिवे-शिक कदाचित् उत्तर-भारतीय थे और उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी तट से जावा के लिए प्रस्थान किया। इनके जावा में प्रवेश करने का समय ईसवी प्रथम शताब्दी था, जैसा कि किंवदन्ती के अतिरिक्त हमें भारतीय साहित्य, तालमी के वृत्तान्त तथा चीनी स्रोतों से भी पता चलता है।

२. रैफेल्स, 'हिस्ट्री आफ जावा', पृ० ८७, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ९४।
३. यही, पृ० १३ से, मजुमदार, पृ० ९५ से।
४. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ९५।
५. यही।

भारतीय साहित्य में रामायण में जावा को यवद्वीप कहा गया है। लेवी महोदय ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया। रामायण के आधार पर हरिवंश, क्षेमेन्द्र की 'रामायण-मंजरी' और 'सधर्म संव्युपस्थान' में भी इसे उद्धृत किया गया। यह श्लोक इस प्रकार है—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्त-राज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥
वाल्मीकि-रामायण, काण्ड २, अध्याय ११

इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से पीछे विवेचना की जा चुकी है।

यूनानी भौगोलिक तालमी ने भी यवद्वीप का उल्लेख 'इआवादिओ' अथवा 'सवादियो' के रूप में किया है। तालमी के मतानुसार इस द्वीप की भूमि बहुत उपजाऊ थी और यहाँ सोना पैदा होता था। इसकी राजधानी सुदूर पश्चिम में अर्ग्रिरे अथवा रजत-नगर थी। रामायण में भी इस द्वीप में सुवर्ण और रूप्य (सोना-चांदी) प्राप्त होने का वृत्तान्त मिलता है। तालमी ने अपना भूगोल ईसा की द्वितीय शताब्दी में लिखा और उसका इस द्वीप का ज्ञान कदाचित् रामायण के आधार पर था। इसमें किसी राजवंश का उल्लेख नहीं है, पर ईसा की दूसरी शताब्दी तक यहां भारतीय संस्कृति ने अपना स्थान बना लिया था और कदाचित् हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे।

चीनी वृत्तान्त

१५वीं शताब्दी में फाइ-शिन द्वारा लिखित चीनी ग्रन्थ शिंगच-शेंग-लन[६] के अनुसार मिंग वंश के सप्तम वर्ष (अर्थात् १४३२ ई०) से १३७६ वर्ष पहले हान वंश के समय में जावा में सभ्य युग का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि ५६ ई० में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई और अजिशक द्वारा ७८ ई० का संवत् चलाना सन्देहजनक नहीं प्रतीत होता है। जावा का एक ओर भारत से और दूसरी ओर पूर्वी द्वीपों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और ईसा की द्वितीय शताब्दी में यहाँ से चीन देश में दूत भेजे जाने लगे। चीनी वृत्तान्तों में यहां के भारतीय राजाओं का

६. टूंग-पाओ १६ (१९१५), पृ० २४६—७, नोट १।

उल्लेख है। चीनी ग्रन्थ[७] ह्म -हन्-शू में ये-टिआ-ओ के सम्राट् टिआओ-पिअन द्वारा ई० १३२ में एक दूत भेजने का उल्लेख है। पिलियो[८] के मतानुसार ये-टिआ-ओ की समानता दव द्वीप अथवा जावा से की जा सकती है। फेरड[९] ने टिआ-ओ पिअन का संस्कृत नाम देववर्मन् माना है। इस वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि भारतीय उपनिवेश यहां स्थापित हो चुका था और सम्राट् का सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार था। उस समय वालि और मदुरा द्वीप भी जावा के अंग थे, जैसा कि किंवदन्ती से ज्ञात होता है और २०२ ई० तक ये दोनों द्वीप उसी के अधिकार में थे। 'नगरकृतागम' में मदुरा के पृथक् अस्तित्व का उल्लेख है और बालि की एक किंवदन्ती के अनुसार बालि भी उसी समय जावा से अलग हो गया था।[१०] इससे यह प्रतीत होता है कि पूर्वी जावा में भी सभ्य व्यक्तियों का अभाव न था और कदाचित् भारतीयों ने यहां पर अपना एक और उपनिवेश स्थापित कर लिया था। तृतीय शताब्दी में भी जावा का चीन के साथ राजनीतिक सम्वन्ध स्थापित रहा। इसके प्रथम भाग में दो चीनी कैंग-टाई और चाओ-यिंग फूनान आये। लौटकर उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे। कैंग-टाई के ग्रन्थ 'फूनान टाओ-सू-चोआन' में चाओ-पो नामक देश का कई जगह उल्लेख है। यह फूनान के पूर्व में चीन-सागर में है-नन और मलाका की खाड़ी में स्थित था। इसके पूर्व में म-वू का द्वीप था। पिलिय्रो के

७. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४ (१९०४), पृ० २६६; फेरण्ड, जू० ए० २.८, १९१६, पृ० ५२१ से। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १००। स्टाइन ने इसको सन्देह-जनक माना है। सिडो, ए० हि०, पृ० ९२।

८. बु० इ० फ्रा० ४ (१९०४), पृ० २६६, इस सम्बन्ध में यह भी धारणा है कि जावा, यवद्वीप, ये-पो-ति (ये-टि-ओ) तथा छा-पों इत्यादि नामों से जावा के अतिरिक्त सुमात्रा का भी संकेत था और मार्कोपोलो ने सुमात्रा का ही उल्लेख किया है। कभी-कभी सुमात्रा के अतिरिक्त बोर्नियो तथा मलाया प्रायद्वीप का भी संकेत माना जाता था। सिडो, ए० हि०, पृ० ९३। वास्तव में केवल जावा का ही संकेत प्रतीत होता है।

९. पूर्व संकेतित (पू० सं०)।

१०. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ९७, इन द्वीपों का इतिहास विस्तृत रूप से आगे चलकर दिया जायेगा।

मतानुसार[११] चाओ-पो अथवा चो-पो की समानता जावा और म-वू (शुद्ध रूप म-लि) की समानता बालि से की जा सकती है। फेरेंड के अनुसार चाओ-पो वास्तव में सुमात्रा द्वीप का संकेत करता है।[१२]

चीनी यात्री फाइयान ने भी इस द्वीप का उल्लेख किया है।[१३] लंका से चीन की ओर प्रस्थान करते समय, फाहियान का जहाज समुद्री तूफान के कारण ये-पो-टी (यव द्वीप) पहुंचा, जहां पर वह ४१४-१५८ ई० में पांच महीने रहा। उसका कथन है कि उस समय वहां ब्राह्मण धर्म की वृद्धि थी और बौद्ध धर्म का तो उल्लेख मात्र भी न था। इससे प्रतीत होता है कि उक्त द्वीप में ब्राह्मण धर्म केवल कुछ औपनिवेशिकों तक ही सीमित न था, वरन् उसका सम्पूर्ण जावा में बोल-बाला था। पर थोड़े ही समय बाद यहां बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ और इसका श्रेय कश्मीर अथवा कापिश के राजकुमार गुणवर्मन् को था, जो एक बौद्ध भिक्षु के वेष में यहां आया। इसका उल्लेख ५१९ ई० में सम्पादित काओ-शेंग-च्यूआन अथवा 'प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की जीवनी' में मिलता है।[१४] संघनाद (शैग-किअ-नन) का पुत्र तथा हरिभद्र (हो-लि-पिअ-टो) का पौत्र गुणवर्मन (किआओ-न-प-मो) किपिन का राजकुमार था। ३० वर्ष की अवस्था में उसे पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठने का आमंत्रण दिया गया, पर इसे अस्वीकार कर वह पहले लंका और फिर वहां से जावा (छो-पो) गया। वहां पहुँचकर उसने वहां की राजमाता को सर्वप्रथम बौद्ध धर्म की दीक्षा दी और फिर सम्राट् को भी अपनी ओर प्रभावित किया। ४२४ ई० में चीनी बौद्ध भिक्षुओं के आग्रह पर चीनी सम्राट् ने जावा के सम्राट् पो-टी-किअ के पास गुणवर्मन को चीन भेजने का संदेश भेजा। नन्दिन (नन-टी) नामक एक हिन्दू व्यापारी के जहाज में सवार होकर गुणवर्मन ४३१ ई० में नानकिंग पहुँचा।

११. बु० इ० फ्रा० ४ (१९०४), पृ० २७०; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १०१।

१२. जू० ए०, २.२० (१९२२), पृ० १७५ से; मजुमदार, 'सुवर्ण द्वीप' पृ० १०१।

१३. लेग्गे, फाहियान, पृ० ११३।

१४. पिलिओ, पू० सं० पृ० २७४—५।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी में चीन और जावा के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क पूर्णतया स्थापित हो चुका था। प्रथम 'शुंग वंश के इतिहास' में जावा द्वीप (छो-पो) के हो-लो-टन नामक राज्य से चीनी सम्राट् के पास चार अथवा पांच बार भेंट के साथ राजदूत भेजे गये। ये क्रमशः ई० ४३३, ४३६, ४४९ तथा ४५२ में गये, पर एक अन्य स्रोत के अनुसार ई० ४३३, ४३४, ४३७, ४४९ और ४५२ में गये।[१५] हो लो टन के अतिरिक्त ४३३ तथा ४३५ ई० में छो-पो से दो राजदूत भेंट के साथ चीनी सम्राट् के पास गये । छो-पो अथवा जावा में उस समय छे-लि-पो-ट-टो-अ-ल-प-मो, श्लेगल के अनुसार श्रीपाद धर्मवर्मन्[१६] और फेरंड के अनुसार भट्टार द्वारवर्मन्[१७] राज्य कर रहा था। पर रूफेर ने इसे श्रीपाद-पूर्णवर्मन् कहा है।[१८] पिलियो के मतानुसार चीनी ग्रन्थकारों ने छो-पो और पो-ट को भूल से एक ही माना है।[१९] 'प्रथम शुंग वंश के इतिहास' में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि ४३३ में हो-लो-टन के सम्राट् वाइश (अथवा वाइश्या) वर्मन् ने चीनी सम्राट् के पास एक पत्र भेजा। ४३६ ई० में उसने पुनः एक पत्र भेजा जिसमें अपने पुत्र द्वारा राज्य हरण करने का उल्लेख किया है।[२०] छो-पो में उस समय छे-लि-पो-ठ-ठो-ल-प-मो अर्थात् श्रीपाद धर्मवर्मन अथवा भट्टार द्वारवर्मन् या श्री-पाद पूर्णवर्मन् नामक राजा राज्य कर रहा था। उससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों राज्य एक दूसरे से भिन्न थे, यद्यपि हो-लो टन जावा में ही कोई राज्य रहा होगा।[२१] इस सम्बन्ध में जावा में मिले कुछ प्राचीन लेखों का भी आश्रय लेना पड़ेगा।

१५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १०२; सिडो, ए० हि०, पृ० ९५।

१६. टूंग-पाओ ९, पृ० २५१।

१७. जू० ए० २.८ (१९१६), पृ० ५२६।

१८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १०२। नोट––पूर्णवर्मन का नाम लेखों में भी मिलता है।

१९. पूर्व संकेतित, पृ० २७१। मजुमदार, पृ० १०२। श्लेगल का कथन है कि यह राजदूत छो-पो-प-त्त से आया था और यह छो-पो से भिन्न था।

२०. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १०३।

२१. श्लेगल और मोएन के मतानुसार हो-लो-ठन की समानता केलन्तन से

जावा के प्राचीन लेख

जावा के चार प्राचीन लेख[२२] बटाविया प्रान्त की राजधानी के निकट चि-अरुटों, जम्बू तथा केवों-कोपी में पाये गये, और चौथा इस प्रान्त के बन्दरगाह तंजोग, प्रिओक के निकट टूगू में मिला। प्रथम तीन लेखों में पूर्ण-वर्मन नामक सम्राट् का उल्लेख है जिसकी राजधानी तारुमा अथवा तारूमा थी। प्रथम दो लेखों में पूर्णवर्मन के पदचिह्नों का विवरण और उनकी तुलना विष्णु के चरणों से की गयी है (तारुमनगेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम्। नं० १), तीसरे लेख में उसके गज-चिह्नों का उल्लेख है और चौथे में एक नहर के खुदवाने का विवरण है। पूर्णवर्मन को 'विक्रान्त' कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कदाचित् उसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की होगी। सम्राट् के पदचिह्नों की विष्णु के चरणों से तुलना करना, उसके विष्णु का 'त्रिविक्रम' अवतार होनेका संकेत करता है, जिसका रामायणमें उसी स्थान पर विवरण है जहां जावा का उल्लेख आया है। अतः पूर्णवर्मन के ब्राह्मण-धर्मावलम्बी होने में कोई सन्देह नहीं। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह वहीं के औपनिवेशिक भारतीय

की गयी है और इसे मलाया में रखा गया है। ति० ब० गे० ७७, १९३७, पृ० ३१७—४८६ तथा जरनल मलाया ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १७,१९४०.११। इस मत के विपक्ष में प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने मलाया और हिन्दनेशिया के भौगोलिक स्थानों का उल्लेख करते हुए मोएन के मत पर आपत्ति प्रकट की है। ज० ग्रे० इ० सो० ७, १९४०, पृ० २७—२९।

२२. फोगेल ने इन लेखों का सबसे पहले सम्पादन किया (१९२५)। चटर्जी तथा चक्रवर्ती ने 'इण्डिया एण्ड जावा' नामक पुस्तक में इन्हें पुनः सम्पादित और अनूदित किया (भाग २, पृ० २०—२७)। शासक पूर्णवर्मन् की राजधानी तरुमा थी। कदाचित् जावा में यह राज्य ७वीं शताब्दी में भी था और ६८६ ई० में श्री विजय की ओर से एक सेना इसे जीतने गयी थी। सिडो, ए० हि०, पृ० १४५। आज भी चि-तरुम के रूप में बांडुग की एक नदी का नाम प्राचीन राजधानी का स्मृति-चिह्न है तथा दक्षिण भारत में कन्याकुमारी से उत्तर में २० किलोमीटर की दूरी पर भी इस नाम का एक स्थान है। 'तंग वंश के नवीन इतिहास' में तो-लो-मो नामक एक राज्य का उल्लेख है जिसकी समानता तरुमा से की जा सकती है और यहाँ से ६६६, ६६९ ई० में राजदूत चीन भेजे गये। सिडो, ए० हि०, पृ० ९४।

की सन्तान था अथवा वहां का आदि निवासी था, जिसने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी राजधानी तारुमा अथवा तारूमा के विषय में क्रोम का मत है[२३] कि यह हिन्द-नेशी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'नील' है। दक्षिण भारत के एक लेख में तारुमपुर नगर का उल्लेख पाया जाता है।[२४] नहर का नाम दो भारतीय नदियों, चन्द्रभागा और गोमती पर आधारित है। इस लेख में पूर्णवर्मन के पितामह को राजर्षि कहा गया है और उसने चन्द्रभागा नहर का निर्माण किया था जो राजधानी से जाकर समुद्र में मिलती थी। पूर्णवर्मन ने अपने राज्यकाल के २२वें वर्ष में गोमती नहर का निर्माण कराया था, जो ६,१२२ धनुष लम्बी थी और उसने एक सहस्र गायें ब्राह्मणों को इस उपल य में दान कर दी थीं। ये चारों लेख संस्कृत में हैं और इनकी शैली से प्रतीत होता है कि इस भाषा ने पूर्णतया जावा में अपना स्थान बना लिया था। ब्राह्मणों का आदरणीय स्थान था तथा सम्राट् की ओर से दी गयी दक्षिणा, लेखों की तिथि, मान का प्रयोग और भारतीय नदियों के नाम यह संकेत करते हैं कि पूर्णवर्मन के पितामह, जिन्हें राजर्षि कहा गया है, या तो स्वयं भारत से आये थे अथवा उनके पूर्वज पहले यहां आये थे और वे यहां के निवासियों के साथ मिल-जुल चुके थे।

पूर्णवर्मन् की तिथि के विषय में इन चारों लेखों की लिपि के अध्ययन से ही कुछ सहायता मिल सकती है। फोगेल ने इन लेखों के अक्षरों की बोर्नियो के कुटेई स्थान में मिले मूलवर्मन् के लेखों से समानता दिखाते हुए कहा है कि इनकी तिथि ईसा की चौथी शताब्दी रही होगी।[२५] पर इस विषय पर बोर्नियो के लेखों की तिथि का प्रश्न

२३. हि० जा० गे०, पृ० ७८।

२४. साउथ इण्डियन इंस्क्रप्शंस, भाग ३, पृ० १५९।

प्रो० शास्त्री के मतानुसार तरुमा दक्षिण भारतीय शब्द नहीं है। क्रोम का सुझाव कि यह हिन्दनेशी शब्द है जिसका अर्थ नील है, ठीक प्रतीत होता है। 'साउथ इण्डियन इन्फ्लूएंस इन दी फार ईस्ट (स० उ० इ० फा०), पृ० १०७, नोट ६।

२५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ११०। सिडो के मतानुसार उपर्युक्त लेखों के अक्षर मूलवर्मन के लेखों के बाद के प्रतीत होते हैं और उनकी तिथि ४५० ई० के निकट रखनी चाहिए (ए० हि०, पृ० ९३)। चक्रवर्ती का भी यही मत प्रतीत होता है। 'इण्डिया एण्ड जावा', भाग २, पृ० २३।

भी विवादस्पद है। डा० मजुमदार ने पूर्णवर्मन् के इन लेखों की समानता चम्पा के भद्रवर्मन् और शम्भुवर्मन् के लेखों से दिखाने का प्रयास किया है[२६] और पूर्णवर्मन् को शम्भुवर्मन् का समकालीन माना है, जिसने ५६५ ई० से ६२९ ई० तक राज्य किया। पूर्णवर्मन् ने २२ वर्ष तक राज्य किया, जैसा कि उसके टूगू के लेख से प्रतीत होता है, जिसमें इस वर्ष गोमती नहर के बनवाने का उल्लेख है। उसका राज्य पश्चिमी जावा तक ही सीमित था। उसके लेख बटाविया और निकटवर्ती क्षेत्र में ही मिले हैं। हो सकता है कि उसका राज्य पूर्व की ओर बटाविया से भी आगे हो, पर सम्पूर्ण जावा पर पूर्णवर्मन् का अधिकार न था, जैसा कि चीनी स्रोत से ज्ञात होता है।

हो-लो-टन

हो-लो-टन नामक राज्य का उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहां से ४३३ ई० और ४५२ ई० के बीच में चार-पांच राजदूत चीनी सम्राट् के पास भेंट लेकर गये। यहां के सम्राट् का नाम श्रीपाद धर्मवर्मन् था जिसे कुछ विद्वानों ने भट्टार द्वारवर्मन् अथवा श्रीपाद पूर्णवर्मन् भी माना है। पर इस सम्राट् की समानता लेखों में मिले पूर्णवर्मन् से नहीं की जा सकती है। 'तंग काल के इतिहास' में[२७] (ई० ६१८-९०६) हो-लिंग नामक एक राज्य का उल्लेख है। हो सकता है कि हो-लो-टन और हो-लिंग एक ही राज्य हो और उससे चीनी लेखकों का सम्पूर्ण जावा के लिए संकेत हो। पर यह विषय विवादास्पद है और प्रतीत होता है कि जावा के अन्य राज्यों में यही सबसे बड़ा था और इसके अधीन अन्य छोटे राज्य रहे होंगे। सुई काल (५८९-६१८ ई०) के दो ऐतिहासिक ग्रन्थों में टाओ-पो नामक देश का विवरण है जिसकी समानता पिलियों[२८] ने जावा से दिखायी है। इसके अनुसार देश में १० राजधानियाँ थीं और उनके अपने शासक थे। इस वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि जावा कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और चीनी लेखकों ने सुई काल अथवा उसके पहले

२६. 'सुवर्णद्वीप', पृ० ११०। डा० मजुमदार ने विस्तृत रूप से चम्पा के लेखों की लिपि का अध्ययन किया है और पूर्णवर्मन् के लेखों की समानता वहाँ के भद्रवर्मन् और शंभुवर्मन् के लेखों से दिखायी है (बु० इ० फ्रा० ३२, पृ० १२७ से)।

२७. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २८६; सिडो, ए० हि०, पृ० १३६–७।

२८. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २७५—७६।

की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया हो। तंग काल (६१८-९०६ ई०) में भी एक साम्राज्य के अन्तर्गत यहाँ २८ अधीन राज्य थे।[२९]

हो-लिंग के विषय में कहा जाता है कि इसका नामकरण कलिंग के आधार पर किया गया था और इसका श्रेय कलिंग से आये नये औपनिवेशिक जत्थे को था। यह भी हो सकता है कि कलिंग से औपनिवेशिक बहुत पहले इस द्वीप में आये हों और उन्होंने अपने स्थापित किये राज्य का अपनी मातृभूमि के आधार पर नामकरण किया हो। जावा का नाम सातवीं शताब्दी में भी नहीं बदला था, जैसा कि य्वान्-चांग के वृतान्त से पता चलता है। उसका येन-मो-ना वास्तव में यवद्वीप है।[३०] 'तंग-वंश के नवीन इतिहास' में सीमा नामक एक साम्राज्ञी का उल्लेख है जिसे ६७४-५ ई० में जनता द्वारा निर्वाचित किया गया था।[३१] उसका राज्यकाल सम्पन्नता का युग था। इस वृत्तान्त में यद्यपि ऐतिहासिकता का अभाव हो, पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि सम्राट् अथवा सम्राज्ञी चुने जाते थे।

पश्चिमी जावा के अतिरिक्त मध्य जावा में भी कई छोटे राज्य थे। कई मेरबबु पहाड़ी के निकट टुक-मुस नामक झरने के पास एक बड़े पत्थर पर एक लेख मिला है जो केवल एक पंक्ति में है।[३२] इसमें गंगा का उल्लेख है। इसके अक्षर पूर्णवर्मन् के लेख के बाद के काल के प्रतीत होते हैं, पर न तो इस पर तिथि है और न किसी नृप का नाम लिखा है। यह पद्य-पंक्ति उपजाति छन्द में है। कर्न ने पल्लव ग्रन्थ-अक्षरों की लिपि के आधार पर इसकी तिथि ईसवी की पांचवीं शताब्दी निर्धारित की है, पर क्रोम इसे ७वीं शताब्दी के मध्य भाग में रखते हैं। चंगल में मिले लेख से यह पहले का है और इससे मध्य जावा में हिन्दू राज्य स्थापना का पता चलता है। मध्य जावा के डिएंग पठार में लगभग इसी काल की पल्लव ग्रन्थ-लिपि का एक और लेख मिला है जो ठीक से पढ़ा नहीं जा सकता है। यहां पर और पुरातात्त्विक अवशेष

२९. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १११।

३०. जे० आर० ए० स० १९२०, पृ० ४४७ से। बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २७८।

३१. बु० इ० फ्रा० ४ पृ० २९७। ज० ए० २.२२। १९२२ पृ० ३७, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ११३।

३२. जे० ए० एस० बी० बंगाल १, पृ० ३३ से। कर्न के मतानुसार इसकी तिथि ईसवी पाँचवीं शताब्दी है पर क्रोम ने इसे ७वीं शताब्दी में रखा है।

मिले हैं। टुक-मुस का लेख जिस पत्थर पर खुदा है उसी पर कुछ चित्र भी अंकित हैं, जिनमें एक ओर चक्र, शंख, गदा इत्यादि अस्त्र प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर कमल परशु, माला तथा कुम्भ दिखाये गये हैं। त्रिशूल से शिव तथा चक्र और शंख चिह्नों से विष्णु की उपासना का संकेत होता है। कुम्भ से कदाचित् अगस्त्य, परशु से परशुराम अथवा यम तथा अन्य चिह्नों से दूसरे देवताओं का संकेत होता है। टुक-मुस लेख और पत्थर पर अंकित चिह्न मध्य जावा पर भारतीय धर्म और संस्कृति की गहरी छाप के प्रतीक हैं। वास्तव में पश्चिम जावा की भाँति मध्य जावा में भी हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे।

अध्याय ५

सुमात्रा, बोर्नियो और बालि के प्राचीन हिन्दू उपनिवेश

भौगोलिक दृष्टिकोण से सुमात्रा द्वीप क्षेत्रफल में बोर्नियों के बाद सबसे बड़ा होते हुए भी, जावा की भाँति घना नहीं बसा है। मलाका, बाँका और सुंडा की खाड़ियां इसे उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व में क्रमशः मलाया, बांका द्वीप और जावा से पृथक् करती हैं। इसके किनारों पर छोटे-छोटे बहुत-से द्वीप हैं। इस द्वीप की लम्बाई कोई १०६० मील और चौड़ाई २४८ मील है। इसका क्षेत्रफल जावा से चौगुना है, पर जनसंख्या कम है। खनिज पदार्थों की यहां बहुतायत है और भूमि भी उपजाऊ है। देश में बहुत सी नदियां हैं जिनमें जाम्बी प्रमुख है। भौगोलिक साधनों के कारण यहां पर विदेशियों का विभिन्न कालों में आगमन हुआ और इसी लिए यहां की जनसंख्या में सभी जाति के लोगों का संमिश्रण मिलता है—इनमें से मुख्यतया लम्पोंग हैं जो सुमात्रा के सुदूर दक्षिणी भाग में सुंडा की खाड़ी के निकट रहते हैं, रेजंग जो मुसी नदी के ऊपरी भाग में रहते हैं और एक प्रकार की भारतीय लिपि का प्रयोग करते हैं, मलय जो पलेमवंग के निकटवर्ती क्षेत्र में अधिकतर रहते हैं और मलाका के मलय के समान है तथा बटाक, जो उत्तरी भाग में रहते हैं और मलय से मिलते जुलते हैं।[1] भारतीय संस्कृति ने इस द्वीप में ईसा से एक दो शताब्दी पहले प्रवेश

१. सुमात्रा का भौगोलिक वृत्तान्त कबतों और क्रफोर्ड के ग्रन्थों पर आधारित, डा० मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' से उद्धृत है (पृ० ११६)। इस सम्बन्ध में इशनिख्तर का ग्रन्थ 'दी आर्कियोलाजी आफ हिन्दू सुमात्रा', लेडेन १९३७, कोम का 'एनवल बिब्लिओग्राफी आफ इण्डियन आर्कियोलाजी' में पलेमवंग से प्राप्त प्राचीन सामग्री पर लेख (१९३१, पृ० २९—३३) तथा प्रिजूलेस्की का सातवीं शताब्दी से पहले सुमात्रा में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना सम्बन्धी लेख विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ज० ग्रे० इं० सो० १, १९३४, पृ० ९२—१०१।

किया, क्योंकि यह भारत और चीन के बीच सामुद्रिक यात्रा के मार्ग पर पड़ता था। फैरंड के मतानुसार भारतीयों के इस द्वीप में प्रवेश को ईसा से कुछ शताब्दी पहले रखा जा सकता है।[२] इसी विद्वान् का यह भी विचार है कि रामायण में उल्लिखित यव द्वीप का संकेत जावा से नहीं, वरन् सुमात्रा से है और इसी लिए तालमी का इआवादियों, फाहियान का ये-पो-सि, आर्यभटीय और सूर्यसिद्धान्त का यवकोटि तथा चीनी ग्रन्थों का ये-टि-ओ, याओ-पो, टाङ-पो और छो-पो वास्तव में सुमात्रा के ही संकेत हैं। इस विषय में पहले ही विचार हो चुका है और विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि उपर्युक्त सूत्रों से केवल जावा का ही संकेत है। तालमी[३] ने इआवादियों के अतिरिक्त वरुसार और सवदेवए का भी उल्लेख किया है जिससे क्रोम के मतानुसार[४] सुमात्रा के पश्चिमी और दक्षिणी भाग का संकेत होता है।

सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य के उत्कर्ष के पहले की कुछ सामग्री मिली है तथा भारतीय कला के अवशेष और चीनी वृत्तान्त ईसवी चौथी से सातवीं शताब्दी तक के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इससे यह प्रतीत होगा कि सुमात्रा में भी छोट-छोटे कई राज्य थे[५] और भारतीय धर्म तथा संस्कृति ने वहां प्रभाव स्थापित कर

२. जू० ए० २.२० (१९२२), पृ० २०४। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार तालमी तथा अन्य भौगोलिकों के लिए 'यव' से जावा-सुमात्रा दोनों ही का संकेत है। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २४०।

३. एंशियण्ट इण्डिया, मजुमदार शास्त्री, पृ० २३६, २३८--३९।

४. हि० जा० गेश, पृ० ५५--६।

५. सुमात्रा के एक राज्य का उल्लेख ६४४ या ६४५ ई० में चीन भेजे गये राजदूत के सम्बन्ध में मिलता है। इस राज्य का नाम मो-लो-यू था जो मलयु से मिलता-जुलता है। इसका उल्लेख ७वीं शताब्दी के एक चीनी ग्रन्थ में मो-लो-यू के रूप में मिलता है। उसकी समानता सुमात्रा के वर्तमान जाम्बी से की जा सकती है। चीनी यात्री इत्सिग भारत आते तथा लौटते समय यहाँ ठहरा था। उसके मतानुसार ६८९ और ६९२ ई० के बीच में यह श्री लि फो ये (श्रीविजय) के अधिकार में आ गया था। तककुसु, ए रिकार्ड बाई इत्सिग, पृ० ३४; सिडो, ए० हि०, पृ० १३८, १४२; पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३२४। दक्षिण-पूर्वी सुमात्रा के एक और राज्य ता लेंडा पो हुअंग की समानता तुलंगवंग से की गयी है। बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३२४--६। जू० ए० २.११ १९१८, पृ० ४७७ से।

लिया था। इनमें से कदाचित् श्रीविजय नामक एक स्वतन्त्र राज्य भी था जिसने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया और उसका चीनी, अरबी तथा स्थानीय स्रोतों से वृत्तान्त मिलता है। इसअ ध्याय में केवल आदि श्रीविजय काल के इतिहास पर ही प्रकाश डाला जायगा।

आदि श्रीविजय युग

यद्यपि श्रीविजय के उत्कर्ष का काल ईसवी ७वीं शताब्दी से आरम्भ होता है, पर फेरंड ने चीनी स्रोतों में इसका उल्लेख और पहले दिखाने का प्रयास किया है।[६] कालोदक नामक बौद्ध भिक्षु द्वारा ई० ३९२ में अनूदित 'छे-यूल-युवो किंग' अथवा बुद्ध की द्वादश अवस्थाओं के सूत्र में जम्बू द्वीप का उल्लेख है, जिसे ५१६ में लिखित किंग लियू-यि-सिअंग में भी उद्धृत किया गया है। इसमें लिखा है कि समुद्र में २५०० राज्य (द्वीप) थे। प्रथम राजा स्यो-लि बौद्ध था और वहां नास्तिक नहीं रहते थे। चौथा राजा छो-ये कहलाता था और वहां लम्बी मिर्च (पि-प) और साधारण मिर्च (हाओ-त्सियो) पैदा होती थी। इस ग्रन्थ की टीका 'फन-फान-यू' में, जिसकी रचना छठीं शताब्दी में हुई थी, छो-ये को जय लिखा है। इसे लेवी ने जावा का संकेत समझा, पर फेरंड उसे जय अथवा विजय मानते हैं।[७] यदि फेरंड के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो श्रीविजय राज्य की स्थापना ईसवी चतुर्थ शताब्दी में माननी चाहिए, पर ७वीं शताब्दी तक इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।[८] हो सकता है कि श्रीविजय राज्य का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में अन्य नामों से हो।

मिंग वंश के इतिहास में सन-फो-त्सी की, जिसे पहले कन तो ली कहा जाता था, ओर से सर्वप्रथम शुंग वंश के सम्राट् हिआओ-वू के समय में भेंट लेकर राजदूतों के जाने का उल्लेख है। उसके बाद के एक सम्राट वू के राज्यकाल (५०२-५०९) में भी कई बार उस देश के राजदूत चीन आये और विना रोकटोक के द्वितीय शुंग वंश (९६०-१२७९) के समय में भी वे आते रहे।[९] लिअंग-वंश के इतिहास में

६. फेरण्ड, जू० ए०, २.२० (१९२२), पृ० २०८ से।
७. यही, पृ० २१०; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२१।
८. क्रोम, हि० जा० गे०, पृ० ६२—३।
९. प्रिजूलेस्की, ज० ग्रे० इ० स० भाग १, पृ० ९२ से। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७९—८०; मोएन्स, जे० आर० ए० स० वी० मलाया, १९३९, पृ० ४३।

भी कन-टो-ली से भेजे गये वहुत से राजदूतों का उल्लेख है। कन-टो-ली की समानता मिंग वंश के वृतान्त सैन-फो-ट्सी अथवा श्रीविजय पलेमवंग से करते हैं।[10] फेरंड ने इब्न मजीद के वृतान्त के आधार पर कन-टो-ली से सम्पूर्ण सुमात्रा का संकेत किया है।[11] किन्तु प्रिजूलेस्की और क्रोम इस मत से सहमत नहीं हैं। ये दोनों इस वात को मानते हैं कि कन-टो-ली से कदाचित् सुमात्रा के किसी छोटे राज्य का संकेत होगा, पर डा० मजुमदार ने जेरिनी के मत को मानते हुए इसे मलय द्वीप में रखा है।[12] सिडो ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि इसे सुमात्रा में ही रखना चाहिए, जिससे अधिकतर विद्वान् सहमत हैं।[13] ४५४-४६४ ई० के आन्तरिक काल में श्रीवरनरेन्द्र नामक सम्राट् ने रुद्र नामक एक दूत चीन भेजा। ५०२ ई० में गौतम सुमुद्र नामक राजा यहां राज्य करता था जिसके पुत्र विजयवर्मन् ने ५१९ ई० में एक दूत चीन भेजा। चीनी से उद्धृत संस्कृत नामों से प्रतीत होता है कि सुमात्रा में श्रीविजय के उत्कर्ष से पहले भी कुछ हिन्दू राज्य अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। इस सम्बन्ध में ६४४ अथवा ६४५ ई० के एक चीनी वृतान्त में सुमात्रा से चीन भेजे गये एक राजदूत का उल्लेख है। इस राज्य का नाम मो-लो-यू था, जिसकी समानता इत्सिंग के वृत्तान्त के आधार पर सुमात्रा के जाम्बी से की गयी है। यह भारतीय मलयु था जिसका उल्लेख मो ले छे के रूप में एक ७वीं शताब्दी के चीनी ग्रन्थ में भी मिलता है। इसी सूची में टो-लंग-पो-होआंग नामक एक और राज्य का

१०. कन-टो-ली राज्य सम्बन्धी वृत्तान्त को मलाया के प्राचीन उपनिवेश के अध्याय में दिया जा चुका है। जेरिनी के मत को मानते हुए डा० मजुमदार ने इसे मलाया में रखा है। कुछ विद्वान् इसकी समानता श्रीविजय पलेमवंग से करते हैं। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री, बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २४२। विषय विवादास्पद है, अतः क्रम से दोनों मतों का उल्लेख दे दिया गया है।

११. जू० ए० १९१९, पृ० २३८—२४१, उपर्युक्त संकेतित।

१२. 'सुवर्णद्वीप' पृ० २२१। डा० मजुमदार ने रिचि के चार्ट (१७वीं शताब्दी) का उल्लेख करते हुए किओ-किअंग और सन-फो-त्सी को प्रायद्वीप के मध्य में रखा है, पर सिडो ने इस १७वीं शताब्दी के प्रमाण को अमान्य कहा है।

१३. ए० हि० पृ० ९५।

भी उल्लेख है जिसकी समानता दक्षिण-पूर्व सुमात्रा के तुलंगववंग से की गयी है।[१४] इन दोनों राज्यों का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं रहा। इनकी वक्ष-शिला पर एक नवीन राज्य फो-ये, चे-लि-फो ये अथवा श्रीविजय की स्थापना हुई जो आगे चलकर श्रीविजय कहलाया और जिसका उल्लेख चीनी, अरबी और भारतीय क्षेत्रों में मिलता है तथा लेख प्रमाण[१५] भी मिलते हैं।

पुरातात्विक अवशेष

सुमात्रा के कुछ स्थानों के अवशेष गुप्त अथवा पल्लव प्रभाव के प्रतीक हैं। गुप्त कला की ईसवी ५वीं अथवा ६ठीं शताब्दी की एक कासे की बुद्ध-मूर्ति सेगुन टोग पर्वत नामक स्थान पर मिली और एक पत्थर की बुद्ध-मूर्ति जाम्बी में

१४. वु० इ० फ्रा० ४ पृ० ३२४.६; फेरंड ज० ए० २.११। १९१८, पृ० ७७ से। मजुमदार 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२०। इस पर टिप्पणी पहले ही की जा चुकी है (नं० ५)।

१५. इन लेखों में चार मलय और एक संस्कृत भाषा में हैं। चार मलय लेखों में तीन सुमात्रा (१—२ पलेमवंग के निकट, तथा नं० ३ जाम्बी मलयु) में और चौथा वांका द्वीप के कोटा कपूर नामक स्थान में मिला। ५वाँ लेख संस्कृत में है और यह मलाया प्रायद्वीप के लिगोर में मिला। प्रथम लेख शक सं० ६०५ (६८३ ई०) का है और इसमें श्रीविजय के एक शासक का उल्लेख है। दूसरा लेख शक सं० ६०६ (६८४ ई०) का जयनाश नामक शासक का है। तीसरा और चौथा समान है और इनमें श्रीविजय राज्य और उसके अधीन राज्यों के प्रति व्यवहार का उल्लेख है। चौथे में शक सं० ६०८ (६८६ ई०) के बाद का लिखा वृत्तान्त उस समय का है जब कि श्रीविजय की सेना जावा के विरुद्ध प्रवेश कर रही थी, जिसने अब तक श्रीविजय का आधिपत्य नहीं स्वीकार किया था। पाँचवें लेख में, जो शक सं० ६९७ (७७५ ई०) का है, श्रीविजय की विशाल शक्ति का उल्लेख है। उपर्युक्त लेखों से प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक श्रीविजय राज्य की सुमात्रा में पूर्णतया स्थापना हो चुकी थी। देखिए मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२३—१२४। शास्त्री, वु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २४३ से। श्रीविजय राज्य के उत्कर्ष तथा इतिहास पर विस्तृत रूप से आगे चलकर विचार किया जायगा।

मिली।[१६] विष्णु की एक ७वीं शताब्दीं की केवल चेहरे की मूर्ति निकटवर्ती वांका द्वीप में मिली, जिसकी समानता वेल्स ने मध्य स्याम के सी-तेप में मिली मूर्तियों[१७] से की है और उनके विचार में यह गुप्त कला की प्रतीक है। यहां पर पल्लव प्रभाव भी पड़ा जो एक पत्थर की बोधिसत्त्व की मूर्ति तथा एक दूसरी मूर्ति के कंधे द्वारा प्रतीत होता है। ये लंका के एक बोधिसत्त्व की मूर्ति से मिलते-जुलते हैं।[१८] इनसे यह ज्ञात होता है कि सुमात्रा में उत्तरी तथा दक्षिण भारत से पुरुषार्थी व्यक्तियों ने आकर अपने उपनिवेश स्थापित किये। उनकी सभ्यता बढ़ी-चढ़ी थी और जो कुछ थोड़े-बहुत अवशेष मिले हैं उनसे इसकी पुष्टि होती है। इन राज्यों का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं कायम रहा। ७वीं शताब्दी में श्रीविजय नामक हिन्दू राज्य का उत्कर्ष हुआ और सम्पूर्ण जावा तथा निकटवर्ती द्वीप एवं मलाया पर भी उसने अधिकार कर लिया। इसी लिए इत्सिंग ने भी कहा है कि मलय देश श्रीविजय कहलाता है अथवा वह श्रीविजय राज्य का अंग बन गया है।[१९] इस सम्बन्ध में कुछ लेख भी मिले हैं जो श्रीविजय के निकटवर्ती द्वीप पर अधिकार तथा संघर्ष की भावना का संकेत करते हैं। श्रीविजय के प्रभुत्व तथा सामुद्रिक शक्ति का उल्लेख इस चीनी यात्री ने भी किया है और इस पर हम विस्तृत रूप से आगे प्रकाश डालेंगे।

बोर्नियो में भारतीय संस्कृति

बोर्नियो द्वीप क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से सबसे बड़ा है। जावा से यह सात-आठ गुना है, पर इसकी जनसंख्या क्षेत्रफल के अनुसार बहुत कम है। इसका कारण इसके घने जंगल और पहाड़ी क्षेत्र हैं। पर भूमि बड़ी ही उपजाऊ है। इस द्वीप में भी भारतीयों ने प्रवेश किया। या तो वे जावा से यहां आये अन्यथा सीधे भारत से उन्होंने प्रवेश किया। यह प्रश्न विवादास्पद है क्योंकि कुछ मूर्तियों पर जावा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है।[२०] १८७९ ई० में दक्षिण-पूर्व में कोटि अथवा कुटेई प्रान्त

१६. ईशनिख्लर, आर्कियोलाजी आफ सुमात्रा, प्लेट ६ तथा ११।

१७. जे० आर० ए० एस० १९४८, पृ० ५।

१८. ईशनिख्तर, प्लेट १०, ज० ग्रे० इ० सो ४, पृ० १२५ से; वेल्स, जे० आर० ए० एस० १९४८, पृ० ६।

१९. तककुसु, पृ० १०।

२०. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२९।

के मुआर कमन नामक स्थान में चार लेख मिले। यह स्थान पेलराग से उत्तर में मरकम नदी पर स्थित है। यहीं पर एक टूटी हुई चीनी नाव के अवशेष से पता चला है कि किसी समय में सामुद्रिक यातायात का यह एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह रहा होगा। कदाचित् भारतीय हिन्दू भी यहां इसी मार्ग से आये। कई ६ फुट ऊँचे पत्थर के स्तम्भों पर लेख खुदे हैं जिनमें वहां पर किये गये यज्ञ और ब्राह्मणों को दिये गये दानोंका उल्लेख है। इनमें मूलवर्मन् नामक राजा का उल्लेख है जिसने वहुत-से दान कृत्य किये थे। पहले लेख में उपर्युक्त सम्राट् द्वारा पशु, भूमि, कल्पवृक्ष तथा अन्य वस्तुओं के दान का उल्लेख है और ब्राह्मणों ने इस स्तम्भ की स्थापना की थी। दूसरे लेख में मूलवर्मन् के पूर्वजों का नाम भी मिलता है। इसके पितामह का नाम राजा कुण्डुंग था और इसके पिता अश्ववर्मन् ने सूर्य (अंशुमान्) की भांति अपने वंश को चलाया था। अश्ववर्मन् के तीन पुत्रों में श्री मूलवर्मन् सबसे बड़ा था और वह साधु प्रकृति का था। इसने बहुसुवर्णक यज्ञ किया जिसके उपलक्ष्य में दूसरा यूप खड़ा किया गया था। तृतीय लेख में मूलवर्मन् को मुख्य राजा कहा गया है और इसने वप्रकेश्वर की पुण्यभूमि में ब्राह्मणों को २०,००० गायें दान में दी थीं। इस पुण्य कृत्य की स्मृति में तीसरा यूप स्थापित किया गया था। चौथा लेख पूर्णतया पढ़ा नहीं जा सका, पर इसमें मूलवर्मन् की तुलना भगीरथ से की गयी है। ये चारों लेख संस्कृत में है और अनुष्टुप् तथा आर्या छन्दों में इनकी रचना हुई है। इनकी लिखावट प्राचीन पल्लव ग्रन्थ-लिपि में है और इसी आधार पर इन्हें ४०० ईसवी में रखा गया है।[२१] इन लेखों से यह पूर्णतया प्रमाणित है कि भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा धर्म ने वोर्नियो में ईसवी चौथी शताब्दी में अपना स्थान बना लिया था। राजा कुण्डुंग और उसके पुत्र अश्ववर्मन् के विषय में विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। कर्न तथा क्रोम के मतानुसार यह व्यक्ति वहीं का निवासी था क्योंकि कुण्डुग शब्द संस्कृत में नहीं मिलता है और कदाचित् वोर्नियो की भाषा से यह लिया गया है। इसके पुत्र अश्ववर्मन् ने हिन्दू धर्म अंगीकार किया हो और इसी लिए इसे वंशकर्तृ कहा गया है और इसकी तुलना सूर्य (अंशुमन्त) से की

२१. मजुमदार, 'स्वर्णद्वीप', पृ० १२६ से; छावड़ा, जे० ए० एस० बी० १.१९३५, पृ० ३९। ज० ग्रे० इ० सो० १२ (१९४५), पृ० १४-१७; फोगेल; विजड्रागेन ७४, १९१८.१६७ से। सिडो, ए० हि०, पृ० ९१।

गयी है जिसे सूर्यवंश चलाने का श्रेय दिया गया है। डा० छावड़ा के मतानुसार[२२] इसका कदाचित् दक्षिण भारत से सम्बन्ध था और कुण्डुंग तामिल शब्द रहा हो। इसी प्रकार का एक और नाम कुण्डुकार एक पल्लव लेख में मिलता है। छावड़ा के मतानुसार यह व्यक्ति कदाचित् दक्षिण भारत का रहनेवाला था और उसने वहां जाकर अपना राज्य बनाया। डा० मजुमदार ने कुण्डुंग और अश्ववर्मन् की समानता कम्बुज देश के स्थापक कौण्डिन्य तथा अश्वत्थामा से की है जिसका उल्लेख चम्पा के एक लेख में मिलता है।[२३]

इन चार लेखों के अतिरिक्त, पश्चिमी बोर्नियो में ८ छोटे-छोटे लेख मिले हैं जिनकी तिथि बाद की है और वे एक चट्टान पर खुदे हुए हैं। यह सोएनगी टेकारेक सोते के निकट वटो पहत में मिले हैं। इनके ऊपर छत्र और स्तूप अंकित हैं। १, ३, ६, ८ तथा २, ५, ७, लेखों में वही सूत्र अंकित हैं जो मलाया के केडा तथा बुद्ध गुप्त नामक नाविक के लेख में क्रमशः मिलते हैं।[२४] इन लेखों का सारांश नहीं पढ़ा जा सका, क्योंकि उतना भाग मिट गया था, पर इनके बौद्ध लेख होने में कोई सन्देह नहीं है।

पुरातात्त्विक अवशेष

बोर्नियो में भारतीय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी मिलीं। पत्थर की बहुत-सी मूर्तियाँ गोएनोएग कोमवेंग की एक गुफा में गहराई पर मिलीं। इनमें से कुछ टूटी हुई थीं, और उनका मस्तिक नहीं था। कदाचित् मूर्ति तोड़ने वालों से रक्षा के हेतु ये किसी समय में वहां लायी गयी होंगी। इनका ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों

२२. जे० ए० एस० बी० १.१९३५, पृ० ३९।
२३. चम्पा, भाग ३, पृ० २३।
२४. छावड़ा, जे० ए० एस० बी० बंगाल १ (१९३५), पृ० १७।
केडा के लेख में जो बौद्ध सूत्र अंकित हैं वे निम्नलिखित हैं—

ये धर्मा हेतु प्रभवा तेषां हेतुं तथागतो (ह्यवदत्)।
तेषां ये यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः॥
अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्म कारणम्।
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते॥

से सम्बन्ध है। ब्राह्मण मूर्तियों में शिव, नन्दीश्वर, अगस्त्य, महाकाल (खड़ी मूर्तियां), कार्तिकेय तथा गणेश (बैठी हुई मूर्तियां) तथा एक बैठी नन्दी और चतुर्मुखी ब्रह्मा की मूर्ति के कुछ अंग मिले।[२५] बौद्ध मूर्तियां पद्मासन में कमल पर बैठी मिली हैं जिनमें अधिकांश देवियां हैं और इनको अभी पहचाना नहीं जा सका है। क्रोम के मतानुसार इनमें एक वज्रपाणि की भी मूर्ति[२६] है। इन दोनों श्रेणियों की मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से एक ही काल की हैं। बौद्ध मूर्तियों के मस्तिष्क पर स्तूपाकार मुकुट है, पर प्रतिमा-लक्षण केवल बौद्ध ही नहीं है। काँसे की एक बुद्ध की खड़ी अवस्था में कोई दो फुट से कम ऊंची मूर्ति भी बोर्नियो द्वीप में मिली। विष्णु की एक चतुर्भुजी छोटी सुवर्णमूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है, जिसके पीछे दो मोर खड़े हैं। यह अन्य सुवर्ण आभूषित मूर्तियों में से एक है और इसकी कारीगरी सुन्दर है। कोम-वेंग में मिली मूर्तियां कला की दृष्टि से सबसे प्राचीन हैं। वहाँ पर मिले कुछ लकड़ी के खम्भे कदाचित् यह संकेत करते हैं कि वहां कोई लकड़ी का मन्दिर रहा होगा जहां से ये मूर्तियां प्राप्त हुई। इसी लिए कोई पत्थर के बने मन्दिरों के अवशेष नहीं प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी बोर्नियो में कपुआस नदी के किनारे भी कहीं-कहीं प्राचीन अवशेष मिले हैं। इनमें सेपाक में मिला मुखलिंग, संग्गौ में दो पंक्तियों का एक लेख, सात और लेख जिनका उल्लेख पहले हो चुका है जो वटु पहात में मिले, बहुत-सी सोने की थालियां तथा सैग वेलिरंग का एक लेख उल्लेखनीय हैं।[२७] बोर्नियो में भारत से औपनिवेशिक सीधे जाकर बस गये। इसकी समानता वायु पुराण[२८] में उल्लिखित बर्हिन् द्वीप से की गयी है और प्राचीन पुरातात्त्विक अवशेष संकेत करते हैं कि यहाँ पर जावा का प्रभाव नहीं पड़ा था। जिन लेखों में प्रसिद्ध बौद्ध धार्मिक सूत्र 'अज्ञाना-च्चीयते कर्म' तथा 'ये धर्मा हेतुप्रभवा' का उल्लेख है,[२९] वे मलाया के केड़ा लेख में भी मिलते हैं, जिनसे इन दोनों क्षेत्रों के बीच संसर्ग प्रतीत होता है। वास्तव में

२५. गंगोली, जे० ग्रे० इ० सो० (१९३६), पृ० ९७; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२८।

२६. ए० वि० इ० आ० १९२६, चित्र ११ छावड़ा, उ० सं०, पृ० ३८।

२७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १३०।

२८. ४८, १२ सिडो, ए० हि० पृ० ९२, 'रूपम्' १९२६, पृ० १४।

२९. देखिए नोट २४

ईसवी १ली शताब्दी में इस द्वीप के विभिन्न भागों में भारतीय आकर बस गये और इन्होंने अपने राज्य स्थापित कर धर्म और संस्कृति का यहाँ प्रसरण किया। भारतीय औपनिवेशिकों की लहर सुदूरपूर्व में यहाँ तक पहुँची।

बालि और सेलिबीज़ द्वीपों में भारतीय संस्कृति

यह खेद का विषय है कि बालि में जहां आज भी हिन्दू धर्म और संस्कृति अपना स्थान बनाये हुए है, प्राचीन पुरातात्त्विक अवशेष नहीं मिले हैं, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति और उसके उस द्वीप में प्रवेश पर प्रकाश डाल सकें। भारतीय साहित्य में भी इस द्वीप का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। चीनी इतिहास ग्रन्थों में पो-ली नामक द्वीप का उल्लेख है जो बालि से मिलता-जुलता नाम है और इसे हो-लिंग अथवा जावा के पूर्व में भी रखा गया है। पर कुछ विद्वान् चीनी वृत्तान्तों में वर्णित द्वीप के क्षेत्रफल को दृष्टि में रखते हुए इस पो-लि की समानता सुमात्रा के उत्तरी-पश्चिमी भाग से करते हैं।[३०] पिलियों का कथन है[३१] कि चीनी वृत्तान्तों में क्षेत्रफल की अपेक्षा दिशा संकेत अधिक माननीय है, और इसलिए पो-ली को बालि मानना ही ठीक होगा। यद्यपि निश्चित रूप से इस समानता को न भी माना जाय,[३२] पर अन्य द्वीपों की अपेक्षा बालि चीनी पो-ली के अधिक निकट है। सुदूरपूर्व के सबसे छोटे इस द्वीप की लम्बाई ९३ मील और चौड़ाई केवल ५० मील है और प्राकृतिक दृष्टिकोण से यह बहुत सुन्दर है तथा यहां की भूमि उपजाऊ है। चीनी[३३] स्रोतों में सर्वप्रथम लिअंगवंश के

३०. ग्रोएन वेल्ट; नोट्स पृ० ८४; श्लेगेल, टूंगपाओ १८९८, पृ० २७६; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १३३।

३१. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २७९ से।

३२. सिडो के मतानुसार यदि पो-ली की समानता बालि से न मानी जाय, तो इसे बोर्नियो माना जाना चाहिए (ए० हि०, पृ० ९२), पर बोर्नियो जावा के उत्तर या उत्तर-पूर्व में है, किन्तु पो-ली को हो-लिंग के पूर्व में रखा गया है। तेमर वंश के नवीन इतिहास में पो-ली को मा-ली कहा गया है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १३४ नोट।

३३. चीनी वृत्तान्तों का अनुवाद ग्रोएनवेल्ट (नोट्स पृ० ८०-८४, श्लेगल), टूंग-पाओ १९०१, पृ० ३२९, ३३७ तथा पिलिओ ने किया (बु० इ० फ्रा० ४,

इतिहास (५०२-५५६ ई०) में पो-ली का उल्लेख मिलता है। इसके विषय में लिखा है कि यहां का राजा कौण्डिन्य वंश का था, किन्तु उसे अपने पूर्वजों अथवा उनके समय का ज्ञान न था। कहा जाता है कि शुद्धोदन की रानी इसी देश की थी। इस देश का चीन के साथ कोई सम्बन्ध न था। इस ग्रन्थ में राजा के रेशमी वस्त्र, सुनहरे मुकुट, उसके सिंहासन तथा अनुचरों इत्यादि का भी विवरण दिया गया है। ५१८ ई० में यहां से चीनी सम्राट् के पास बहुमूल्य भेंट लेकर एक दूत गया। ५२३ ई० में पिन-क (श्लेगेल के मतानुसार कलविम्क) नामक राजा ने एक और दूत चीन भेजा। इसके बाद सुई वंश के इतिहास (५८१-६१७ ई०) में कुछ अधिक विवरण प्राप्त होता है।[३४] इसके अनुसार कुल का नाम छरियक, जिससे कदाचित् क्षत्रिय का तात्पर्य प्रतीत होता है और राजा का नाम हुलुन-न्व-पो था। यही वृत्तान्त तांग वंश के नवीन इतिहास (ई० ६१८-९०६) में भी मिलता है। इसमें राजा का नाम हुलुन पो लिखा है। सुई काल में (६१६ ई० में) पो-ली से एक और राजदूत चीन गया था। इस वंश के इतिहास में चक्र की भांति के एक शस्त्र का उल्लेख है तथा शारी (भारतीय शारिका, मैना) का भी विवरण है और लिखा है कि यह बोल भी लेती थी। यहां से ६३० में एक और दूत चीन भेजा गया। इसके बाद कोई राजदूत चीन नहीं गया। 'तांग वंश के प्राचीन इतिहास' में द्वा-प-तन नामक एक देश का उल्लेख है जो कलिंग अथवा जावा के पूर्व में था। इसकी समानता भी बालि से की गयी है और यहां से ६४७ में एक दूत चीन भेजा गया। चीनी यात्री इत्सिग भी लौटते समय यहीं ठहरा था। उसने लिखा है कि दक्षिण सागर के द्वीपों में से यह एक था और यहां पर मूल सर्वास्तिवाद निकाय की मनोनीत था।[३५] इससे प्रतीत होता है कि उस समय में यहां बौद्ध धर्म का अधिक प्रभाव था। इसके बाद का बालि का वृतान्त जावा के इतिहास के साथ आगे चलकर लिखा जायगा।

सेलिबीज़

सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति के अवशेष सेलिबीज नामक द्वीप के सेमपागा नामक

पृ० २८३-८५)। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १३४ से। इनमें भिन्नता भी पायी जाती है।

३४. 'सुवर्णद्वीप', पृ० १३५ से।

३५. रेकर्ड्स, पृ० १०।

स्थान में भी मिले हैं। यहां पर बुद्ध की एक कांसे की मूर्ति पाषाण युग के बाद की मिली जिससे प्रतीत होता है कि उन दोनों के बीच कोई अन्य सभ्यता के अवशेष नहीं थे। यह मूर्ति अमरावती कला से सम्बन्धित है और इसलिए इसे ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी में रखा जाता है।[३६] कदाचित् यहां जावा से भारतीय संस्कृति ने प्रवेश किया होगा, पर इस विषय में दृढ़ रूप से कुछ कहना कठिन है।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होगा कि शैलेन्द्र अथवा श्रीविजय साम्राज्य की स्थापना से पहले सुमात्रा में छोटे-छोटे कई राज्य थे जिनमें मुख्यतया स्यो-लि छो-ये, सन-को-त्सी, कन-टो-ली, मो-लो-यू, तो-लंग-पो-होंआंग थे। श्रीविजय एक छोटा-सा राज्य रहा होगा जिसे फेरंड ने छो-ये समझा है। राज्यों का अस्तित्व अधिक काल तक नहीं रह सका। बालि, बोर्नियो और सेलिबीज में भी भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। बोर्नियो के मूलवर्मन् और उसके पिता अश्ववर्मन् तथा पितामह कुंडंग (जिसे कुछ विद्वान् कौण्डिन्य से सम्बन्धित मानते हैं) वास्तव में भारतीय थे। ब्राह्मण धर्म ने बोर्नियो ऐसे द्वीप में ईसा की चौथी शताब्दी में अपना स्थान बना लिया था। उधर सेलिबीज में प्राप्त अमरावती कला से सम्बन्धित बौद्ध मूर्ति वहां पर बौद्ध धर्म के प्रवेश का संकेत करती है। बालि में हिन्दू धर्म के प्रवेश तथा आधिपत्य का प्रमाण केवल चीनी स्रोतों तथा वहां की वर्तमान संस्कृति से लगता है। वहां न तो लेख हैं और न कोई प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस विस्तृत क्षेत्र में चीनी स्रोत के अनुसार कोई २५०० राज्य थे। यद्यपि इस वृत्तान्त को बढ़ा-चढ़ा मान भी लिया जाय, तो भी छोटे-छोटे बहुत-से भारतीय उपनिवेशों के होने में कोई सन्देह नहीं है। सुदूरपूर्व के मलाया और हिन्दनेशिया के क्षेत्र में दो विशाल साम्राज्यों की स्थापना का युग ईसा की ७वीं शताब्दी के बाद आरम्भ होता है और लगभग ४०० वर्षों तक इनका अस्तित्व बना रहा। इन्होंने अपना आधिपत्य दूर-दूर तक स्थापित किया और इसी लिए ये भारतीय संस्कृति के उस समय भी प्रतीक बने हुए थे जब कि उत्तरी भारत में राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त थी। सुदूरपूर्व में भारतीय इतिहास अब छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर इन दो साम्राज्यों का इतिहास बन जाता है इनकी विवेचना विस्तृत रूप से आगे की जायगी।

३६. ए० वि० इ० आ० १९३५, पृ० ३५। सिडो, ए० हि०, पृ० ९४।

अध्याय ६

मलाया तथा हिन्दनेशिया में भारतीय संस्कृति की प्रारम्भिक रूपरेखा

ईसवी सातवीं शताब्दी तक मलाया तथा हिन्दनेशिया में भारतीय उपनिवेशों की जड़ें दृढ़ता से जम चुकी थीं। भारतीय संस्कृति नव तरु की भाँति विकसित हो रही थी और सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इसकी शाखाएं फैलने लगी थीं। पुरातात्त्विक अवशेषों, प्राप्त लेखों तथा चीनी स्रोतों से उद्धृत वृत्तान्तों के आधार पर हम केवल इस संस्कृति की रूपरेखा ही खींच सकते हैं। विस्तृत रूप से सांस्कृतिक इतिहास के लिए सामग्री पर्याप्त नहीं है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म ने अपने वैदिक तथा पौराणिक रूप से इन द्वीपों में प्रभाव स्थापित कर लिया था, पर बौद्ध धर्म भी पीछे न था और हीनयान तथा महायान धर्म के अनुयायी यहां पाये जाते थे। दो बौद्ध सूत्रों का विभिन्न द्वीपों के लेखों पर अंकित होना यह संकेत करता है कि दोनों दिशाओं में बौद्ध भिक्षु एक ही केन्द्र से गये होंगे अथवा एक का दूसरे पर प्रभाव स्थापित हो चुका होगा। पर राजनीतिक क्षेत्र में उनका स्वतंत्र अस्तित्व पहली विचारधारा की पुष्टि करता है। जो मूर्तियां मिली हैं उनसे तो केवल धार्मिक परम्परा तथा विष्णु अथवा शैव या बौद्ध मत का फैलना ही संकेतित होता है। केवल चीनी स्रोत सामाजिक दशा पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डालते हैं। इन सब के आधार पर हम ईसा की सातवीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक रूपरेखा

मलाया के लंग-या-सु राज्य का विवरण देनेवाले चीनी स्रोत में लिखा है कि यहां के पुरुष और स्त्रियाँ अपने शरीर का ऊपरी भाग नग्न रखते थे, उनके बाल पीछे फैले रहते थे और वे एक प्रकार का सूती वस्त्र पहनते थे। राजा तथा अन्य

दरबारी अपने अंग के ऊपरी भाग को भी ढक लेते थे। वे कमर में सोने की करधनी तथा कानों में सोने के कुंडल पहनते थे। नवयुवतियां एक प्रकार के सूती कपड़े से अपने ऊपरी भाग को ढकती थीं और जड़ाऊ करधनी पहनती थीं। नगर की दीवारें पक्की ईंटों की बनी थीं और उनमें दोहरे फाटक और ऊंचे दुर्ग बने हुए थे।[1] वहां के राजा की सवारी के साथ पताकों और झंडों सहित दुन्दुभी बजाते हुए सैनिक जाते थे। इसी प्रकार से टान-टान नामक एक राज्य के विषय में भी चीनी स्रोत में वृत्तान्त मिलता है। यद्यपि इसका स्थान निर्धारित करना कठिन है, पर यहां से ५३०, ५३५ और ६६६ ई० में चीन में राजदूत भेजे गये थे। यहां के राजा का नाम शिलिंकिअ (श्रिगा) था और वह क्षत्रिय था। वह स्वयं राज्य कार्य देखता था और उसके आठ मंत्री थे जो केवल ब्राह्मण ही थे। राजा सुगंधित तेल का प्रयोग करता था। वह मणियों की मालाएं और एक ऊंचा मुकुट पहनता था। उसके वस्त्र मलमल के थे और वह चर्म-उपानह (चप्पल) का प्रयोग करता था। थोड़ी दूर के लिए वह गाड़ी पर और ज्यादा दूर के लिए हाथी पर जाता था।[2]

'लिअंग-वंश' के इतिहास में पो ली के राजा और उसकी राजसभा के विषय में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। वह मणियों से जड़ा ऊंचा मुकुट पहनता था तथा सोने के सिंहासन पर बैठता था। उसकी दासियां सुनहरे पुष्पों और मणियों से अलंकृत थीं। वे उसके पीछे कुछ सफेद पंखों के चमर और कुछ मोरपंखी लिये खड़ी रहती थीं। बाहर जाते समय राजा एक सुगंधित लकड़ी की गाड़ी में जाते थे जिसे एक हाथी खींचता था। गाड़ी के ऊपर पताका फहराती थी और दोनों ओर सुनहरे परदे थे। आगे-पीछे दुन्दुभी, नगाड़े बजाते लोग चलते थे।[3]

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि वर्णव्यवस्था ने भी सुदूरपूर्व में अपना स्थान बना लिया था। ब्राह्मण ही मंत्री पद को सुशोभित कर सकते थे। राजा क्षत्रिय थे। वैश्यों का उल्लेख अन्य स्रोतों में मिलता है। भारतीय वेश-भूषा तथा आभूषणों का प्रयोग होने लगा था और शरीर को अलंकृत करने के लिए सुगंधित तेल तथा गंध से लोग परिचित थे। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित

१. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १४६। ग्रोएनवेल्ट, नोट्स, पृ० १०।
२. बुइ० फ्रा० ४, पृ० २८४.५, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १४५।
३. यही, टूंग-पाओ १९०१। पृ० ३२९ से।

भोजन, पेय, विवाह इत्यादि तथा अन्य विषयों पर प्रकाश डालने के लिए सामग्री नहीं मिलती है।

धार्मिक व्यवस्था

पुरातात्त्विक अवशेष तथा लेख भारतीय धार्मिक परम्पराओं के पूर्णतया द्योतक हैं। ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित यज्ञ तथा उनमें स्थापित किये गये यूपों का उल्लेख हमें बोर्नियो के मूलवर्मन् के लेखों तथा वहां पर प्राप्त स्तम्भों से लगता है। तीन लेखों में से दूसरे में मूलवर्मन् द्वारा बहुसुवर्णक यज्ञ का उल्लेख है।[४] एक में २०,००० (अथवा १,०२०) गायों का दान तथा तीसरे में बहुदान, जीवदान, कल्पवृक्षदान तथा भूमिदान आदि का विवरण है, जो ब्राह्मणों को दिये गये थे। ये सब दान सम्राट् ने वप्रकेश्वर के पुण्यतीर्थ पर दिये थे।[५] यज्ञ तथा ब्राह्मणों को दिया हुआ दान संकेत करता है कि बोर्नियो ऐसे द्वीप में ब्राह्मण धार्मिक परम्परा का वैदिक अंग फल-फूल रहा था। जावा में पूर्णवर्मन् ने १००० गायें ब्राह्मणों को दान में दीं। बोर्नियो में ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द तथा महाकाल की मूर्तियां मिलीं।[६] साकार रूप में विष्णु, शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की उपासना के संकेत से प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म के पौराणिक अंग ने भी वहाँ स्थान बना लिया था। मलाया में भी दुर्गा, गणेश, नन्दी तथा योनि की मूर्तियां मिलीं। विष्णु के पद-

४. श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो यष्ट्वा बहुसुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयमं द्विजेन्द्रैस्सम्प्रकल्पितः ।।
कर्न ने इसकी समानता 'बहुहिरण्ययज्ञ' से की है। (वी०जी०७,पृ० ५५से) जो एक प्रकार का सोमयज्ञ था और जिसका उल्लेख रामायण में भी इसी नाम से है।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृत-युगे तथा।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः।। (बालकांड १.९५)। तथा
अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो बहुसुवर्णकः।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा।।

५. छावड़ा, ज० ए० सो० वं० १ (१९३५) पृ० ३९। 'अरिनिया एंटिकुआ' पृ० ८२।

६. इनका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

चिह्नों, इन्द्र तथा उसके ऐरावत हाथी के उल्लेख से प्रतीत होता है कि भारतीय देवताओं से सम्बन्धित कथाएं भी इन द्वीपों में पहुँच चुकी थीं। गोमती और चन्द्र-भागा भारतीय नदियों के नाम हैं और इनका उल्लेख जावा के पूर्णवर्मन् के लेख में है।[७] वहां के टुक-मुस नामक स्थान में भी संस्कृत के एक लेख[८] में जो उपजाति छन्द में है, एक झरने की तुलना गंगा से की गयी है। वहीं पर लेख के एक ओर शंख, चक्र, गदा तथा कुछ अन्य शस्त्र, तथा दूसरी ओर कमल, परशु, माला तथा कुम्भ अंकित है। मध्य जावा भी पश्चिमी जावा की भाँति ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हो चुका था और यह चिह्न वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों से संबंधित है। ६५२ शक संवत् के किडो में मिले एक लेख में एक लिंग स्थापना का उल्लेख है तथा शिव, ब्रह्मा, विष्णु और सम्राट् की विद्वत्ता तथा जावा की प्रशंसा की गयी है।[९] इस सम्बन्ध में चीनी वृत्तान्त भी महत्त्वपूर्ण है।

ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त इन द्वीपों में बौद्ध धर्म का भी प्रवेश बाद में हुआ। फाहियान के समय में जावा में ब्राह्मणधर्म फलफूल रहा था और बौद्ध मत के बहुत कम अनुयायी थे।[१०] चीनी यात्री के साथ में २०० और यात्री जावा जा रहे थे और वे सब ब्राह्मण मत के अनुयायी थे। जावा में बौद्ध धर्म फैलाने का श्रेय गुणवर्मन् को है जो मूल सरवास्तिवाद मत का अनुयायी था और उसने धर्म गुप्त सम्प्रदाय से संबंधित एक ग्रन्थ का अनुवाद किया था।[११] मलाया के वेलेजली प्रान्त में मिले नाविक बुद्धगुप्त के लेख में प्रसिद्ध बौद्ध सूत्रों का उल्लेख है जो केडा के लेख में भी है। ईत्सिंग के समय तक बौद्ध धर्म इन द्वीपों में दूर-दूर तक फैल चुका था। उसके मतानुसार दक्षिणी सागर के १० से अधिक देशों में मूल सरवास्तिवाद निकाय सर्वथा मान्य था और कहीं-कहीं दूसरे बौद्ध मत के अनुयायी भी पाये जाते थे। इनमें से सम्मितनिकाय तथा दो और मत के मानने वाले थे। पश्चिम की ओर

७. चटर्जी और चक्रवर्ती, 'इंडिया एंड जावा' पृ० २० से। टुगु के लेख। (पृ० २६-२७) में चन्द्रभागा और गोमती का उल्लेख है।

८. छावड़ा उ० सं०, पृ० ३३।

९. इल्यिट, हिन्दूइज्म एंड बुद्धिज्म, भाग ३, पृ० १५४।

१०. लेगि; फाहियान पृ० १११ से।

११. जू० ए० २.८ (१९१६), पृ० ४६।

से जहां बौद्धमत के अनुयायी थे, वे क्रमशः पो-लु-शि, मो-ल-यु जो उस समय में (सुमात्रा) का श्रीविजय कहलाता था, मो-हो-शिन (महासिन), हो-लिंग (जावा में), टन-टन (नटुन-द्वीप), पन-पन, पो-ली, (बालि), कु-लुन, फो-शि पु-लो (भोजपुर), ओ-शन और मो-छिय-मन द्वीप थे। इनके अतिरिक्त कुछ और छोटे-छोटे द्वीपों का भी ईतसिंग ने उल्लेख किया है और वहां पर बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के लोग रहते थे, पर मलयु अथवा श्री भोज में महायान मत के मानने वाले भी थे।[१२] भारत आते समय श्री विजय में ईतसिंग ने ६ मास ठहर कर शब्दविद्या अथवा संस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था। लौटते समय वह यहां अधिक समय तक ठहरा और भारत से लाये हुए बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों की इसने प्रतिलिपि की तथा उनका चीनी में अनुवाद किया। उस समय यहां पर १००० से ऊपर बौद्ध भिक्षु रहते थे और वे सदैव ही ज्ञान उपार्जन तथा अध्ययन में संलग्न रहते थे। वे उन सब विषयों का अध्ययन करते थे जो भारत के मध्यदेश में पढ़ाये जाते थे। इस चीनी यात्री का कथन है कि भारत में अध्ययन और खोज के लिए जाने से पहले उस स्थान पर एक-दो वर्ष अध्ययन के कार्य में बिताना आवश्यक है। यहां पर युन-कि, ता त्सिन, चेन काऊ, ताओ होंग तथा अन्य चीनी यात्रियों ने स्थानीय भाषा (कवेन-लुएन) तथा संस्कृत का अध्ययन किया था। भारत जाते हुए चीनी यात्री हुई-निंग, हो-लिंग में ठहरा था और ज्ञानभद्र नामक स्थानीय भिक्षु के सहयोग से उसने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।[१३]

श्रीविजय बौद्ध धर्म के महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था। पेलेमवांग के निकट से प्राप्त श्री जयनाश (जयनाग) के ६८४ ई० के लेख में कुछ महायान मत के सिद्धांतों का उल्लेख है। इसमें प्रणिधान और क्रमिक रूप से बौद्धिक ज्ञान के साधनों का उल्लेख है जो क्रम से बोधि ज्ञान के विचार का पैदा होना, ६ पारमिता का पालन, अलौकिक शक्ति की प्राप्ति, जन्म, कर्म और क्लेशों पर विजय और अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है (अनुत्तरा विषयक संबोधि)[१४]। इसी लेख में 'वज्रशरीर' का उल्लेख महायान मत के वज्रायन स्वरूप का संकेतित है। इस मत

१२. मेमाआर, पृ० १०-११।
१३. यही, देखिए, पृ० ६०, ६३, १५९, १८२, १८७।
१४. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १२२, १४३।

का प्रादुर्भाव ईसवीं की सातवीं शताब्दी में बंगाल में हुआ, और जिस तेजी से यह श्रीविजय पहुंच गया उसका मुख्य कारण भारत से विचारधारा का प्रसार था। जिन बौद्ध विद्वानों ने सुवर्णद्वीप में प्रवेश किया उनमें से सातवीं शताब्दी के नालन्दा विश्वविद्यालय के धर्मपाल, तथा आठवीं शताब्दी के दक्षिणी भिक्षु वज्रबोधि उल्लेखनीय हैं।[१५] वज्रबोधि और उसके शिष्य अमोघवज्र को तांत्रिक मत फैलाने का श्रेय है और वे श्रीविजय होकर चीन पहुंचे।[१६]

व्यापारिक सम्पर्क तथा साहित्यिक प्रभाव

भारत, मलय और हिन्दनेशिया के बीच व्यापारिक सम्पर्क बराबर कायम रहा। टुन-सुन के विषय में लिखा है कि यहां गंगा से पूर्व में स्थित विभिन्न देशों से व्यापारी आते थे। प्रतिदिन लगभग १०,००० व्यक्ति पूर्व और पश्चिम से यहां की मंडी में आते थे और सब प्रकार के कीमती सामान की यहां बिक्री होती थी।[१७] मलाया के वेलेजली प्रान्त में मिला महानाविक बुद्ध गुप्त का लेख इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्व रखता है।[१८] इसमें सिद्धयात्रा[१९] की याचना की गयी है। भारतीय नाप-जोख से सम्बन्धित शब्दों का भी प्रयोग होने लगा था। पूर्णवर्मन् के चतुर्थ लेख में गोमती नामक नहर की लम्बाई ६,१२२ धनुः[२०] थी। ईतसिंग के साथ में भारत से जो २०० व्यक्ति जा रहे थे उनका ध्येय व्यापार करना था। यातायात की असुविधाओं की उपेक्षा कर भारत और सुदूरपूर्व के इन देशों में व्यापारिक संसर्ग के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके थे। लंग-ग-सु के

१५. कर्न, मैनवल आफ बुद्धिज्म, पृ० १३०।

१६. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३३६। जू० ए० २०४ (१९२०), पृ० २४२।

१७. ग्रोएनवेल्ट नोट्स, पृ० ११९। मजुमदार; 'सुवर्णद्वीप', पृ० १४५।

१८. जे० ए० स० बी० १ (१९३५), पृ० १४ से।

१९. सिद्धयात्रा से केवल सकुशल यात्रा होने का ही संकेत है। इसके अन्तर्गत किसी तांत्रिक भावना का समावेश नहीं है। इंडियन कल्चर (इ० क०) १४, पृ० २०१ से।

२०. धनुः की लम्बाई ४ हस्त (हाथ) थी। मोनियर विलियमम्स संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ५०८।

विषय में कहा जाता है कि वहां के राजा का एक भाई अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया गया था और वह भारत आया जहां उसने किसी राज्यकुल में विवाह किया।[२१]

भारतीय संस्कृति के साथ-साथ भाषा और साहित्य ने भी वहां अपना स्थान जमा लिया था। लेखों से यह विदित होता है कि वहां के निवासियों का संस्कृत भाषा और साहित्य में अच्छा ज्ञान था। श्रीविजय में मध्यदेश की भाँति सभी विषय पढ़ाये जाते थे जैसा कि ईतसिंग ने लिखा है। संस्कृत भाषा और सुन्दर छन्द से बद्ध लेख यहां की भाषा और साहित्य के प्रतीक हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि यहां से गये हुए विद्वानों ने वहां के साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रगति दिखायी और उसका स्तर ऊंचा किया।

पर्याप्त सामग्री से सुदूरपूर्व के मलाया तथा हिन्दनेशिया के द्वीपों में भारतीय संस्कृति, साहित्य, सामाजिक, आर्थिक, तथा धार्मिक जीवन की केवल रूप-रेखा ही मिलती है। ईसवी की सातवीं शताब्दी तक सुदूरपूर्व में केवल छोटे-छोटे भारतीय उपनिवेश ही थे। अभी विशाल साम्राज्यों का निर्माण होना बाकी था। हाँ, उनकी नींव डाली जा चुकी थी। ७वीं शताब्दी के बाद अब साम्राज्य युग आरम्भ होता है और सम्पूर्ण देशों के नरेशों ने भारतीय संस्कृति के प्रवाह में पूर्णतया सहयोग प्रदान किया। इस द्वितीय चरण के आगमन ने नवतरु से विशाल वृक्ष का रूप लिया। जिसकी छत्रच्छाया में हिन्दनेशिया, मलाया तथा हिन्द चीन के बड़े-बड़े राज्यों का उत्कर्ष हुआ।

२१. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १४५।

द्वितीय भाग—चम्पा

अध्याय १

भूगोल और प्रारंभिक इतिहास

हिन्द चीन के पूर्वी क्षेत्र में अनम के तन-हुआ, नघे-अन, और हा-तिन्ह प्रान्तों को छोड़कर १८ और १० अक्षांश के बीच में प्राचीन चम्पा राज्य था जो भारतीय संस्कृति का ईसवी २ से १५वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध केन्द्र रहा और वहां हिन्दू राजाओं ने राज्य किया। पूर्व में इसकी सीमा चीन सागर तक थी और पश्चिम में कुछ पहाड़ियां इसे मेकांग नदी की घाटी से अलग करती थीं। इन पहाड़ियों में क्वीनान का दर्रा इस देश और मेकांग की घाटी के बीच यातायात का मार्ग था। पहाड़ियों और समुद्र से घिरा यह एक छोटा-सा लम्बा राज्य था जो पूर्व से पश्चिम के बीच कहीं भी ६०-७० मील से अधिक चौड़ा न था। इस प्राचीन चम्पा साम्राज्य को भौगोलिक दृष्टिकोण से पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग दक्खिन का है जिसमें बिन-थुअन और केप-पदरन को रख सकते हैं। दूसरा केप-पदरन से केप-वरेला तक सीमित है जिसमें बहुत-सी घाटियां हैं। फनरंग की घाटी में प्राचीन पंडुरंग के अवशेष हैं और नह-त्रंग प्राचीन कौठार था जहां पो-नगर का प्राचीन मन्दिर था और वहां बहुत-से लेख भी मिले हैं। केप-वरेला से सहोई तक के भाग में सींग-वा और सोंग-लै गिअंग नदी की घाटियों में बिन-डिन में बहुत-से प्राचीन अवशेष मिले हैं। क्वंग-न्गै और क्वंग-नम के जिलों को चौथे भाग में रखा जाता है। क्वंग-नम में सोंग नदी के मुहाने पर फैफो नामक प्राचीन चम्पा साम्राज्य का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इसी नदी के एक किनारे पर सफेद पत्थर की चट्टानें हैं जहां प्राचीन बौद्ध गुफाएं हैं। यहीं पर प्राचीन अमरावती राज्य था जिसके भग्नावशेष त्र-क्यू (प्राचीन चम्पानगरी) और डोंग-डुअंग (प्राचीन इन्द्रपुर) में मिलते हैं। यहीं पर माइसोन के प्राचीन मन्दिरों के अवशेष भी मिले जिनपर बहुत-से लेख अंकित हैं। उत्तरी भाग में वर्तमान थुआ-थिअन, क्वंग-त्रि और क्वंग-बिन जिले हैं। होअन-सोन पहाड़ियां चम्पा

राज्य की उत्तरी सीमा का काम देती थीं। इसके ऊपर का भाग अनम राज्य के अन्तर्गत था।[१]

इस प्राचीन चम्पा राज्य में दो जातियों के व्यक्ति रहते थे। एक चम और दूसरे जंगली। ये चम अपने को दूसरी जाति के व्यक्तियों से ऊंचा समझते थे और इनके विषय में कुछ चीनी ग्रन्थों में वृत्तान्त मिलता है। ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी में यू नामक व्यक्ति क्वंग-नम और टोंकिन के बीच में रहते थे। शिव वंश के शे-हुवांग-टी ने २२५ ई० पू० में सम्पूर्ण चीन को एक सामूहिक सूत्र में बांधा और २१४ ई० पू० में इसने यू को जीतने का प्रयास किया। चीनी सम्राट् को सफलता मिली और तब से केप वरेला तक का भाग चीन साम्राज्य का अंग हो गया। उसके तीन प्रान्तों में किआओ-चे, किआओ-चेन, और जे-नन, प्रथम दो में अनमी और तीसरे में चम प्रधान थे। इनके दक्षिण में स्वतंत्र चम रहते थे और उनका उत्तर के चीनी अधिकारियों के साथ संघर्ष होना स्वाभाविक था। चीनी स्रोतों के आधार पर १३८ ई० में क्यू-लिअन ने जिनसे चम लोगों का संकेत है, चीनियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। १९२ ई० में हन वंश की बिगड़ती परिस्थिति से लाभ उठाकर सिआंग-लिन निवासी लिअन ने चीनी अधिकारी को मारकर अपने को लिन-यि का शासक घोषित कर दिया। इसी नाम से चीनी इतिहासकारों ने चम्पा का संकेत किया है। सिआंग-लिन की समानता त्र-कियो से की गयी है जो क्वंग-नाम से थोड़ा दक्षिण में है और यहीं से चम्पा राज्य की स्थापना हुई।[२]

चम्पा के लेखों में सर्वप्रथम हिन्दू राजा श्री मार था जिसने ईसा की दूसरी शताब्दी में वहां अपना राज्य-वंश चलाया था। मासपेरो ने इसी श्रीमार की समानता चीनी स्रोतों के क्यू-लिअन से की है।[३] वो-चन के लेख[४] से पता चलता है कि

१. चम्पा का उपर्युक्त भौगोलिक परिचय मासपेरो की पुस्तक 'गोयाम हु चम्पा' तथा मजुमदार की पुस्तक 'चम्पा' पर आधारित है।

२. मासपेरो, चम्पा, पृ० ४९-५१। औरुसो, बु० इ० फ्रा० १४ नं० ९, पृ० २६, २७। फिनो, बु० इ० फ्रा० २८, पृ० २८५-२९२। सिडो, ए० हि०, पृ० ७७ से। चीनी स्रोतों के अनुसार लिन-चि नामक प्रथम चम राज्य की नींव १९२ ई० में डाली गयी थी। मजुमदार, चम्पा, पृ० १८।

३. चम्पा, पृ० ४३-५९।

४. मजुमदार, चम्पा, भाग ३, नं० १, पृ० १-३।

यह राजा उस क्षेत्र पर राज्य कर रहा था जो आगे चल कर कौठार कहलाया। इस देश में भारतीयों का व्यापार के सम्बन्ध में बहुत पहले आगमन हो चुका होगा और उन्होंने परिस्थिति से लाभ उठाया। जिन हिन्दू राजाओं ने यहां पर राज्य किया उन्होंने अपने पूर्वज वंशों का उल्लेख नहीं किया है, पर शक सं० ७९७ के डोंग-डुओंग में मिले इन्द्रवर्मन् द्वितीय के लेख[५] में शिव द्वारा उरोज के भेजने का उल्लेख है। पो-नगर से मिले तीन और लेखों[६] में विचित्रसगर का उल्लेख है जो द्वापर के ५९११ वर्ष में राज्य करता था और उसने वहां शिव के मुखलिंग की स्थापना की थी। इन वृतान्तों में ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, पर इतना मानना पड़ेगा कि श्री मार से पहले भारतीय यहां आये थे और इस व्यक्ति ने परिस्थिति से लाभ उठा-कर अपने को राजा घोषित कर दिया। चीनी सूत्रों में[७] यहां के राजा के नाम के आगे 'फन' लगा है जिससे 'वर्मन्' का संकेत है और विद्वानों ने कुछ चीनी नामों के लेखों में मिले राजाओं से समानता की है। चम्पा के प्रथम हिन्दू राजाओं का इतिहास चीन के साथ संघर्ष तथा घरेलू युद्ध की लड़ाई का इतिहास है।

२२०–२३० ई० में चम्पा के राजा ने किआओ-चे के चीनी शासक के अनुरोध पर एक दूत भेजा। २४८ ई० में चम की सेना ने अपने सामुद्रिक बेड़े की सहायता से चीनी क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया और किआओ-चे (हनोई) पर अधिकार भी कर लिया। अन्त में सन्धि होने पर किऊ-सो का भाग (वर्त्तमान थुआ-थिएन) चम्पा के राजा को मिल गया।[८] चीनी स्रोतों के अनुसार ईसवी २७०-२८० में फन-हिओंग (कदाचित् श्रीमार का वंशज) उत्तर में अपनी सीमा बढ़ाना चाहता था और इसमें उसने फूनान के राजा की भी सहायता ली। चीन से उसका दस वर्ष

५. यही, नं० ३१, पृ० ७४ से।

६. मजुमदार, चम्पा, सत्यवर्मन् का शक सं० ७०६ का लेख, नं० २२, पृ० ४१ से। विक्रान्तवर्मन् द्वितीय का लेख नं० २९, पृ० ६७ से। जयवर्मन् तृतीय का शक सं० १०६५ का लेख नं० ७१, पृ० १७७ से। मासपेरो, चम्पा, पृ० ४३ से।

७. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० १९४। मजुमदार, चम्पा, पृ० २३।

८. मजुमदार, चम्पा, पृ० २२। मासेपेरो के मतानुसार किऊ-सो राजधानी और उसके दक्षिण का भाग चमों को मिल गया। उत्तरी भाग पर चीनी अधिकार कायम रहा। बु० इ० फ्रा० १८, नं० ३, पृ० २४-२५।

युद्ध चलता रहा। अन्त में सन्धि हुई जो चम शासक के पक्ष में थी। फेन-हिओंग के पुत्र फेन-यि के समय में एक राजदूत २८४ ई० में चीन गया। ३३६ ई० में इसकी मृत्यु पर उसके सेनापति फन-वेन ने अपने को शासक घोषित कर दिया। इसने ३४० में एक राजदूत चीन भेजा पर सीमा के प्रश्न को लेकर इसका चीन से संघर्ष होता रहा और ३४९ में इसकी मृत्यु के समय चम्पा की सीमा उत्तर में पोर्ट-टु-अनम तक पहुँच चुकी थी।[९] इसके पुत्र फन-फो (३४९-३८०) के समय में भी चम्पा का चीनी प्रान्तों के साथ संघर्ष चलता रहा। चीनी चम्पा नगरी तक बढ़ आये और अन्त में ३५९ ई० में सन्धि होने पर उसे अपने पिता द्वारा जीता नुत-नम प्रदेश चीनियों को देना पड़ा। इसने ३७२ और ३७७ में अपने दूत चीन भेजे। उसके पुत्र फन-हू-तने जो ३८० ई० में सिंहासन पर बैठा, पुनः नुत्-नम को जीत लिया और अपनी सेना थन-हुआ तक बढ़ा दी। इसकी समानता भद्रवर्मन्[१०] से की गयी है, जिसके कई लेख[११] उत्तर में क्वंग-नम तक मिले हैं। इनकी लिखावट के आधार पर इन्हें पांचवीं शताब्दी में रखा जाता है और चीनी स्रोतों के अनुसार यही फन-हू-त का भी समय था। धर्म महाराज श्री भद्रवर्मन् ने चम्पा के इतिहास में प्रमुख स्थान प्राप्त किया और उसके राज्य में अमरावती और विजय प्रान्त थे जिनकी समानता क्रमशः क्वंग-नम और बिन-द्रिन से की जाती है। कदाचित् इसका पंडुरंग के दक्षिणी भाग पर भी अधिकार रहा होगा। इसने माइ-सोन का प्रसिद्ध शिव मन्दिर बनवाया जो भद्रेश्वर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध था और उसके लिए भूमि-दान की जिसकी सीमाओं का उल्लेख मिलता है।

९. मजुमदार, 'चम्पा' २३ से। सिडो, ए० सि०, ७९-८०। कहा जाता है कि चीनी सम्राट् जे-नन की उपजाऊ भूमि नहीं देना चाहता था।

१०. सिडो, ए० हि०, पृ० ८४। छावड़ा, जे० आर० ए० स० १ (१९३५), पृ० ५०। मजुमदार के मतानुसार भासवेरी की फा-हु-त की भद्रवर्मन् से समानता दिखाना सम्भव प्रतीत होता हैं, पर यह निश्चय नहीं है। चम्पा पृ० २१।

११. चो-ट्रिन (मजुमदार नं० २-३, पृ० ३) माइ-सोन (नं० ४, पृ० ४ से), चिएम-सोन (नं० ५, पृ० ८ से), होन-चुक (नं० ६, पृ० ९)।

ति-चेन और गंगराज

फन-हू-त के बाद उसका पुत्र ति-चेन ४१३ ई० में गद्दी पर बैठा।[१२] इसकी समानता मासपेरो ने गंगराज से की है जिसका उल्लेख माइसोन के प्रकाशधर्म के शक सं० ५७९ के लेख[१३] में मिलता है जिसमें उसकी वंशावली भी दी गयी है। गंगराज ने अपना सिंहासन त्याग कर गंगा (जाह्नवी) की शरण ली थी और चीनी स्रोतों के अनुसार ति-चेन अपने भतीजे के हाथ में राज्य की बागडोर सौंपकर भारत चला गया था। कुछ समय तक घरेलू युद्ध चलता रहा और अन्त में फन-यंग-माई ४२० ई० में राजा घोषित हुआ। इसके तथा इसके पुत्र यग-माई द्वितीय के समय में चीन के साथ संघर्ष चलता रहा। ४४६ ई० में चीनी सेनापति ने चम्पा के प्रसिद्ध गढ़ कियो-सू पर जिसके अवशेष हुए के दक्षिण पूर्व में पाये जाते हैं, घेरा डाल दिया। चीनी सेना को बराबर सफलता मिलती गयी और अन्त में तन-हो-ये चम्पापुर आया जहां उसने बहुत-सी मूर्तियों का विध्वंस किया और हज़ारों मन सोना उसे मिला। फन-यंग-माई की, दुखद अवस्था में, ४४६ ई० में मृत्यु हो गयी।[१४] उसके बाद क्रमशः उसके पुत्र और पौत्र गद्दी पर बैठे और वे बराबर चीनी सम्राट् को भेंट भेजते रहे। पौत्र फन-येन-चेंग की मृत्यु के पश्चात् फन-तंग-केन-चएन अथवा किओ-चेऊ-लो नामक व्यक्ति ने देश पर अधिकार कर लिया। वह फूनान के राजा जयवर्मन् का पुत्र था और वहां से कोई अपराध कर यहां भाग आया था। जयवर्मन् ने अपने पुत्र के विरुद्ध चीनी सम्राट् के पास भिक्षु शाक्य नागसेन को पत्र लेकर भेजा था।[१५] चीनी सम्राट् ने चम्पा की आन्तरिक परिस्थिति में हस्तक्षेप करना उचित न समझा और उसने वहां के राजा को मान्यता प्रदान की तथा बहुत-सी उपाधियों से विभूषित किया। ४८१ ई० और ५२७ ई० के बीच में चम्पा में चार और राजाओं ने राज्य किया। फन-चाऊ-नोंग, फन-यंग-माई द्वितीय का प्रपौत्र था और ४९२ ई० में उसने जयवर्मन् के पुत्र की

१२. चीनी श्रोतों में फन-हू-त के बाद की वंशावली विवादास्पद प्रतीत होती है। (बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३८२, नोट ९)।

१३. मजुमदार, चम्पा, नं० १२, पृ० १६ से। मासपेरो, चम्पा, पृ० ६४।

१४. यही, पृ० ३१, मासपेरो।

१५. पिलियो, बु० इ० फ्रा० ३, २५७ से।

भाँति चीनी सम्राट् की ओर से सम्मान प्राप्त किया था। उसके समय में ४९२ और ४९५ में राजदूत चीन भेजे गये। ४९८ में उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः उसके पुत्र फन-वेन-कुअेन, पौत्र फन-तिएन, तथा प्रपौत्र विजयवर्मन् ने राज्य किया। पौत्र फेन तिएन-काई की समानता देववर्मन् से की गयी है। और उसके समय में ५१०, ५१२ और ५१४ ई० में चीन दूत भेजे गये। इस वंश के अंतिम सम्राट् विजयवर्मन् के समय में भी ५२६ और ५२७ में दूत चीन गये।[१६]

१६. ईसवी की दूसरी शताब्दी से विजयवंश के समय (५२०-५२९ ई०) तक की वंशावली इस प्रकार से दी गयी है।

प्रथम वंश (१९२, ३३६ ई०)
श्री मार (वो-चन का लेख)

क्यूलिअन (१)

वो-चन लेख के निर्माता के वंशज

कन्या

(२) फन-हियोंग (लगभग २७०-२८० ई०)
(३) फन-यि (२८० ई० से ३३६ ई०)
(४) फन-वेन (सेनापति नं० ३ का (३३६-३४९ ई०) द्वितीय वंश (३३६-४२० ई०)
(५) फन-फो (३४९-३८० ई०)
(६) फन-हू-त (३८०-४१३ ई०) (भद्रवर्मन)
(७) ति-चेन (४१३ से ४१५ ई०)
(गंगराज ने सिंहासन त्याग दिया)
(४१५ से ४२० ई० घरेलू युद्ध)
तृतीय वंश (४२० से ५२८ ई०)
(८) फन-यंग माई (४२० से ४२५ ई०)
(९) फन-यंग-माई (द्वितीय) (४२५-४४६ ई०)
(१०) पुत्र अज्ञात (४४६ से ४५४ ई०)
(११) फन-येन-चेंग (४५४ से ४८० ई०)

गंगराज के वंशज (५२९ से ९८६ तक)

माइसोन के लेख में[१७] गंगराज के वंशजों का उल्लेख है। यह लेख शक संवत् ५७९ का प्रकाश धर्म के समय का है। इसमें उसके ईशानेश्वर, शंभुभद्रेश्वर और प्रभासेश्वर देवताओं के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है। सर्वप्रथम गंगराज का उल्लेख है जिसने अपना राज्य त्याग कर गगा (जाह्नवी) की शरण ली थी। दूसरा राजा मनोरथवर्मन् था, पर उसके और गंगराज के सम्बन्ध पर इस लेख में कोई प्रकाश नहीं मिलता। मनोरथवर्मन् की कन्या का दौहित्र रुद्रवर्मन् था। इस प्रकार उसका विजयवर्मन् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। गंगराज के इस वंश के साथ सम्बन्ध का पता विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के माइसोन के लेख से भी चलता है,[१८] जिसमें प्रकाशधर्म सम्राट् को गंगेश्वर का वंशज कहा गया है। इस प्रकार गंगराज के इन वंशजों का केवल उसी से सम्बन्ध था क्योंकि वंशावली में गंगराज वंश के अन्य राजाओं का उल्लेख नहीं है जिनका चीनी स्रोतों में वर्णन मिलता है। प्रकाश धर्म तथा शम्भुवर्मन् के लेखों में[१९] रुद्रवर्मन् का उल्लेख मिलता है। शम्भुवर्मन् के लेख में भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित भद्रेश्वर स्वामि के मन्दिर में जो अग्नि से शक सं० ४०० से ऊपर काल (दहाई और इकाई नहीं है) में नष्ट

(१२) अनधिकृत शासक फन-तेंग-केन चुएन अथवा किओ चेऊ-लो (४८० से ४९१ ई०)
(१३) फन-चाऊ-नोंग (४९१ से ४९८ ई०) नं० ९ का प्रपौत्र)
(१४) फन-वेन कुअन (लगभग ५०० से ५०८ ई० तक)
(१५) फन-तिएन-काई (देववर्मन्) लगभग ५०८ से ५२० तक।
(१६) पि-ट्स-उए-प-मों (विजयवर्मन्) लगभग ५२० से ५२९ तक।

१७. मजुमदार, चम्पा, नं० १२, पृ० १६ से।
१८. यही, नं० २०, पृ० ३० से।
१९. यही, नं० १२ तथा ७।

हो गया था पुनः शम्भुभद्रेश्वर की मूर्ति की स्थापना की और इसके हेतु भद्रवर्मन् द्वारा पूर्व दिये गये भूमिदान की पुष्टि की। रुद्रवर्मन् का राज्यकाल शक सं० ४०१ से ४९९ के बीच में रखना चाहिए (४७९–५७७ ई०)। इस सम्बन्ध में इसकी समानता चीनी स्रोतों में उल्लिखित काओ-चे-लो-तो-लो-पा-मो-कु, श्री रुद्रवर्मन् से की गयी है जिसने ५२९ तथा ५३४ ई० में चीन के सम्राट् के पास भेंट भेजी। ५४१ में एक चीनी प्रान्तीय शासक ली-बो के, जिसने अपने को टौंकिन का शासक घोषित किया था, विरुद्ध इसने चीनी सम्राट् का पक्ष लेकर सेना भेजी, पर ली-वो के सेनापति ने इसे हरा दिया। कदाचित् रुद्रवर्मन् ने ५७२ ई० तक राज्य किया होगा और उसीने ५६८ तथा ५७२ ई० में अपने राजदूत चीन भेजे।[२०]

प्रकाश धर्म

रुद्रवर्मन् के बाद उसका पुत्र प्रशस्तधर्म शंभुवर्मन् के नाम से चम्पा के सिंहासन पर बैठा। चीनी स्रोतों में उसे फन-ये कहा गया है।[२१] इस शासक के माइसोन के लेख[२२] से पता चलता है कि इसने पुनः भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित मन्दिर में शंभुभद्रेश्वर की मूर्त्ति स्थापित की। चीनी स्रोत के अनुसार वहां की बिगड़ती परिस्थिति से इसने लाभ उठाना चाहा और ५९५ ई० तक भेंट भेजना बंद कर दिया। उधर चम्पा की विशाल सम्पत्ति की ओर चीन की आँखें लगी हुई थीं। लिओ-फंग को सुई सम्राट् ने टोंकिन क्षेत्र जीतने के लिए भेजा। वह चम्पा तक बढ़ आया और ६०५ ई० में चीनियों ने शंभुवर्मन् की सेना को बुरी तरह हराया और प्रायः १०,००० बन्दी बनाये। शंभुवर्मन् समुद्र के मार्ग से भाग गया और चीनी सेना ने आगे बढ़ कर राजधानी को लूटा, निवासियों को बन्दी बनाया तथा १८ पूर्व सम्राटों का

२०. मासपेरो, चम्पा, पृ० ८१, नोट ४। सिडो, ए० हि०, पृ० १२१। इसके उत्तराधिकारी शंभुवर्मन् की मृत्यु ६२९ ई० में हुई, और यदि रुद्रवर्मन् का राज्यकाल ५७२ ई० तक माना जाय तो शंभुवर्मन् का राज्य-काल बहुत लम्बा हो जाता है। अतः ५६८ और ५७२ ई० में भेजे गये राजदूतों को रुद्रवर्मन् के राज्यकाल में रखना ही ठीक होगा।

२१. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ८१ से।

२२. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ७, पृ० ९ से।

संचित सोना, १३५० बौद्ध ग्रन्थ और फूनान से आये कुछ गायकों को, जो भारतीय गायन-विद्या में निपुण थे, वह चीन ले गया।[२३] उसके जाने पर शंभुवर्मन पुनः वापस आया और उसने चीनी सम्राट् से भेंट देकर क्षमा-याचना की। चीन में तांग-वंश की स्थापना (६१८ ई०) के बाद उसने बराबर ६२३, ६२५ और ६२८ में अपने राजदूत चीन भेजे। कम्बुज के राजा महेन्द्रवर्मन् के साथ भी इसका मैत्रीपूर्ण व्यवहार था और उसने अपना एक मंत्री सिंहदेव चम्पा भेजा था।[२४]

कन्दर्प और प्रकाश धर्म

६२९ ई० में शम्भुवर्मन् के बाद उसका पुत्र कन्दर्पधर्म (फन-टियू-ली) गद्दी पर बैठा। इसका राज्यकाल शान्ति से बीता और इसने दो राजदूत ६३०, ६३१ में भेंट लेकर चीनी सम्राट् ताइ-सोंग के पास भेजे।[२५] माइसोन के प्रकाश धर्म के लेखों में इसे धर्म का अवतार कहा गया है। श्रीमान् कन्दर्प्पधर्मेति साक्षाद्धर्म इवापरः।[२६] कन्दर्प के बाद उसका पुत्र प्रकाशधर्म (फन-चेन-लोंग) गद्दी पर बैठा। उसके एक छोटी बहन थी जो सत्य कौशिक स्वामी को ब्याही थी। सत्य कौशिक स्वामी के विषय में चीनी स्रोतों से पता चलता है कि यह सम्राट् फन-टियू-ली का जामाता था और ब्राह्मण था। ६४५ ई० में प्रकाश धर्म और उसके वंशजों के वध के पश्चात् इसे सम्राट् चुना गया, पर शीघ्र ही इसे सिंहासन से हटा दिया गया और फन-टियु-ली (कन्दर्प) की पुत्री को गद्दी पर बैठाया गया। वह परिस्थिति पर काबू न पा सकी और इसलिए सभासदों ने कम्बुज से कन्दर्प की बुआ के लड़के 'चाओ-को-ति को बुलाया जहां उसका पिता कोई अपराध कर भाग गया था। इसने ६५३ ई० में चीन में राजदूत भेजा।[२७] चीन के और लेखों के आधार पर हम प्रकाशधर्म के वध के पश्चात् चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति को इस प्रकार वर्णित कर सकते

२३. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ८४। पिलियो बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३९०-९१।

२४. सिडो, ए० हि०, पृ० १२१-२२।

२५. यही।

२६. मजुमदार, 'चम्पा', नं० १२, पृ० १७ पंक्ति।

२७. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० ३९। बु० इ० फ्रा० ४, ९०१-२। सिडो, ए० हि०, पृ० १२२। मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ८९ तथा नोट १।

हैं।[२८] चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति में कम्बुज राजाओं का बड़ा हाथ था। सत्य-कौशिक स्वामी ने कम्बुज से आकर चम्पा में लगभग ८ वर्ष (६४५ से ६५३) तक राज्य किया। लेखों में इसके पुत्र भद्रेश्वरवर्मन् तथा पौत्र जगद्धर्म का भी उल्लेख है जिसने कम्बुज सम्राट् ईशानवर्मन् की पुत्री शर्वाणी से विवाह किया था। इसका पुत्र प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् ६५७ ई० में राजगद्दी पर बैठा जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है। उसका प्रथम लेख[२९] शक संवत् ५७९ या ६५७ ई० का है जो माइसोन मन्दिर की एक फलक पर लिखा है और इसमें ईशानेश्वर शम्भुभद्रेश्वर तथा प्रभासेश्वर देवताओं के प्रतिदानों का उल्लेख है। एक अन्य लेख में[३०] कुबेर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख है। उसी स्थान से प्राप्त शक सं० ६०९ या ६८७ ई० में इसी सम्राट् द्वारा ईशानेश्वर के प्रति एक कोश और भद्रेश्वर के लिए एक मुकुट के दान का उल्लेख है। प्रकाश धर्म का एक छोटा लेख[३१] लाई चम खन-

२८. डा० मजुमदार ने अपनी पुस्तक में चीनी स्रोतों तथा लेखों से प्राप्त सूचनाओं की समानता दिखाने का प्रयास किया है तथा उनके मतानुसार इस प्रकार वंशावली है। चम्पा पृ० ४२।
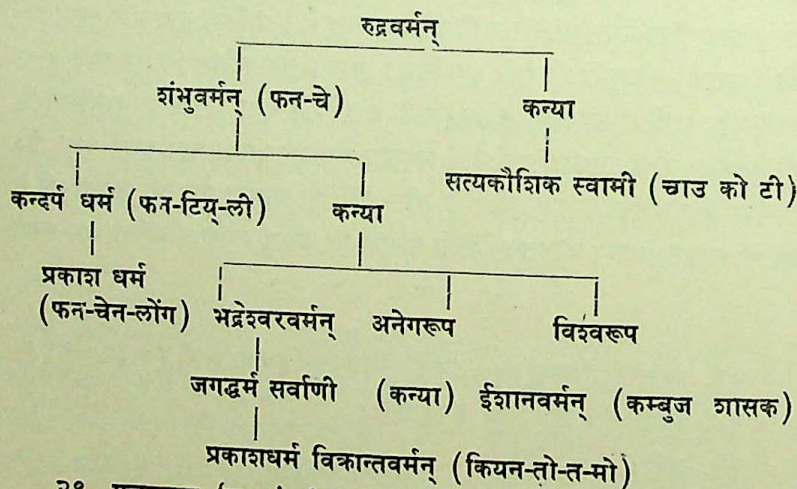
२९. मजुमदार, 'चम्पा', नं० १२।

३०. यही, नं० १४।

३१. यही, नं० १५।

हुआ में मिला जिसमें शिव की उपासना की चर्चा है। इसके लगभग ३० वर्ष के लम्बे राज्यकाल में चीन के साथ शान्तिमय सम्बन्ध स्थापित रहा और इसने ६५७, ६६९, ६७० और ६८६ में भेंट के साथ राजदूत चीन भेजे।

नरवाहन और विक्रान्तवर्मन् (द्वितीय)

चीनी स्रोत के अनुसार ७१३ और ७३१ ई० में चम्पा के राजा किअन-त-तो-मोट्ने चीनी सम्राट् को भेंट देने के लिए राजदूत भेजे। इस चीनी नाम की समानता विक्रान्तवर्मन् से की गयी है।[३२] इससे प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् का संकेत नहीं हो सकता, अन्यथा उसका शासन-काल ७५ वर्ष के लगभग हो जाता है जो अधिक है। इसी लिए इसे विक्रान्तवर्मन् द्वितीय मानना चाहिए। इन दोनों विक्रान्तवर्मनों के बीच में नरवाहनवर्मन् नामक एक और राजा हुआ जिसका उल्लेख शक संवत् ६५३ के विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के लेख में मिलता है। इसमें शंभुवर्मन् द्वारा एक वेदी के निर्माण का उल्लेख है और नरवाहन ने इस वेदी के बाहरी भाग को सुवर्ण और चांदी से मढ़वाया था। अन्त में विक्रान्तवर्मन् द्वारा ६५३ शक संवत् में लक्ष्मी की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है।[३३] कदाचित् नरवाहन ने ६८७ ई० के बीच में राज्य किया हो।

चीनी स्रोतों के अनुसार चम्पा के इन राजाओं के समय में बहुत से राजदूत भेंट लेकर चीन गये। विक्रान्तवर्मन् (किअन-त-तो-मो) ने ७१३ और लाऊ-तो-लो ने ७४९ ई० में दूत भेजे। विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के बाद रुद्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा जिसने ७४९ में चीन दूत भेजा। उसकी मृत्यु कदाचित् ७५७ ई० में हो गयी और उसके बाद से गंगवंशज रुद्रवर्मन् प्रथम और उसके राज्याधिकारियों का राज्य-काल समाप्त हुआ। इनके लेखों से प्रतीत होता है कि इनका साम्राज्य हुए, खन-हुआ और चो-डिन्ह् तथा माइ-सोन, क्वंग-नम तक सीमित था। रुद्रवर्मन् के पश्चात् कौठार प्रान्त पर पंडुरंग राजाओं का आधिपत्य आरम्भ होता है।

३२. मासपेरो, चम्पा, पृ० ९२-९३।
३३. मजुमदार, चम्पा, नं० २१।

अध्याय २

पंडुरंग वंश, (भृगुवंश) अनम के साथ संघर्ष से पूर्व

(ई० ७७८–९७० तक)

चम्पा के इतिहास का द्वितीय चरण पंडुरंग वंश के राजा पृथ्वीन्द्रवर्मन् से आरम्भ होता है। इस युग में उत्तर की चम्पा नगरी तथा क्वंग-नम प्रान्त के स्थान पर अब दक्षिण का कौठार नह त्रंग और पंडुरंग (फन-रंग) राजनीतिक केन्द्र वन जाता है। इससे यह न समझना चाहिए कि चम्पा राज्य की सीमा घट गयी थी अथवा चीनियों का दवाव उत्तर में अधिक पड़ने लगा था, जिसके फलस्वरूप चम राजाओं को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। वास्तव में पंडुरंग राजाओं ने अपने को सम्पूर्ण चम्पा का अधिकारी घोषित किया है (**चम्पाञ् च सकलां भुक्त्वास एव परमो नृपः**)।[1] चीनी स्रोत के अनुसार इस नये राज्य को होअन-वंग कहकर संबोधित किया गया है।[2] इस वंश के राजाओं को उनकी मृत्यु के बाद एक नया नाम दिया जाने लगा, क्योंकि धारणा यह थी कि उन सम्राटों में देवत्व रूप प्रधान था और इस लोक में शासन करने के बाद वे अपने देवत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तथा उसी देव में उनकी आत्मा प्रवेश कर जाती है। इसी लिए पृथ्वीन्द्रवर्मन् के लिए 'रुद्रलोक' और सत्यवर्मन् के लिए ईश्वरलोक का प्रयोग किया गया है।[3]

१. मजुमदार, 'चम्पा', ग्लै-लमोव लेख नं० २४, पृ० ५२, पद ३। प्रकाशधर्म ने भी अपने को 'चम्पेश्वरो विजयी महीपतिः' घोषित किया है (नं० १०, पृ० १५)।

२. मासपेरो, चम्पा, पृ० ९५। मासपेरो ने अपने ग्रन्थ में इस वंश का नाम पांडुरंग दिया है। सिडो (ए० हि०, पृ० १६३) तथा मजुमदार ने पंडुरंग लिखा है। यहां पर इसका पंडुरंग नाम दिया गया है।

३. ग्लै-लमोव के लेख में इस शासक को रुद्रलोक के नाम से सम्बोधित किया गया है (रुद्रलोकमगान्नृपः)। मजुमदार इस मत से सहमत नहीं हैं, न उनके

इस युग में चम्पा को केवल चीन ही से भय न था। लेखों में जावा से आये हुए उन लुटेरों का भी उल्लेख है[४] जिन्होंने यहां के मन्दिरों को लूटा और जलाया तथा मूर्तियों को उठा ले गये। यहां के सम्राटों ने पुनः मन्दिरों में मूर्तियाँ स्थापित कीं।

पृथ्वीन्द्रवर्मन्—सत्यवर्मन्

पंडुरंग वंश का प्रथम राजा पृथ्वीन्द्रवर्मन् था जिसने अपनी शक्ति से ही अपना राज्य निर्माण किया था और शत्रुओं को हराकर अपना प्रभाव स्थापित किया था[५] (**इति लोके स भुनक्ति भूमिं शक्त्या च निर्ज्जित्य रिपून् हि सर्वान्।** २४. पृ० २)। चीनी स्रोत के अनुसार जावा की ओर से चम्पा पर ७६७ ई० में आक्रमण हुआ था।[६] पृथ्वीन्द्रवर्मन् ने देश की बिगड़ी हुई परिस्थिति और विदेशी आक्रमण को रोकने में प्रमुख भाग लिया होगा और कदाचित् इससे लाभ उठाकर स्वयं राजा वन गया होगा। उसके वंशजों के लेखों में उसके भुजवल और पुरुषार्थ द्वारा शत्रुओं को हराकर अपना राज्य स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई वृत्तान्त नहीं मिलता है। इसके बाद इसकी वहिन का ज्येष्ठ पुत्र सत्यवर्मन् ७७४ ई० में गद्दी पर बैठा (**तस्यैव भागिने-योऽसौ श्रीमान् वीरतमो नृपः**)। इसके राज्यकाल का इतिहास इसने अपने शक संवत् ७०६ (७८४ ई०) के पो-नगर के लेख[७] तथा इसके छोटे भाई इन्द्रवर्मन् के ग्लै-लमोव[८] तथा भांजे विक्रान्तवर्मन् के पो-नगर वाले लेख[९] में मिलता है। पो-नगर के इसके लेख के अनुसार शक सं० ६९६ में दूसरे नगरों के काले रंग वाले

विचार से पृथ्वीन्द्रवर्मन् को राज्य अर्पण किया गया था। मजुमदार, चम्पा, पृ० ४९, नोट १।

४. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २२, पृ० ४२। नं० २३, पृ० ४४। यह भारतीय भावना 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के निकट है और इसका विकास कम्बुज देश में भी हुआ। 'देवराज' मत का यह भी एक अंग थी।

५. यही, नं० २४, पद २।

६. टूंग-पाओ १९१०, पृ० ५५०। मजुमदार, चम्पा, पृ० ५०।

७. मजुमदार, चम्पा, नं० २२, पृ० ४१ से।

८. यही, नं० २४, पृ० ५१ से।

९. यही, नं० २९, पृ० ६७ से।

(**कृष्णरुक्षपुरुषैः**) व्यक्ति जिनका अति क्लिष्ट भोजन था और जो यम की भाँति बड़े क्रूर थे (**कालोग्रयपात्सकैः**) जहाजों में आये (पोतागतैः), और मन्दिर में आग लगाकर मुखलिंग उठा ले गये। श्री सत्यवर्मन् ने अपने अच्छे जहाज (सुपोत) में वीर पुरुषों और सैनिकों सहित उनका पीछा किया और उनको सामुद्रिक युद्ध में हराकर उनका वध कर डाला। पर शिवमुख तथा अन्य सामग्री उन्होंने समुद्र में फेंक दी। अतः शक सं० ७०६ (७८४ ई०) में सम्राट् ने पुनः एक शिव-मुख, दुर्गा की मूर्ति और गणेश की मूर्ति स्थापित की और मन्दिर के लिए बहुत-सी भूमि का दान भी दिया। इसके अतिरिक्त इसके राज्यकाल की और कोई घटना नहीं है। कदाचित् इसने ७८५ ई० तक राज्य किया और इसके बाद इसका छोटा भाई इन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा।

इन्द्रवर्मन्

ग्लै-लमोव के लेख के अनुसार इन्द्रवर्मन् पृथ्वीन्द्रवर्मन् का भांजा था। इसका प्रथम लेख[१०] शक सं० ७२१ का यंग-तिकुह, दत्रग पहाड़ी के निकट फनरंग के मैदान में मिला। इसके अनुसार शक सं० ७०९ (७८७ ई०) में जावा की सेना ने समुद्र के मार्ग से आकर भद्राधिपतीश्वर नामक शिवमन्दिर को नष्ट किया (**नावा-गतैर्जवबलैः सं छिन्नोऽर्दितोऽपि**)। इन्द्रवर्मन् ने मन्दिर का पुनः निर्माण किया और इन्द्रभद्रेश्वर नामक शिवमूर्ति की स्थापना की। इस लेख में इसे 'ब्रह्मक्षत्र-प्रधान' की उपाधि प्रदान की गयी है तथा अपने सुचारु शासन से वर्णाश्रम व्यवस्था सुव्य-वस्थित रखने का भी श्रेय इसे दिया गया है (**वर्णाश्रम-व्यवस्थितिस्सुरनगरीवराज-धान्यासीत्**)। इसकी तुलना विष्णु से भी की गयी है। इन्द्रभद्रेश्वर की मूर्ति स्थापना तथा उससे सम्बन्धित दान के अतिरिक्त इसने वीरपुर में इन्द्र-भोगेश्वर तथा इन्द्र-परमेश्वर की प्रतिमाएं स्थापित कीं और बहुत-सा दान दिया। इसने शंकर-नारा-यण की संयुक्त मूर्ति की भी स्थापना की और उसके लिए भूमि तथा द्रव्य दान में दिया।[११] इस सम्राट् के चीन के साथ सम्बन्ध पर यंग-तिकुह के लेख से कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमें इसकी चारों दिशाओं में विजयों का उल्लेख

१०. यही, नं० २३, पृ० ४४ से।
११. नं० २४ व पृ० ५४ से।

है।[१२] मासपेरो ने इस आधार पर इसके चीन से संघर्ष का संकेत किया है।[१३] डा० मजुमदार इस मत से सहमत नहीं हैं।[१४] इसने चीनी सम्राट् को ७९३ ई० में बारहसिंगों और बैलों की भेंट भेजी थी। इसने ८०१ ई० तक राज्य किया।[१५]

हरिवर्मन्

इसके बाद इसका बहनोई हरिवर्मन् सिंहासन पर बैठा।[१६] इसका पूरा नाम वीर जय श्री हरिवर्मदेव था और इसके लेखों में इसे 'राजाधिराज श्री चम्पापुर परमेश्वर' की उपाधि दी गयी है। इसके लेखों में पो-नगर का शक सं० ७३५[१७] (८१३-ई०) तथा यहीं का ७३९ (८१६.७[१८] ई०) तथा ग्लै-क्लोंग-अनोह[१९] का एक अनिश्चित तिथि का लेख है। इसके समय में चीन तथा कम्बुज देशों से युद्ध हुआ। पो-नगर के प्रथम लेख में केवल इसको विजयी कहा गया है और इसके सेनापति पञरो का उल्लेख है। यहीं से प्राप्त दूसरे लेख में चम्पा के इस राजाधिराज द्वारा चीन को पराजित करने का उल्लेख है। अपने बाहुबल से मार्तण्ड के रूप में इसने चीनी अन्धकार को हटा दिया (**मार्तण्डदो-र्दोदण्डदग्धचीनतामिस्र स्त्रिनयनो नारायणमूर्तिः**)। इसके पुत्र विक्रान्तवर्मा को **'क्षत्रोत्तम'** कहा गया है। चीनी स्रोत के अनुसार[२०] जनवरी ८०३ ई० में चम्पा के एक राजा ने हो-अन और अई नामक दो चीनी जिलों पर अधिकार कर लिया और ८०९ में पुनः आक्रमण किया। किन्तु चीनी प्रान्तीय

१२. स श्रीमान् नृपतिस्सदा विजयते भूमौ रिपस्सर्व्वतः। मजुमदार, चम्पा पृ० ४५-३।

१३. चम्पा, पृ० १०२।

१४. मजुमदार, चम्पा, पृ० ५२ से।

१५. सिडो, ए० हि०, पृ० १६५।

१६. मासपेरो, चम्पा, पृ० १०५, नोट ३। सिडो, ए० हि० पृ०, १७८।

१७. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २५।

१८. यहीं, नं० २६।

१९. यही, नं० २७।

२०. सिडो, ए० हि०, पृ० १७८। मासपेरो, चम्पा, पृ० १०२ तथा नोट ३। यह प्राचीन जे-नन क्षेत्र था।

शासक ने उसे हराकर वहां के निवासियों को चम की सहायता करने के लिए कठिन दंड दिया। यह चम राजा इन्द्रवर्मन् ही होगा। इसने अपने पुत्र विक्रान्तवर्मन् को पंडुरंग का क्षेत्र शासन करने के लिए सौंप दिया और उसके संरक्षक के रूप में सेनापति पार को नियुक्त किया। इस सेनापति ने कम्बुज देश पर आक्रमण कर वहां के नगरों को लूटा। इसका उल्लेख पो-नगर के लेख में मिलता है (**आकम्बुजार्धमाजित भुजौजसा**[२१]) ८१७ ई० में इसने तीन नये मन्दिरों में लिंग, विनायक और श्री मलदा कुठार की स्थापना की, और महाभगवती के लिए सुवर्ण, रजत तथा मणि इत्यादि का दान दिया।[२२] इसका राज्यकाल लगभग ८०० ई० से ८२० तक रखना चाहिए।[२३]

विक्रान्तवर्मन्

यह पंडुरंग वंश का अन्तिम सम्राट् था और सत्यवर्मन् एवं इन्द्रवर्मन् का भांजा था। इसके चार लेख[२४] पो-नगर में मिले जिनमें अन्तिम शक सं० ७७६ (८५० ई०) का है। इन सबमें केवल इसके द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। विक्रान्त रुद्रेश्वर तथा विक्रान्त देवाधिभवेश्वर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख शक सं० ७७६ (८५४ ई०) के लेख में मिलता है। विक्रान्तवर्मन् तृतीय के बाद चम्पा राज्य-लक्ष्मी इस वंश को छोड़कर दूसरे वंश में चली गयी।

भृगुवंशज

पंडुरंग वंश के राजाओं के बाद भृगुवंश[२५] के राजाओं ने चंपा में राज्य किया।

२१. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २६, पृ० ६२।

२२. यही, पृ० ६२, ६४।

२३. हरिवर्मन् के लेखों की तिथि ८१३ तथा ८१७ ई० है। चीनियों के साथ इसका संघर्ष ८०३ ई० में हुआ था और इन्द्रवर्मन् की अन्तिम तिथि ७९९ ई० है। अतः ८०० ई० के लगभग इसके सिंहासनारूढ़ होने का समय निर्धारित किया जा सकता है (मजुमदार, चम्पा, पृ० ५३)। इसके सेनापति द्वारा पो-नगर के मन्दिर का निर्माण काल ८१७ ई० है। अतः इसकी अन्तिम तिथि ८२० ई० रखी जा सकती है। सिडो, ए० हि०, १७८।

२४. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २९ अ, ब तथा स और ३०, पृ० ६७, ७१।

२५. जयसिंह वर्मन् के डोंग-डुओंग लेख में चम्पा नगरी की, जिसकी तुलना

इनके लेख चम्पा में क्वंग-नम के निकट मिले हैं। इस वंश का प्रथम राजा इन्द्र-वर्मन् द्वितीय था जिसे उसके डोंग-डुओंग के शक सं० ७९७ के लेख में[२६] श्री जयइन्द्र-वर्म्मा महाराजाधिराज कहा गया है, और उसने चम्पा का राज्य अपने पूर्व जन्मों के पुण्य तथा तप, बुद्धि और पराक्रम से प्राप्त किया था (**तपःफलविशेषाच्च पुण्यबुद्धि पराक्रमात्।. . .नृपः प्राप्तो न पितुर्न पितामहात्**)। लेख में उसके पिता 'ख्यातयशा' श्री भद्रवर्मन् और पितामह राजा रुद्रवर्मन् का भी उल्लेख है, किन्तु उसने पैतृक अधिकार से यह राज्य नहीं प्राप्त किया था। फिनो के विचार में[२७] रुद्रवर्मन् ने अविकृत रूप से राज्य प्राप्त किया और मासपेरो के अनुसार[२८] विक्रान्त-वर्मन् तृतीय ने उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित किया था। किन्तु डा० मजुम-दार के मतानुसार[२९] **'सन्दर्शितो भूपतिना च पूर्व्वं अथवा महाजनवरैरनुगम्यमानः'** से न तो उसके पहले से उत्तराधिकारी घोषित होने और न महाजनों द्वारा निर्वा-चित होने का संकेत मिलता है। यह प्रतीत होता है कि उसके पिता और पितामह स्थानीय शासक थे और इन्द्रवर्मन् ने परिस्थिति से लाभ उठाकर चम्पा का राज्य प्राप्त किया था। इसके डोंग-डुओंग लेख में प्राप्त वंशावली के अतिरिक्त भद्रवर्मन् तृतीय के होअ-कूए[३०] के शक सं० ८३२ के लेख से पता चलता है कि इसने अपने पितामह रुद्रवर्मन् की भतीजी से विवाह किया था। इन्द्रवर्मन् की महिषी का एक भाई आज्ञा-महासामन्त सार्थवाह था और इस वंश ने आगे चलकर भद्रवर्मन् तृतीय के समय में राज्य को उच्च पदाधिकारी प्रदान किये। इन्द्रवर्मन् के दो लेखों से [३१]पता

इन्द्रपुर से की गयी है, स्थापना भृगु ने की थी (कृता भृगुणा पुराणसमये)। मजुमदार, चम्पा, नं० ३६, पृ० १००, पद ३। इसी ऋषि के नाम से इस वंश का नामकरण किया गया।

२६. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ३१, पृ० ७४ से।

२७. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ९६ से।

२८. चम्पा, पृ० १११। इस विषय पर फिनो और मासपेरो के विचारों के लिए देखिए--बु० इ० फ्रा० १५ (२), पृ० १२६ तथा यही, २९, पृ० २२८।

२९. चम्पा, पृ० ५९।

३०. यही, नं० ३९, पृ० १११ से।

३१. वो मंग (शक सं० ८११) फु-थुअन (नं० ३३), पृ० ९२ से नं० ३२, पृ० ८९ से।

चलता है कि श्री भाग्यकान्तेश्वर के मन्दिर के लिए शुल्क माफ कर चार कर्मकाण्डी पुजारियों की नियुक्ति की गयी थी तथा ८८९ ई० (शक ८११) में अपने मंत्री मणिचैत्य द्वारा स्थापित श्री महालिंग के मन्दिर के लिए एक क्षेत्र तथा दासों का दान किया गया था। प्रथम लेख में इन्द्रवर्मन् को शास्त्रज्ञ तथा लोकधर्मज्ञानी कहा गया है। **श्रीजयइन्द्रवर्मेदं शास्त्रज्ञो लोकधर्मवित्।** पद ६। इसमें चम्पा के स्थानीय राजाओं (वरनृपा) का भी उल्लेख है जिन्होंने सम्राट् से भूमि प्राप्त की होगी। इन्द्रवर्मन् ने लगभग ८९५ ई० तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में ८७७ ई० में एक राजदूत चीन भेजा गया। दो वर्ष पहले ८७५ ई० में इसने लक्ष्मीन्द्रलोकेश्वर विहार की स्थापना की, जो चम्पा में महायान मत का प्रथम सूचक चिह्न है। इसके अवशेष[३२] माइसोन के दक्षिण-पूर्व डोंग-डुओंग में पाये गये हैं। मृत्यपरान्त इसे 'परमबुद्ध-लोक' नाम से सम्बोधित किया गया।

जयसिंहवर्मन् तथा जयशक्तिवर्मन्

इसके डोंग-डुओंग लेख से पता चलता है कि कदाचित् यह इन्द्रवर्मन् की महिषी की बड़ी बहिन का पुत्र था।[३३] इस लेख में **'आज्ञापोव् कुल्यङ श्रीराजकुल'** हरदेवी (**श्रीजयसिंहवर्मनृपतेर्भ्रातृष्वसा**) ने अपने स्वर्गीय पति श्री परमबौद्धलोक की स्मृति में इन्द्र-परमेश्वर देवता की स्थापना की थी। इससे प्रतीत होता है कि उसका नाम इन्द्रवर्मन् था। इसी ने अपने पिता की स्मृति में रुद्र-परमेश्वर देवता की प्रतिमा स्थापित की थी। इसी ने अपनी मौसी द्वारा स्थापित मन्दिरों का कर माफ कर, हरोमा (हर--उमा कदाचित् इन दोनों) की संयुक्त मूर्ति स्थापित की थी। सम्राट् ने अन्य मन्दिरों के प्रति भी उदारता दिखायी थी[३४] और यह केवल

३२. इन्द्रवर्मन् के शक सं० ७९७ (८७५ ई०) के लेख में सम्राट् द्वारा एक बौद्ध मंदिर और विहार की स्थापना का उल्लेख है। इसमें सम्राट् की वंशावली भी दी हुई है। मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ३१, पृ० ७४ से। सिडो, ए० हि०, पृ० २१०। डोंग-डुओंग के महायान मत पर फिनो ने हिन्दचीन में लोकेश्वर नाम का एक लेख लिखा। देखिए, एटूडिये एशियाटिक १, पृ० २३२।

३३. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ३६, पृ० ९८ से।

३४. वन लन्ह् लेख (मजुमदार, नं० ३५, पृ० ९४) में सम्राट् द्वारा श्रीकल्प

शैव मत तक ही सीमित न थी; बौद्ध धर्म का भी इसमें कुछ अंश था।[३५] इसकी महिषी त्रिभुवनमहादेवी के वंश तथा उसके दानों का भी कई लेखों में उल्लेख है।[३६] इस वंश के पोव् क्लुम् पिलिः को सम्राट् की ओर से राजनीतिक शिष्ट-मंडल के अध्यक्ष के रूप में चम्पा भेजा गया था, जो अपने कार्य में सफल हुआ (**यव-द्वीपपुरं भूपानुज्ञातो दूतकर्मणि। गत्वा यः प्रतिपत्तिस्थः सिद्धयात्रः समागमत्।।**)।[३७] इससे प्रतीत होता है कि चम्पा का प्रभाव अब केवल उस देश तक ही सीमित न था, वरन् देश के बाहर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी गणना होने लगी थी, जैसा कि सिंहवर्मन् के वो-मांग लेख से भी पता चलता है (**देशान्तर-श्रीश्रुतशक्तितेजः**)।[३८] जयसिंहवर्मन् का वन-लन्ह का लेख[३९] (डोंग-डुओंग से १२ मील दूर) क्वंग-नम प्रान्त में, शक सं० ८२० (८९८ ई०) का मिला है और इसके आधार पर इसके शासनकाल का आरम्भ लगभग ८९५ ई० में रख सकते हैं। इसका अन्तिम लेख शक सं० ८२५ (९०३ ई०) का है।[४०] इसका बाद का लेख होअ-कुए-टूरेन के निकट शक सं० ८३१ (९०९ ई०) का भद्रवर्मन् तृतीय के समय का है,[४१] जिसका इस वंश

द्वारा स्थापित रुद्र मध्येश्वर के मन्दिर तथा ८२० शक सं० (८९८ ई०) में मुनि शिवाचार द्वारा निर्मित शिवलिंगेश के मन्दिर के प्रति कर माफ तथा उनकी रक्षा का उल्लेख है (थे चाऊ स के शक सं० ८२५ (९०३ ई०) के लेख नं० ३८, पृ० १०९ से)। उसमें श्री शंकरेश लिंग की स्थापना तथा सम्राट् द्वारा दिये गये दान का भी उल्लेख है (नं० ३८, पृ० १०९ से)।

३५. अन थे लेख (शक सं० ८२४), मजुमदार, चम्पा, नं० ३७, पृ० १०५ से।

३६. यही, नं० ४३-४४, पृ० १२९ तथा १३७ से।

३७. यही, नं० ४३, पृ० १३१, पं० ८। ह्यूबर ने सिद्धयात्रा से विशेष (मनोजव) जादू ज्ञान का संकेत किया है (बु० इ० फ्रा० ११, पृ० २९९), मलाया के लेख में भी इसका उल्लेख है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि इससे केवल साधारण यात्रा का संकेत है जिससे कार्य सिद्ध हो जाय।

३८. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ३४, पृ० ९३, पद १।

३९. यही, नं० ३५, पृ० ९४।

४०. यही, नं० ३८, पृ० १०९ से।

४१. यही, नं० ३९, पृ० १११ से।

के साथ कोई सम्बन्ध न था। पर इन दोनों के बीच जयशक्तिवर्मन् चम्पा का सम्राट् हुआ, किंतु उसने बहुत कम काल तक राज्य किया। इसका उल्लेख इन्द्र--वर्मन् तृतीय के नहन-वियो के शक सं० ८३३ (९११ ई०) के लेख में मिलता है।[४२] पोव कलुञ् पिलिः राजद्वारः ने जयसिंहवर्मन् के अतिरिक्त उसके पुत्र जयशक्ति-वर्मन्, भद्रवर्मन् और उसके पुत्र इन्द्रवर्मन् तृतीय के शासनकाल में चम्पा में उच्च पदों को सुशोभित किया था (**पश्चाच्छ्रीजयशक्तिवर्म्मनृपतेरिद्धाज्ञया रक्षतः, श्रीमच्छीजयसिंहवर्म्मवसुधापालात्मजस्य क्षितिम्।**) और वह पूर्ववत् उच्च पद प्राप्त करता रहा (**यद्वत् प्रमुखोऽभवत्**)।[४३]

भद्रवर्मन् तृतीय

भद्रवर्मन् तृतीय (९०५-९११ ई०) के पांच लेख मिलते हैं जिनमें होअ-कुए[४४] (टूरेन के निकट) शक सं० ८३१, लक-थनः[४५] (क्वंग-नम) शक सं० ८३२ और नहन-वियो[४६] (क्वंग-त्रि) प्रान्त का सं० ८३३ का है। एक अन्य लेख थे-फू-लुओंग[४७] (हुए प्रान्त) में इकाई का अभाव है और पांचवें लेख[४८] वंग-अन-क्वंग (नम प्रान्त) में कोई तिथि नहीं है। केवल सैकड़े का अंक ८ ही प्रतीत होता है। इन लेखों से यह ज्ञात होता है कि राजनीतिक क्षेत्र में चम्पा का प्रमुख स्थान था और विदेशों से यहाँ राजदूत आने लगे थे। वंग-अन में दूसरे देशों से आये हुए दूतों का उल्लेख है (**देशान्तरागतमहीपतिदूतसंघः**) और होअ-कुए के लेख में एक मंत्री के सर्वदेशीय भाषाओं के ज्ञान का उल्लेख है (**सर्व्वदेशान्तरायातभूभुक्सन्देशमागतम्, निरीक्ष्यैकक्षणं वेत्ति निश्शेषार्थमतीहया।** पाद २५)। चम्पा देश से पिलिः राजद्वारः को जावा भेजने का पहले ही उल्लेख हो चुका है। नहन-वियो के लेख के अनुसार

४२. यही, नं० ४२, पृ० १२५।
४३. यही, नं० ४३, पृ० १३१, पंक्ति ९।
४४. यही, नं० ३९।
४५. मजुमदार, चम्पा, नं० ४०।
४६. यही, नं० ४३।
४७. यही, नं० ४१।
४८. यही, नं० ४२।

भद्रवर्मन् के समय में भी यह द्वितीय बार जावा भेजा गया था और इसकी यात्रा सफल रही (**यवद्वीपपुरं भूयः क्षितिपानुज्ञया सुधीः। द्विवारमपि यो गत्वा सिद्धयात्रामुपागमत्** ।। - नं० ४३ पद ११) और सम्राट् भद्रवर्मन् द्वारा इसे **'पौव् क्लम् सुदण्डवास'** उपाधि मिली। इस लेख से चम्पा के एक और राजवंश का भी पता चलता है जिसने साम्राज्य के लिए योग्य शासनाधिकारी दिये। इन्द्रवर्मन् द्वितीय की महिषी के भ्राता सार्थवाह के तीन पुत्र आज्ञा-महासामन्त, आज्ञा-नरेन्द्र नृपवित्र और आज्ञा-जयेन्द्रपति[४९] भद्रवर्मन् के अमात्य थे। इस सम्राट् ने कई मन्दिरों का निर्माण कराया और मूर्तियों की स्थापना की तथा और भी दान दिये। इसका राज्यकाल ५-६ वर्ष से अधिक नहीं रहा, क्योंकि ९११ ई० में इसका पुत्र इन्द्रवर्मन् तृतीय चम्पा का शासक था।

इन्द्रवर्मन् तृतीय (जय-इन्द्रवर्मन्)

चम्पा के सम्राटों में इन्द्रवर्मन् तृतीय ने लगभग ६० वर्ष तक राज्य किया और वह सबसे विद्वान् शासक हुआ। पो-नगर के लेख के आधार पर यह कहा जाता है कि वह षट् प्रकार के दर्शन जिनमें मीमांसा तथा तर्क भी हैं, बौद्ध दर्शन, पाणिनीय तथा उसकी टीका काशिका, आख्यान, शैवों का उत्तर कल्प, इत्यादि विषयों का ज्ञाता था (**मीमांसषट्-तर्कजिनेन्द्रसर्मिस्सस काशिका-व्याकरण।दिकोशाः। आख्यान-शैवोत्तरकल्पमीनः पटिष्ठ एतेष्वि ति सत्कवीनाम्**।।[५०] नं० ४५)। विद्याध्ययन में व्यस्त होने के कारण इसके राज्य शासन की बागडोर का ढीला होना स्वाभाविक था, जिससे कम्बुज के सम्राट् ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया और यहां से सुवर्णमूर्ति उठा ले गया।[५१] उसके स्थान पर सम्राट् ने पत्थर की मूर्ति स्थापित की (**हैमीयत्र-**

४९. यही, नं० ३९, पंक्ति २५।

५०. यही, नं० ४५, पद ३।

५१. देखिए राजेन्द्रवर्मन् का वकसेई चंक्रोन लेख, जिसमें चम्पा तथा अन्य विदेशी शक्तियों पर राजेन्द्रवर्मन् की विजय का उल्लेख है (चम्पादि परराष्ट्राणां द्रोग्धा कालानलाकृतिः। पद ४५)। प्रे-रूप के लेख में भी इस विजय का उल्लेख है (चम्पाधिपं बाहुबलेन जित्वा। पद २७२)। राजेन्द्रवर्मन् की सेना अन्त में बुरी तरह से हारी। सिडो, ए० हि०, पृ० २११।

तिमां पूर्व्वं येन दुष्प्रापतेजसा, न्यस्तां लोभादिसंक्रान्ता मृता उद्धृत्य काम्बुजः।)[५२]। इसके समय में चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हुआ जो बहुत दिनों से बन्द था। ९५१ में बहुत-सी भेंट के साथ एक दूत हेऊ-चाओ इन्द्रवर्मन् ने भेजा। शुंग वंश के चाऊ-कुवंग-चिन के पास ९६० ई० में इन्द्रवर्मन् ने बधाई का सन्देश भेजा। चम्पा से इसके समय में ९५८, ९५९, ९६२, ९६७, ९७० तथा ९७१ ई० में चीन दूत भेजे गये।[५३]

इन्द्रवर्मन् ने लम्बे समय तक राज्य किया। कुछ विद्वानों ने इन्द्रवर्मन् तृतीय से जय-इन्द्रवर्मन् प्रथम को अलग सम्राट् माना है, पर वास्तव में दोनों एक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्द्रवर्मन् द्वितीय को भी जय-इन्द्रवर्मन् कहा गया है।[५४] जय-इन्द्रवर्मन् के शक सं० ८८७ (९६५ ई०) के पो-नगर लेख[५५] में कम्बुज-शासक द्वारा हरी गयी हिरण्य-मूर्ति के स्थान पर सम्राट् द्वारा पत्थर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय (जय-इन्द्रवर्मन्) का राज्य-काल शक ८८७ (९६५ ई०) या अधिक से अधिक ९७० तक रखना चाहिए। ९७२ ई० में चम्पा का शासक परमेश्वरवर्मन् था। इसके समय से लगभग १०० वर्ष तक चम्पा का इतिहास अनम के साथ संघर्ष की कहानी बन जाता है।

५२. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ४७, पद १।

५३. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ११९।

५४. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० ६५, नोट १, डा० मजुमदार के मतानुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय और जय-इन्द्रवर्मन् प्रथम, जिसके पांच लेख (नं० ४६-५०) मिले हैं, एक ही व्यक्ति थे। इन्द्रवर्मन् द्वितीय को दो बार जय इन्द्रवर्मन् के नाम से सम्बोधित किया गया है (डोंग-डुओंग नं० ३१ ब, वो० मंग नं० ३२) और यही बात इन्द्रवर्मन् तृतीय के साथ भी मानी जा सकती है। मासपेरो के मतानुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय का उत्तराधिकारी जय इन्द्रवर्मन् प्रथम था। ('चम्पा', पृ० ११९-२०) सिडो ने भी दोनों को अलग माना है। ए० हि० पृ० २११।

५५. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ४७, पृ० १४३ से।

अध्याय ३

अनम से संघर्ष, विजय राज्य और चम्पा का पतन

(सन् ९७८–१०७४)

इन्द्रवर्मन् तृतीय की मृत्यु के पश्चात् चम्पा का इतिहास अंधकारमय हो जाता है और हरिवर्मन् प्रथम के शक सं० ९१३ के माइसोन से प्राप्त एक छोटे लेख को छोड़कर लगभग ८५ वर्ष तक के समय का कोई लेख नहीं मिलता है। चम्पा का इतिहास अब अनम के साथ संघर्ष की कहानी बन जाता है। चीन की बिगड़ती राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर अनम ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया और फिर उसकी आँखें दक्षिण की ओर चम्पा पर गयीं। यहाँ कोई सुयोग्य शासक न था जो अनम के दबाव को रोक सकता। अतः चम्पा की राजधानी इन्द्रपुरी को अनम-सेना ने कई बार लूटा। चीनी सम्राट् भी चम्पा में अनम के हस्तक्षेप को न रोक सके। राजधानी इन्द्रपुरी से हटकर विजय चली गयी। लगभग १०० वर्ष के इस इतिहास में यही घटना प्रमुख है। जिन राजाओं ने चम्पा में राज्य किया उनमें हरिवर्मन् को छोड़कर और किसी के लेख नहीं मिले हैं। केवल चीनी स्रोत से ही हम यहां के इतिहास और सम्राटों के नामों का ज्ञान कर सकते हैं।

परमेश्वरवर्मन् और इन्द्रवर्मन् चतुर्थ

इन्द्रवर्मन् तृतीय के पश्चात् राजा परमेश्वरवर्मन् (पी-माई-चूए-हो-चिन-टू) चम्पा में गद्दी पर बैठा और उसने ९७२, ७३, ७४, ७६, ७७ तथा ९७९ ई० में राजदूत चीन भेजे।[1] इसी के समय में अनम के साथ चम्पा का संघर्ष आरम्भ हुआ जो चम्पा के लिए घातक सिद्ध हुआ। ९३९ ई० में न्गो-क्यून द्वारा एक स्वतंत्र

१. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १२१।

राज्य अनम में स्थापित हुआ था, किन्तु यह कई भागों में बँट गया। डिन-वो-ली ने इन सब स्थानीय शासकों को हराकर ९६८ में अपने को अनम का सम्राट् घोषित कर दिया। इनमें से एक न्गो-वंशज ने चम्पा में भागकर शरण ली और जब डिन-वो-ली का ९७९ में वध हुआ तो उसने परमेश्वरवर्मन् से अनम पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सहायता मांगी। चम बेड़ा अनम की ओर बढ़ा, पर एक समुद्री तूफान के कारण वह नष्ट हो गया। इसी बीच में अनम में ले-हो-अन शासक चुन लिया गया और उसने परमेश्वरवर्मन् के पास अपना एक दूत भेजा, पर नीति-विरुद्ध चम्पा के सम्राट् ने उसे बन्दी कर लिया। ले-हो-अन ने चम्पा के विरुद्ध एक सेना भेजी जिसने ९८२ ई० में चम्पा की राजधानी इन्द्रपुरी को जीता और बहुत-से लूट के माल, राजवंश की स्त्रियों और एक भारतीय भिक्षु को ले गयी।[२] परमेश्वरवर्मन् कदाचित् मारा गया। नया सम्राट् इन्द्रवर्मन् (चतुर्थ) राज्य के दक्षिणी भाग में चला गया जहां से उसने एक ब्राह्मण दूत को ९८५ ई० में चीनी सम्राट् के पास सहायता के लिए भेजा, पर उसने चम्पा और अनम के बीच झगड़े में हस्तक्षेप करना उचित न समझा। इसी समय अनम के स्थानीय शासक आपस में लड़ रहे थे और एक सरदार ल्यू-क्य-टोंग ने उत्तरी चम्पा पर अधिकार कर इन्द्रवर्मन् चतुर्थ की मृत्यु के बाद अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। अनमियों के दबाव से चम्पा के लोगों को कष्ट हुआ और एक देशभक्त ल्यू-क्य-टोंग को हटाकर विजयहरिवर्मन् (द्वितीय) के नाम से ९८९ ई० में चम्पा के सिंहासन पर बैठ गया। उसकी राजधानी विन्ह-डिन्ह (विजय) थी।

हरिवर्मन् द्वितीय

हरिवर्मन् द्वितीय और ले-हो-अन के बीच तनातनी कायम रही। हरिवर्मन् के द्वारा सद्भावना का व्यवहार और कदाचित् चीनी सम्राट् के आदेश से दोनों देशों में मित्रता स्थापित हो गयी और अनम के सम्राट् ने ३६० चम बन्दी छोड़ दिये, जो चम्पा के दो बार आक्रमण में पकड़े गये थे। चीनी सम्राट् ने भी हरिवर्मन् के पास

२. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १२२-३। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० ७२। सिडो, ए० हि०, पृ० २१२। इस काल का कोई लेख नहीं मिला है और चीनी वृत्तान्त के आधार पर ही केवल रूपरेखा खींची जा सकती है।

भेंट देकर एक दूत भेजा। कुछ चमों ने अनम की सीमा उल्लंघन करने का प्रयास किया, पर अनम तथा चम्पा की मित्रता स्थापित रखने के लिए हरिवर्मन् ने अपने पौत्र को अनम के सम्राट् के पास भेजा। हरिवर्मन् का एक छोटा लेख[3] माड्-सोन के मन्दिर के फलक पर मिला है। यह शक सं० ९१३ (९९१ ई०) का है और इसमें श्री जय ईशानभद्रेश्वर की मूर्ति के पुनः स्थापन का उल्लेख है। इसने कदाचित् ९९५ ई० तक राज्य किया।

चेग-पु-कु—विजयश्री तथा उसके वंशज

चीनी स्रोत के अनुसार[4] चम्पा के सम्राट् चेंग-पु-कु (विजयश्री) ने ९९९ ई० में एक राजदूत चीन भेजा और वह उससे पहले सिंहासन पर बैठा होगा। उसके समय में चम्पा की राजधानी स्थायी रूप से विजय चली गयी, जो पुरानी राजधानी से ७०० ली दक्षिण में थी। इसने १००४ तथा १००७ में चीनी सम्राट् के पास राजदूत भेजे। विजय के अन्तिम राजा केवल नाम मात्र के लिए थे। चम्पा का राज्य पतन की ओर जा रहा था। दक्षिण की ओर राजधानी ले जाने से उत्तरी भाग पर विजय प्राप्त करना अनम देश के लिए सरल हो गया। इधर आन्तरिक परिस्थिति भी प्रतिकूल थी। लगभग ३५ वर्ष के काल में चम्पा में[4] चार सम्राट् हुए[5] जिनके नाम चीनी स्रोत के अनुसार श्री हरिवर्मदेव तृतीय (चे-लि-हिअ-लि-पि-म-ति), परमेश्वरवर्मन् चतुर्थ (येंग-मोई-पाई-मो-तिए), विक्रान्तवर्मन् चतुर्थ (यंग-पो-कूल चे-लि-पि-लन-तो-किअ-पन मोतिए) तथा जयवर्मन् द्वितीय थे। हरिवर्मन् ने चीन और अनम के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखा तथा १०१० और १०१५ ई० के बीच में तीन राजदूत चीन भेजे। इनके साथ १०११ में कुछ शेर भी भेजे गये। उसी वर्ष एक राजदूत टोंकिन भी गया। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने भी १०१८ में भेंट के साथ एक दूत चीन भेजा और १०३० में विक्रान्तवर्मन् ने भी इसका अनुकरण किया। अनम के साथ भी चम्पा की नीति मैत्रीपूर्ण रही,

३. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ५१, पृ० १४५। बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ११३, ११७।

४. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १२९ से।

५. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ७५।

पर १०२१ ई० में अनमियों ने वो-चन पर, जो चम्पा की उत्तरी सीमा थी, आक्रमण कर दिया। इसमें चम सेनापति मारा गया, पर अनमी सेना आगे नहीं बढ़ी। १०३८, १०३९ ई० में वहां की पूरी सेना अनम की ओर चली गयी तथा विक्रान्त-वर्मन् के पुत्र जयसिंहवर्मन् द्वितीय ने भी वहां शरण ली। इसका कारण देश में अशान्ति का वातावरण था। १०४१ ई० में जयसिंहवर्मन् सिंहासन पर बैठा। इसके समय में अनम के साथ संबंध बिगड़ गया। अनमी सम्राट् एक विशाल बेड़ा लेकर चम्पा के विरुद्ध चला और विजयवर्मन् अपने ३०,००० सैनिकों सहित युद्ध भूमि पर सदा के लिए सो गया। अनमी सम्राट् विजय की ओर बढ़ा और वहां उसे बहुत-सा लूट का सामान मिला तथा उसने बहुत-से बन्दी बनाये और महल की स्त्रियां भी उसके हाथ लगीं। इस प्रकार जयसिंहवर्मन् द्वितीय के समय में द्वितीय अनमी आक्रमण से विजयश्री हरिवर्मन् का वंश समाप्त हुआ।[६] पर चम्पा अधिक काल तक अनमियों के अधिकार में न रहा और ६ वर्ष के अन्दर ह: जय परमेश्वरवर्मदेव ईश्वरमूर्ति द्वारा एक नवीन राजवंश की स्थापना हुई।

जयपरमेश्वरवर्मन् तथा उसके वंशज (१०५०-१०९६)

१०५० ई० के लगभग जयपरमेश्वरवर्मन् चम्पा का सम्राट् हुआ। चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति अनम आक्रमण के फलस्वरूप शोचनीय हो गयी थी। लेखों से पता चलता है कि स्थानीय व्यक्तियों ने चम्पा के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया था। परमेश्वरवर्मन् चम्पा का प्राचीन राजवंशज था। इसे उरोजवंशज कहा

६. मासपेरो ने विजय के शासकों की वंशावली इस प्रकार दी है, जिन्होंने ९९१ से १०४४ ई० तक राज्य किया। 'चम्पा,' पृ० १३६--

हरिवर्मन् (द्वितीय)
|
चेंग-पु-कु विजय
|
हरिवर्मन् (तृतीय)
|
परमेश्वरवर्मन् (द्वितीय)
|
विक्रान्तवर्मन् (चतुर्थ)
|
जयसिंहवर्मन् (द्वितीय)

गया है।[७] इसके समय के शक सं० ९७२ के पो-क्लौं-गराई के तीन लेख,[८] पो-नगर का इसी संवत् का एक लेख,[९] ९७७ का फू-कुई मन्दिर[१०] का लेख, लाई यम का इसी संवत् का लेख,[११] पो-नगर का एक अन्य लेख[१२] (तिथि नहीं है) तथा युवराज महासेनापति का शक सं० ९७८ का एक लेख[१३] है, जो इस सम्राट् के राज्यकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। इस सम्राट् ने सर्वप्रथम स्थानीय विद्रोहों को दबाकर चम्पा की अराजकता दूर की। शक सं० ९७२ (१०५० ई०) में पंडुरंग में एक विद्रोह दबाने के लिए श्री परमेश्वरवर्मदेव का भांजा (**राज्ञः श्रीपरमेश्वरस्य महतः पुत्रोऽनुजायाः**) श्री देवराज महासेनापति आया।[१४] पंडुरंग (पनराङ) के दुष्ट निवासी चम्पा के राजाओं का सदैव से विरोध कर रहे थे। परमेश्वरवर्मदेव धर्मराज के समय में विद्रोहियों ने वहीं के एक निवासी को सम्राट् घोषित कर दिया। सम्राट् ने अपनी सेना कई भागों में युवराज महासेनापति की अध्यक्षता में इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजी।[१५] विद्रोही बुरी तरह परास्त हुए। पो-क्लौं के लेख के अनुसार पंडुरंग के निवासी एक के बाद दूसरे को बराबर अपना राजा घोषित करते रहे, पर यहां के विद्रोहियों को बुरी तरह से हराया गया और पत्थर की भांति वे सदा के लिए मूक हो गये (**जित्वा पापकपाण्डुरंगनृपकान्···सेनासांख्यकृतौ शिलाचयमिमं संस्थापयामास वै**)।[१६] विजय के उपरान्त शिवलिंग की स्थापना की गयी।[१७]

७. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ५७, पृ० १५४।
८. यही नं० ५२, ५३, ५४, पृ० १४५ से।
९. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ५५, पृ० १५३।
१०. यही, नं० ५७, पृ० १५४।
११. यही, नं० ५६, पृ० १५४।
१२. यही, नं० ५८, पृ० १५५।
१३. यही, नं० ५९, पृ० १५५।
१४. यही, नं० ५२ ब, पृ० १४७।
१५. यही, नं० ५३, पृ० १४९।
१६. यही, नं० ५४, पंक्ति ३, पृ० १५०।
१७. लेखों के आधार पर पंडुरंग के विरुद्ध तीन टुकड़ियों में सेना भेजी गयी। इसको जीतने का श्रेय युवराज महासेनापति को था। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० ७८।

लेखों में कम्बुज के साथ चम्पा के संघर्ष पर भी प्रकाश पड़ता है। कई एक लेखों में परमेश्वरवर्मन् की विजयकीर्ति के कम्बुज तक पहुंचने का उल्लेख है (**पृथुयश-उपविष्टकम्बुराष्ट्रो विदितोग्रयशोनिविष्टकम्बुदेशः**)।[१८] शक सं० ९७८ के युवराज महासेनापति के लेख[१९] के अनुसार उसने ख्मेरों पर विजय प्राप्त की और शम्भुपुर के नगर पर अधिकार कर वहां के बहुत-से मन्दिरों को नष्ट कर सब दान श्री ईशानभद्रेश्वर के निमित्त अर्पित कर दिये। जयपरमेश्वरवर्मन् ने चीन-अनम के साथ मैत्रीपूर्ण संपर्क स्थापित रखा और १०५०-६३ ई० के बीच तीन दूत चीन तथा १०४७ और १०६० के बीच सात दूत अनम भेजे।[२०] उसने नह्-त्रंग के पो-नगर के मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा सेवा हेतु बहुत-से दास, जिनमें चीनी, ख्मेर, पुकाम (पगान के विरमन) तथा स्यामी थे, अर्पित किये।[२१]

जयपरमेश्वरवर्मन् के बाद कदाचित् भद्रवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठा। रुद्रवर्मन् तृतीय के शक सं० ९८६ (१०६४ ई०) के लेख में परमेश्वरवंशीय रुद्रवर्मन् को भद्रवर्मा का कनिष्ठ भ्राता लिखा है (**ज्येष्ठश्रीपरमेश्वरस्य कुलजश्श्रीभद्रवर्म्मानुजः**)।[२२] मासपेरो के मतानुसार यह कदाचित् १०६० ई० में चम्पा के सिंहासन पर बैठा होगा और इसके समय में पालतू हाथियों का एक झुंड भेंट के रूप में चीनी सम्राट् को भेजा गया था।[२३] पर लेख में भद्रवर्मन् को किसी राजकीय उपाधि से संबोधित नहीं किया गया है। रुद्रवर्मन् ने सिंहासन पर बैठते ही (१०६१ ई०) अपने पड़ोसी देश अनम के साथ पुराने झगड़े को तय करने का निश्चय किया।

१८. नं० ५२, पद ४ नं० ५३, पृ० ४।

१९. नं० ४९, पृ० १५५।

२०. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १३८-३९।

१०४७ में चम्पा से अनम भेजा गया दूत बन्दी बना लिया गया, पर यह सन्देहजनक है कि वह सम्राट् परमेश्वरवर्मन् के समय में भेजा गया था। टूंग-पाओ १९२१, पृ० २३८। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० ८० नोट।

२१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ५८, पृ० १५५। आमोनिए, जू० ए० जनवरी-फरवरी, १८९१, पृ० २९। सिडो, ए० हि०, पृ० २३७।

२२. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ६०, पृ० १५८ से।

२३. 'चम्पा', पृ० १४०।

१०६२ ई० में उसने चीन से अनम के विरुद्ध सहायता लेने के लिए एक दूत भेजा। चीनी सम्राट् से सहायता का वचन न पाकर उसने अनम के साथ ऊपर से मित्रता रखी और १०६३, १०६५ तथा १०६८ ई० में भेंट देकर दूत भेजे।[२४] १०६४ में पो-नगर की देवी के लिए भेंट में बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएं (खण्डत्रयभाजनं), चांदी की मुद्राएं (रूप्यं), तीन चांदी के पात्र (राजतभाजनत्रयमिदं) अर्पण किये।[२५] १०६८ ई० में उसने अनम के विरुद्ध सेना भेजी। वहां का सम्राट् ल्यू-थन-टों भी अपनी सामुद्रिक सेना लेकर श्रीवनोए (क्वी-न्होंन प्रान्त) में चम्पा की राजधानी के निकट उतरा। चम बुरी तरह हारे और रुद्रवर्मन् के भागने पर अनम की सेना बिना किसी कठिनाई के चम राजधानी में घुस गयी। कम्बुज की सीमा के निकट रुद्रवर्मन् पकड़ा गया। अनमी सम्राट् ल्यू-थन-टों ने चम्पा में अपनी विजय के उपलक्ष्य में नाच, रंग और आयोजित भोजन में १०६९ के चार मास विताये। ५०,००० बन्दियों, रुद्रवर्मन् तथा दोनों ओर की सेनाओं को लेकर वह अपनी राजधानी लौटा।[२६] रुद्र-वर्मन् बहुत दिनों तक बंदी रहा, अन्त में उसने चम्पा के तीन उत्तरी प्रान्तों, जिनसे क्वंगविन और क्वंग-त्रि का भाग संकेतित है, अनम को देकर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की। चम्पा लौटने पर उसने वहां अराजकता पायी और कई व्यक्ति वहां के शासक बन बैठे थे। यह कहना कठिन है कि रुद्रवर्मन् पुनः अपने को चम्पा का शासक घोषित कर सका था अथवा नहीं, पर वहां से १०७१, १०७२ तथा १०७४ में तीन राजदूत अनम और १०७२ में एक दूत चीन गया। १०७४ ई० तक जयपरमेश्वर-वर्मन् के वंश का चम्पा पर से अधिकार जाता रहा।[२७]

२४. सिडो, ए० हि०, पृ० २३७।
२५. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ६०, पद २।
२६. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १४१-४२।
२७. यही, पृ० १४३। सिडो, ए० हि०, पृ० २३८।

अध्याय ४

हरिवर्मन् चतुर्थ से अनम की पुनः चम्पा-विजय तक

चम्पा का इतिहास अनम की विजय और रुद्रवर्मन् को टोंकिन से पकड़कर ले जाने के बाद अन्धकारमय हो जाता है। चार महीने तक अनमी सेना चम्पा की राजधानी विजय में रही। उसके लौट जाने पर देश में अराजकता फैली। इस परिस्थिति में हरिवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठा और उसने १० वर्ष के अन्दर देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की और अनम की ओर से पुनः आक्रमण की संभावना को दूर करने का प्रयास किया। माइ-सोन के शक सं० १००३ (१०८१ ई०) के दो लेखों[१] में इसके राज्यकाल का वृत्तान्त मिलता है। हरिवर्मन् का पिता प्रालेयेश्वर नारिकेल-वंश का था (**प्रालेयेश्वरधर्मराजविदितो यो नारिकेलान्वयः**)[२]। इससे प्रतीत होता है कि वह भी स्थानीय शासक रहा होगा। हरिवर्मन् उसका उत्तराधिकारी था (**तद्वत्सो हरिवर्मदेवनृपतिः**)। माइ-सोन के चम लेख में सम्राट् हरिवर्मन् के कुमार थाङ-याङ-विष्णुमूर्ति को कौमुक-वंशज कहा है।[३] कदाचित् यह इसकी माँ का वंश रहा होगा। पो-नगर के परमबोधिसत्त्व के शक सं० १००६ के लेख के अनुसार अनमियों द्वारा सम्राट् के पकड़ लिये जाने पर चम्पानिवासी पनरंग चले गये, जहाँ एक व्यक्ति ने अपने को सम्राट् घोषित कर १६ वर्ष तक राज्य किया और अन्त में परमबोधिसत्त्व ने उसे उसके साथियों सहित बन्दी कर लिया।[४] यह हरिवर्मन् का छोटा भाई था। उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि हरिवर्मन् का काल उजड़े हुए चम्पा राज्य को पुनः बसाने में बीता और इसने विध्वस्त मन्दिरों

१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ६१, ६२, पृ० १५९, १६१।
२. यही, नं० ६२, पद २।
३. यही, पृ० १६५।
४. यही, नं० ६४, पृ० १६८। जू० ए० १८९१ (१), पृ० ३३, नं० १४।

का जीर्णोद्धार कराया। इसमें सम्राट् के अतिरिक्त उसके भाई युवराज महासेनापति का बड़ा हाथ था। श्री ईशानभद्रेश्वर की मूर्ति की पुनः स्थापना की गयी और उसके लिए सम्राट् ने कम्बुज से विजय में प्राप्त सब वस्तुओं को वहाँ के देवता श्री ईशानभद्रेश्वर के लिए दान कर दिया।[५] हरिवर्मन् के राज्यकाल में १०७५ ई० में अनम की ओर से पुनः आक्रमण हुआ, पर उसकी पराजय हुई।[६] माइ-सोन के चम लेख के अनुसार विपक्षी सेनाओं को १२ बार हराया, राजाओं, सेनापतियों तथा अन्य सरदारों के सिर ९ बार काट लिये तथा कम्बुज की सेना को सोमेश्वर में हराकर सेनापति कुमार नन्दनवर्मदेव को पकड़ लिया गया।[७] इसके बाद उसने अपना अभिषेक किया और 'उत्कृष्टराज' नाम धारण किया।

अपने थोड़े समय के राज्यकाल में हरिवर्मन् ने चम्पा में राजनीतिक शान्ति स्थापित की और उसे अपना लुटा हुआ सौन्दर्य और वैभव पुनः प्राप्त कराने में अंशदान दिया। १०८० ई० में ४० वर्ष की अवस्था में अपने ज्येष्ठ पुत्र पुल्यङ्ग-श्री-राजद्वार को सिंहासन सौंपकर वह शिव की उपासना में लग गया, पर १०८१ ई० में वह मर गया।[८] उसका पुत्र केवल नौ वर्ष का था जब वह जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा, किन्तु एक ही मास बाद हरिवर्मन् के कनिष्ठ भ्राता युवराज महासेनापति कुमार पञ् को, जिसने शम्भुपुर जीता था, चम्पा का सम्राट् चुना गया। जय इन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक सं० १०१० (१०८८ ई०) के माइ-सोन लेख से पता चलता है कि पु-ल्यङ्ग श्री युवराज महासेनापति के पास, जो श्री जयइन्द्रवर्मदेव का चाचा और हरिवर्मदेव का कनिष्ठ भ्राता था, ब्राह्मण, पंडित, ज्योतिषी इत्यादि राजकीय ध्वजा लिये हुए गये और उन्हें चम्पा का सम्राट् बनाया। श्री परमबोधिसत्व के नाम से उन्होंने चम्पा पर सुचारु रूप से राज्य किया, विध्वस्त चम्पा को पुनः जाग्रत किया। उनके समय में चारों वर्ण की प्रजा;

५. यही, नं० ६२ द, पृ० १६५।

६. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १४३।

७. देखिए नं० ५, सिडो, ए० हि०, पृ० २५८।

८. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १४७। सिडो, ए० हि०, पृ० २६१। १०७६ ई० में चम राज्य की ओर से चीन आये हुए राजदूत ने अपने स्वामी को उस समय ३६ वर्षीय शासक कहा है। मासपेरो, पृ० १३६।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सम्पन्न और सन्तुष्ट थे।[९] पो-नगर के शक सं० १००६ के लेख[१०] के अनुसार उसने पडुरंग के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया, जहां अनम के आक्रमण के बाद एक व्यक्ति ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। उस व्यक्ति को उसके साथियों सहित हराकर उसने बन्दी बना लिया। अपनी बहिन तथा ज्येष्ठ पुत्र पुल्यङ श्री युवराजकुमार व्यु के साथ पो नगर की देवी को उसने स्वर्णमुकुट तथा मणियों से जटित हार और बहुत-से आभूषण इत्यादि भेंट किये। उसने माइ-सोन में भी शिव की एक मूर्ति स्थापित की।[११] उसके चार वर्ष के राज्यकाल (१०८१ से १०८५) में अनम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा। उसके बाद १०८६ में उसका भतीजा जयइन्द्रवर्मन् पुनः गद्दी पर बैठा।[१२]

जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय

इसके माइ-सोन के शक सं० १०१० के लेख[१२] से पता चलता है कि परमबोधिसत्व के बाद हरिवर्मन् के पुत्र जयइन्द्रवर्मन् ने राज्य किया, क्योंकि भद्रेश्वर के प्रति दिये गये दान का इसमें उल्लेख है। इस लेख से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का भी पता चलता है। प्रथम भाग में परमबोधिसत्व और उसके अभिषेक का उल्लेख है और दूसरे में इन्द्रवर्मन् के गुणों, कृत्यों तथा भद्रेश्वर देवता के प्रति दान का वर्णन है। उसने भी अपने पिता तथा चाचा की भाँति चम्पा नगरी को पुनः बसाने का प्रयास किया। जय इन्द्रवर्मन् के समय में अनम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा, पर चम्पासम्राट् को अपने राज्य के तीन उत्तरी प्रान्तों पर अनम का अधिकार कष्ट दे रहा था, जो रुद्रवर्मन् के समय में चम्पा द्वारा देने पड़े थे। १०९२ ई० में चम्पा ने भेंट भेजना रोक दिया, पर अनम सम्राट् की ओर से उपेक्षा मिलने पर जयइन्द्रवर्मन् ने १०९५, ९७, ९८, ९९ और ११०२ में भेंट भेजी।[१३] ११०३ में अनम की आन्तरिक परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए उसने उन तीनों प्रान्तों पर

९. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १७२।
१०. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १६८ लेख, नं० ६४।
११. यही, लेख नं० ६३, पृ० १६८।
१२. यही, नं० ६५, पृ० १६९।
१३. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १५०।

सेना भेजकर अधिकार कर लिया, किन्तु यह थोड़े ही समय तक रहा और इनको पुनः अनम को वापस देना पड़ा। दोनों देशों में मित्रता स्थापित हो गयी।

जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद उसका भतीजा हरिवर्मन् सिंहासन पर बैठा। उसके माइसोन के शक सं० १०३६ (१११४ ई०) के लेख[१४] में श्री जयइन्द्रवर्मदेव के भतीजे श्री जयहरिवर्मदेव द्वारा श्री शासनभद्रेश्वर देवता के प्रति दिये गये दान का तथा मन्दिर और प्रासाद के निर्माण का उल्लेख है। इसका चीन और अनम के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहा और ११२०-२४ तक यह बराबर अनम के सम्राट् को भेंट भेजता रहा। इसके भेजे गये दूतों का भी दोनों देशों में स्वागत हुआ।[१५]

जयइन्द्रवर्मन् तृतीय (११३९—११४५ ई०)

हरिवर्मन् के पश्चात् जयइन्द्रवर्मन् तृतीय गद्दी पर बैठा। इसके माइ-सोन से प्राप्त दो लेखों[१६] में जो शक सं० १०६२ के हैं तथा पो-नगर में प्राप्त शक सं० १०६५ (११४३ ई०) के लेख[१७] में इसके वंश और जीवन-काल का उल्लेख है। माइ-सोन के प्रथम लेख के अनुसार शक सं० १०२८ में इसका जन्म हुआ था, १०५१ (११-२९ ई०) में यह देवराज और चार वर्ष बाद युवराज हुआ। १०६० (११३८ ई०) में उसने सद्धर्म (बौद्ध धर्म) के प्रति दान किया, और १०६१ (११३९ ई०) में वह सिंहासन पर बैठा। उसके पिता का उल्लेख माइसोन के दूसरे लेख में है, पर उसका नाम नहीं मिलता है। जयइन्द्रवर्मन् को अपने छः वर्ष के राज्यकाल में अनम और कम्बुज के साथ संघर्ष करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उसे अपने राज्य तथा जीवन का बलिदान देना पड़ा। कम्बुजसम्राट् सूर्यवर्मन् के साथ मिलकर उसे अनम से परास्त होना पड़ा। कदाचित् वह उस संघर्ष में मारा गया क्योंकि पंडु-रंग में सम्राट् परमबोधिसत्व का एक वंशज रुद्रवर्मन् परमब्रह्मलोक के नाम से सिंहासन पर ११४५ ई० में बैठा। उसकी मृत्यु के पश्चात् ११४७ में उसका पुत्र श्री जयहरिवर्मदेव कुमार शिवानन्दन सिंहासन पर बैठा।[१८]

१४. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ६८, पृ० १७५।
१५. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १५१।
१६. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ६९, पृ० १७६, १७७।
१७. यही, नं० ७१, पृ० १७७।
१८. सिडो, ए० हि०, पृ० २७८।

जयहरिवर्मन् प्रथम (११४७—११६२)

चम्पा के इस सम्राट् के लेख माइ-सोन,[१९] वटाऊटवल:[२०] तथा पो-नगर में[२१] मिले हैं जो शक सं० १०८२ के हैं। माइ-सोन का केवल एक लेख (७४) शक सं० १०७१ का है तथा जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ का माइ-सोन[२२] का लेख १०८५ शक सं० का है। हो-अ-म के लेख में तिथि नहीं है। केवल उसकी कम्बुज और अनम विजयों का उल्लेख है।[२३] इससे प्रतीत होता है कि उसका शासन लगभग १०८४ (११६२ ई०) तक रहा होगा। उपर्युक्त लेखों में उसके वंश तथा शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। जयहरिवर्मन् परमब्रह्मलोक का पुत्र था और श्री रुद्रलोक का पौत्र था। उसकी मां परमसुन्दरीदेवी अथवा जिञ्यङ्ग थी, और उसका अपना नाम रत्नभूमिविजय था। वह ६४ कलाओं से परिपूर्ण था। माइ-सोन के तीसरे लेख में उसकी मां सुन्दरीदेवी का क्षत्रिय वंश लिखा है (**क्षत्रांशसुन्दरीजातो**):[२४] दूसरे लेख में दोनों ओर से इसे क्षत्रिय कहा है।[२५] जयहरिवर्मन् के लेखों से तत्कालीन चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। कम्बुज का विजय पर अधिकार पहले ही हो चुका था और अनम भी चम्पा पर आँख लगाये था। इनके अतिरिक्त कुछ जातियां, जिन्हें किरातों की श्रेणी में रखा गया है, चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति को और भी जटिल बना रही थीं। वटाऊ-ठवल लेख के[२६] अनुसार शक सं० १०६९ (११४७) ई० में श्री जयरुद्रवर्मन् की, जिसे विष्णु का अवतार माना गया है, मृत्यु पंडुरंग में हो गयी और नगरवासियों ने जयहरिवर्मन् को चम्पा के सिंहासन पर बैठने के लिए आमंत्रित किया। माइ-सोन के लेख के अनुसार वह विदेशों में क्लेशों को झेलकर अपने देश चम्पा लौटा था (**विहाय**

१९. **मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ७२, ७३, ७४, पृ० १७८ से।**
२०. **यही, नं० ७५, पृ० १९२ से।**
२१. **यही, नं० ७६, पृ० १९४ से।**
२२. **यही, नं० ७९, पृ० १९५ से।**
२३. **यही, नं० ७७, पृ० १९५ से।**
२४. **यही, नं० १४, पद ९।**
२५. **यही, नं० ७५, पृ० १९३।**
२६. **यही।**

यस्स्वदेशं प्राक् परेषु सुखदुःखभाक्, देशेषु चिरकालेन चम्पायां पुनरागतः।)।[२७] यामी नदी के किनारे गु ेश्वर मन्दिर के पीछे उसने चम्पासम्राट् को हराया तथा उसे मारकर सिंहासन जीता (**यः प्राग् गुहेश्वरान् नद्यां गत्यागतिसमीपकम्, प्रहृत्य राज्यभाग् याम्यां पार्थिवं मरणं गतम्।)।**[२८] इस लेख से यह भी पता चलता है कि उसके कोई छोटा भाई न था (**भ्राता तदनुजो नास्ति**), इसलिए राज्य उसी को मिलना चाहिए था, पर कदाचित् परिस्थिति का लाभ उठाकर किसी ने अनधिकृत रूप से राज्य ले लिया होगा। हरिवर्मन् ने इसी को मारकर नागरिकों के आदेश से सिंहासन प्राप्त किया।

हरिवर्मन् के शासन की तीन प्रमुख घटनाएँ हैं—कम्बुज के साथ संघर्ष, किरातों को दबाते हुए गृहयुद्ध में विजय और अमरावती के उपद्रवों को शान्त करना। कम्बुज के साथ संघर्ष का उल्लेख हरिवर्मन् के कई लेखों में है। कम्बुज के साथ दो बार युद्ध हुआ। ११४७ ई० में कम्बुज के सम्राट् ने अपने मुख्य सेनापति शंकर के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी, जिसको चकल्यङ (कदाचित् बटाऊ-टवलः में प्राप्त लेख के निकट पनरंग घाटी के दक्षिणी भाग के एक गांव चकलिंग) में हरिवर्मन् की सेना ने परास्त किया।[२९] दूसरे वर्ष कम्बुज सम्राट् ने पहली सेना से सहस्रगुनी सेना वीरपुर के मैदान में चम्पा के विरुद्ध भेजी। हरिवर्मन् ने कयेव के मैदान में उसे पूर्ण रूप में हराया। माइ-सोन लेख के अनुसार[३०] कम्बुजसम्राट् ने अपनी सम्राज्ञी के कनिष्ठ भ्राता हरिदेव को विजय का सम्राट् घोषित कर कम्बुज तथा विजय-सेनाओं को उसकी रक्षा का आदेश दिया, पर जयवर्मन् ने महीश के मैदान में इन दोनों पक्षों की सेनाओं को हराया तथा विजय के राजा को उसके चम और कम्बुज सेनापतियों सहित नष्ट कर चम्पा पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लिया।[३१] विजयी सम्राट् हरिवर्मन् ने अपना अभिषेक किया। कम्बुजसम्राट् ने रदे, मद तथा अन्य जंगली जातियों के व्यक्तियों को चम्पा के विरुद्ध प्रोत्साहित किया।

२७. यही, नं० ७४, पद ११।
२८. यही, नं० ७४, पद १२।
२९. लेख नं० ७२, ७५।
३०. लेख नं० ७२, पृ० १७९।
३१. यही, मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १७९।

ये सब किरात राजा के अधीन थे। जयहरिवर्मन् ने किरातों की सेना को स्लाव में हराया। किरात राजा ने अपने साले वंशराज को मध्यम ग्राम में राजा घोषित किया और इसको अनम के सम्राट् ने कई सेनापति तथा एक लाख यवन सैनिकों की सहायता द्वारा मान्यता दी। जयवर्मन् विजय की सम्पूर्ण सेना लेकर वंशराज के विरुद्ध बढ़ा और उसको हराया। यवन सेना को बड़ी क्षति पहुँची। इन यवनों से अनमियों का संकेत है, जैसा कि पो-नगर[३२] और हुआ-मि[३३] के लेखों से विदित है। अन्त में अमरावती और पंडुरंग के गृहयुद्धों को उसने अच्छी तरह दबाया। इन गृहयुद्धों का विवरण बटाऊ-टवल के लेख में नहीं है। शक सं० १०८२ (११६० ई०) तक चम्पा में शान्ति का वातावरण पूर्णतया नहीं स्थापित हो सका। पो-नगर के शक सं० १०८२ के लेख के अनुसार उस वर्ष तक सम्राट् ने अपने सब शत्रुओं पर विजय पायी, जिनमें कम्बुज, अनम, विजय, अमरावती, उत्तर दक्षिण के देश, पंडुरंग तथा रदे, मद और अन्य जंगली जातियां सम्मिलित थीं।[३४] समस्त भूमि से समुद्र तट की सीमा तक उसने अधिकार कर लिया (आसिन्धु भूतलपतित्वं रसस्य लाभे) नं० ७६।

हरिवर्मन् का चीन के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा और ११५५ ई० में एक राजदूत चीन गया। युद्ध के पश्चात् अनम के साथ भी उसका मित्रतापूर्ण व्यवहार रहा। ११५२ और ११६६ के बीच चम्पा से कई दूत अनम भेजे गये।[३५] जयहरिवर्मन् ने कई मन्दिरों का निर्माण किया तथा मूर्तियों की स्थापना की। माइ-सोन के एक लेख[३६] के अनुसार उसने अपने माता-पिता की स्मृति में दो मन्दिर बनवाये और महीश पर्वत पर एक लिंग की स्थापना की। श्री ईशानभद्रेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा एक और शिवमन्दिर की स्थापना की।[३७] हरिवर्मेश्वर

३२. लेख नं० ७२, पृ० १७९-१८०।

३३. नं० ७७, पृ० १९५, देखिए मासपेरो, चम्पा, पृ० १५८। सिडो, ए० हि०, पृ० २७८।

३४. नं० ७६, पृ० १८४।

३५. मासपेरो, 'चम्पा', १६०। सिडो, ए० हि०, पृ० २७९।

३६. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ७२, पृ० १७८।

३७. यही, नं० ७३, पृ० १८०-१।

देवता की स्थापना शक सं० १०७९ में की गयी[३८] तथा पो-नगर की देवी के प्रति भी उसने बहुत-सा दान दिया।[३९] जयहरिवर्मन् की मृत्यु ११६२ ई० में हुई।[४०]

जयइन्द्रवर्मन् से सूर्यवर्मदेव तक तथा कम्बुज-चम्पा संघर्ष

जयहरिवर्मन् प्रथम के बाद उसका पुत्र जयहरिवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा, किन्तु वह अधिक समय तक राज्य न कर सका। उसका नाम उसके पुत्र के दो लेखों में मिलता है।[४१] अनधिकृत रूप से ग्रामपुर विजय-निवासी श्री जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठ गया। माइ-सोन के लेख में[४२] शक सं० १०८५ (११६३ ई०) में पु-चिय्-अनाक् श्री जयइन्द्रवर्मा द्वारा श्री ईशासनभद्रेश्वर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पो-नगर के शक संवत् १०८९-(११६७ ई०)[४३] माइसोन के शक सं० १०९२ (११७० ई०[४४]) के तथा अन-थुअन के दो लेख[४५] भी इसी सम्राट् के हैं। पो-नगर के लेख में भगवती कौठारेश्वरी के प्रति सम्राट् तथा उसकी रानियों परमेश्वरी और राज्य-लक्ष्मी द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है। माइ-सोन के दूसरे लेख के अनुसार सम्राट् व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, मुख्यतया नारदीय तथा भार्गवीय में पारंगत था। उसने बुद्धलोकेश्वर, जयइन्द्रलोकेश्वर और भगवती श्री जयइन्द्रेश्वरी तथा भगवती[४६] श्री इन्द्रगौरीश्वरी की मूर्तियां स्थापित कीं। उसने श्री ईशानभद्रेश्वर (शिव) के लिए भी पुण्य हेतु समय-समय पर दान दिये जिनका उल्लेख मिलता है। जयइन्द्रवर्मन् के राज्यकाल में चम्पा का कम्बुज

३८. यही, नं० ७४, पृ० १८३।

३९. यही, नं० ७६, पृ० १९४।

४०. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १०१। सिडो के मतानुसार यह घटना ११६६-७ ई० की है। (ए० हि०, पृ० २७९)।

४१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ९४-९५, पृ० २१०, २११।

४२. यही, नं० ७९, पृ० १९५।

४३. यही, नं० ८०, पृ० १९८।

४४. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ८१, पृ० १९८।

४५. यही लेख नं० ८२, ८३, पृ० २००, २०१।

४६. सिडो, ए० हि०, पृ० २७९।

के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया। उस समय वहां धरणीन्द्रवर्मन् द्वितीय राज्य कर रहा था। ११६७ ई० में उसने भेंट लेकर एक राजदूत चीन भेजा जिसका उद्देश्य उसे चीन द्वारा चम्पा का शासक घोषित कराना था। ११७० में अनम सम्राट् के पास भेंट भेजकर जयइन्द्रवर्मन् उस ओर से निश्चिन्त हो गया।[४७] ११७७ में एक चीनी नाविक के, जिसका जहाज डूब गया था, आदेशानुसार उसने अपने सैनिकों को एक नवीन प्रकार से शत्रु की ओर बाण फेंकने की शिक्षा दिलवायी। चम्पा और कम्बज के बीच ३२ वर्ष का लम्बा युद्ध इस शासक के समय में भी बराबर चलता रहा। इसका कोई स्थायी रूप से परिणाम नहीं हुआ। चम्पा का एक जहाजी बेड़ा नदी के मुहाने से कम्बुज की राजधानी की ओर बढ़ा और उसे लूटकर वापस आ गया। इस सम्बन्ध में अन-थुअन के लेख में सम्राट् के तीन महाजनों द्वारा सम्राट् इन्द्रवर्मन् के प्रति स्वामिभक्ति तथा उनकी ओर से आजन्म युद्ध में भाग लेने की शपथ ली गयी है।[४८] शक सं० ११२५ (१२०३ ई०) के माइ-सोन के लेख के अनुसार[४९] शक सं० १११२ (११९० ई०) में जयइन्द्रवर्मन् ने कम्बुज पर चढ़ाई की थी। कम्बुज के सम्राट् जयवर्मन् सप्तम ने श्री सूर्यवर्मदेव को विजय जीतने के लिए भेजा और वह जयइन्द्रवर्मन् को पकड़कर कम्बुज ले गया तथा सम्राट् के साले सूर्यजयवर्मदेव को विजय का राजा घोषित किया गया। सूर्यवर्मदेव पनराङ के राजपुर में राज्य करने लगा। पर दो वर्ष के अन्दर एक स्थानीय शासक कुमार रसुपति ने श्री सूर्यवर्मदेव के विरुद्ध युद्ध करके उसे कम्बुज लौटने पर बाध्य किया, और रसुपति श्री जयइन्द्रवर्मदेव के नाम से विजय का नृप घोषित हो गया।

कम्बुज सम्राट् ने शक सं० १११४-(११९२ ई०) में पुनः विजय को जीतने के लिए एक सेना भेजी और चम्पा के पहले बन्दी सम्राट् जयइन्द्रवर्मन् को भी उसके साथ भेजा। राजपुर में सूर्यवर्मदेव कुमार श्री विद्यानाथ ने, जिसके सेनापतित्व में पहले जयवर्मन् ने सेना भेजी थी, अब इसका भी आधिपत्य ग्रहण किया और विजय पहुंचकर जय इन्द्रवर्मन् ने रसुपति को हराकर मार डाला। ११९२ ई० से वह स्वतंत्र रूप से चम्पा पर राज्य करने लगा। कम्बुज के सम्राट् ने सूर्यवर्मदेव

४७. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १६३।
४८. मजुमदार 'चम्पा,' लेख नं० ८२।
४९. यही, नं० ८४, पृ० २०२।

के विरुद्ध दो बार सेनाएं भेजीं, पर सूर्यवर्मदेव ने दोनों बार उन्हें हरा दिया। उसके बाद वह अमरावती की ओर गया और देश को पुनः बसाने का प्रयास करने लगा तथा श्री ईशानभद्रेश्वर मन्दिर को बहुत-सा दान दिया, पर १२०३ ई० में कम्बुज की ओर से भेजे हुए युवराज धनपतिग्राम ने सूर्यवर्मदेव को हरा दिया तथा चम्पा के अन्य स्थानीय विद्रोहों को उसने दबाया। १२०७ ई० में वह कम्बुजसम्राट् की ओर से चम्पा का शासक घोषित हुआ। कम्बुज का अधिकार चम्पा पर अधिक काल तक न रहा। अनमियों के आक्रमण बराबर हो रहे थे, अन्त में कम्बुज को चम्पा खाली कर देना पड़ा और जयहरिवर्मन् द्वितीय का पुत्र जयपरमेश्वरवर्मदेव १२२२ में चम्पा का सम्राट् हुआ तथा १२२६ ई० में उसका अभिषेक हुआ। ३२ वर्षों के कम्बुज-चम्पा के बीच का संघर्ष, जिससे देश को बड़ी क्षति पहुंची थी, अब समाप्त हुआ और चम्पा के नये शासक ने देश में पुनः शान्ति तथा पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया।[५०]

जयपरमेश्वरवर्मन् द्वितीय

जयपरमेश्वरवर्मन् के लेखों में पो-नगर के ११४८ (१२२६ ई०) के लेख[५१] में तुरै विजय के श्री जयपरमेश्वरवर्मदेव का उल्लेख है और ३२ वर्षों के चम्पा-कम्बुज संघर्ष का विवरण है। चो-दिन्ह (फनरांग) के जयपरमेश्वरवर्मन् के शक सं० ११४८ (१२२६ ई०) के लेख[५२] में भी उपर्युक्त घटनाओं का वर्णन है। इसी सम्राट् के पो-नगर के ११५५ के लेख में[५३] जयपरमेश्वरवर्मदेव द्वारा पो-नगर की देवी के प्रति अर्पित ख्मेर, चम, चीनी और स्यामी दास-दासियों का उल्लेख है। अन्य लेखों में चो-दिन्ह से प्राप्त शक सं० ११५५ (१२३३) ई० के लेख में[५४] सम्राट्

५०. यही, नं० ८६, पृ० २०६। मासपेरो ने कम्बुज-चम्पा के बीच संघर्ष का चित्रण अपने ग्रन्थ में विस्तृत रूप से किया है (चम्पा, पृ० १६३, ७)। इस विषय में पुनः विस्तृत रूप से विचार कम्बुज के इतिहास में किया जायगा।

५१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ८५, पृ० २०४।

५२. यही, नं० ८६, पृ० २०७।

५३. यही, नं० ८८, पृ० २०७।

५४. यही, नं० ८९, पृ० २०७।

परमेश्वरवर्मन् का, उसके सेनापति रामदेव को स्वयं उत्पन्न देवता की मूर्ति स्थापन का आदेश है। ७ ख्मेर, ११ स्यामी, १ पुकाम (पगान) दास तथा कई हाथी भी दान दिये गये। इसके अन्य लेखों में माइ-सोन का ११५६ (१२३४) ई० का लेख, लोमंगोयु का बिना तिथि का लेख तथा फनरंग और किं युअ के बिना तिथि के लेख हैं।[५५] अन्तिम लेख में बौद्ध देवता श्रीलिंग लोकेश्वर, श्री जिनपरमेश्वर, श्री जिनवृद्धेश्वरी, श्री जिनलोकेश्वर, श्री सौगतदेवेश्वर तथा श्री गिनदेवदेवी का उल्लेख है। युवराज नन्दभद्र के साथ दिये गये दान का उल्लेख फनरंग के अतिथि-लेख में है। जयपरमेश्वरवर्मन् की अन्तिम तिथि ११५६ और माइ-सोन का इसी तिथि का लेख है।[५६] उसके बाद जयइन्द्रवर्मन् कुमार हरिदेव का माइ-सोन का लेख है जिसकी तिथि शक सं० ११६५ (१२४३) ई० है। अतः इन दोनों तिथियों के बीच में ही वह चम्पा के सिंहासन पर बैठा होगा।

(देखिए, पृष्ठ १११)

५५. यही, क्रमशः नं० ९०, ९१, ९२, ९३, पृ० २०८ से।
५६. यही, नं० ९४, पृ० २१० से।

जयइन्द्रवर्मन् पंचम

माइसोन के लेखों में जयइन्द्रवर्मन् की वंशावली दी हुई है।[५७] यह श्री परमेश्वरवर्मन् का कनिष्ठ भ्राता तथा श्री जयहरिवर्मदेव (द्वितीय) का पुत्र और श्री जयहरिवर्मदेव (प्रथम) का पौत्र था (आसीन्नृपश्रीहरिवर्मदेव पौत्रोऽधिकश्श्री-जयइन्द्रवर्मा। रराज च श्रीहरिवर्मदेवात्मजोऽनुजश्श्रीपरमेश्वरस्य। ९५ पद २)। इसके समय में अनम के साथ संघर्ष हुआ, पर स्थायी रूप से इसका कोई परिणाम न निकला। चम्पा अपनी उत्तरी सीमा पर के तीन खोये हुए प्रान्तों को न पा सका और न चम जहाजी डाकू की कारवाई ही रोकी जा सकी। हां, अनम का

सम्राट् जीत में बहुत-से बन्दी, एक रानी तथा कुछ व्यक्तियों को पकड़कर ले गया।[५८] १२५७ ई० में सम्राट् के भांजे श्री जयसिंहवर्मन् ने अपने मामा का वध कर डाला और १२६६ ई० में इन्द्रवर्मन् के नाम से अपने को सम्राट् घोषित किया। इसके समय के कई लेख मिले हैं,[५९] जिनमें सम्राट् तथा सम्राज्ञी सूर्यलक्ष्मी द्वारा स्थापित मूर्तियों का उल्लेख है। इसने चीन तथा अनम के साथ भी भेंट और राजदूत भेजकर मित्रता स्थापित रखी, जो क्रमशः १२६६ में अनम और १२६७, १२६९ और १२७० में चीन गये।[६०] १२८३ ई० में कुबलई नामक मंगोल सम्राट् द्वारा भेजे गये सगटाऊ ने चम्पा पर आक्रमण किया और चम राजकुमार हरिजित ने उसका मुकाबला किया। पर दो वर्ष के युद्ध के बाद भी चम्पा पर न तो उसका अधिकार हो सका और न चम्पा ने आत्मसमर्पण ही किया। मंगोलों को स्थलमार्ग से आने के लिए अनम से भी संघर्ष करना पड़ा, पर इसमें वे हार गये। चम्पा के राजा इन्द्रवर्मन् ने कुबलई के पास १२८५ में भेंट भेजकर अपने देश के लिए शान्ति मोल ली।[६१] १२८७ के लगभग इन्द्रवर्मन् मर गया। मारकोपोलो के १२८५ ई० में चम्पा पहुंचने के समय वह बहुत वृद्ध था। उसके थोड़े समय बाद उसका पुत्र कुमार हरिजित जयसिंहवर्मन् (तृतीय) के नाम से सिंहासन पर बैठा।[६२] अनमी स्रोत में उसे क्षे-मन कहा गया है।[६३]

जयसिंहवर्मन् (तृतीय) तथा अनम का चम्पा पर अधिकार

१४वीं शताब्दी से अनम का चम्पा के ऊपर शनैः शनैः अधिकार होने लगा। कुमार हरिजित, जिसने बड़ी वीरता से मंगोलों का मुकाबला किया था, अपने देश के लिए द्रोही सिद्ध हुआ। लेखों से यह प्रतीत होता है कि वह विभिन्न देशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राजनीतिक स्तर को ऊँचा उठाना चाहता

५८. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १७२।
५९. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० १०६, १०७, १०८, १०९, पृ० २१७-१९।
६०. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० १७४।
६१. यही, पृ० १७५। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १२१।
६२. सिडो, ए० हि०, पृ० ३६१।
६३. मासपेरो, पृ० १८८।

था। शक सं० १२२८ (१३०६ ई०) के पो-सह-नंरङ की घाटी से प्राप्त लेख[६४] के अनुसार उसकी एक रानी तपस्वी यवद्वीप के नृप की पुत्री थी। उसे अनम-सम्राट् त्रान-अन-तोन की पुत्री हुवेन-त्रान के साथ विवाह के बदले में उत्तरी चम्पा के दो प्रान्त थुआ-थिएन तथा क्वंग का उत्तरी भाग अनम को देना पड़ा।[६५] आमोनिये के मतानुसार[६६] अनम-कुमारी परमेश्वरी के नाम से चम्पा में विख्यात हुई। विवाह के थोड़े ही दिन बाद जयसिंहवर्मन् की मृत्यु हो गयी, और उत्तरी चम्पा के ये बहुमूल्य प्रान्त सदैव के लिए चम्पा के हाथ से निकले गये। जयसिंहवर्मन् द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख पो-क्लोंग तथा तालि मन्दिर के लेखों में मिलता है।[६७]

जयसिंहवर्मन् के बाद उसका पुत्र, जिसकी माँ का नाम भास्करदेवी था, ३३ वर्ष की आयु में १३०७ ई० में सिंहासन पर बैठा। मासपेरो ने इसका नाम जयसिंहवर्मन् (चतुर्थ) दिया है,[६८] पर अनमी स्रोतों ने इसे चि कहा है।[६९] शक सं० १२२८ (१३०६ ई०) के जयसिंहवर्मन् तृतीय के लेख में इसका उल्लेख मिलता है। इसका जन्म शक सं० ११९६ (१२७४ ई०) में हुआ था। शक सं० १२२० (१२९८ ई०) में इसे तवल-शुरा-अधिक वर्मन् की उपाधि मिली और १२२२ (१३०० ई०) में यह सम्राट् की ओर से वौक नदी और मूमना विजय के बीच प्रान्त का शासक नियुक्त हुआ। शक सं० १२२३ (१३०१ ई०) उसके पिता ने उसे पुल्यङ्ग-उद्धत सिंहवर्मन् की उपाधि प्रदान की और शक सं० १२२७ (१३०५ ई०) में उसका नाम महेन्द्रवर्मन् रखा। १३०७ ई० में यह चम्पा के सिंहासन पर बैठा। इसने अनम के साथ मित्रता का व्यवहार रखा, पर अपने पिता द्वारा दिये गये प्रान्तों का इसे दुःख था। १३१२ ई० में अनम का चम्पा पर आक्रमण हुआ जिसका कारण स्थानीय चम विद्रोह था और जयसिंहवर्मन् अपने कुटुम्ब सहित बन्दी कर लिया

६४. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ११०, पृ० २१९।
६५. सिडो, ए० हि०, पृ० ३६२।
६६. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १२३।
६७. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० १११-११५, पृ० २२०।
६८. मासपेरो, चम्पा, पृ० १९३।
६९. सिडो, ए० हि०, पृ० ३८०।
७०. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ११०, पृ० २१९।

गया। फिर १३१३ ई० में इसकी टोंकिंग में मृत्यु हो गयी।[७१] सम्पूर्ण देश अनम के अधिकार में चला गया। चे-नेगने, जिसे अनम की ओर से चम्पा का द्वितीय श्रेणी का शासक नियुक्त किया गया था, १३१४ में अनम के शासक त्रान-आन-तोन के अपने पुत्र मिन-त्तोन के प्रति सिंहासन-त्याग से लाभ उठाना चाहा।[७२] उसने विद्रोह किया, पर १३१८ ई० में वह हारकर चम्पा भाग गया और इस प्रकार रुद्रवर्मन् परम ब्रह्मलोक द्वारा सन् ११४५ ई० में स्थापित राजवंश का अन्त हुआ।

१३१८ ई० में अनम की ओर से चे-अ-नन सैनिक शासक नियुक्त हुआ। उसने अनम से स्वतंत्र होने का सफल प्रयास किया और चीन तथा मंगोलों के साथ मित्रता स्थापित रखी। १३२६ में उसने अनम के ऊपर विजय प्राप्त कर चम्पा[७३] को स्वतंत्रता प्रदान की। उसने १३४२ ई० तक राज्य किया। उसके बाद उसका जामाता त्र-होआ-वो-दे गद्दी पर बैठा। उसका अनम से चम्पा के उत्तरी प्रान्तों को वापस लेने का प्रयास विफल रहा। उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्ष के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का विचार है कि इब्न-बतूता के 'तवालिसि' से चम्पा का संकेत है।[७४]

अन्तिम शासक

चम्पा और अनम का संघर्ष बराबर चलता रहा और चम्पा ने अनम के घरेलू मामलों में भी हस्तक्षेप किया। १३७१ में चम्पा के बेड़े ने अनम की राजधानी पहुँचकर उसे लूटा। चम्पा के सम्राट् चे-वोंग-न्ग ने अनम में आतंक फैला दिया था और १३८९ में पुनः अनमी सेना को हराया। मासपेरो के मतानुसार चम्पा के

७१. मासपेरो, चम्पा, पृ० १९५। सिडो, ए० हि०, पृ० ३८१।

७२. सिडो, ए० हि०, पृ० ३८१। १३१३ ई० में स्याम की ओर से चम्पा पर आक्रमण हुआ, पर अनमी सम्राट् ने इसे रोककर देशकी रक्षा की। मासपेरो, चम्पा, पृ० १९६-९७।

७३. मासपेरो, पृ० १९२। सिडो, पृ० ३८१।

७४. सिडो, ए० हि०, पृ० ३८२।

इतिहास का यह अति उत्कर्ष का काल था।[७५] पर चे-वोंग-न्ग की मृत्यु के बाद ल खैं नामक सेनापति ने चम्पा पर अधिकार कर अपना वंश चलाया। इसकी समानता श्री जयसिंह वर्मदेव पंचम श्री हरिजाति वीरसिंह चम्पापुर से की जाती है जिसने मृषु वंश चलाया। उसने १३९०-१४०१ ई० तक राज्य किया और उसके बाद श्री मृषु विष्णुजाति वीर भद्रवर्मदेव-इन्द्रवर्मन् ने ३२ वर्ष राज्य किया।[७६] १४०२ के अनमी आक्रमण में इसके सेनापति को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और अन्त में चम्पा को सम्पूर्ण क्वंग नम तथा क्वोंग नगि देकर संधि करनी पड़ी। चम्पा का आधा देश अनम के अधिकार में चला गया। पर चीनियों के साथ अनमियों के संघर्ष के फलस्वरूप अनमियों की पराजय हुई और ये दोनों प्रान्त पुनः चम्पा को वापस मिल गये। १४२१ में उसने ख्मेरों (कम्बुज देश) पर विजय प्राप्त की और विएन-हुआ में विष्णु की मूर्ति स्थापित की।[७७] १४२८ से चम्पा और उसके पड़ोसी देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे। १४४१ में इसकी मृत्यु हुई और इसका भतीजा महाविजय गद्दी पर बैठा। चीन के सम्राट् की ओर से भी उसे मान्यता प्राप्त हो गयी, पर अनम के साथ उसका १४४४ तथा १४४५ में संघर्ष हुआ।

७५. मिंग वंश के इतिहास में न्गोन्त-न्गो-छो ने जिसे चम्पा की किंवदन्तियों के अनुसार बिनासूर कहा गया है, अनम के विरुद्ध १३६१-१३९० ई० के बीच में कई बार संघर्ष किया। इसका शासनकाल कदाचित् १३६० ई० से आरम्भ होता है। इसने १३६१ ई० में द-लि का बन्दरगाह लूटा, १३६८ में क्वंग-नम में चमों को हराया, १३७१ में टोंकिन पर आक्रमण किया और हनोई को घेरा। १३७७ में विन-डिन में अनमियों को हराया। अनमी सम्राट् त्रान-दुए-तोन की मृत्यु के बाद टोंकिन पर पुनः आक्रमण हुआ और हनोई लूटा गया। १३८० में न्धे अन और थन हुआ को लूटा गया। स्थल मार्ग से १३८४ में टोंकिन पर आक्रमण हुआ और १३८९ में चमों को एक नयी सफलेता मिली और चम हुंग येन तक पहुँचे। एक चम सेनापति के विश्वासघात से अनम की स्वतंत्रता बच गयी। मासपेरो, चम्पा, पृ० २०१-११। सिडो, ए० हि०, पृ० ३९५-६।

७६. सिडो, ए० हि०, पृ० ३९६। मिंग वंश के इतिहास में इसे चेंग प ति लै (चम्पाधिराज) और अनम वृत्तान्तों में वे दिय लै कहा गया है।

७७. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ६८७। सिडो, ए० हि०, पृ० ३९७।

१४४६ में अनमियों ने चम्पा पर आक्रमण कर उसकी राजधानी विजय को घेर लिया और महा कुई ले नामक उसके चाचा ने धोखे से महाविजय को अनमियों के हाथ बन्दी करवा दिया। पर वह स्वयं भी देशद्रोही होते हुए अधिक समय तक राज्य न कर सका। उसका छोटा भाई क्वी दो उसे गद्दी से उतारकर १४४९ ई० में स्वयं राजा बन बैठा। १४५७ ई० में उसका वध कर दिया गया और वन ल त्र न्गुयेत (चीनी पत्र लू ये जो विजय का जामाता था) को चीन के सम्राट् ने मान्यता प्रदान की, पर अनम के साथ पुनः संघर्ष हुआ। अपने छोटे भाई वन-ल-त्र-अन के पक्ष में उसने १४६० में अपना सिंहासन छोड़ दिया।[७८] उसने अनम के विरुद्धअमित्रतापूर्ण नीति अपनायी जिसके फलस्वरूप चम्पा द्वारा अनम के साथ संघर्ष ने जोर पकड़ा। १४७१ में अनम की सेना चम्पा में घुस गयी। अनमियों ने सम्पूर्ण अमरावती पर, जो चमों ने १४०७ में पुनः प्राप्त कर ली थी, तथा विजय पर पूर्णतया अधिकार कर लिया। केवल कौठार और पंडुरंग में एक चम सेनापति वो-त्रि ने अपने को सम्राट् घोषित किया तथा अनमियों के साथ सन्धि की और चीनी सम्राट् की ओर से भी मान्यता प्राप्त कर ली। इस वंश के तीन राजाओं ने १५४३ ई० तक राज्य किया, जब कि यहां से चा-कु-पु-लो ने अन्तिम दूत चीनी सम्राट् के पास भेजा था। इसने अनमियों से स्वतंत्र होने का प्रयास किया, पर चम्पा को अपनी सीमित स्वतंत्रता से भी हाथ धोना पड़ा। अनमियों ने सम्पूर्ण चम्पा पर अधिकार कर लिया। उनकी सीमा फनरेज नदी तक पहुँच गयी। चम्पा की राजधानी वल-चन्नर चली गयीं। १७वीं-१८वीं शताब्दी में खन-हुआ और फनरंग निकल जाने पर १८२२ में अन्तिम राजा पो-छोंग कुछ व्यक्तियों सहित कम्बुज चला गया और इस प्रकार चम्पा का भारतीय इतिहास समाप्त हुआ।

७८. मासपेरो ने चम्पा के अन्तिम शासकों का इस प्रकार उल्लेख किया है—वि चैं (चीनी पि-कँ विजय) जो इन्द्रवर्मन् का भतीजा था (१४४१-१४४६), क्वि-लै (चीनी कूए-लै) जो इन्द्रवर्मन् का पुत्र था (१४४६-१४४९), क्वि-दो (चीनी कूए-येवू) छोटा भाई (१४४९-१४५८), वन-ल-त्र-लगू-येत (चीनी पन-लू-ये)जो विजय का जामाता था (१४५८-१४६०), वन-ल-त्र तो-अन(चीनी पन-लो-दू-त्सिअन) भाई (१४६०-१४७१)। मासपेरो, 'चम्पा', पृ० २३०-२३९।

अध्याय ५

शासन-व्यवस्था

विशाल चम्पा राज्य के शासन-प्रबन्ध पर मुख्यतः स्थानीय लेख ही प्रकाश डालते हैं। चीनी स्रोतों से भी सम्राट् की चर्चा, दंड-व्यवस्था इत्यादि की कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि लेखन-सामग्री पूर्ण रूप से इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी इसके आधार पर हम शासन-व्यवस्था के कुछ अंगों का उल्लेख कर सकेंगे। जैसे, सम्राट्, उसका चुनाव, गुण तथा अधिकार, अभिषेक, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-प्रबन्ध, न्याय तथा सेना-व्यवस्था, दंड, और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क। भारतीय होने के नाते यहां के सम्राट् भारतीय शासन-पद्धति को बदल न सके और वे धर्मशास्त्र के पूर्णतया ज्ञाता थे। उनकी विचारधारा पूर्णतया भारतीय थी जिसके अन्तर्गत सम्राट् देवता स्वरूप था और प्रजा की रक्षा करना उसका परम कर्त्तव्य था। धार्मिक होना सम्राट् के लिए आवश्यक था और उसे वर्णाश्रम व्यवस्था की परम्परा को भी स्थापित रखना था। 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के रूप में उसे अपनी प्रजा की मान्यता और भक्ति प्राप्त थी तथा ब्राह्मण भी उसके चरण स्पर्श करते थे। **ब्राह्मण पुरोहिताग्रासनक्षत्रान्य नरपतिवृन्द जुष्ट चरणारविन्दः।**[1] इसका उल्लेख केवल एक ही लेख में है। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह प्रथा सर्वथा मान्य थी जब कि भारत में राज पुरोहित को ऊंचा स्थान प्रदान किया जाता था। भारतीय परम्परा ने चम्पा की शासन-व्यवस्था पर अपनी गहरी छाप डाली थी और इस सम्बन्ध में हमें उसके प्रत्येक अंग का अंकन करना होगा।

सम्राट् तथा उसका स्थान

भारत की भाँति चम्पा में भी राजकीय शासन-व्यवस्था बराबर रही। गणतंत्र

१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ३०, पद २।

के लक्षण केवल वो-चन के लेख में सभा के उल्लेख **आज्ञापितं सदसि राजवरेण**'[२] तथा जनता द्वारा समय समय पर सम्राट् के चुनाव से प्रतीत होते हैं। जैसे, १७४७ ई० में जय रुद्रवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र हरिवर्मन् को चुना गया।[३] (नं० ७५) माइ-सोन के एक लेख में[४] प्रकाशधर्म को सिंहासन देने का उल्लेख है। गद्दी पर बैठने के बाद उसने श्री विक्रान्तवर्मा नाम धारण किया। **श्रीविक्रान्त वर्म्म्त्युपात्तविजयाभिषेकनामा**। सम्राट् द्वारा अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचन का उल्लेख माइ-सोन के शक सं० १००३ के लेख में[५] मिलता है। हरिवर्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पुल्यङ के राजद्वार में चम्पा पर राज्य करने के लिए सब लक्षण पाये। अतः साधु पुरुषों द्वारा उस ९ वर्ष के बालक का अभिषेक हुआ। पर जयइन्द्रवर्मदेव अभी बालक ही था। और जैसा कि माइ-सोन के जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक सं० १०१० के लेख से प्रतीत होता है[६] उसे शासन सम्बन्धी अच्छाई और बुराई का ज्ञान न था। अतः समस्त सेनापतियों, ब्राह्मणों, ज्योतिषियों, विद्वानों तथा उत्सव-अध्यक्षों और श्री हरिवर्मदेव की रानियों ने पुल्यङ श्री युवराज महासेनापति कुमार पोत्र को जो इन्द्रवर्मन् का चचा था, सम्राट् चुना। उसमें राजचक्रवर्त्तिन् के लक्षण पाये जाते थे, तथा अच्छे-बुरे कार्य का ज्ञान था। वह कर्तव्य परायणता, सत्यता, उदारता तथा साधुता से परिपूर्ण था और उसमें भेदभाव का अभाव था। श्री जयइन्द्रवर्मदेव स्वयं उपर्युक्त व्यक्तियों सहित उपहार लेकर अपने चचा के पास गया और उससे सम्राट् होने की प्रार्थना की। इस परम बोधिसत्व के नाम से उसने पाँच वर्ष राज्य किया और उसके बाद पुनः श्री जयइन्द्रवर्मदेव चम्पा का सम्राट् हुआ।

सम्राट् होने के लिए राजकीय वंशज पिता अथवा माता की ओर के अतिरिक्त कुछ गुणों तथा व्यक्तित्व का होना आवश्यक था। चक्रवर्ती के लिए ३२ गुणों और चिह्नों का होना अनिवार्य था।[७] एक लेख में सम्राट् के लिए ३३ चिह्नों का

२. यही, नं० १, पृ० १.८।
३. यही, पृ० १९३, यह घटना शक सं० १०६९ में हुई।
४. यही, नं० १२, पृ० १९ (१४)
५. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ६२, पृ० १६२।
६. यही, नं० ६५, पृ० १६९।
७. यही, नं० ९४, पृ० २१०।

होना आवश्यक लिखा है।[८] सुन्दरता में उसकी कामदेव अथवा विष्णु से तुलना की गयी है।[९] **सत्कान्तौ कामतुल्यो धराधरतनुजकान्ति कोमल शरीर**।[१०] अपनी शूरता और वीरता का प्रमाण सम्राट् अपने युवा-काल में ही दे दिया करते थे, पर शासनकाल में भी वे युद्ध की ओर से विमुख न होते थे।[११] **रणो माधवो यो**। प्रजा के हित के लिए वे अपनी शूरता और विद्वत्ता का परिचय देते थे। **प्रकृति हित· मधीप्सन् सन्तनोत्यात्मतेजो**।[१२] शक सं० १०९२ के जय इन्द्रवर्मन् के लेख[१३] में सम्राट् के विषय में लिखा है कि संसार की भलाई के लिए उसने शासन किया। सम्राट् के पास एक बड़ी सेना (**पृथुबल**) थी तथा वह सब प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग कर सकता था। वह शास्त्रों में भी पारंगत था और व्याकरण, ज्योतिष तथा महायान दर्शन का उसे विशेष ज्ञान था। धर्म शास्त्रों में विशेषतया नारदीय और भार्गवीय में उसे विशेष रुचि थी। इनके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए उसे साम, दाम भेद और दंड (अथवा उपप्रदान) का भी प्रयोग करना पड़ता था।[१४] वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य से ऊपर था (नं० ६५) और राजनीति के **'षड्गुण्याभिप्राय' षाडगुण्य समुद्देशः** कौटिल्य ७.१। को पूर्णतया समझता था।[१५] मनु द्वारा निर्धारित १८ मार्गों (**मनु मार्ग्ग**) का भी वह अनुसरण करता था।[१६] इनके साथ-साथ सम्राट् में धार्मिक रुचि का होना आवश्यक था। चम्पा के लेखों में प्रायः वहां के सम्राट् द्वारा देवता की मूर्ति-स्थापना, अथवा मन्दिरों के लिए दिये गये दानों का ही उल्लेख है। योग, ध्यान और समाधि

८. यही, नं० ९४, पृ० २१०।

९. यही, नं० ६२, पृ० १६२, पद ३।

१०. यही, नं० २४, पृ० ५३।

११. यही, नं० ६२, पृ० १६२।

१२. यही, नं० १२, पृ० १७, पद १०। नं० ७२, पृ० १७९।

१३. यही, नं० ८१, पृ० १९९। इस सम्बन्ध में चम्पा के अन्य शासकों की वीरता का गुणगान भी किया गया है। देखिए, लेख नं० ३०, ६२, ७२, ९४।

१४. यही, नं० ६२, ६५।

१५. यही नं० ६५। इस सम्बन्ध में देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र (७.१)

१६. यही, नं० ६५ (ब), पृ० १७१।

तथा यज्ञ द्वारा वह व्यक्तित्व रूप से इस संसार और परलोक में सुकर्मों द्वारा ख्याति प्राप्त करता था। मुनियों, यतियों तथा ब्राह्मणों को दान (नं० २४) तथा पुण्य धार्मिक कृत्यों द्वारा वह अपनी सधार्मिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता था।[१७] सम्राट् की सहायता के लिए मंत्री, सेनापति, तथा अन्य उच्च पदाधिकारी रहते थे। धार्मिक विषयों के लिए ब्राह्मण, ज्योतिषी, राजपुरोहित तथा राज संस्कारों के प्रधान परामर्श देते थे।[१८]

सम्राट् न्यायाधीश के रूप में

सम्राट् न्यायाधीश के रूप में अपराधियों को उचित दंड देता था। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों का उसे उचित ज्ञान था। सम्राट् के गुणों में इसका पहले ही उल्लेख हो चुका है। मनु के धर्मशास्त्र के अतिरिक्त नारदीय और भार्गवीय धर्मशास्त्रों का भी अनुसरण किया जाता था। न्याय के सम्बन्ध में कुछ चीनी स्रोतों से भी सहायता मिलती है। कुछ अपराधों के दंड में मनुष्य की स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति का अपहरण हो जाता था और साधारणतया बेत लगाये जाते थे जो ५०, ६० तथा १०० तक लगते थे। चोरी के दंड में उंगलियाँ क़ाट ली जाती थीं और व्यभिचार के दंड में दोनों व्यक्तियों को फाँसी की सज़ा दी जाती थी। खून करने के अपराध में, वन्दी या तो मृतक के सम्बन्धियों को दे दिया जाता था जो उसे मार डालते थे अथवा वह हाथी के पैर से कुचलवा कर मार डाला जाता था। कभी-कभी जंगली पशुओं द्वारा किसी अपराधी की परीक्षा ली जाती थी। शेर अथवा घड़ि-याल आदि अपराधी को छोड़कर चला जाय तो वह व्यक्ति निर्दोष समझकर छोड़ दिया जाता था।[१९]

सैनिक प्रबन्ध

चम्पा के इतिहास में अनम तथा कम्बुज से बराबर संघर्ष होता रहा। अतः चम्पा की सेना के लिए पूर्ण रूप से सुसज्जित होना आवश्यक था। सेना का नेतृत्व

१७. यही, नं० २४, पृ० २८।
१८. यही, नं० ६५, पृ० १७०। टूंग-पाओ १९१०, पृ० १९४।
१९. टूंग-पाओ, १९१०, पृ० २०२-३। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १५१।

महासेनापति और सेनापति करते थे और उनके नीचे अन्य छोटे सरदार भी होते थे जो सम्राट् के प्रति वफादारी की शपथ पहले ले लेते थे। इसी प्रकार के व्यक्तियों को कम्बुज में 'सज्जक' कहा जाता था।[20] सैनिकों को सम्राट् की ओर से सहायता मिलती थी तथा वे कर से भी मुक्त थे। युद्ध में पैदल सेना तथा हाथियों के अतिरिक्त घुड़सवार भी थे। हुआ-क्वे के भद्रवर्मन् तृतीय के शक सं० ८३१ के लेख में तेज़ कूदने वाले घोड़ों की टापों से उड़ती हुई धूल और खून से सनी लाल भूमि का उल्लेख है और चारों ओर हाथियों की चिंघाड़ से युद्ध-भेरी भी फीकी पड़ जाती थी।[21] भारत की भाँति चम्पा में भी सेना का मुख्य और अग्र अंग हाथी थे और ये अधिक संख्या में थे। स्थल के अतिरिक्त जलसेना और जहाज़ों का बेड़ा भी तैयार किया जाता था और युद्ध में नौ-सेना का भी प्रबन्ध था। अनमियों तथा चम्पा के बीच युद्धों में नौ सेना ने कई बार महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नगर-रक्षा के लिए भी समुचित प्रबन्ध रहता था। ऊंची दीवारों तथा कोने पर पत्थर के बने मचानों से नगर की शत्रुओं से रक्षा की जाती थी। ईसवी की पाँचवीं शताब्दी की पुस्तक लिं-यि-की में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है। कियो-सू को २४८ ई० में जीतने के बाद उसकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया था। राजधानी से ७० मील उत्तर में होने के कारण चीनी सेना को रोकने के लिए वह अग्र चौकी थी। इसके चारों ओर बचाव के लिए किले की २० फुट चौड़ी और १० फुट ऊंची भीत थी और अन्दर प्रवेश के लिए १३ फाटक थे। बाहर तीर फेंकने के लिए दीवार में छेद थे। ईंट की दीवार पर ५०-८० फुट ऊंचे लकड़ी के मचान थे। इस किले के अन्दर चम्पा की रक्षा का सैनिक सामान रहता था।[22]

प्रान्तीय शासन

चम्पा देश तीन मुख्य प्रान्तों में बँटा हुआ था। उत्तरी भाग, अमरावती (वर्तमान-क्वंग-नम) था जिसमें चम्पापुर और इन्द्रपुर नामक दो मुख्य नगर थे। इन्द्रपुर की समानता डोंग-डुओंग से की गयी है। केन्द्रीय प्रान्त विजय था (वर्त्तमान

२०. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १६०, पृ० ४२२, पद २४।
२१. मजुमदार, चम्पा ३९, पृ० ११४ पद, १७।
२२. बु०इ० फ्रा०, १४ (९), पृ० १४। मजुमदार, चम्पा, पृ० २६।

विन-दिन्ह) और इसका मुख्य नगर विजय बहुत समय तक चम्पा देश की राजधानी भी रहा। दक्षिणी भाग पान्डुरंग था (वर्त्तमान फन-रंग तथा विन-थुवान) जिसमें कौठार सम्मिलित था, पर कभी-कभी यह स्वतंत्र प्रान्त भी हो गया था। इनके लिए एक शासक तथा एक सेनापति नियुक्त किया जाता था। पो-नगर के हरिवर्मन् के लेख में[२३] हरिवर्मदेव द्वारा उसके पुत्र पुल्याश्री विक्रान्तवर्म्मा को पाण्डुरंग का शासक नियुक्त किया गया। श्री पाण्डुरंग पुराधिपत्यन्दत्वा। और इसकी रक्षा के लिए महायम्पति पद प्राप्त सेनापति की नियुक्ति की। प्रान्तीय प्रदेशों का केन्द्रीय शासन के विरुद्ध खड़े होना अस्वाभाविक न था। पो-क्लों-गरै लेख के अनुसार[२४] पांडुरंग ने अपना एक नया शासक निर्वाचित कर लिया था। पर परमेश्वरवर्मदेव ने अपने भतीजे युवराज महासेनापति के नेतृत्व में एक सेना भेजकर तथा एक का स्वयं नेतृत्व करके ९७२--१०५० ई० में उसको जीत लिया। **जित्वापापकपाण्डुरंगनृगणान्।** प्रान्त के अन्तर्गत बहुत-से छोटे प्रदेश थे और एक चीनी स्रोत के अनुसार हरिवर्मन् द्वितीय के समय में इनकी संख्या ३८ थी।[२५] प्रत्येक प्रदेश में नगर और ग्राम थे जिनमें कोई ७०० परिवार से अधिक नहीं रहते थे। प्रान्तों और प्रदेशों में बहुत-से पदाधिकारी रहते थे जिनकी संख्या ५० के निकट थी। इनका कार्य कर वसूल करना तथा शासन-सम्बन्धी अन्य कार्य करना था। इनका वेतन जागीर के रूप में भूमि की पैदावार था तथा जनता द्वारा इनका पालन होता था। 'वेष्टि' अथवा बेगार का भी चलन था।

राज्य की आय भूमिकर से होती थी जो उपज का $\frac{१}{६}$ भाग था। और कभी-कभी घटा कर यह $\frac{१}{१०}$ भी होता था। **षड्भागेऽपि स्वामिना दश भागे नावुगृहीता देवस्य. . .।**[२६] मन्दिरों के लिए कर माफ कर दिया जाता है।[२७] भूमि के अतिरिक्त आयात-निर्यात के माल पर भी कर लगता था। बन्दरगाहों में आने वाले

२३. मजुमदार, 'चम्पा', नं० २६, पृ० ६२।

२४. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ५३, ५४, पृ० १४७ से।

२५. यही, पृ० १४९।

२६. यही, लेख नं० ४ (अ) ६।

२७. इन्द्रवर्मदेव द्वारा श्री भाग्यकान्तेश्वर मन्दिर का कर माफ कर दिया गया था। (नं० ३३) फु-थुआन लेख। श्री जयसिंह वर्मदेव ने श्री इन्द्रपरमेश्वर,

जहाजों पर राज्य कर्मचारी जाकर माल के $\frac{1}{6}$ भाग को कर के रूप में ले लेते थे।[२८]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क

चम्पा के कुछ लेखों में कूटनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क पर भी प्रकाश पड़ता है। सम्राट् के लिए राजनीति के मुख्य अंग साम, दाम, दंड, भेद का जानना तथा प्रयोग करना आवश्यक था।[२९] मित्र, शत्रु, और तटस्थ की श्रेणी में विभिन्न राज्य रखे जाते थे। चम्पा में दूसरे देशों से राजदूत आते थे[३०] (**देशान्तरागतमहीपतिदूत-संध**) तथा यहां से भी बराबर भेजे जाते थे। न्हन-वियो के लेख में[३१] राजद्वार नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है जिसे दो बार चम्पा के सम्राट् ने राजनीतिक कार्य से जावा भेजा था। इसने चम्पा के चार चार सम्राटों जयसिंहवर्मन्, उसके पुत्र जय-शक्तिवर्मन्, भद्रवर्मन् तृतीय और उसके पुत्र इन्द्र वर्मन् तृतीय के समय में अपने पद को सुशोभित किया था। एक राजदूत के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब राजद्वार में थे। वह धीमान्, गंभीर (**स्वनयोपेतः**) धार्मिक (**धर्म्यः**) और राजनीति में कुशल (**कुशलनीतिमान्**) तथा अपने सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना रखता था तथा निःसंकोच उसकी आज्ञाओं का पालन करता था (**भूपशासनन-म्रात्माभवदत्यन्तभक्तितः**)। वह सम्राट् का प्रिय नायक भी था (**नृपतेरति-दल्लभो नायकोऽयम्**) (पद ७) और जावा की प्रथम यात्रा में अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त कर आया था, **यवद्वीपपुरं भूपानुज्ञातो दूतकर्मणि, गत्वा यः प्रतिपत्तिस्थः सिद्ध-यात्रां समागमत् ॥** (पद ८)। इस उच्च पद पर यह बराबर रहा (**यद्वत् प्रभुतोअभ-वत्**) और भद्रवर्मन् के समय में पुनः जावा गया और कार्य में सफल हुआ (**यवद्वी-**

श्री हरोमादेवी तथा श्री रुद्रपरमेश्वर और श्री रुद्रोमादेवी के मन्दिरों के कर माफ कर दिये थे (नं० ३६स) डोंग-डुओंग लेख। अन्-थे-लेख के अनुसार स्थविर नाग पुरुष द्वारा प्रमुदित लोकेश्वर के मठ के लिए श्री इन्द्रवर्मन् ने छूट दे दी थी। नं० ३७।

२८. यही, पृ० १५०।

२९. यही, लेख नं० ६२, ६५।

३०. यही, लेख नं० ४२, पृ० १२६, पद ९।

३१. यही, नं० ४३, पृ० १२९।

पपुरं भूयः क्षितिपानुमत्या द्विवारमपि यो गत्वा सिद्धयात्रामुपागमत्) (पद ११)। उसे सम्राट् ने 'अकालाधिपति' की उपाधि दी। राजनीति के विशेष अध्ययन के कारण वह सम्राट् को अच्छे और बुरे का परामर्श देता था (**कर्म्मोपचितात्मभावः क्षितीशनीतिप्रतिबद्धबुद्धिः, इष्टेष्वनिष्टेषु नराधिपस्य विप्रकर्तुं खलु क्रियः समर्थः**) (पद १५)। विभिन्न देशों में जानेवाले तथा वहां से चम्पा आनेवाले दूतों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक था। हो-कुए के लेख में आज्ञाजयेन्द्रपति के विषय में लिखा है कि वह दूसरे देशों से आये हुए सन्देश को एक क्षण में देखकर ही पढ़ लेता था, यह केवल उसके कठिन परिश्रम का ही फल था (**सर्व्वदेशान्तरायातभूभुक्सन्देशमागतम्। निरीक्ष्यैकक्षणं वेत्ति निश्शेषार्थमतीहया**)।[३२]

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि चम्पा के शासन-प्रबन्ध में सम्राट् का प्रमुख हाथ था और अपने गुणों तथा लक्षणों से वह अपनी प्रजा पर नियंत्रण रखता था। शासन-व्यवस्था में कुमार सेनापति तथा मंत्रियों का भी यथाक्रम स्थान था और वे सम्राट् को परामर्श देते थे। दंड-व्यवस्था कठिन थी। विदेशों से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए धीमान् और अनुभवी व्यक्ति थे जिन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। साम, दाम, दंड, भेद का प्रयोग पूर्णतया होता था। धर्मशात्रों और अर्थशास्त्रों का पूर्णतया व्यावहारिक ज्ञान था। शासन-व्यवस्था में धर्म का मुख्य स्थान था और सम्राट् के लिए धार्मिक प्रवृत्ति का होना आवश्यक था। चम्पा के इतिहास में जो इतने संघर्ष हुए, राज्य बदले तथा विदेशियों के आक्रमण हुए, तो इस सब राजनीतिक अशान्ति का मुख्य कारण उसकी भौगोलिक परिस्थिति थी।

३२. मजुमदार, चम्पा, पृ० १६५, पद २५।

अध्याय ६

सामाजिक व्यवस्था

भारतीय औपनिवेशिकों ने चम्पा में अपनी सामाजिक परम्परा को कायम रखा। ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के मुख्य अंग थे और उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख हमें कई लेखों में मिलता है। समाज का स्तर ऊँचा था और वणिक् अथवा व्यापारी लोग भी धन-संपत्ति के कारण अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए थे। यह कहना कठिन है कि पराजित चम अथवा वहीं के आदि-निवासियों को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया या नहीं। वास्तव में चम्पा के सम्राट् अपने भारतीय नाम और धर्म की वेदी पर देशभक्ति का बलिदान न कर सके। इसीलिए चम्पा के लेखों में वहाँ के राजवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने देश की गुणगाथा गायी गयी है। **(स्वामी जाननी भूमिप्रसाद)**।[1] एक लेख में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का उल्लेख है। श्री जयइन्द्रवर्मन् देव रूपी सूर्य या चन्द्र के सामने कमल या कमिलिनी की भाँति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र खिल उठते थे।[2] ब्राह्मण और पुरोहितों का उच्च स्थान था, पर एक लेख में ब्राह्मण, पुरोहित तथा क्षत्रिय और अन्य र जाओं द्वारा सम्राट् के चरण छूने का उल्लेख है। **(ब्राह्मणपुरोहिताग्रासनक्षत्रान्यनर-पतिवृन्दजुष्टचरणारविन्दः)**।[3] ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे के अधिक निकट थे और उनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता था। लेखों के अनुसार राजकीय कुटुम्बों में रुद्रव-र्मन् का पिता एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था और उसकी मां मनोरथवर्मन् (क्षत्रिय) की कन्या थी। **(दौहित्रीतनयोयो भूद्द्विजात-प्रवरात्मजः)**।[4] रुद्रवर्मन् को इसीलिए ब्रह्म-

१. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ३१ अ, पद २३।
२. यही, नं० ६५, पृ० १७२।
३. यही, नं० ३०, पद २, पृ० ७२।
४. यही, नं० १२, पद ३।

पपुरं भूयः क्षितिपानुमत्या द्विवारमपि यो गत्वा सिद्धयात्रामुपागमत्) (पद ११)। उसे सम्राट् ने 'अकालाधिपति' की उपाधि दी। राजनीति के विशेष अध्ययन के कारण वह सम्राट् को अच्छे और बुरे का परामर्श देता था (**कर्म्मोपचितात्मभावः क्षितीशनीतिप्रतिबद्धबुद्धिः, इष्टेष्वनिष्टेषु नराधिपस्य वित्प्रकतुं खलु कियः समर्थः**) (पद १५)। विभिन्न देशों में जानेवाले तथा वहां से चम्पा आनेवाले दूतों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक था। हो-कुए के लेख में आज्ञाजयेन्द्रपति के विषय में लिखा है कि वह दूसरे देशों से आये हुए सन्देश को एक क्षण में देखकर ही पढ़ लेता था, यह केवल उसके कठिन परिश्रम का ही फल था (**सर्व्वदेशान्तरायातभूभुक्सन्देशमागतम्। निरीक्ष्यैकक्षणं वेत्ति निश्शेषार्थमतीहया**)।[३२]

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि चम्पा के शासन-प्रबन्ध में सम्राट् का प्रमुख हाथ था और अपने गुणों तथा लक्षणों से वह अपनी प्रजा पर नियंत्रण रखता था। शासन-व्यवस्था में कुमार सेनापति तथा मंत्रियों का भी यथाक्रम स्थान था और वे सम्राट् को परामर्श देते थे। दंड-व्यवस्था कठिन थी। विदेशों से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए धीमान् और अनुभवी व्यक्ति थे जिन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। साम, दाम, दंड, भेद का प्रयोग पूर्णतया होता था। धर्मशात्रों और अर्थशास्त्रों का पूर्णतया व्यावहारिक ज्ञान था। शासन-व्यवस्था में धर्म का मुख्य स्थान था और सम्राट् के लिए धार्मिक प्रवृत्ति का होना आवश्यक था। चम्पा के इतिहास में जो इतने संघर्ष हुए, राज्य बदले तथा विदेशियों के आक्रमण हुए, तो इस सब राजनीतिक अशान्ति का मुख्य कारण उसकी भौगोलिक परिस्थिति थी।

३२. मजुमदार, चम्पा, पृ० १६५, पद २५।

अध्याय ६

सामाजिक व्यवस्था

भारतीय औपनिवेशिकों ने चम्पा में अपनी सामाजिक परम्परा को कायम रखा। ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के मुख्य अंग थे और उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख हमें कई लेखों में मिलता है। समाज का स्तर ऊँचा था और वणिक् अथवा व्यापारी लोग भी धन-संपत्ति के कारण अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए थे। यह कहना कठिन है कि पराजित चम अथवा वहीं के आदि-निवासियों को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया या नहीं। वास्तव में चम्पा के सम्राट् अपने भारतीय नाम और धर्म की वेदी पर देशभक्ति का बलिदान न कर सके। इसीलिए चम्पा के लेखों में वहाँ के राजवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने देश की गुणगाथा गायी गयी है। **(स्वामी जानती भूमिप्रसाद)**।[1] एक लेख में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का उल्लेख है। श्री जयइन्द्रवर्मन् देव रूपी सूर्य या चन्द्र के सामने कमल या कमिलिनी की भाँति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र खिल उठते थे।[2] ब्राह्मण और पुरोहितों का उच्च स्थान था, पर एक लेख में ब्राह्मण, पुरोहित तथा क्षत्रिय और अन्य र जाओं द्वारा सम्राट् के चरण छूने का उल्लेख है। **(ब्राह्मणपुरोहिताग्रासनक्षत्रान्यनर-पतिवृन्दजुष्टचरणारविन्दः)**।[3] ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे के अधिक निकट थे और उनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता था। लेखों के अनुसार राजकीय कुटुम्बों में रुद्रव-र्मन् का पिता एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था और उसकी मां मनोरथवर्मन् (क्षत्रिय) की कन्या थी। **(दौहित्रीतनयोयो भूद्द्विजात-प्रवरात्मजः)**।[4] रुद्रवर्मन् को इसीलिए ब्रह्म-

१. **मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ३१ अ, पद २३।**

२. **यही, नं० ६५, पृ० १७२।**

३. **यही, नं० ३०, पद २, पृ० ७२।**

४. **यही, नं० १२, पद ३।**

क्षत्रिय-कुल-तिलक कहा गया है।[५] इसी प्रकार प्रकाशधर्म की बहन का विवाह सत्यकौशिक स्वामी से हुआ था और इनके पुत्र भद्रेश्वरवर्मन् ने ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों को देदीप्यमान किया। **क्षत्रं कुलं ब्राह्म कुलं हि निरन्तरं यः प्रकटीचकार।**[६] एक और लेख में जय हरिवर्मदेव को ब्रह्मक्षत्रिय कुलज कहा गया है।[७] और इसी सम्राट् के दूसरे लेख[८] में इसे केवल क्षत्रिय लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का वैवाहिक सम्बन्ध साधारण रूप से होता था। और उससे उत्पन्न संतान 'ब्रह्म क्षत्रिय' अथवा 'क्षत्रिय' कहलाती थी। इसी प्रकार कम्बुज में भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विवाह होते थे। क्षत्रिय सम्राट् भववर्मन् की भगिनी का विवाह ब्राह्मण सोमशर्मन् के साथ हुआ था और अपने पातिव्रत धर्म के कारण इसकी तुलना अरुन्धती से की गयी है।[९] यशोवर्मन् की मां इन्द्रदेवी अगस्त नामक ब्राह्मण की वंशज थी, जो आर्य देश से कम्बुज आया था। परमेश्वर जयवर्मन् द्वितीय का विवाह भास्वामिनी नामक एक ब्राह्मणी से हुआ था।[१०] नरपति-देश (ब्रह्मदेश) से आये हुए एक ब्राह्मण हृषीकेश ने प्रभा नामक कन्या से विवाह किया था और उसकी छोटी बहन जयवर्मन् अष्टम की सम्राज्ञी थी।[११] जयवर्मन् सप्तम की दोनों रानियाँ ब्राह्मणी थीं। अतः यह प्रतीत होता है कि सुदूरपूर्व में गये हुए औपनिवेशिकों ने वर्ण-व्यवस्था को कायम रखा। इन्द्रवर्मन् के एक लेख में उसे 'ब्रह्मक्षत्र-प्रधान' कहा गया है और उसने वर्णाश्रम व्यवस्था को उसी प्रकार रखा। **(वर्णव्यवस्थितिस्सुरनगरीव राजधान्यासीत)**[१२] पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की रुकावट न थी। चम्पा और कम्बुज के राजवंशों में भी बराबर सम्बन्ध स्थापित होता रहा। फूनान

५. यही, नं० ७, पद ३।
६. यही, नं० १२, पद १३।
७. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ७२, पृ० १७८।
८. यही, नं० ७५, पृ० १९२-३।
९. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १३, पृ० १९।
१०. यही, नं० १४८, पृ० ३५१।
११. यही, नं० १९०, पृ० ५४१।
१२. यही, नं० २३, पद २, पृ० ४५।

सम्राट् इन्द्रवर्मन् की पुत्री श्री शर्वाणी का विवाह चम्पा के जगद्धर्म के साथ हुआ था।[१३]

शिष्ट समाज

ब्राह्मणों का समाज में श्रेष्ठ स्थान था, यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में सम्राट् को देव स्वरूप देकर सर्वोच्च माना गया था। ब्राह्मण और क्षत्रियों में भी कुछ श्रेष्ठ पद प्राप्त कर लेते थे और सम्राट् की ओर से उन्हें कुछ अधिकार, मान और प्रतिष्ठा का पद भी मिलता था। ग्लै-ल्मोव के इन्द्रवर्मन् प्रथम के लेख[१४] में पुरोहित, अग्रास (आगे बैठने वाले), ब्राह्मण, पंडित तथा तापस (तपस्वी) गणों का क्रम रूप से उल्लेख है। इस लेख में परम पुरोहित का नाम भी आया है। एक अन्य लेख में भद्रवर्मन् द्वारा आज्ञा-महासामंत को सम्राट् की ओर से धन, मान और कुछ अधिकार प्राप्त करने का उल्लेख है। **(श्रीसंपदं विचित्रार्थधीरधीशप्रसादतः। अमात्योऽवाप यश्चाज्ञा महासामन्तसंज्ञकः)**[१५]। सम्राट् से प्राप्त अधिकारों के अन्तर्गत वह शीश पर माला रख सकता था **(माला शीर्षो)**, माथे में उत्तम तिलक (**उत्तमश्रीर्वरतिलकरुचिः**), सम्पूर्ण कानों में आभूषण (**कर्णभूषा समस्ता**), सबसे सुन्दर कर्णाभूषण। (**श्रेष्ठकर्णावतंसोऽपि**), सुन्दर वसन (**युगलवसनं**), सुनहरा कटिबन्ध। (**रुक्मकाञ्ची गुणश्रीः**), सुनहरे म्यान में एक अच्छी कटार (**सत्खड्गो रुक्मकोशोपि च**), चांदी का ऐसा श्वेत भाजन और चिरान्ड (**रजतनिभं भाजनं वा चिराण्डं**), मयूर पंख का एक छत्र (**मायूरच्छत्रं**), जलझारी और पात्र (**भृंगारकलशनियमः**) और चांदी का दंड लगी पालकी (**दोलिका रौप्यदंडा**)[१६] वह रखता तथा उसी में वह सम्राट् के पास बैठता था और उसके ऊपर मयूरपंखों का छत्र सुशोभित होता था और सैनिक तथा वाद्यवृन्दक उसके साथ चलते थे (**वाद्यैस्सह बलैरस्याश्चावतरति पुनरिदं श्रेयः**)।[१७] इसी प्रकार से आज्ञा महासामन्त के भाई आज्ञा जयेन्द्र-

१३. यही, नं० १२, पृ० १६।

१४. यही, नं० २४ अ, ब, पृ० ५५।

१५. यही, नं० ३९, पद १९, पृ० ११४।

१६. यही, पद २०।

१७. यही, पद २१।

पति को, जो अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध था और जिसने अभिलेखों की रचनाएँ भी की थीं, सम्राट् भद्रवर्मन् की ओर से इसी प्रकार की मान-प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। तीसरे भाई ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया था और कई भाषाओं का ज्ञान होने के कारण वह सरलता से विभिन्न देशों से आये संदेशों को पढ़ लेता था। शिष्ट वर्ग के कुछ अन्य व्यक्तियों का भी उल्लेख इन लेखों में है। जयसिंहवर्मन् प्रथम के दण्डवासभट को भी सम्राट् की ओर से 'ईश्वरकल्प' और 'श्री-कल्प' की उपाधियां प्रदान की गयी थीं।[१८] पांव्क्लुज् पिलिः राजद्वारः ने 'अकाल-धिपति' की उपाधि जयसिंहवर्मन् से पायी थी।[१९] इसी लेख में ल्यड् वृद्धकुला वंश का भी उल्लेख है जो शुद्ध वंश की थी, **(सा ल्यड् वृद्धकुलायाः पौत्री समनुद्धि शुद्धवंशा या)**।[२०] इसका राजकुल से सम्बन्ध था।

शिष्ट समाज के अतिरिक्त चम्पा की सामाजिक व्यवस्था में दास-दासियों का भी स्थान था। बहुत-से लेखों में मन्दिरों में दास-दासी अर्पण करने का उल्लेख है।[२१] ये सभी देशों के होते थे। पो-नगरस्थ जयपरमेश्वरवर्मन् प्रथम के लेख[२२] में सम्राट् के देवी मन्दिर के प्रति दान में ५५ चम, ख्मेर, चीनी और स्यामी दासों का उल्लेख है। पो-क्लोड्[२३] के लेख में दासी, राजदूत, दिवदित, अंगार, ऋद्धि नामक बालक दास तथा वायुदेव नामक दास व्यक्ति का उल्लेख है। इसी लेख में जव (मलय अथवा जावा) और यवन (अनम) दासियों का भी उल्लेख है। वास्तव में यह युद्ध के पश्चात् अपहृत व्यक्तियों का उल्लेख है। युद्ध के पश्चात् ये अपहृत व्यक्ति, दास-दासी के रूप में विजयी सम्राट् को मिलते थे। इन व्यक्तियों को सम्राट् मन्दिरों को अर्पित कर देते थे। पडुरंग के विद्रोह को

१८. यही, नं० ३५, पृ० ९५।
१९. यही, नं० ४३, पृ० १२९।
२०. यही, पद ४।
२१. यही, नं० २६, ४६, ९६, ११०।
२२. यही, नं० ५८, पृ० १५५।
२३. यही, नं० १११-११५।

दवाने के बाद परमेश्वर देव धर्म महाराज की अधीनता वहां की आवी जनता ने अंगीकार की थी।[२४]

कुटुम्ब, विवाह तथा स्त्रियों का स्थान

चम्पा के लेखों से तत्कालीन वैवाहिक प्रथा तथा स्त्रियों के सामाजिक स्थान का भी पता चलता है। ये लेख या तो चम्पा-सम्राट् अथवा राजकीय वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं, अतः जनसाधारण के सामाजिक स्तर का पता इनसे लगाना कठिन है। वो-चन के लेख से सामूहिक कुटुम्ब-प्रणाली का संकेत मिलता है। श्रीमार ने अपने पुत्रों, भाइयों तथा और सम्वन्धियोंके साथ सामूहिक रूप से धनवितरण किया तथा उनके लिए ही उसने दान दिया था (**प्रियहितेसर्वं विसृष्टं मया तदेवं मयानुज्ञातं भविष्यैरपि**)[२५] कुटुम्व में केवल पैतृक रूप से ही अधिकार प्राप्त न थे, पर मातृ-सम्बन्धियों को भी सिंहासन पर बैठने का अधिकार था। पृथ्वीवर्मन् के बाद उसके दो भांजे सत्यवर्मन् और इन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठे। और इन्द्रवर्मन् के वाद उसकी बहिन का पति और फिर भांजा गद्दी पर बैठा। इन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद उसकी स्त्री का भांजा सिंहासन पर बैठा।[२६] इनसे यह प्रतीत होता है कि स्त्रियों और बहिनों के वंशज भी सिंहासन पर वैठ सकते थे और उनका कुटुम्ब में अधिकार था, पर इसे स्त्रियों की पुरुषों के ऊपर प्रधानता का संकेत नहीं मानना चाहिए। वास्तव में पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर पूर्णतया अधिकार था, वहुविवाह प्रथा भी वर्जित न थी और स्त्रियों के आदर्श ऊँचे थे (**परिशुद्ध भावा साध्वी**)।[२७] एक लेख में नारिकेल और क्रमुख नामक दो कुलों का उल्लेख है। कदाचित् इसी प्रकार के और भी कुल रहे होंगे और विवाह-सम्बन्ध भी कुल के आधार पर होते थे। प्रकाशधर्म की बहिन ने सत्यकौशिक स्वामी नामक ब्राह्मण से विवाह किया था और उसके पुत्र महेश्वरवर्मन् ने ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वंश को देदीप्यमान किया। यद्यपि लेखों में वैवाहिक संस्कार का वृत्तांत-नहीं मिलता, पर चीनी स्रोत से इस विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती

२४. मजुमदार, चम्पा, पृ० ७९।
२५. यही, नं० १, पृ० २, पंक्ति १४-१५।
२६. पूर्व संकेतित हो चुका है।
२७. मजुमदार, 'चम्पा', नं० ३८, पृ० ११०।

है।[२८] मध्यस्थ स्वर्ण, रजत और मणि लेकर कन्या के घर जाता था और फिर शुभ मुहूर्त में वर पक्षवाले बाजों की ध्वनि करते हुए कन्या के यहां आते थे और मंत्रों के साथ पुरोहित उनका विवाह करा देता था। लेखों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त पुरोहित वर्ग का भी उल्लेख है[२९] और शुभ संस्कार के सम्बन्ध में तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र दिवस और लग्न का भी उल्लेख है।[३०] पतिपत्नी के रूप में दोनों का सम्बन्ध प्रेम और कर्त्तव्य पर आधारित था। जयसिंह ने अपने सौन्दर्य से अपनी स्त्रियों को अपनी ओर मोह लिया था (**स्निग्धीकृता शेषकलत्रवर्गः**)।[३१] विवाह संस्कार के अन्तर्गत वरवधू सदैव के लिए एक सूत्र में बँध जाते थे।[३२] चम्पा के सम्राट् प्रायः बहुविवाह करते थे जिसका कारण राजनीतिक मित्रता स्थापित करना था। जयसिंहवर्मन् तृतीय का रानियों में परमेश्वरी देवलिदेव की कन्या थी और तपस्वी यवद्वीप-कुमारी थी। इनके अतिरिक्त उसकी सम्राज्ञी का नाम भास्करी देवी था जिसका पुत्र हरिजित सिंहासन पर बैठा। विवाहित रानियों के अतिरिक्त 'अन्तःपुर विलासिनी'[३३] स्त्रियाँ सम्राट् के मनोरंजन का साधन होती थीं।

वेशभूषा तथा अलंकार

इस सम्बन्ध में लेख, चीनी वृत्तान्त तथा चम्पा के कुछ कला के प्रतीक प्रकाश डाल सकते हैं। हरिवर्मन् के विषय में एक चीनी दूत ने (१०७६ ई०) में लिखा है कि सम्राट् सुनहरे कढ़े हुए कौशेय वस्त्र पहनता था और ऊपर से एक लम्बा कुरता, जो सात सोने की लड़ियों से बँधा होता था। उसका मुकुट सुनहरा था जिसमें

२८. टूंग-पाओ १९१०, पृ० १९४ से। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० २२६ से।

२९. मजुमदार, चम्पा, नं० ३०, पृ० ७२।

३०. यही, नं० २४, पृ० ५१ से।

३१. यही, नं० ३६, पृ० १००, पद ६।

३२. पो-नगर के एक लेख (नं० ९७) में सम्राट् इन्द्रवर्मदेव तथा सम्राज्ञी श्री परम-रत्न स्त्री की कन्या सूर्यदेवी का ओड-रसुनन्दन नामक एक कुमार के साथ सदैव के लिए वैवाहिक सूत्र में बंधने का उल्लेख है और इन दोनों ने पो-नगर की देवी को बहुत-सा दान दिया था।

३३. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २४, पृ० ५५।

सात प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। वह तांबे की चप्पल पहनता था। जिस समय वह बाहर निकलता था तो उसके पीछे-पीछे पचास पुरुष और दस स्त्रियाँ सोने की थालियों में तांबूल और सुपारी लेकर ध्वनि करती चलती थीं।[३४] पो-नगर के एक लेख (नं० ३०)[३५] में विक्रांतवर्मन् के विषय में लिखा है कि एक सफेद छत्र सम्राट् के ऊपर रहता था और उसका शरीर मुकुट, कटि सूत्र, हार और कुंडलों से अलंकृत रहता था जिनमें माणिक तथा अन्य रत्न जड़े रहते थे) **कुंडलभरित भूतितमुपशोभितोः**)। एक लेख में युगलवसन का उल्लेख है।[३६] शरीर को अलंकृत और सुगंधित करने के लिए सुगंधित चंदन और मुश्क का प्रयोग किया जाता था।[३७] एक लेख में जयसिंहवर्मन् प्रथम की मामी के विषय में लिखा है कि वह गन्ध बनाने, पुष्पों के सजाने तथा कपड़े बनाने में प्रवीण थी (**गंधे पुष्पनिबंधवस्त्ररचनास्वेवं विदग्धा.....**)।[३८] चम्पा के सम्राट् की वेशभूषा का वृत्तान्त एक अन्य स्रोत में भी मिलता है। इसके अनुसार उसका अन्तर-वासक मलमल का रहता था जिसमें लेस या सुनहरा किनारा रहता था। सुनहरे लम्बे कुरते पर एक सोने की मणिफूलों से जड़ी पेटी बाँधी जाती थी और उसके जूतों में भी मणियाँ जड़ी रहती थीं।[३९] कलात्मक चित्रों में केवल निचला भाग ढका हुआ दिखाया गया है। इसमें एक लम्बे लहँगे अथवा छोटे पेटीकोट का प्रयोग होता था। वस्त्रों में बेलबूटे भी कढ़े रहते थे। कमर पर एक पेटी बाँधी जाती थी। एक दुपट्टे का भी प्रयोग किया जाता था।[४०] यति और

३४. टूंग-पाओ १९११, पृ० २५०।
३५. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ३०।
३६. यही, लेख नं० ३९, पृ० १११।
३७. यही, नं० २४, पृ० ५१।
३८. यही, नं० ३६, पद८, पृ० १००।
३९. टूंग-पाओं (१९१० पृ० १९३-४), मजुमदार, चम्पा, पृ० २६१।
४०. मजुमदार, चम्पा, पृ० २२१। चम कला में पुरुषों को धोती पहने तथा दुपट्टा ओढ़ें दिखाया गया है। डोंग-डुओग के बुद्ध की मूर्ति में चुन्नट भी बड़ी सफाई से दिखायी गयी है। स्टर्न: आर्ट डु चम्पा, चित्र नं० ५६ (अ) मौली या मुकुट बड़ा ही सुन्दर होता था और यह भी तरह-तरह का बनता था (यही नं० ५४, ५६)। टूरेन के संग्रहालय में प्रसिद्ध नर्तकी की मूर्ति सूच्याकार मुकुट पहने है (यही नं० ५९) और मोतियों की मालाओं से उसका शरीर अलंकृत है।

दास केवल लंगोटी ही पहने दिखाये गये हैं।[४१] चीनी स्रोत के अनुसार चम लोग रंग-बिरंगे वस्त्र पहनते थे। वे अपने बालों को भी विभिन्न प्रकार से सँवारते थे और ऊँचे जूड़े को अलंकृत भी करते थे। वे मुकुट का भी प्रयोग करते थे। प्रायः उच्च वर्ण वाले ही जूतों का प्रयोग करते थे। लेखों में आभूषणों के द्वारा शरीर को अलंकृत करने का भी उल्लेख है। विक्रमान्तवर्मन् का शरीर सोने के आभूषणों––मणि, मुक्ता, वैदूर्य से ढका रहता था। **हरिणांक दीप्त वैदूर्य मुक्तावली लम्ब हारक।**[४२] किरीट (मुकुट), कटिसूत्र (करधनी), कुंडल तथा हार, तथा माणिक मुक्ता और अन्य मणियों का प्रयोग होता था।[४३]

मनोरंजन

मनोरंजन के साधनों में गायन तथा वादन प्रचलित था। चम्पा की शिल्पकला में बहुत-से सुन्दर नृत्य-चित्र पत्थरों पर अंकित हैं जिनसे इस क्षेत्र में प्रवीणता का पता चलता है।[४४] माइ-सोन के ९७८ ई० शक सं० ९०० के लेख में युवराज महासेनापति द्वारा श्री शासनभद्रेश्वर के मन्दिर के निमित्त नर्तक और गायकों का उल्लेख है।[४५] यहीं से प्राप्त एक अन्य लेख में कुशल नर्त्तक[४६] तथा गीतकारों (गायक) का उल्लेख है जो हरिवर्मा की सभा को सुशोभित करते थे। इसी लेख में 'विदग्धपरव' से

४१. स्टर्न, आर्ट डू चम्पा, चित्र ४२ नं० २।

४२. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ३०, पद २।

४३. यही, नं० ३०, ३९। चम कला में जिन आभूषणों को पहने दिखाया गया है वे हार, बाजूबंद, कंगन, कटि (कर्धनी) तथा नूपुर हैं। देखिए स्टर्न, चम्पा, चित्र ५९, ६२ इत्यादि।

४४. वाद्यवादन के चित्रों में बांसुरी बजाने के दो चित्र (माइ सोन ई० १; स्टर्न नं० २२ अ); (माइ-सोन स १ नं० ५४) प्रमुख हैं। दूसरे चित्र में एक व्यक्ति हाथों से मृदंग के सामने भाव प्रदर्शित कर रहा है तथा एक अन्य व्यक्ति, जिसका ऊपरी भाग टूटा हुआ है, जांघ पर बांया हाथ रखे तथा बांये पैर को उठा कर और दाहिने को मोड़कर नृत्य की एक मुद्रा में चित्रित है।

४५. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ५९।

४६. यही, नं० ६२, पद ४, पृ० १६२।

वाद्यवादन का भी पता चलता है। सूर्यदेवी के पो-नगर के लेख में[४७] राजकुमारी और उसके पति द्वारा पो-नगर की देवी के मन्दिर के निमित्त नर्तकियों को अर्पित करने का उल्लेख है। इनसे प्रतीत होता है कि नृत्य तथा वाद्यवादन और गायन में पुरुष तथा स्त्रियाँ भाग लेती थीं तथा मृदंग और वीणा का नृत्य के साथ में प्रयोग होता था।[४८] नृत्य के कई चित्र चम कला में भी मिलते हैं और इसमें पुरुष तथा स्त्रियों के मनोरंजन के अन्य साधनों में **भारत** की भाँति त्योहार तथा पर्व भी मनाये जाते थे और संवत् चैत्र से आरम्भ होता था। नव वर्ष के दिन एक हाथी नगर में छोड़ा जाता था। अषाढ़ में नावों की दौड़ होती थी।[४९] चैत्र का नव वर्ष भारतीय है और बहुत-से पर्व प्रायः भारतीय थे, पर इनमें से कुछ के देशीय होने में संदेह नहीं, जैसा कि मासपेरो का विचार था।

दैनिक जीवन

सामाजिक जीवन सम्बन्धी अन्य विषयों में भोजन, भाजन तथा दाह-संस्कार पर भी कुछ लेख प्रकाश डालते हैं। भोजन के लिए धान और तंडुल का उल्लेख मिलता है।[५०] गेहूँ की पैदावार नहीं होती थी क्योंकि इसका किसी लेख में उल्लेख नहीं है और चावल ही चमों का मुख्य भोजन था। भोजन पकाने तथा खाने के लिए सोने, चाँदी, काँसे तथा ताम्रके बरतनों का प्रयोग होता था। लेखों में चांदी के रंगे हुए बरतन (कदाचित् नक्काशी किये हुए) (**रूप्यं राजत भाजन त्रयमिदंश्रीरन्जितञ्चान्तरे**)[५१] तथा सोने के धूपदान (**कनक-धूपधारण**) और सोने के ताम्बूल रखने के पात्र (ताम्बूल-भाजने) का उल्लेख है। धूप से बचाव के लिए छातों का भी प्रयोग होता था और सुनहरे छत्र (कनकछत्रं) भी बनते थे। पर यह प्रायः सम्राट् और देवी-देवताओं के लिए ही बनाये जाते थे। भारत की भाँति चम्पा में भी शव का दाह संस्कार किया जाता था और राख तथा हड्डियों को नदी में बहा दिया जाता था।[५२]

४७. यही, स्टर्न ९७, पृ० २१३।
४८. स्टर्न, 'आर्ट डू चम्पा', चित्र नं० ५२, ५४, ५९, ६२।
४९. मजुमदार, चम्पा, पृ० २२९।
५०. यही, लेख नं० ४६, पद ५७।
५१. यही, नं० ६०, पृ० १५८।
५२. यही, पृ० २३०।

आर्थिक जीवन

लेखों और चीनी स्रोतों से चम्पा के आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। जनता का मुख्य उद्योग कृषि था और क्षेत्र को उपजाऊ बनाने के लिए नहर और बाँध का समुचित प्रवन्ध था। श्री विक्रान्तवर्मन् ने श्री सत्यमुखलिंग देवता के लिए नहर के ऊपर बांध बनवा दिया (**प्रणालस्य संवरणं**)।[५३] कदाचित् यह देवता के निमित्त भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए किया गया होगा। एक अन्य लेख में[५४] जयपरमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने श्री चम्पेश्वर और स्वयमुत्पन्न देवताओं को अर्पित भूमि-क्षेत्रों की नहरों को पुनः ठीक करवाया। राज्य की ओर से ग्राम में कोठार (**कोष्ठागार**) थे जिनमें धान्य जमा किया जाता था। शंकर नारायण के प्रति इन्द्रवर्मन् द्वारा दिये दानों में श्री पवितेश्वर, ममौय के कोष्ठागार तथा भुवनाग्रपुर के दो कोष्ठागार सम्मिलित थे।[५५] विक्रान्तवर्मन् ने अदराद्रम, कुमारद्रम, दुरोटाकद्रम, तथा पौअ्हैम्मन्डल के वूरा कोष्ठागार श्री महादेवेश्वर को अर्पित किये थे।[५६] कृषि के अतिरिक्त व्यापार और उद्योग पर भी समुचित ध्यान दिया जाता था। चीनी स्रोतों के अनुसार[५७] यहां पर रेशम के कीड़े पाले जाते थे और कपास भी पैदा किया जाता था। चम कपड़ों पर सोने, चाँदी, मोती और मणि जड़ने का कार्य भी सफलता से कर लेते थे। गन्ध के अतिरिक्त चटाई और ताड़ के पंखों से टोकरियाँ इत्यादि भी बना लेते थे और सुन्दर आभूषण भी बना लेते थे। मणि, मुक्ताओं का अच्छा व्यापार था और वे सुन्दर बरतन भी बना लेते थे। हाथी दाँत का काम भी यहां होता था और बारहसिंगे की सींगों का प्रयोग ये जानते थे। चम अच्छे नाविक थे और वे जहाज भी बना लेते थे। लेखों से अनुपात और मान का भी पता चलता है। मान में 'पण' और 'कट्टिका' का प्रयोग होता था (**एतद् भारे संख्येयरक्तकल-धौतं सप्तपणं सिततरकलधौत त्रयोविंशति कट्टिकामाने**)[५८]। पण भारतीय मान

५३. यही, लेख नं० २९ (स), पृ० ७१।
५४. यही, लेख नं० ९१, पृ० २९।
५५. यही, लेख नं० २४ (ब), पृ० ५४।
५६. यही, नं० २९ (ब), पृ० ७१।
५७. मजुमदार, चम्पा, पृ० २२३।
५८. यही, लेख नं० ६०, पृ० १५८।

है, पर कट्टिका का उल्लेख भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। इन दोनों का अनुपात में प्रयोग होता था।

शिक्षा और साहित्य

लेखों से शिक्षा और साहित्य पर भी प्रकाश पड़ता है। चम्पा के शासकों तथा उच्च वर्ग के व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर ऊंचा था। संस्कृत भाषा तथा साहित्य ने वहां अपना स्थान बना लिया था। चम्पा के सबसे प्राचीन माइ-सोन लेख में भद्रवर्मन् के विषय में लिखा है कि वह चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता था (**चातुर्व्वैद्यं राजानम्**)।[५९] इन्द्रवर्मन् तृतीय षट् मीमांसा तथा बौद्ध तर्क, पाणिनि व्याकरण काशिका सहित, आख्यान तथा शैवियों के उत्तरकल्प का ज्ञाता और विद्वानों में सब विषयों का मर्मज्ञ था (**मीमांसा षट्तर्क जिनेन्द्रसूर्म्मिसकाशिका व्याकरादिकोषाः, आख्यान शैवस्तत्र कल्पमीनः पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम्**)।[६०] हरिवर्मन् के माइसोन के शक सं० १००३ के लेख से पता चलता है कि बृहस्पति की भांति वह भी सब शास्त्रों का ज्ञाता था। (**शास्त्रे शास्त्रेऽधिको वाक्पतिरिव**)।[६१] और उसकी विद्वत्ता के सामने नाना विषयों के ज्ञाता भी (**नाना ज्ञान विदोपि**) अपना मुँह नहीं खोल सकते थे। जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ भी व्याकरण, ज्योतिष तथा महायान तर्क का पूर्ण ज्ञाता था और इनके अतिरिक्त नारदीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्रों में वह पारंगत था।[६२] जयइन्द्रवर्मन् कुमार हरिदेव भी सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता था और विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का उसे ज्ञान था।[६३] शासकों के अतिरिक्त आज्ञा जयेन्द्रपति अमात्य सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता था (**सकलशास्त्र समर्थ बुद्धि**), और विभिन्न देशों के संदेशों को वह एक क्षण में समझ लेता था (**निरीक्ष्यैकक्षणं वेन्ति**)।[६४] कवियों की परम्परा के आधार पर यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने अपने राजाओं

५९. **चम्पा, लेख नं० ४, पृ० ६।**
६०. **यही, लेख नं० ४५, पद ३, पृ० ४५।**
६१. **यही, लेख नं० ६२, पृ० १६२, पद ३।**
६२. **यही, लेख नं० ८१, पृ० १९९।**
६३. **यही, नं० ९४, पृ० २१०।**
६४. **यही, नं० ३९, पद २४-२५, पृ० ११४-१५।**

का खूब बढ़ा-चढ़ाकर गुणगान किया है, फिर भी उपर्युक्त विषयों के उल्लेख से उनके अध्ययन पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। लेखों से पूर्णतया विदित है कि भारतीय साहित्य चम्पा पहुँच चुका था और वेद, षट् दर्शन, रामायण, महाभारत, बौद्ध दर्शन, वैष्णव तथा शैव धार्मिक साहित्य, व्याकरण और काशिका, ज्योतिष, मनु तथा नारद के धर्मशास्त्र, पुराण और संस्कृत काव्यों का यहां अध्ययन होता था। रामायण तथा महाभारत के पात्र युधिष्ठिर, दुर्योधन और युयुत्सु,[६५] दशरथ के पुत्र राम[६६] तथा कृष्ण,[६७] धनंजय[६८] पांडुपुत्र[६९] का उल्लेख लेखों में है। त्रिपुरासुर का वध[७०] तथा कुबेर के एकाक्षपिंगल[७१] नाम से क्रमशः चमों का महाभारत और रामायण के उत्तरकांड के ज्ञान का पता चलता है। वे शैव तथा वैष्णव धार्मिक साहित्य के भी ज्ञाता थे। आज्ञा-नरेन्द्र नृपवित्र शैवधर्म सम्बन्धी सभी ग्रन्थों का ज्ञाता था।[७२] इन्द्रवर्मन् तृतीय का अमात्य भी धार्मिक साहित्य में पारंगत था (**शास्त्री शास्त्रज्ञसदसि**)।[७३] धर्म शास्त्रों में मनुस्मृति के अतिरिक्त[७४] नारदीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्र प्रचलित थे। लेखों से प्रतीत होता है कि कवि संस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञाता थे और उन्होंने श्लेष तथा अनुप्रास का प्रयोग किया है। उन्हें अलंकार शास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान था और विभिन्न अलंकारों का लेखों में प्रयोग किया गया है। भारतीय पुराणों के आधार पर चम्पा में पुराणार्थ[७५] अथवा अर्थ पुराण शास्त्र[७६] नामक व्याख्या की गयी है।[७६]

६५. यही, नं० ४१, पृ० १२३।
६६. यही, नं० १२, पृ० १६।
६७. यही, नं० ७४, पृ० १८३।
६८. यही, नं० २३, पृ० ४४।
६९. यही, नं० ३९, पृ० १११।
७०. यही, नं० १८, पृ० ३६।
७१. यही, नं० १४, पृ० २७।
७२. यही, नं० ३९, पृ० १११।
७३. यही, नं० ४६, पद ४, पृ० १४०।
७४. यही, नं० ६५ (ब), पृ० १७१।
७५. यही, नं० ७४, पृ० १८८।
७६. यही, नं० ७२, पृ० १७९।

सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में चम्पा भारतीय अंशदान प्राप्त किये हुए था और इसका हमको लेखों से पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय परम्परा ने उस देश में अपनी गहरी छाप डाली थी जिसने स्थानीय क्षेत्र को दबा दिया। यह सच है कि चम्पा की स्थानीय संस्कृति नष्ट न होकर भारतीय संस्कृति का ही अंग बन गयी। लेख केवल शासक तथा उच्च अधिकारी वर्ग के व्यक्तियों से ही सम्बन्धित हैं, इससे यह कहा जा सकता है कि चम्पा के साधारण निवासियों के दैनिक जीवन, आचार-विचार में कोई परिवर्तन न हुआ हो, पर वास्तव में यह मानना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला मजबूती से वहां जम चुकी थी और धार्मिक क्षेत्र में इसका विशेष रूप से स्थान है। शैव, वैष्णव तथा बौद्ध के अभिलेख उक्त देश में अपने धार्मिक विचार तथा प्रगति पर प्रकाश डालते हैं।

अध्याय ७

धार्मिक जीवन

चम्पा का धार्मिक जीवन भारतीय परम्परा के आधार पर एक देवता के प्रति भक्ति, उसके अन्य स्वरूप तथा सहिष्णुता की भावना को लेकर विस्तृत था। यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रवेश यहाँ चौथी शताब्दी में हो चुका था, जैसा कि इलियट के मतानुसार[1] वो-चन के लेख से संकेत होता है, यद्यपि लेख में बुद्ध अथवा बौद्ध धर्म का कहीं उल्लेख नहीं है, पर शैव मत और उसके अन्तर्गत भद्रेश्वर स्वामिन् की उपासना ही राजकीय धर्म माना जाता था। इस देश की स्थानीय धार्मिक भावनाओं का भी ब्राह्मणधर्म में समागम हुआ। यहाँ पर वैदिक धार्मिक परम्परा और यज्ञ इत्यादि को स्थान न मिला, पर कदाचित् इससे वे अनभिज्ञ न थे।[2] ब्राह्मणधर्म में भी शैव मत ने चम्पा के धार्मिक इतिहास में सदैव मान्यता और प्रमुख स्थान प्राप्त किया, पर शिव के अतिरिक्त विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्य ब्राह्मण देवता और बौद्ध धर्म के महायान मत ने भी अपना अंशदान दिया। चम्पा का धार्मिक जीवन वास्तव में कम्बुज देश की परम्परा से मिलता-जुलता था। मन्दिरों की स्थापना चम्पा के सम्राटों ने अपने नाम पर की थी और देवताओं की मूर्तियों को भी उनके नाम के आगे ईश्वर लगाकर संबोधित किया जाता था।[3] भद्रवर्मन् द्वारा भद्रेश्वर की मूर्ति

१. हिन्दू इज़्म एंड बौद्धिज़्म ३, पृ० १४८।

२. देखिए, बोर्नियो में कोटि अथवा कूटेई प्रान्त से प्राप्त यूप और उन पर अंकित लेख, जिनका विवरण पहले ही दिया जा चुका है। माइसोन के प्रकाशधर्म के लेख से प्रतीत होता है कि शास्त्रों के अनुसार अश्वमेध से अधिक कोई पुण्य देने वाला कार्य नहीं है और ब्राह्मण की हत्या से अधिक कोई पाप नहीं है (ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरित्यागमादिति प्रतिज्ञातम्) नं० १२, पृ० २१, पद २७।

३. भारत में भी दानी राजाओं द्वारा अपने नाम के आगे ईश्वर लगाकर

और उनका मन्दिर चम्पा के इतिहास में विशेष स्थान रखता है। इस धार्मिक जीवन के प्रमुख अंगों में शिव, उनकी उपासना तथा स्वरूप, शैव देवी-देवता, विष्णु तथा वैष्णव मत, वैष्णव देवी-देवता, ब्रह्मा और त्रिमूर्ति, ब्राह्मण मत से सम्बन्धित अन्य देवी-देवता तथा बौद्ध धर्म पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

शिव, शैव मत

कम्बुज की भाँति चम्पा में भी शिव की उपासना ही राजकीय धर्म के रूप में परिणत हो गयी। भद्रवर्मन् (भद्रेश्वर)[४], शंभुवर्मन् (शंभुभद्रेश्वर)[५], इन्द्रवर्मन् (इन्द्रभद्रेश्वर[६], इन्द्रभोगेश्वर, इन्द्रपरमेश्वर), विक्रान्तवर्मन् (विक्रान्त रुद्र रुद्रेश्वर),[७] जयसिंहवर्मदेव (जयगुहेश्वर), भद्रवर्मदेव, (प्रकाशभद्रेश्वर, भद्रमलयेश्वर, भद्रचम्पेश्वर, मंडलेश्वर, भद्रपुरेश्वर),[८] इन्द्रवर्मन् (इन्द्रकान्तेश),[९] हरिवर्मन् (हरिवर्मेश्वर), जय हरिवर्मन् (जय हरिलिंगेश्वर),[१०] जय इन्द्रवर्मन् (जय इन्द्रलोकेश्वर, श्री जय इन्द्रेश्वर, श्री इन्द्रगौरीश्वरी),[११] इन्द्रवर्मन् (इन्द्रवर्मशिवलिंगेश्वर),[१२] जयसिंहवर्मदेव (जयसिंहवर्मलिंगेश्वर)[१३] इत्यादि राजाओं ने अपने नाम के आधार पर पूज्य देवताओं

स्थापित मूर्ति को संबोधित किया गया है। जैसे चंदेलसम्राट् पृथ्वीदेव ने पृथ्वीदेवेश्वर की मूर्ति स्थापित की। एपीग्राफिया इंडिया, १, पृ० ३८। विक्रमादित्य द्वितीय की दो रानियों ने अपने नाम पर लोकेश्वर और त्रैलोकेश्वर की मूर्ति भी स्थापित की। बाम्बे गजेटियर, १ भाग २, पृ० १९०।

४. मजुमदार, 'चम्पा' लेख, नं० २।
५. यही, नं० ७।
६. यही, नं० २३।
७. यही, नं० ३०।
८. यही, नं० ३९।
९. यही, नं० ४४।
१०. यही, नं० ७४।
११. यही, नं० ८१।
१२. यही, नं० ११२।
१३. यही, नं० ११६।

की शिवमूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित कीं। चम्पा के लगभग ९० प्रतिशत लेखों में शिव की उपासना कही गयी है, पर इनके अतिरिक्त विष्णु (३), ब्रह्मा (५), बुद्ध (७) तथा शिव-विष्णु (२) की उपासना का भी कई लेखों में विवरण है। माइ-सोन और पो-नगर के मन्दिरों का निर्माण शिव की मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए ही हुआ था। एक लेख के अनुसार चम्पा राज्य की उत्पत्ति ही शिव के द्वारा हुई थी।[१४] शिव ने उरोज को चम्पा राज्य स्थापित करने के लिए पृथ्वी पर भेजा था।[१५] शिव को ही त्रिमूर्ति में श्रेष्ठ स्थान दिया गया है और अपने अति प्रभाव से ही उन्हें देवताओं का ईश माना गया है (**यस्य प्रभावातिशयात् सुरेशवैभुत्वमान्योऽति यशोभिरेव**)।[१६] इसी लेख में वे चम्पा के रक्षक माने गये हैं जहां सभी धर्म प्रचलित थे (**चम्पापुरीं दर्शितसर्व्वधर्मामपालयत् पावनसारभूतः**)।[१७] लेखों में शिव की विशालता, उनके भोलापन, उग्र स्वरूप तथा तपस्वी रूप के विभिन्न नाम मिलते हैं।[१८] महेश्वर (४), महादेव (६), अमरेश (१०), ईश्वरदेवाधिदेव (३२), परमेश्वर (३६) से उनका अन्य देवताओं पर आधिपत्य; ईशान (२०), ईशानदेव ईशानेश्वर (१२), ईशानेश्वरनाथ (१७) से उनका वृहत् स्वरूप; शंभु (२२), शंकर (२८), शंकरेश (३८) से उनका भोलापन तथा शर्व (७९), भीम (१७), उग्र, रुद्र (२४), महारुद्रदेव (३९) से उनका उग्र तथा ध्वंसात्मक स्वरूप प्रतीत होता है। शूली (७), भव (१७), पशुपति (१७), वामेश्वर (२०), योगीश्वर (५९) से उनकी तपस्वी और रचनात्मक प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। देवत्व स्वरूप के अतिरिक्त शिव की लिंग रूप में भी उपासना की जाती थी और उन्हें देवलिंगेश्वर (४३), महालिंगदेव (३२), शिवलिंगेश्वर (३३), महाशिवलिंगेश्वर (३९) इत्यादि नाम दिये गये हैं। इन सबसे यह प्रतीत होता है कि चम्पानिवासी शिव के

१४. मजुमदार, लेख नं० ९४, पृ० २११।

१५. यही, नं० ३१, पृ० ७६, पद १०।

स त्वं श्रीमानुरोजस्फुटतरसुयशाः श्रीनिधिः क्ष्माजव याहि।
...ग्राह्यं राज्यञ्व गुणचरणरजश्शम्भुभद्रेश्वरस्य ॥

१६. यही, पद १५।

१७. यही, पद १६।

१८. इन नामों और लेखों की संख्या क्रम रूप से एक साथ दे दी गयी है।

विभिन्न नामों तथा गुणों से अनभिज्ञ न थे और उन्हें उनके रचनात्मक, पालक तथा ध्वंसात्मक स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान था। विक्रान्तवर्मन् के एक लेख में शिव के आठों नाम; शर्व, भव, पशुपति, ईशान, भीम, रुद्र, महादेव तथा उग्र का उल्लेख है।[१९] शंभुवर्मन् के माइ-सोन के लेख में शंभुभद्रेश्वर द्वारा भू भुवः तथा स्वः नामक त्रिलोकी की रचना (**सृष्टं येन त्रितयमखिलं भूर्भुवः स्वः**) तथा संसार के पापरूपी अंधकार को अग्नि के समान नष्ट करने (**येनोत्खातं भुवनदुरितं वह्निनेवान्धकारम्**) और अनादि रूप में (**नादिर्न चान्तम्**) चम्पा राज्य को सुख प्रदान करने का श्रेय दिया गया है (**चम्पादेशे जनयतु सुखं शम्भुभद्रेश्वरोऽयम्**)।[२०] विभिन्न लेखों में उनके अन्य गुणों का गुणगान किया गया है। वे संसार को नष्ट भी करते हैं और मनुष्य के अन्दर कर्म की भावना को नष्ट करके संसार के आवागमन से भी मुक्त करते हैं। मुनि, यति भी शिव का ही ध्यान करते हैं, जो आदि पुरुष हैं, त्रिपुर-विजयी हैं (**जगद्गुरुराद्यस्त्रिपुरजयी योगिभिः साध्यः**)।[२१] शिव के स्वरूप का वर्णन भी हमें लेखों में मिलता है, जैसे जटाधारी, त्रिनेत्र वाले, और उनके शरीर पर भस्म लिपटी हुई है (सितभस्म), योग, जप और हुंकार से उन्होंने अपने शरीर को पवित्र कर लिया है।[२२] सिद्ध, चारण तथा यक्ष उनके उपासक हैं। कामदेव को अपने तीसरे नेत्र से भस्म कर देना और पुनः जीवित करना,[२३] त्रिपुर राक्षस का नाश करना[२४] और उपमन्यु की कथा जिसमें शिव को विष्णु और ब्रह्मा से ऊपर माना है और जिसका उल्लेख अनुशासन पर्व में है[२५] तथा ब्रह्मा और विष्णु द्वारा लिंग की गहराई का पता लगाने का विफल प्रयास[२६] लिंगपुराण पर आधारित हैं।

१९. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० १७, पृ० ३५।

२०. यही, नं० ७, पृ० ११, पद २०, २१।

२१. यही, नं० ३२, पृ० ८९, पद १।

२२. यही, नं० २४ (ब), पृ० ५४। 'जयति महासुरपुरत्रयावमर्द्दनविविध-विक्रमोऽपि। सितभस्मप्रभाव-योगादिजप-हुंकार-निर्मलतर-शरीर-प्रदेशश्च॥'

२३. यही, नं० ४१, पृ० १२२, पद २। नं० ३६, पृ० ९९, पद १। अनंगत्वमुपागतोऽसौ यस्माद्धरांगः पुनरेव कामः।

२४. यही, नं० १७, २४, ३२।

२५. यही, नं० १७। अनुशासन, अध्याय १४।

२६. यही, नं० ३९।

चम्पा में शिव की उपासना मानुषिक तथा लिंग रूप में की जाती थी। मनुष्य के रूप में जटाधारी शिव के शीश पर मुकुट है और बिखरे बालों की लटें कंधे पर हैं। सर्प ही शरीर पर आभूषणों का स्थान लिये हुए हैं। माइ-सोन के मन्दिर में मिली शिव की मूर्तियाँ साधारण हैं और वे खड़ी हुई दिखायी गयी हैं, पर शिव की बैठी मूर्तियाँ भी मिली हैं। नन्दी के साथ तथा तांडव नृत्य करते हुए भी शिव की मूर्तियाँ मिली हैं।[२७] पामांतिए के अनुसार लिंग रूप में शिव की अधिक मूर्तियाँ मिली हैं। भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित माइसोन के शिवलिंग ने चम्पा के इतिहास में राजकीय स्थान प्राप्त कर लिया था।[२८] ४७८ और ५७८ ई० के बीच में इस मन्दिर को कृष्ण वर्ण के विदेशियों ने जला दिया था, पर शम्भुवर्मन् ने इसे पुनः बनवा दिया और उसके बाद से बराबर चम राजाओं ने इसके लिए धन और भूमि का दान दिया।[२९] प्रकाशधर्म तथा इन्द्रवर्मन् द्वितीय नामक चम्पा के सम्राटों ने भद्रवर्मन् और शंभुवर्मन् द्वारा किये गये भूमिदानों की पुष्टि के अतिरिक्त राजकीय मन्दिर के लिए बहुत-सा दान दिया।[३०] शंभु भद्रेश्वर के नाम से माइ-सोन के मन्दिर के जिस शिवलिंग को सम्बोधित किया जाने लगा, उसकी स्थापना के विषय में दैवी भावना जाग्रत हो उठी। ८७५ ई० के एक लेख के अनुसार शिव ने स्वयं यह लिंग भृगु को दिया था जिससे उसको उरोज ने पाया। ११वीं शताब्दी से शंभुभद्रेश्वर श्री ईशानभद्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए, उरोज ने इसी लिंग की स्थापना की थी (**श्रीशानभद्रेश्वरमन्दिरार्कम् परैः पुरोरोजकृतम्**)।[३१] चम्पा के शासक अपने को उरोज का अवतार मानकर इस मन्दिर की समय-समय पर मरम्मत कराते थे तथा इसे दान देते थे। लिंग को ढकने के लिए सोने का कोश दिया जाता था जिसमें बहुमूल्य मणियाँ लगी रहती थीं। शंभुभद्रेश्वर अथवा श्री ईशानभद्रेश्वर चम्पा के इतिहास में राजकीय देवता माने जाते थे।

२७. स्टर्न, आर्ट डु चम्पा, चित्र नं० ५४, ६२ (नृत्य करते हुए नं० ५९,) ध्यानमुद्रा में।

२८. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १८०।

२९. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० २२, पृ० ४१, पद २।

३०. यही, नं० १७, नं० ३१।

३१. यही, नं० ७३, पृ० १८१, पद ३।

माइ-सोन के मन्दिर में स्थापित शिवलिंग के अतिरिक्त पो नगर में शंभु के मुखलिंग ने भी राजकीय देवता का स्थान प्राप्त कर लिया था। इसकी स्थापना ८वीं शताब्दी के एक लेख के अनुसार विचित्रसगर नामक एक राजा ने द्वापर में की थी (**संस्थाप्यते भूतले, विख्यातो नृपतिर्व्विचित्रसगरो नाम्ना स राजाधिकः**)।[३२] इसका उल्लेख इसी मन्दिर की सुहावटी पर अंकित विक्रान्तवर्मन् द्वितीय तथा जय-इन्द्रवर्मन् तृतीय के लेखों में भी मिलता है।[३३] सत्यवर्मन् के शक सं० ६९६ (७७४ ई०) के लेख से ज्ञात होता है[३४] कि नरभक्षक जावानियों ने जहाजों पर आकर इस नगर को क्षति पहुँचायी, मन्दिर को नष्ट कर दिया और लिंग को उठाकर ले गये। सत्यवर्मन् ने उनका पीछा करके उन्हें हरा दिया, पर न तो लिंग और न लूटा हुआ कोश ही मिला और उसे समुद्र में फेंक दिया गया। सम्राट् ने एक नये शिवलिंग तथा अन्य शैव मत से सम्बन्धित देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। इस लिंग का उल्लेख आगे १२वीं शताब्दी तक मिलता है, किन्तु यह शंभुभद्रेश्वर की भांति राजकीय देवता का स्थान नहीं प्राप्त कर सका।

शैव देवी-देवता

शिव की उपासना के साथ-साथ अन्य शैव देवी-देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। उमा (नं० ४, २२), गौरी (२६), भगवती (२६,८०), महाभगवती देवी (३९), महादेवी (३२) मातृलिंगेश्वरी (९७) तथा भूमीश्वरी (५०) इत्यादि नामों से शिवशक्ति की उपासना की जाती थी। जावानी इस मूर्ति को भी मन्दिर से उठाकर ले गये थे। ८१७ ई० में हरिवर्मन् ने देवी की एक नवीन पत्थर की मूर्ति स्थापित की और बाद में इस पर सुनहरा पत्तर मढ़ा गया।[३५] ९१८ ई० में इन्द्रवर्मन् ने इस देवी की सुनहरी मूर्ति स्थापित की, जिसे ९४४ और ९४७ ई० के काल में कम्बुज के सैनिक उठाकर ले गये और पुनः ९६५ में पत्थर की मूर्ति स्थापित हुई (**पुनः शैलमयीं कीर्त्यै कौठारे तामतिष्ठिपत्**)[३६] तथा समय-समय पर चम्पा के

३२. यही, नं० २२, पृ० ४१।
३३. यही, नं० २९ (अ), पृ० ६७, नं० ७१, पृ० १७७।
३४. यही, नं० २२, पृ० ४२।
३५. यही, नं० २९, पृ० ६७।
३६. यही, नं० ४७, पृ० १४३।

शासकों ने इसके लिए दास, दासी, धन और भूमि का दान दिया। परमेश्वरवर्मन् ने १०५० में[३७], परमबोधिसत्त्व ने १०८४[३८] में, हरिवर्मन् ने ११६० में[३९] और जय-इन्द्रवर्मन् सप्तम ने ११६७[४०] में भगवती कौठारेश्वरी के लिए दान दिये। जय परमेश्वरवर्मन् ने १२३३ में पो-नगर की देवी के लिए भूमि और दास-दासियों को अर्पित किया। कदाचित् थोड़े समय बाद देवी की मूर्ति किसी प्रकार नष्ट हो गयी थी और जयइन्द्रवर्मदेव की पुत्री कुमारी सूर्यदेवी ने धन देकर भगवती कौठारेश्वरी की एक नयी मूर्ति बनवायी थी।[४१] शिव और शक्ति के सम्मिश्रण से अर्द्धनारीश्वर रूप स्थापित हुआ। डोंग-डुओंग में ऐसी एक मूर्ति भी मिली जिसमें स्त्री का रूप कूयक और पुरुष का मुश्र से संकेतित है, माथे पर तीसरा नेत्र है।[४२] उमा और भगवती की कई मूर्तियाँ मिली हैं।

शक्ति, दुर्गा तथा उमा के अतिरिक्त गणेश का भी लेखों में उल्लेख है और उन्हें विनायक कहा गया है।[४३] पो-नगर में उनका एक और माइ-सोन में दो मन्दिर बने। भगवती और कार्तिकेय के साथ अन्य मन्दिरों में भी उनकी मूर्तियाँ मिली हैं। इस देवता को अधिकतर बैठी हुई अवस्था में दिखाया गया है, पर माइ-सोन में गणेश की खड़ी हुई अवस्था में भी एक मूर्ति मिली। स्थूल शरीर और गजमुख वाले गणेश के बायें हाथ में एक पात्र और दाहिने में कदाचित् मोदक अथवा कोई और पदार्थ है। वे जनेऊ भी पहने हैं। माइ-सोन के गणेश के एक हाथ में पात्र और तीन अन्यों में माला, लेखनी और छोटे दानों की माला है।[४४] कार्तिकेय अथवा कुमार की भी उपासना चम्पा में की जाती थी, इनके कई स्थानों में उल्लेख हैं।[४५] शिव के मन्दिर में गणेश और उमा की मूर्तियों के साथ इनकी मूर्ति

३७. यही, नं० ५५।
३८. यही, नं० ६४।
३९. यही, नं० ७६।
४०. यही, नं० ८०।
४१. यही, नं० ९७-९८।
४२. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १८९, पामातिये; आई० सी० २, पृ० ४१३।
४३. यही, लेख नं० २६, पृ० ६१।
४४. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १९१। मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ११।
४५. यही, नं० ९, २४, ३६, ३९।

भी स्थापित की गयी। कुमार को शत्रुनाशक योद्धा माना गया है।[४६] इनकी कई मूर्तियाँ भी पायी गयी हैं।[४७] इनके अतिरिक्त शिव और उमा के वाहन नन्दी का भी उल्लेख मिलता है और उनकी मूर्तियाँ मिली हैं।[४८] लेखों तथा प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है कि शिव, उमा, दुर्गा, पार्वती, कुमार, कार्तिकेय, गणेश तथा नन्दी का भी धार्मिक जीवन में स्थान था।

वैष्णव मत

शैव मत प्रधान होते हुए भी, वह वैष्णव मत को चम्पा के धार्मिक जीवन में व्यक्तिगत प्रभाव स्थापित करने से नहीं रोक सका। कुछ लेखों में विष्णु की उपासना कही गयी है।[४९] विष्णु को अन्य नामों से भी संबोधित किया गया है, जैसे पुरुषोत्तम (११), नारायण (२४), हरि (२३), गोविन्द (३९), माधव (नं० ६२), विक्रम (नं० २३) और त्रिभुवनाक्रान्त (१२१)। संसार के पालक रूप में वे आदि-अन्त से परे माने गये हैं (**भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनादेः**)।[५०] चतुर्बाहुधारी नारायण के क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर विश्राम करने तथा असुर और मुनियों द्वारा उपासना करने का उल्लेख इन्द्रवर्मन् के ग्ले-लमोव के एक लेख में मिलता है। इसी लेख में उनके गोवर्धन पर्वत को उठाने, मधु, कंस, असुर, केश, चाणूर, अरिष्ट तथा प्रलम्ब को नष्ट करने का भी उल्लेख है।[५१] चम्पा के कुछ शासकों ने अपने को विष्णु का अवतार भी माना है। वटाऊ-टवल के लेख में जयहरिवर्मन् को विष्णु का अवतार कहा गया है[५२] और उसके पुत्र श्री जयहरिवर्मन् शिवानन्द की कीर्ति राम

४६. यही, नं० ९, पृ० १४।

४७. यही, पृ० १९२, पामातिये आई० सी० २, पृ० ११७-११८। एक चित्र १२०, १२२।

४८. मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ११। स्टर्न आर्ट डु, चम्पा, चित्र ५४।

४९. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० ११, १७, २१ इत्यादि; देखिए मासपेरो, चम्पा, पृ० ९-११।

५०. यही, नं० ११, पृ० १५, पद ६।

५१. यही, नं० २४, पृ० ५९।

५२. यही, नं० ७५, पृ० १९३।

सु०—१०

और कृष्ण से भी आगे बढ़ गयी थी (**यत्कीर्त्तिरिद्धां यदुराजकीर्त्ति रामस्य कीर्त्तिञ्च पुर्नाजगाय**)।[५३] चम्पा में विष्णु की चतुर्बाहु वाली मूर्तियाँ भी मिली हैं। बएन हुआ की मूर्ति पद्मासन में है। उनके हाथों में गदा, पद्म चक्र और शंख दिखाये गये हैं और वे जनेऊ पहने हैं। जो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं वे अधिकतर पद्मासन में हैं।[५४] इसके अतिरिक्त गरुड़ पर आसीन विष्णु तथा अनन्तशयन विष्णु की मूर्तियाँ भी मिलीं। वासुकि की अनन्तशैया पर विष्णु लेटे हैं और उनकी नाभि से कमल निकला है जिस पर ब्रह्मा ध्यानावस्था में बैठे दिखाये गये हैं।[५५] गोबर्धन उठाते हुए भी विष्णु की मूर्ति मिली है।[५६]

पद्मा और श्री के नाम से लक्ष्मी का उल्लेख भी चम्पा के लेखों में मिलता है[५७] और वहाँ पर भी ये अपनी विचलित अवस्था के लिए प्रसिद्ध थीं। इन्द्रवर्मन् तृतीय के एक लेख में उनकी तुलना शौर्य के कारण विष्णु से की गयी है, पर चम्पा लक्ष्मी की भाँति विचलित न थी (**चम्पाभूमिर्नलक्ष्मीरिव चंचला**)।[५८] भगवती कौठारेश्वरी की भाँति चम्पा में लक्ष्मी की मूर्ति का भी इतिहास है। पहले शंभुवर्मन् ने इसकी स्थापना की थी और ७३१ ई० में पुनः सम्राट् विक्रान्तवर्मन् ने उसे स्थापित किया था।[५९] इसी लेख में उनका जन्मस्थान कैलास बताया गया है। लक्ष्मी की कई मूर्तियाँ चम्पा में मिलीं।[६०] डोंग-डुओंग मन्दिर की कछौटेदार डाटों में भी लक्ष्मी की प्रतिमाएँ अंकित हैं। वे दो हाथियोंके बीच में बैठी हैं और उन पर वे अपनी सूँड़ों से पानी छिड़क रहे हैं। देवी

५३. यही, नं० ७४, पृ० १८४, पद ८।

५४. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १९४। पामांतिये, आई० सी०, पृ० ५५४, चित्र १७।

५५. स्टर्न आ० डु०, 'चम्पा', चित्र २२ (स)।

५६. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १९५।

५७. यही, नं० १२, २१, ४४।

५८. यही, नं० ४३, पृ० १२९, पद २।

५९. यही, नं० २१, पृ० ३८, पद ८-९।

६०. पामांतिये, आई० सी० २, पृ० ४२१, ४२२। मासपेरो, 'चम्पा', पृ० ११। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० १९५, ९६।

के कहीं पर चार और कहीं दो हाथ दिखाये गये हैं और उनके हाथों में शंख, चक्र और गदा हैं।

विष्णु के वाहन गरुड़ से चम अनभिज्ञ न थे। वह विष्णु के साथ वाहन के रूप में तथा स्वतंत्र रूप में भी दिखाया गया है। चम्पा में पक्षी के मुख और सिंह के शरीर के रूप में यह दिखाया गया है। इसके हाथ में सर्प भी हैं जिनको भक्षक की भाँति वह दाँतों से चबा रहा है।[६१]

ब्रह्मा तथा त्रिमूर्ति

ब्रह्मा अथवा चतुरानन या चार मुखवाले ब्राह्मण देवता का भी कई लेखों में उल्लेख मिलता है[६२] और इन्हें 'स्वयमुत्पन्न' भी कहा गया है। यह विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठे हैं, एक हाथ में चक्र है और दूसरे में बड़े मुँह वाली बोतल है।[६३] चो-दिन्ह के लेख के अनुसार, जयपरमेश्वरवर्मन् ने अपने सेनापति राम-देव को स्वयमुत्पन्न देवता की मूर्ति स्थापित करने का आदेश शक सं० ११५५ (१२-३३ ई०) में दिया था।[६४] इसके लिए सम्राट् के अतिरिक्त युवराज नन्दभद्र, सेनापति अभिमन्युदेव तथा सम्राट् इन्द्रवर्मन् ने भी दान दिया था।[६५] माइ-सोन के मन्दिर में ब्रह्मा की केवल दो मूर्तियां मिली हैं। स्वतंत्र रूप से चम्पा के धार्मिक जीवन में ब्रह्मा का शिव और विष्णु की तरह इतना महत्त्वपूर्ण स्थान न था, पर त्रिमूर्ति के रूप में इन दोनों देवताओं के साथ इन्हें मान्यता बहुत पहले से प्राप्त थी। चम्पा के इति-हास में विष्णु और शिव की प्रधानता अलग-अलग समय पर रही। पामांतिये के मतानुसार १२वीं शताब्दी के बाद चमों का झुकाव विष्ण की ओर होने लगा।[६६]

६१. मासपेरो, चम्पा, पृ० ११। पामातिये, आई० सी० २, पृ० २६२, ४२१, २७ चित्र १२७, १२८। मजुमदार, चम्पा, पृ० १९६।

६२. मजुमदार, चम्पा, नं० १२, पृ० २४, पद २४। नं० ६२, पृ० १६२, पद ३। नं० ८९, ९१, ९२। मासपेरो, चम्पा, पृ० ९, ११।

६३. स्टर्न, आ० डु०, चम्पा, चित्र नं० २२ (स)।

६४. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ८९, पृ० २०७।

६५. यही, नं० ९२, ९६।

६६. यही, पृ० १९९ नोट।

शंकर-नारायण के रूप में शिव-विष्णु का संमिश्रण भी हुआ[६७] जिसमें आधी मूर्ति शिव की और आधी विष्णु की है, पर ऐसी कोई मूर्ति नहीं मिली है।

अन्य ब्राह्मण देवी-देवता

त्रिमूर्ति के ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण देवताओं की भी उपासना की जाती थी। **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** की भावना के अन्तर्गत सभी देवता मनुष्य को भवसागर से पार लगा सकते हैं। इन्द्रवर्मन् द्वितीय के डोंग-डुओंग के बौद्ध लेख में[६८] इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, वासुकि, शंकर, ऋषि, सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि तथा अभयद (बुद्ध) की उपासना का उल्लेख है। माइ-सोन के भद्रवर्मन् के लेख में उमा, महेश्वर, ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति के बाद पृथ्वी, वायु, आकाश, अप तथा ज्योति (अग्नि) को नमस्कार किया गया है।[६९] अन्य देवताओं में मुख्य (सुरेश) वृत्र का हनन करने वाले (वृत्रस्य हन्ता), तीनों लोकों के जन्मदाता, धर्म के साथ उनकी रक्षा करते हैं।[७०] चम्पा के बहुत से राजाओं ने इसी देवता के नाम पर अपना नामकरण किया और स्वयं भी अपने को इन्द्र माना।[७१] चम्पा में दो मूर्तियाँ इन्द्र की प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनके साथ इन्द्र का हाथी ऐरावत भी है।[७२] यम को चम लेखों में धर्म अथवा धर्मराज माना है।[७३] चन्द्र और सूर्य को भी देवताओं की श्रेणी में रखा गया है और चन्द्र के शत्रु राहु का भी उल्लेख है।[७४] सूर्य का चन्द्र के साथ कई लेखों में उल्लेख है और इनकी दो मूर्तियाँ माइ-सोन में मिलीं जिनमें सूर्य का वाहन घोड़ा भी उनके साथ है।[७५] धनपति कुबेर अथवा धनद का भी उल्लेख कई लेखों में

६७. यही, नं० २४।
६८. यही, नं० ३१।
६९. यही, नं० ४, पृ० ५।
७०. यही, नं० १२, १६, १७, २२, २३। मासपेरो, चम्पा, पृ० ५, १९।
७१. यही, नं० ३०।
७२. मजुमदार, चम्पा, पृ० २०१।
७३. यही, नं० १२, २४।
७४. यही, नं० ७४।
७५. यही, नं० २३, ४२।

मिलता है।[७६] और प्रकाशधर्म ने ७वीं शताब्दी में इसका एक मन्दिर स्थापित किया था। इसकी उपासना धन-प्राप्ति और विपदाओं को हटाने के लिए की जाती थी (**सम्बर्द्धयत्वीशधनं पायाच्चाहिततस्सदा**)।[७७] इसे एकाक्षपिंगल भी कहा गया है क्योंकि देवी द्वारा इसका एक नेत्र दूषित कर दिया गया था (**देव्या दर्शनदूषितः**)।[७८] अग्नि, वासुकि तथा सरस्वती का भी उल्लेख लेखों में मिलता है।[७९] इन देवताओं के अतिरिक्त ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और अप्सराओं का भी उल्लेख है।[८०] टूरेन के संग्रहालय में नृत्य करती अप्सरा की एक वहुत सुन्दर मूर्ति है।[८१] इनके अतिरिक्त चमों को दैत्य और असुर भी विदित थे और इन श्रेणियों में उग्र, राक्षस, प्रेत और पिशाच थे जिनके वीभत्स रूप से उनके प्रति डर की भावना थी। चम कला में भी नागों के साथ इनको स्थान मिला है।

बौद्ध धर्म

व्राह्मण धर्म के शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की उपासना के अतिरिक्त चम्पा में बौद्ध धर्म ने भी अपना स्थान वना लिया था और इसका जनता पर काफी प्रभाव था। जिन (२८), लोकनाथ (३७), लोकेश्वर (३१), सुगत (३७), डामरेश्वर (१२३), स्वभयद, अभयद (३१), शाक्यमुनि, अमिताभ, वज्रपाणि, वैरोचन (३७) तथा परमुदितलोकेश्वर (३७) नामों से बुद्ध की उपासना की जाती थी। जन्म-जन्मान्तरों के वुद्धों के वाद परमलोकेश्वर (**बुद्धसन्तानजंवरम्**) की उत्पत्ति संसार से मनुष्यों को मोक्ष दिलाने के लिए हुई (**अहं लोकेश्वरं कर्त्तुं जगतां स्यां विमुक्तये**)।[८२] कर्म और उसी के आधार पर पुनर्जन्म की भावना के अनुवार मार

७६. आई० सी० २, पृ० ४३०। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० २०२।

७७. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० १२, १३।

७८. यही, नं० १४, पृ० २७, पद २।

७९. यही, नं० ३१।

८०. देखिए क्रम से नं० २३, ४६, २४, ३५, ४६, २३, २४, २४, ३१, २४, २४, ४६।

८१. स्टर्न, आ० डु चम्पा, चित्र ५९ (ब)।

८२. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ३१ व पद ४।

की सेना से बचने के लिए केवल लोकेश्वर का ही सहारा है और इन्हीं के द्वारा परम श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यह भावना विशेष रूप से जनता में फैली हुई थी कि कर्म के आधार पर ही स्वर्ग और नरक मिलता है। बौद्धों ने चम्पा में राजकीय प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। बुद्ध की मूर्तियां, मन्दिर तथा बौद्ध विहारों की स्थापना एवं निर्माण समय-समय पर हुए। वकुल के शक सं० ७५१ के लेख के अनुसार जिन (बुद्ध) और शंकर की प्रतिमाएँ समन्त नामक एक व्यक्ति ने स्थापित कीं, पर लेख उसके पुत्र स्थविरबुद्ध के निर्वाण के समय में लिखा गया।[८३] लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर की मूर्ति ८७५ ई० में श्री जयइन्द्रवर्मन् ने स्थापित की थी और भिक्षुसंघ के लिए विहार का भी निर्माण किया गया था।[८४] मृत्यूपरान्त इन्द्रवर्मन् को परमबुद्धलोक नाम से संबोधित किया गया। एक अन्य लेख में[८५] भद्रवर्मन् नामक चम शासक ने नागपुष्प के सम्मान में मन्दिर और विहारों का निर्माण कराया था। इन्द्रवर्मन् तृतीय के शक सं० ८३३ के न्हान-व्यू लेख में[८६] पौव् क्लुज पिलिः राजद्वार नामक व्यक्ति और उसके पुत्र सुकृति पौ वलुञ धर्मपाथ द्वारा ८३० में शिव के एक मन्दिर (देवलिंगेश्वर) और ८३३ में अवलोकितेश्वर के नाम पर बौद्ध विहार का निर्माण कराया था। इस लेख से लोगों की धार्मिक उदारता का परिचय मिलता है। अवलोकितेश्वर, अमिताभ तथा वज्रधातु, पद्मधातु और चक्रधातु आदि नामों से प्रतीत होता है कि चम्पा में महायान मत ही प्रचलित था। इत्सिग के मतानुसार यहां के बौद्ध आर्यसम्मिति निकाय तथा कुछ सर्वास्तिवाद निकाय के माननेवाले भी थे।[८७] एक लेख में प्रसिद्ध बौद्ध सूत्र 'ये **धर्मा हेतुप्रभवाः**'[८८] का भी उल्लेख है। चम्पा में बुद्ध की कई मूर्तियां तथा मन्दिरों के अवशेष भी मिले हैं। बौद्धों का डोंग-डुओंग प्रमुख केन्द्र था।[८९] अन्य

८३. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २८, पृ० ६५ से।

८४. यही, नं० ३१, पृ० ७४ से।

८५. यही, नं० ३७, पृ० १०५ से।

८६. यही, नं० ४३, पृ० १२९ से।

८७. तककुसु, पृ० १२।

८८. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० १२६, पृ० २२६।

८९. देखिए, यहां से प्राप्त प्रसिद्ध बौद्ध प्रतिमा। स्टर्न; आ० डु० चम्पा, चित्र नं० ५६ (अ)।

स्थानों से भी बुद्ध की मूर्तियां तथा मिट्टी के पक्के खिलौने मिले हैं जिन पर दागव (स्तूप), अवलोकितेश्वर तथा तारा की प्रतिमाएँ अंकित हैं। भूमिस्पर्श तथा धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्राओं में भी बुद्ध की मिट्टी की छोटी प्रतिमाएँ मिली हैं। लेखों तथा प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है कि महायान मत ने चम्पा में अपना स्थान बना लिया था और इसके प्रसार में इन्द्रवर्मन् सप्तम का बड़ा हाथ था और उसने स्वयं महायान मत के ग्रन्थों का गूढ़ रूप से अध्ययन किया था। चम्पा में बौद्ध स्तूप के कोई अवशेष नहीं मिले हैं।

चम्पा के धार्मिक जीवन में उदारता और सद्भाव की भावनाओं ने समस्त धार्मिक प्रवृत्तियों को यथाक्रम स्थान दिया। वहां के सम्राटों ने भी इसके अन्तर्गत खुले हृदय से विभिन्न धर्मों के लिए दान दिया तथा मन्दिरों की स्थापना की। प्रकाश-धर्म ने शिवलिंग की स्थापना की, विष्णु के मन्दिर का निर्माण किया।[९०] इन्द्रवर्मन् की शिव और लोकेश्वर की उपासना का वर्णन एक ही लेख में मिला है।[९१] विष्णु और शंकर का सम्मिश्रण भी नारायण के रूप में हो चुका था। लोगों का कर्म और पुनर्जन्म में पूर्णतया विश्वास था और जैसा कि इन्द्रवर्मन् का विचार था, राजकीय पद को प्राप्त करना उसके पूर्व जन्म के तप के कारण हुआ। कर्म के फल को लेकर स्वर्ग और नरक की भावना ने चमों को प्रभावित कर लिया था। रौद्र, महारौरव और अवीर्य (नं० ३३) के नाम से नरक की यातनाएँ पूर्ण रूप से विदित थीं। युगों में कलियुग का प्रवेश हो चुका था और इसी लिए कलियुग के प्रभाव से बचने के लिए सदाचार के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक था। विभिन्न विचारधाराओं के साथ-साथ राजकीय धर्म शैवमत था और इसी लिए ९० प्रतिशत चम लेखों में शिव के प्रति दिये गये दानों तथा मन्दिर-स्थापना का उल्लेख है। शिव की शक्ति की उपासना भी अनिवार्य थी। कौठारेश्वरी देवी प्रमुख शक्ति की प्रतीक थी। इन दोनों की मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण तथा पुनर्निमाण हुआ तथा विदेशी लुटेरों ने भी इनको चम्पा से लूटकर ले जाना ही अपना ध्येय समझा। चम्पा के मन्दिर और विहार पूर्णतया सम्पन्न थे और उन्हें सार्वजनिक, राजकीय तथा सभी स्रोतों से धन, भूमि, दास, दासी इत्यादि का दान मिलता था और वे राजनीतिक अस्थिरता के समय में भी अपना धार्मिक कृत्य सुचारु रूप से करते रहे।

९०. **मजुमदार, चम्पा, लेख नं० १०, १२, ११।**

९१. **यही, नं० ३१ (अ), पद २०। नं० ३१ व पद ४।**

अध्याय ८

कला

चम्पा के मन्दिर जावा के बोरोबुदूर अथवा कम्बुज के अंकोरवाट की तरह विशाल नहीं हैं। उनमें शिल्पकला की बारीकी भी नहीं है, पर उनकी बनावट अपने ही ढंग पर हुई। हां, कला की प्रेरणा धर्म से ही मिली और उसके प्रसरण में वहां के राजाओं का ही हाथ था। यह सार्वजनिक न होकर राजकीय ही थी। इसी लिए मन्दिरों का निर्माण केवल राजधानियों अथवा केन्द्रीय स्थानों में ही हुआ और राजनीतिक परिस्थिति का कला के उतार-चढ़ाव में बड़ा हाथ रहा। इसका प्रसरण भी उत्तर से दक्षिण की ओर हुआ और क्रमशः माइ-सोन, डोंग-डुओंग और पो नगर में मन्दिर बनाये गये। यह बात सच है कि प्रारम्भिक मन्दिरों के निर्माण में भारतीय प्रभाव अधिक है। धीरे-धीरे चमों ने अपनी बुद्धि तथा कुशलता का परिचय इन मन्दिरों के निर्माण में दिया। परिपाटी एक ही थी, पर समय-समय पर विकास होना स्वाभाविक था। इसी लिए प्रारम्भिक काल के मन्दिर कई शताब्दी बाद के मन्दिरों से बाहरी स्वरूप में भिन्न प्रतीत होते हैं। मन्दिरों के निर्माण में केवल ईंटों का ही प्रयोग हुआ है। द्वार तथा कोने पर पत्थर काम में लाया गया है। लकड़ी का भी प्रयोग होता था। मन्दिरों का मुख्य द्वार अधिकतर पूर्व की ओर है तथा वे ऊँची मेढी पर बने हैं।

मन्दिरों का सूक्ष्म परिचय

देवस्थान के, जो चम्पा में 'कलन' के नाम से प्रसिद्ध है, बीच में देवता की मूर्ति का स्थान है। साधारण रूप से मन्दिर घनाकार हैं, पर उनकी ऊँचाई, लम्बाई-चौड़ाई से अधिक है। लम्बाकार भाग में, जिससे ऊंचाई का संकेत है, तीन दिशाओं में चार पाइलस्टर या नक्काशी किये चौकोर खम्भे बने हुए हैं। इनके बीच में नकली आले या पोर्च (ड्योढी) हैं और ईंटों पर खोदकर मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। छत के ऊपर का भाग शुण्डाकार (पिरामिडल) है और तीन मंजिल ऊँचा है, जिसमें ऊपर के भाग क्रमशः नीचे से छोटे होते जाते हैं और उनमें नीचे के बाहरी भाग का रूप

प्रत्यक मंजिल में छोटा होता चलता है। ऊपर का शिखर लौ अथवा कमल की तरह है। मन्दिर के बाहरी भाग को अलंकृत करने के लिए मकर, तोरण, हंस, जिनके पंख फैले हुए हैं, तथा अप्सराएँ प्रदर्शित की गयी हैं। ये अलंकृत विभूतियां भूरे पत्थर की बनी हैं और मन्दिर की लाल ईंटों से पूर्णतया भिन्न हैं। मन्दिर का आन्तरिक भाग साधारण है। यह चौकोर स्थान है और इसकी दीवारें सीधी हैं, किन्तु इन पर चिकनी पालिश की हुई है।

अन्दर की छत के ऊपर एक सूच्याकार (कोनिकल) गुम्बज है। इस गर्भगृह में केवल एक ही द्वार है जो पूर्व की ओर है और तीन ओर आले हैं जिन पर प्रदीप रखा जाता था। द्वार के आगे एक वन्द ओसारा है जिसके अ गे एक बड़ा द्वार है जिसके बाजू और सोहवटी पत्थर के हैं और उसके ऊपर ईंटों अथवा पत्थर का बना एक दिलहा (टिमपानम) है, इन पर शिल्पकला के सुन्दर चित्र खुदे हुए हैं। गर्भगृह अथवा देवस्थान तथा ओसारा एक ही नींव पर बने हैं पर बाहरी द्वार पर चढ़ने के लिए सोपान हैं। द्वार के नीचे का भाग तथा ऊपर की कार्निस पर सुन्दरता से हारों की वेल पत्थर पर काटकर बनायी गयी है। दो कार्निसों के मिलने के स्थान पर पत्थर को रखकर मजबूती कर दी गयी है जिसको सुन्दरता के साथ मकर अथवा अप्सरा का रूप दिया गया है। कार्निस के चारों किनारों पर चार छोटी-छोटी वुर्जियां हैं जो मन्दिर का सूक्ष्म रूप हैं और ऊपर चलकर ये क्रमशः छोटी होती जाती हैं। इनमें नकली द्वारों के स्थान पर आले बने हैं और दीवारों पर खड़े बल के नक्काशीदार चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) अब चार से तीन हो जाते हैं। एक दूसरे खम्भे के बीच में चित्र खुदे हुए पत्थर लगे हैं। तीसरी मंजिल से इन खम्भों की संख्या दो और कभी नहीं भी रहती है और किनारे पर बुर्ज भी नहीं हैं। मन्दिर के ऊपर के शिखर लौ अथवा कमल के अतिरिक्त आमलक का रूप भी लेते हैं जैसा उड़ीसा के मन्दिरों में देखने को मिलता है। इन मन्दिरों का वृत्तान्त सूक्ष्म रूप से देने के पश्चात् विभिन्न केन्द्र और उनके मन्दिरों की तिथि तथा विकास पर विचार करना आवश्यक है।

कलात्मक रूप से मन्दिरों का विभाजन

पामोतिये[१] तथा स्टर्न[२] ने चम्पा के मन्दिरों को बनावट में विकास के आधार

१. 'आवांटेर डेस्क्रपतिव डेस मानूमेंट्स चम स डो लों नम' (अनम के चम

पर कई श्रेणियों में बाँटा है। एक स्थान पर भी समय-समय पर मन्दिर बनाये गये जिनका प्रमाण उन मन्दिरों पर अंकित लेखों से मिलता है। केवल माइ-सोन में ही कई श्रेणी के मन्दिर मिले हैं और एक ही श्रेणी के कई मन्दिर हैं। इन मन्दिरों का निर्माण अपने ढंग पर हुआ और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे एक दूसरे से मिले भी नहीं हैं और न किसी मन्दिर को बढ़ाने का ही प्रयास किया गया। प्रत्येक मन्दिर का व्यक्तिगत स्वरूप आगे चलकर नहीं बदला और न उसमें किसी प्रकार का उलट-फेर ही किया गया। पामांतिये के मतानुसार कला और बनावट तथा लेखों के आधार पर चम्पा के मन्दिरों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।[३] प्रथम श्रेणी में प्रारम्भिक मौलिक कला के मन्दिर हैं जो सातवीं से दसवीं शताब्दी के हैं और जिनमें कलात्मक नवीनता और वास्तविक प्रेरणा प्रतीत होती है। इस श्रेणी में माइ-सोन का अ १ (७वीं शताब्दी के आरंभ का मंदिर) तथा पो-नगर के फ और अ (८१३ और ८१७ ई०) मन्दिर रखे गये हैं। दूसरी श्रेणी के मन्दिर सातवीं और नवीं शताब्दी के बीच में बने। इनकी छत नीची है जिससे ये घनाकार प्रतीत होते हैं, जैसा कि होअ-लाई का मन्दिर है और इस श्रेणी में माइ-सोन का ई० मन्दिर (आठवीं शताब्दी का आरम्भ), पो नगर ई० (९वीं शताब्दी का तीसरा भाग) तथा डोंग-डुओंग का सबसे प्राचीन भाग है। तृतीय श्रेणी में सम्मिश्रित कला है (१० वीं शताब्दी), डोंग-डुओंग का अ मन्दिर इसी का प्रतीक है। इसमें उपर्युक्त दोनों कलाओं का मिश्रण है। ११वीं शताब्दी की शास्त्रीय कला में केवल माइ-सोन ई० ४ मन्दिर रखा गया है और उसमें स्थापत्य कला के सिद्धान्तों का पालन किया गया है। मन्दिरों के ऊपर का भाग शुण्डाकार रूप में १०वीं से १४वीं शताब्दी में बनाया गया और इसमें बंग-अन मन्दिर (९०० ई० लगभग), पो-नगर मन्दिर (११४५ ई०) तथा यञ ओञ मन्दिर (१४वीं शताब्दी का आरम्भ) रखे गये है।

प्राचीन स्थानों की वृत्तान्त सहित सूची), पेरिस १९०९, १९१८ इसी ग्रन्थ के आधार पर डा० मजुमदार ने अपने ग्रन्थ 'चम्पा' में कला का अध्याय लिखा। पांमातिये के विचार इसी पुस्तक से उद्धृत हैं। देखिए मजुमदार, चम्पा, पृ० २३५ से।

२. आर्ट डु चम्पा (चम्पा की कला), पृ० ४ से।

३. मजुमदार, चम्पा, पृ० २५७ से।

उद्भूत (डिराइव्ड) कला (१२, १७वीं शताब्दी) के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से मन्दिरों का निर्माण हुआ और कलासिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं हुआ है। इनमें माइ-सोन का (ब,१।१११४ ई०, माइ-सोन ग, ११५७ ई० पो),क्लों-गरै (१४वीं शताब्दी) और पो-रोम (१७वीं शताब्दी का मध्य भाग) के मन्दिर हैं। इन ६ श्रेणियों के मन्दिरों में प्रथम तीन को मौलिक तथा प्रधान और अन्तिम तीन को सहायक माना गया है। ऐसा पामांतिये का मत है।

स्टर्न के मतानुसार[४] चम्पा के मन्दिरों को जिन श्रेणियों में रखा जा सकता है वे क्रमशः प्राचीन पद्धति, होअ-लाई, डोंग-डुओंग, माइ-सोन, माइ-सोन और विन-डिन्ह के मध्य के युग, विन-डिन्ह तथा अन्तिम युग की हैं। ये श्रेणियां केवल स्थानों के आधार पर हैं। इन दोनों फ्रांसीसी विद्वानों ने लेखों के आधार पर मन्दिरों की तिथि निर्धारित की और फिर मन्दिरों की बनावट, सजावट तथा ऊपरी स्वरूप को ध्यान में रखकर उनमें समानता और विभिन्नता दिखाने का प्रयास किया है। मैंडेलाइन हलाड[५] ने भी अपने ग्रन्थ में विस्तृत रूप से इस विषय का अध्ययन किया है तथा स्थापत्य कला के विभिन्न अंगों द्वारा इससे सम्बन्धित चौकोर खम्भे (पाइलस्टर), तीनों ओर के नकली द्वार, उनकी मेहराबें (आरकेडिंग), ऊपर की कार्निस, सुहावटी अथवा फलक, किनारे के मकर-मुख, मन्दिर के ऊपरी भाग का रूप, छोटी मेहराबें, किनारे के बुर्ज, अलंकृत विभूतियाँ, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, गरुड, मकर इत्यादि का विस्तृत रूप से वृत्तान्त दिया है। शिल्पकला का चित्रण उन मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित है जो सुहावटी, फलकों-दिलहों, मन्दिरों के किनारों, मेहराबों तथा आलों में बैठायी गयी हैं। मन्दिरों में बहुत सी मूर्तियां भी मिलीं जो पत्थर पर खुदी हुई हैं तथा अलग से भी रखी हैं। इस अध्याय में ऐतिहासिक क्रम से पहले प्रमुख स्थानों के मन्दिर तथा उनकी विशेषता और फिर शिल्पकला पर विचार किया जायगा।

माइ-सोन के प्राचीन मन्दिर

माइ-सोन के मन्दिर टूरेन से २१ मील दक्षिण, दक्षिण-पूर्व य देवो ले की घाटी में

४. आ० च०, पृ० ४। स्टर्न ने स्थापत्य कला के विकास पर ही अपने विचार विस्तृत रूप से प्रकट किये हैं। पृ० १३ से।

५. आर्ट्स डु ल एशिया ओसियन २, ल एशिया डु सुद-ईस्ट (एशिया की प्राचीन कला, भाग २)। दक्षिण-पूर्वी एशिया। पेरिस १९२४, पृ० ६८ से।

हैं।[६] एक मील के घेरे में यहां बहुत-से मन्दिर अलग-अलग समय में बनाये गये। ये सब शैव मत से सम्बन्धित हैं। अ १ तथा अन्य मन्दिरों में स्नानद्रोणी तथा अ १० और ई १ में बड़े लिंग पाये गये। अ१, ब४, फ१ तथा अ४, ब१ और कदाचित् स१ में भी शिव की मूर्तियाँ मिलीं। इनके अतिरिक्त गणेश और स्कन्द की भी मूर्तियाँ क्रमशः ब३ ई५, तथा ब३ के सम्मुख मिलीं। अ स्थान के अवशेषों में ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ मिलीं जो मन्दिरों के फलकों पर शिल्पकला की सुन्दर प्रतीक हैं।

पामांतिये के मतानुसार[७] प्राप्त लेखों के आधार पर मन्दिरों की तिथि को निर्धारित किया जा सकता है। शंभुवर्मन् की कला (६-७ शताब्दी) से सम्बन्धित मंदिरों में अ१, अ२-७, ब३, ब५, ब७-९, ब११-१३, स१-५, द१, द४, द६, ई१ हैं। प्रकाशधर्म, विक्रान्तवर्मन् के मन्दिरों (७-१०वीं शताब्दी) की कला के मन्दिरों में पूर्वार्धकालीन अ ८-१३, अ१, ब४ तथा फ१ हैं, और उत्तरार्ध युग में स७, अ२, स६, ई७ तथा फ३ हैं। हरिवर्मन् (११वीं शताब्दी) की कला के अन्तर्गत द २, ई ४ तथा ई ८ हैं तथा १२वीं शताब्दी के जयहरिवर्मन् की कला के आधार पर ब १, ब २, द ५ तथा ग, ह, क और ल मन्दिर हैं। माइ-सोन के प्राचीन मन्दिरों में अ १ तथा उसी के सहायक अ २-अ ७ के मन्दिर हैं। ये सब मन्दिर एक मेढ़ी पर बने हैं और जिस अहाते में वे हैं उसके चारों ओर ईंटों की दीवारें हैं। प्रवेश करने के लिए पश्चिम की ओर विशाल फाटक है जिसमें दो ओर प्रवेशद्वार और ऊपर चढ़ने के लिए नीचे से दोहरी सीढ़ियां हैं। अहाते के अन्दर विभिन्न कला परिपाटी के तथा बाद के समय के अन्य सहायक मन्दिर हैं, जिनमें अ १० उत्तर की ओर तथा अ ११, १२, १३ क्रमशः पश्चिम और पूर्व की ओर हैं। अ१ तथा उसके सहायक मन्दिर अ २-७ तक एक क्रास के रूप में फैले हुए हैं। ये ६॥ फुट ऊँचाई की मेढ़ी पर बने हैं और इनमें पहुंचने के लिए पश्चिम की ओर से ज़ीना लगा है। मन्दिर की दीवारों में बाहर की ओर निकले चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) हैं और अलंकृत करने

६. पामांतिये, आई० सी० १, अध्याय ७, पृ० ३३७-४३८। मजुमदार, 'चम्पा', पृ० २४० से। स्टर्न, चित्र नं० १३-१६, जिसमें माइ-सोन के विभिन्न मन्दिरों का स्थान, निर्माण और उनकी बनावट दी गयी है।

७. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० २४७।

के लिए बेल-बूटों का प्रयोग किया गया है। किनारे की दीवारों के नकली द्वार बाहर की ओर बढ़े हुए दिखाये गये हैं। ऊपरी भाग में मन्दिर का छोटा नमूना है और नीचे तीन आलों में मूर्तियां हैं। ऊपर शिखर तक पहुँचने के लिए तीन मचान हैं जो क्रमशः छोटे होते गये हैं और एक दूसरे के बीच में कार्निस की कई तहें तथा बीच में मन्दिर का छोटा आकार है। इस मन्दिर में किनारे पर बुर्जियां नहीं हैं। दीवारों में चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) बाहर निकले दिखाये गये हैं। पहले मचान में बाहर की ओर एक असुर का मुख प्रदर्शित है तथा किनारे पर मकर है।

माइ-सोन के अन्य सहायक मन्दिर २-७ अलग-अलग धरातल पर बने हैं। इनका आकार भी अ १ की तरह है, पर अ ६ में शुण्डाकार छतें नहीं हैं। ब वर्ग के मन्दिरों में ब १ पत्थर का बना है, पर इसकी बनावट सुन्दर ढंग से नहीं की गयी है। ब ५ मन्दिर इस वर्ग के अन्य मन्दिरों से भिन्न है। यह केवल दो मंजिल ऊंचा है और कदाचित् यह अ १ के समय का है। ई वर्ग के मन्दिरों में ई १ माइ-सोन के अन्य मन्दिरों से भिन्न है। इसका गुंवज ईंटों का नहीं है क्योंकि दीवारें बहुत पतली हैं और इसकी छत टाइलों की वनी है। मन्दिर का अन्दर का भाग चौकोर है और चार कोनों पर लकड़ी के खम्भे हैं। इस वर्ग के अन्य मन्दिरों की भाँति इसका द्वार पश्चिम की ओर है। बीच में लिंग रखने के लिए पत्थर की एक बैठकी (जलहरी) है जिस पर शिल्पकला के सुन्दर नमूने खुदे हुए हैं। ई वर्ग के अन्य सहायक मन्दिर भी समय-समय पर बने और इन सबको घेरने के लिए एक दीवार बनायी गयी तथा दक्षिणी भाग में प्रवेशद्वार है। केवल ई ५ का द्वार पूर्व की ओर है। माइ-सोन के अन्य वर्ग के मन्दिरों में कोई विशेषता नहीं है और इसलिए उनका विवरण देना अनावश्यक है।

डोंग-डुओंग के मन्दिर[८]

यह मन्दिर माइ-सोन के दक्षिण-पूर्व में १२-१३ मील की दूरी पर क्वंग-नम प्रान्त में स्थित है, जो चम्पा के प्राचीन इतिहास में अमरावती के नाम से प्रसिद्ध था। ३२८ गज लम्बे और १६४ गज चौड़े वर्गाकार क्षेत्र में यह मन्दिर है और एक नीची ईंटों की दीवार से इसे घेरा गया है जिसके पूर्वी भाग में प्रवेश-द्वार है।

८. पामांतिये, आई० सी० १, अध्याय ८, पृ० ३३१-४३८। मजुमदार, चम्पा, पृ० २४८ से। स्टर्न, पृ० १६।

यहां से इन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक सं० ७९७ (८७५ ई०) के प्राप्त लेख में[९] एक बौद्ध मन्दिर और लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर के अर्पित विहार की स्थापना का उल्लेख है। उसकी विधवा रानी हरदेवी राजकुल ने यहाँ पर बहुत-से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं।[१०] यहाँ की इमारतें विभिन्न काल में बनवायी गयीं। मुख्य मन्दिर चम्पा के अन्य मन्दिरों की भाँति है। बाहरी दीवारों में नकली द्वार अन्य मन्दिरों की अपेक्षा अधिक बाहर की ओर बढ़े हुए हैं। इन द्वारों को चौकोर खम्भों (पाइल-स्टर) से अलंकृत किया गया है और इनमें सुन्दर मूर्तियाँ बैठायी गयी हैं। मन्दिर के अन्दर के आले काफी बड़े हैं। प्रवेश का द्वार पूर्व में है जिसके नीचे सोपान हैं, पर पश्चिमी नकली द्वार के नीचे भी सीढियाँ हैं। मन्दिर के आगे सहन की दीवारों में भी अलंकृत ईंटों के स्तम्भ हैं। मुख्य मन्दिर के चारों ओर चार अन्य सहायक मन्दिर भी हैं जो एक ही सतह पर बने हैं। डोंग-डुओंग में तीन सहन हैं। यहाँ के मन्दिरों की विशेषता मेंहराब[११] में अलंकृत पुष्प हैं और इसकी आकृति शंकु के समान (कोनिकल) है।

पो-नगर के मन्दिर[१२]

खन-होअ के चू लाओ गाँव में प्राचीन पो-नगर के मन्दिरों के अवशेष हैं। यह मन्दिर उत्तर से दक्षिण की ओर दो पंक्तियों में एक पहाड़ी पर स्थित है। सामने की पंक्ति में प्रधान मन्दिर है और उसके दक्षिण में व और स। पीछे की पक्ति में फ, ई और द मन्दिर है। उनके अतिरिक्त कुछ अन्य इमारतों के अवशेष भी हैं। प्रधान मन्दिर अब भी अच्छी दशा में है। पहले यह मंदिर लकड़ी का रहा होगा और इसमें मुख्य लिंग स्थापित था तथा इसका सम्बन्ध विचित्र सागर से था। विदेशियों ने इसे ७७४ ई० में जला दिया और दस वर्ष बाद सत्यवर्मा ने एक नये मन्दिर का निर्माण किया और उसमें नये मुख्य लिंग के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी स्थापित कीं।[१३] मुख्य मन्दिर का निर्माण ८१७ ई०

९. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ३१, पृ० ७४ से।
१०. यही, नं० ३६, पृ० ९८ से।
११. स्टर्न, पृ० १७। हलाड, पृ० ७१।
१२. पामांतिये १, पृ० १११-१३२। मजुमदार, चम्पा, पृ० २५१ से।
१३. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २२, पृ० ४१ से।

तक अवश्य हो गया होगा क्योंकि शक सं० ७३९ (८१७ ई०) का दूसरा लेख[१४] इसी के द्वार पर अंकित मिला। इसमें सेनापति पार द्वारा भगवती की एक पत्थर की मूर्ति की स्थापना तथा षण्ढक लिंग, गणेश (विनायक) तथा श्री मलदाकुठार नामक एक स्थानीय देवता के लिए तीन मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। यह कहना कठिन है कि किन मन्दिरों के निर्माण का इन लेखों से सम्बन्ध है।

मुख्य मन्दिर अ. १ बिल्कुल साधारण है, किन्तु यह अच्छी दशा में है और चम्पा के प्राचीन मन्दिरों का एक सुन्दर उदाहरण है। बाहर का भाग बहुत ही साधारण है तथा दिखावटी नकली द्वार का आकार नुकीली कमानीदार मेहराब की तरह है जिसके ऊपर छोटी मेहराब बनी है, तथा बीच में मुकुट पहने एक मनुष्य अपने हाथ छाती पर रखे दिखाया गया है। ऊपर की छत और शिखर के बीच में चार अंग हैं। इनमें बीच के आले नकली द्वार का छोटा रूप लिये हुए हैं। मन्दिर के आन्तरिक भाग में शुण्डाकार गुंबज है। मन्दिर में उमा की एक सुन्दर मूर्ति है। पो-नगर का मन्दिर कुछ बातों में दूसरों से भिन्न है। इसके नकली द्वारों की बनावट अन्य मन्दिरों के वैसे द्वारों की भाँति नहीं है। इसके ऊपर नुकीली कमानी के आकार की मेहराब हैं जो ऊपर की ओर क्रमशः छोटी होती जाती हैं। इसकी छत में भी कई परतें नहीं हैं, यह एक शुण्डाकार गुम्बज का रूप लिये हुए है। यहाँ के फ मन्दिर में नकली द्वारों के स्थान पर शिल्प कला के प्रतीक मिलते हैं।

अन्य स्थानों के मन्दिर

होअ-लाई फन-रंग से उत्तर में न्होन सोन के गाँव में ये मन्दिर मिले हैं जो अधिकतर खंडहर के रूप में हैं। ये स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक प्रतीत होते हैं। स्टर्न के मतानुसार[१५] होअ-लाई के मन्दिरों के चौकोर खम्भों तथा मेहराबों की नक्काशी उच्च श्रेणी की कला की द्योतक है। बड़ी और छोटी मेहराबों को सुन्दरता से पेड़ की डाल और उससे निकली शाखाओं के रूप में अलंकृत किया गया है। मन्दिर की दीवारें बिल्कुल सीधी नहीं हैं, पर बाहर की ओर झुकी मालूम पड़ती हैं। मन्दिर का ओसारा भी आगे को बढ़ा है और इसमें नकली द्वार बने हुए हैं।

१४. यही, नं० २६, पृ० ६३ से।
१५. यही, पृ० ४८।

पो-हे मन्दिर[१६]

फनतिएट के निकट थिएन-छन नामक गाँव के पास पहाड़ी पर एक अन्य श्रेणी के तीन मन्दिर हैं। इन तीनों मन्दिरों का द्वार पूर्व की ओर है। मुख्य मन्दिर ऊँची सतह पर है और इसके उत्तर-पूर्व में एक अन्य मन्दिर के अवशेष हैं। इससे नीचे उत्तर की ओर तीसरा मन्दिर है। मुख्य मन्दिर में किनारे पर बुर्जियां नहीं हैं और न कार्निस की जोड़ों पर पत्थर का प्रयोग है। इस मन्दिर का द्वार कम्बुज के मन्दिरों से बहुत मिलता है। फरग्यूसन ने इस प्रकार के मन्दिर की समानता धम्मेक स्तूप से की है।[१७]

पो-दम मन्दिर

फनरी नगर के निकट फु-दिएन गाँव से दो मील उत्तर में एक पहाड़ी पर ६ मन्दिर मिले हैं। इनमें मुख्य मन्दिर में बड़ी कारीगरी की हुई है। एक छोटे मन्दिर की ऊपरी मंजिल की छतें झुकावदार (कर्वड) हैं और उसकी समानता बोरोबुदूर के छोटे जावानी मन्दिरों से की जाती है।[१८]

पो-रोम मन्दिर[१९]

इस वर्ग का मन्दिर, जिसमें एक मुख्य तथा उसके साथ में एक और इमारत है, विन्ह-थुअन के हाऊ-शन्ह गाँव में एक चट्टान पर स्थित है। मन्दिर बहुत ही साधारण है। इसके कोने के बुर्ज शुण्डाकार हैं। हलाड के अनुसार[२०] यह चम्पा का सबसे बाद का मन्दिर है जिसका निर्माण १७वीं शताब्दी में हुआ होगा। इसके द्वार पर अंकित लेखों से इसकी पुष्टि होती है। सहायक इमारत में कुछ चित्रकला के चिह्न भी मिले हैं।

१६. पामांतिये १, पृ० २९, चित्र १-३। मजुमदार, चम्पा, पृ० २५४।
१७. हिस्ट्री आफ इंडियन एन्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, भाग १, पृ० ७२, चित्र १६
१८. पामांतिये १, पृ० ५० से चित्र ६-७। मजुमदार, 'चम्पा,' पृ० २५५।
१९. पामांतिये, यही, पृ० ६१ से, चित्र ८-१०। मजुमदार, यही।
२०. पृ० ४-५।

पो-क्लोंग-गराई[२१]

यहाँ का मुख्य मंदिर, जहाँ से फनरंग का अच्छा दृश्य दिखाई पड़ता है, बड़ी अच्छी दशा में है और लेखों के आधार पर[२२] उसका निर्माण काल जयसिंहवर्मन् चतुर्थ (१२८७-१३०७) के समय में रखा जाता है। इस मन्दिर के द्वार तथा नकली द्वार मन्दिर की दीवारों में नहीं बने हुए हैं, वरन् वे आगे निकले हुए बनाये गये हैं। मन्दिर ऊँची मेढ़ी पर बना है। द्वार के ऊपर कमानीदार मेहराब है जो क्रमशः दूसरी और तीसरी मंजिल में छोटी होती जाती है। प्रत्येक मंजिल के किनारे पर बुर्ज बने हुए हैं।

अन्य मन्दिर

चम्पा में हुंग-थन कुई-न्होन से दो मील की दूरी पर डुओंग-लोंग में भी कुछ मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें प्रथम श्रेणी के मन्दिर की छतें शुण्डाकार हैं और समानान्तर रूप से नीचे से ऊपर छोटी होती जाती हैं।[२३] डुओंग-लोंग के मन्दिरों में नकली द्वारों के ऊपरी भाग में शिल्पकला का सुन्दर चित्रण है। छत के किनारों पर बुर्ज नहीं हैं और ऊपरी भाग उलटे कमल की भाँति है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मन्दिर भी हैं जिनमें शिल्पकला अथवा बनावट के कारण कुछ विशेषताएँ हैं।

स्थापत्य कला में मन्दिरों के अतिरिक्त गुफाएँ तथा गढ़-निर्माण भी उस देश की कारीगरी के प्रतीक हैं।[२४] गुफाओं में बहुत-से लेख अंकित मिले हैं। फोंग-न्ह की गुफाएं बहुत बड़ी हैं। प्रवेश-द्वार से १३०० गज तक एक लम्बी सुरंग है और थोड़ी गहराई तक इसमें पानी है। यहाँ पर ३२५ गज लम्बी एक और सुरंग है। यहाँ पर कुछ छोटी मूर्तियाँ तथा बुद्ध की एक प्रतिमा मिली, जिसपर 'सारि-पुत्र' लिखा था। इससे यह प्रतीत होता है कि यह बौद्ध भिक्षुओं का स्थान रहा होगा। चम्पा के राज-प्रासादों के अवशेष नहीं मिले हैं, यद्यपि चीनी स्रोतों से

२१. पामांतिये, भाग १, पृ० ८१ से, चित्र ११-१४। मजुमदार, पृ० २५५।
२२. मजुमदार, 'चम्पा', लेख नं० १११-११५, पृ० २२० से।
२३. यही, पृ० २५६।
२४. मजुमदार, 'चम्पा', पृ० २५९।

ज्ञात होता है कि वे बड़े और ऊँचे थे। नगर के बचाव के लिए बनायी गयी दीवारों के अवशेष अवश्य मिले हैं। ९-१० फुट ऊँचाई की मिट्टी और पत्थरों की बनी भीत मिलती है।

शिल्पकला

यद्यपि चम स्थापत्य-कला को पूर्णतया भारतीय मानना कठिन है, क्योंकि कुछ विद्वान् इसे स्थानीय कला का ही प्रतीक मानते हैं, पर चम्पा के मन्दिरों की शिल्पकला तथा स्वतंत्र रूप से निर्मित मूर्तियों के विषय, भावप्रदर्शन, मुद्रा तथा बनावट में पूर्णतया भारतीयपन प्रतीत होता है। चम कलाकारों ने स्वतंत्र रूप से अथवा भारतीय कलाकारों के सहयोग से इसमें प्रगति दिखायी। कालानुसार स्टर्न ने चम शिल्पकला को स्थापत्य-कला की भाँति तीन भागों में बाँटा है—[२५] डोंग-डुओंग कला, विन-दिन्ह कला तथा बाद की शिल्पकला। यहाँ पर विभिन्न काल की शिल्पकलाओं का वस्तुतः वृत्तान्त देने की अपेक्षा कला के विभिन्न अंगों—देवी, देवता तथा मनुष्यों के आकार, पशुओं की मूर्तियों तथा अलंकृत साधनों के क्रमिक उतार-चढ़ाव तथा पुनः उतार पर प्रकाश डालना स्वाभाविक तथा सरल होगा। चम्पा की मूर्तियाँ या तो मन्दिरों में लगी हुई हैं अथवा अलग से बनी हैं, जिनमें देवी-देवता, द्वारपाल, सम्राट्, सम्राज्ञी की मूर्तियाँ सम्मिलित हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियों में शिव, विष्णु, इन्द्र, विनायक, स्कन्द, सूर्य, उमा, लक्ष्मी इत्यादि की मूर्तियाँ मिली हैं और इनका उल्लेख धर्म के अध्याय में पहले ही हो चुका है। यहाँ पर केवल चुनी हुई कुछ मूर्तियों का कला तथा प्रतिमा-लक्षण के आधार पर संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। इस सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि प्रारम्भिक चम शिल्पकला में वह लावण्य, मुसकान और सौम्यता है जो भारतीय मूर्तियों में पायी जाती है। बाद की मूर्तियों के मुख भारी हैं, शरीर स्थूल है और चेहरे पर मुसकान के स्थान पर हिंसात्मक अथवा गम्भीर भावना दिखाई पड़ती है। सिंह, गज, मकर तथा अन्य पशुओं का भयानक स्वरूप है। द्वारपाल भी इसी रूप में दिखाये गये हैं। कला में नृत्य को भी स्थान मिला है और कई स्थानों पर नृत्य

२५. 'चम्पा', पृ० ७३। डा० मजुमदार ने चम्पा की शिल्पकला को तीन भागों में रखा है; मानवीय प्रतिमाएं, पशु तथा अलंकृत विषय, पृ० २६३।

करती हुई अप्सराएँ और वीणा बजाते व्यक्ति दिखाये गये हैं। ये आरम्भिक काल के हैं। कलात्मक दृष्टि से कुछ सुन्दर मूर्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है।

शिव

शिव की दो खड़ी मूर्तियाँ माइ-सोन के अ ४ और स में मिलीं जो एक-दूसरे से बहुत मिलती हैं। ऊपर का भाग क्रम रूप से संतुलित है और चेहरे पर प्रसन्नता का भाव है। विन-दिन्ह कला के अन्तर्गत क्षप मम वाली शिव की नृत्य करती मूर्ति बड़ी सुन्दर है। एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरा हाथ टूटा हुआ है। बायाँ पैर नृत्य भाव में उठा हुआ है। पैरों में नूपुर हैं, बांह में कुंडल तथा कंगन और वक्षस्थल पर माला है। वे कानों में कुंडल पहने हुए हैं। शीश पर शंकु-आकार (कानिकल) का मुकुट है जो मालाओं से अलंकृत है।[२६] दूसरी मूर्ति बिन्ह-दिन्ह से प्राप्त हुई और इस समय पेरिस के संग्रहालय म्यूज़े गिमेह में है।[२७] इसमें शिव पद्मासन अवस्था में एक पत्थर के पीढ़े पर बैठे दिखाये गये हैं। वे ध्यानावस्था में हैं और तीसरा नेत्र भी दिखाया गया है। उनके आभूषित शरीर पर कुंडल, कटिसूत्र, कंगन के अतिरिक्त सर्प भी प्रदर्शित है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है। शिव के मुख पर मुसकान है और नेत्रों से प्रतीत होता है कि वे ध्यान-मग्न हैं। मुकुट पर चन्द्रमा भी अंकित है।

विष्णु

विष्णु के शेषनाग की शैया पर शयन करने का दृश्य माइ-सोन के ई १ में मन्दिर के बाहरी भाग पर सुहावटी पर अंकित है। विष्णु की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा बैठे हैं। इस दृश्य में लक्ष्मी नहीं हैं पर दोनों किनारों पर अर्ध-मनुष्य के रूप में गरुड़ अपने दोनों हाथों में सर्प पकड़े दिखाये गये हैं। ब्रह्मा पद्मासन पर बैठे हैं।[२८] टूरेन के संग्रहालय वाली विष्णु की मूर्ति भी उल्लेखनीय है।[२९] इसमें ऊपर का

२६. स्टर्न, चित्र ६२ (ब)।
२७. यही, नं० ५९।
२८. 'चम्पा', चित्र नं० २२ (स)।
२९. यही, नं० ५३ (अ)।

भाग बड़ा ही साधारण है। नीचे का भाग एक प्रकार की धोती से ढका है और कमर में फेंटे के अतिरिक्त करधनी भी दिखायी गयी है। शीश-मुकुट साधारण है। माला की कई पंक्तियों के स्थान पर मुकुट आमलक-आकार का है। विष्णु के मुख पर गम्भीरता का आभास है। उनके छोटी पतली मूछें भी हैं तथा भवें कमानदार और जुड़ी हुई हैं। पामांतिये के अनुसार यह मूर्ति हो-लाई शिल्पकला परिपाटी की प्रतीक है।

अन्य देवता

अन्य देवताओं की कुछ मूर्तियाँ भी मिलीं जो कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। डोंग-डुओंग की एक मूर्ति उल्लेखनीय है।[३०] इसका दाहिना हाथ साधारण रूप से दाहिने अंग पर है और बायें में उसने कोई शस्त्र अथवा मूसल धारण किया है। धोती का फेंटा बहुत साफ दिखाई पड़ता है। ऊपरी भाग में बाहु और वक्षस्थल पर कुछ बँधा हुआ दिखाया गया है जो आभूषण नहीं प्रतीत होता है। शीशमुकुट या मौलि बहुत भारी है। इस मूर्ति का शरीर बहुत स्थूल है और मुख का आकार चौड़ी-चपटी नाक वाला है। स्टर्न ने इसे कोई देवता माना है, पर लक्षणों से या तो यह द्वारपाल अथवा रक्षक प्रतीत होता है। थममम से प्राप्त एक अन्य मूर्ति किसी देवता की प्रतीत होती है।[३१] यह पद्मासन में है, इसका सिर टूटा है और यह प्रतीत होता है कि बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि इसके विभिन्न भागों का संतुलन क्रम से रहे। यह बिल्कुल त्रिकोण रूप में प्रतीत होता है। मूर्ति पूर्णतया आभूषणों से अलंकृत है और शरीर की बनावट भी बड़े ढंग से की गयी है। इसे विन्ह-दिन्ह परिपाटी के अन्तर्गत रखा गया है और कला की दृष्टि से यह बहुत सुन्दर है।

बुद्ध की मूर्ति

डोंग-डुओंग से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति साधारण है।[३२] यद्यपि बुद्ध ध्यानावस्था में

३०. यही, नं० ५५ (अ)।
३१. यही, नं० ६२ (अ)।
३२. यही, नं० ५६ (अ)।

हैं, पर वे पद्मासन मुद्रा में नहीं हैं, साधारण रूप से पैर लटकाकर बैठे हुए हैं। दोनों हाथ घुटनों पर हैं और संघाटी का कोना ऊपर दाहिने कंधे से होकर पीछे गया है। पहनावा उष्णीस और घुँघराले बाल भारतीय बुद्ध की मूर्ति की भाँति दिखाये गये हैं। पर इनकी नाक और ओष्ठ बहुत चौड़े हैं और मुख खुला हुआ है। चेहरे पर गम्भीरता का भाव नहीं है।

कुछ सुन्दर चित्र

दिलहो (टि पानम) पर शिल्पकारों ने अपनी कलात्मक बुद्धि का प्रमाण भी दिया है। जो चित्र अंकित हैं उनसे प्रतीत होता है कि किसी कथानक अथवा दृश्य को पूर्ण रूप से विस्तृत क्षेत्र में अंकित किया जा सकता था। माइ-सोन स १ मन्दिर में प्रमुख द्वार के दिलहे पर एक सुन्दर चित्र अंकित है।[३३] बीच में चौकी के आकार (पेडस्टल) में नन्दी बैठ दिखाया गया है और उसके ऊपर शिव नृत्य कर रहे हैं, पर उनका ऊपर का भाग टूटा हुआ है। घुटने झुके हैं और बायां पैर नृत्य भाव में उठा हुआ है। बायाँ हाथ भी जांघ पर है। मुख्य मूर्ति के दोनों ओर तीन व्यक्ति हैं। दाहिनी ओर सबसे निकटवाला व्यक्ति नाच रहा है तथा अन्य दो क्रमशः तबला और बांसुरी बजा रहे हैं। दूसरी ओर सबसे किनारे वाला व्यक्ति हाथ जोड़े खड़ा है और सिंहासन पर बैठी कोई देवी और उनके निकट कोई देवकुमार खड़ा है। यह कदाचित् दुर्गा या पार्वती और स्कन्द हैं। दोनों ओर पेड़ भी दिखाये गये हैं। ऊपरी भाग में देवता या अप्सरा आकाश में उड़ते हुए दिखाये गये हैं। चम कला का यह सुन्दर नमूना है।

नर्तकी और नृत्य-दृश्य

चम कला में नृत्य-दृश्य भी अच्छी तरह दिखाये गये हैं। त्र-किओ से प्राप्त एक नर्तक और नर्तकी की मूर्तियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं।[३४] दोनों ही मूर्तियों में भाव-प्रदर्शन सुन्दरता से किया गया है, पर मुद्राएँ भिन्न हैं। नर्तकी अपने नृत्य में इतनी लीन है कि उसे अपने तन की सुध-बुध नहीं रही है। मोतियों की माला से उसकी

३३. स्टर्न, चित्र नं० ५४।
३४. यही, नं० ५९ अ और ब।

कटि अलंकृत है। नर्तकी की मूर्ति इस समय टूरेन के संग्रहालय में है। माइ-सोन के ई १ मन्दिर के एक खम्भे पर सम चतुर्भुज (रामवाइड) में एक नृत्य-दृश्य में[35] बीच वाला नर्तक अपने हाथों और पैरों को एक कोने से दूसरे कोने तक फैलाये और उसका शरीर बड़ा लचीला दिखाया गया है। अन्य दो नर्तक संकुचित क्षेत्र में नृत्य अवस्था में दिखाये गये हैं। त्र-किओ से प्राप्त एक नर्तक हाथ उठाये और पैरों को मोड़े नृत्य करता दिखाया गया है।[36] वहीं से प्राप्त एक चौकी के आकार (पेडस्टल) पर तीन नर्तकियाँ नृत्य करती दिखाई गयी हैं।[37] वाद्य-वादन के चित्रों में माइ-सोन के मन्दिर स १ के शिव-नृत्य के दृश्य के अतिरिक्त, जिसमें नृत्य के साथ एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है और दूसरे के आगे दो तबले अथवा मृदंग रखे हैं, माइ-सोन के प्राचीन मन्दिर ई अ में भी एक व्यक्ति बाँसुरी बजा रहा है। उसके दोनों हाथों की उँगलियाँ बाँसुरी पर हैं।

द्वारपाल, गन्धर्व, नाग और जन्तु

चम शिल्पकला में द्वारपालों, गंधर्व, नाग तथा पशु-पक्षियों को भी यत्र तत्र प्रदर्शित किया गया है। इन सबमें हिंसात्मक तथा क्रूरता का भाव प्रदर्शित है जिससे इनसे लोग डरें। नकली द्वारों को अलंकृत करने के लिए द्वारपालों की मूर्तियाँ बैठा दी गयी हैं। पशु पक्षियों को भी स्थूल शरीर तथा हिंसात्मक भावना से प्रदर्शित किया गया है। डोंग-डुजुवांग का द्वारपाल[38] अपने स्थूल शरीर तथा चौड़े मुख और चपटी नाक के लिए उल्लेखनीय है। माइ-सोन ई ४ और थम-मम के द्वारपाल के ऊपरी धड़ में केवल स्थूल काया और क्रूर भाव की समानता मिलती है।[39] दोनों की वेषभूषा और पगड़ी भिन्न हैं। इनके मुख का आकार भी भिन्न है। गज, सिंह तथा मकर मन्दिरों के बाहरी भाग को अलंकृत करने के लिए चित्रित हैं। मकर-मुख का प्रयोग जावा की भाँति यहां पर भी हुआ है और गरुड़ तथा नागों की समानता

३५. यही, चित्र नं० ५२।
३६. हलाड, नं० ३७१, पृष्ठ ७६।
३७. हलाड, नं० ३७३।
३८. स्टर्न, चित्र नं० ५५।
३९. यही, नं० ६१ अ और ब।

ख्मेर कला के उदाहरणों से की जा सकती है। सिहों का क्रूर चेहरा कदाचित् चीनी अजगर की तरह है। हाथी मलाया तथा हिन्द-चीन के जंगलों-जैसे लिये गये हैं। गरुड़ भी ख्मेर कला पर आधारित है।

चम्पा की स्थापत्य तथा शिल्पकला पर भारतीयता की छाप गहरी लगी। विषय भारतीय थे और कलाकारों ने उन्हें मूल रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया। अमरावती तथा पल्लव कलाओं का यहाँ बड़ा प्रभाव पड़ा तथा उत्तर भारत की गुप्त-कालीन कला का प्रभाव भी यहाँ की कुछ मूर्तियों के स्वतंत्र पहनावे में प्रतीत होता है। यह सच है कि चम कलाकारों ने स्वतंत्र रूप से अपने ढंग पर स्थापत्य और शिल्प-कलाओं के क्षेत्र में प्रगति दिखायी। खम्भों की कारीगरी तथा नक्काशी, बेल-बूटे तथा मालाओं से अलंकृत करने का प्रयास और मेहराब तथा कार्निस को अलंकृत करना सरल बात न थी। ऊँचे शुण्डाकार मन्दिरों के निर्माण में उन्होंने ईंटों का प्रयोग किया और किनारों पर उन्हें पत्थरों से कसा, जिस पर मकरमुख सुन्दरता से कटे हुए हैं। मन्दिरों की छत और किनारे के बुर्ज भारतीय नहीं हैं। उनका आकार भी अपने ही ढंग का है जो समय के साथ प्रगति करते हुए पुनः अवनति की ओर अग्रसर हुआ। चम कलाकारों ने निकटवर्ती देशों के साथ सम्बन्ध द्वारा अपनी कला में उनके कुछ अंश उद्धृत किये हैं। आज भी चम देश के बचे हुए मन्दिर अपने प्राचीन कलाकारों की स्मृति दिलाने के लिए खड़े हैं। अंकोर और बोरोबुदूर की भाँति वे विशाल नहीं हैं, पर उनमें प्राचीन चमों की धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास कूट-कूटकर भरा हुआ है।

तृतीय भाग—कम्बुज

अध्याय १

भारत और हिन्दचीन

दक्षिण-पूर्व एशिया में बंगाल की खाड़ी और चीनसागर के बीच में हिन्दचीन का प्रायद्वीप ईसा की प्रथम शताब्दी से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। बरमा, स्याम, मलय देश, लाओस, कम्बुज, कोचिन-चीन तथा अनम के भग्नावशेष आज भी अपने प्राचीन गौरव के प्रतीक हैं। वर्तमान कम्बुज में, जो पहले फ्रांसीसी साम्राज्य का अंग था और अब पूर्णतया स्वतंत्र है, ईसा की पहली शताब्दी में भारत से कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने जाकर फूनान की सम्राज्ञी सोमा से विवाह कर अपना राज्य स्थापति कर लिया। १३वीं शताब्दी तक इनके वंशजों का इस देश में राज्य रहा। ब्राह्मण कौण्डिन्य तथा बाद में भारत से गये औपनिवेशिकों के भारतीय रक्त ने स्थानीय रक्त में मिलकर उस देश में नवीन जाग्रति उत्पन्न कर दी। उन्होंने देश के सांस्कृतिक स्तर को बहुत ऊँचा किया और भारतीय धर्म, साहित्य एवं कला ने देश और वहाँ के निवासियों को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया। प्राचीन कम्बुज देश की सीमाएँ वर्तमान कम्बोडिया से अधिक विस्तृत थीं तथा इनके साथ कोचिन-चीन और मेकांग नदी की दक्षिणी घाटी सम्मिलित थी। देश की सम्पन्नता में मेकांग नदी[1] का वड़ा हाथ रहा है और कम्बुज देश के लिए क्रमशः भारत

१. लेक्लेर के मतानुसार मेंकांग अथवा मेखांग दो शब्दों का संयुक्त रूप है, 'में' से माँ अथवा मुख्य का संकेत है, और 'कांग' कदाचित् संस्कृत गंगा से उद्भूत है। इसलिए मेंकांग का अर्थ 'माता-गंगा' अथवा 'गंगा-माता' है और वास्तव में भारतीय गंगा की भाँति इसका कम्बुज देश की समृद्धि और सम्पन्नता में बड़ा हाथ रहा और इसी के किनारे मुख्य केन्द्र स्थापित हुए। आज भी चम्पा की राजधानी नोम पेन इसी के तट पर स्थित है। देखिए, लेक्लेर—कम्बुज, पृ० २, नोट १। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ११, नोट ९। पुरी, भारत और कम्बुज, पृ० १, नोट।

और मिस्र की गंगा और नील नदियों की भाँति इसका बड़ा महत्त्व है। इसी के कारण देश का वह भाग जहाँ तक इसकी बाढ़ का पानी जाता है, बहुत उपजाऊ है, अन्यथा देश का अधिक भाग ऊसर है और छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरे होने के कारण उसमें यातायात की सुविधाओं की कमी है। इसी लिए भारतीय औपनिवेशिकों ने समुद्री मार्ग से जाकर इस देश में अपने पैर जमाये।

आदि निवासी

हिन्द-चीन के प्राचीन देशों में न तो भौगोलिक एकता ही थी, और न यहाँ के निवासी ही एक जाति के थे। भौगोलिक तथा प्राक्तन मानव-पृथक्ता ने इतिहास के ऊपर बड़ा प्रभाव डाला। समुद्र के निकट बहुत से बन्दरगाह थे, पर भीतरी भाग में ऊपर से नीचे की ओर बहुत-सी छोटी-बड़ी पहाड़ियाँ हैं और बीच में मेंकांग तथा मीनम नदी बहती हैं। इनके मुहाने पर का भाग बहुत उपजाऊ है और इसी लिए यही भाग प्राचीन भारतीय संस्कृति का केन्द्र बना और औपनिवेशिकों ने समुद्री मार्ग से जाकर सबसे प्रथम यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। यहीं से वे उत्तर की ओर नदियों के किनारे-किनारे बढ़े। इसी लिए भारतीय संस्कृति की छाप नदियों के मुहाने के निकट उपजाऊ क्षेत्र में अधिक पड़ी। कोचिन-चीन के ओसियो नामक स्थान में प्रो० मैलैरे ने खुदाई कराकर यह प्रदर्शित किया कि भारतीयों के आगमन से पहले यहाँ पर पाषाण युग की सभ्यता थी।[२] हिन्द-चीन में विभिन्न जातियों के लोग रहते थे और उनकी भाषा भी एक दूसरे से अलग थी। तिब्बती, वर्मी और मों-ख्मेर नामक जाति के लोग कदाचित् भारत से ऐतिहासिक युग से पहले यहाँ आये। तिब्बती-बर्मी मंगोल वर्ग के थे जो उत्तरी ब्रह्मा में बस गये। इनकी समानता पूर्वी भारत की अवोर और मिसमी जातियों से की जाती है। मों-ख्मेर व्यक्ति भी अनार्य वर्ग के थे और कदाचित् आर्यों के भारत में आगमन के कारण वे दक्षिण-पूर्व की ओर चले। मों दक्षिण ब्रह्मा में बस गये और वहीं से मीनम की घाटी होते हुए वे पूर्व की ओर बढ़कर स्याम पहुँचे। ख्मेर कम्बोडिया पहुँचे और

२. ए० वि० इ० हि० आ० (१९४०-४७), पृ० ५१ से। मेलैरे के मतानुसार इस नगर की सभ्यता भारतीय थी, पर यहाँ भारतीयों द्वारा अन्य देशों से भी माल लाया जाता था। मिली हुई चीजों में कुछ ईरानी भी प्रतीत होती हैं।

फिर वहां से पश्चिम की ओर बढ़कर वे स्याम में मों जाति के व्यक्तियों से मिले। चम्पा (वर्तमान अनम) में चम जाति के व्यक्ति गये और मलय ने अपने नाम पर मलाया बसाया। इसी वर्ग के व्यक्ति सुमात्रा, जावा, बाली तथा अन्य द्वीपों में जाकर बस गये। चम और मलय की भाषा एक ही वर्ग की मानी जाती है।[3] स्मिट के मतानुसार हिन्द-चीन और हिन्दनेशिया के आदिनिवासी, जिनमें मों ख्मेर, मलय और चम सम्मिलित हैं, मध्य भारत की मुंडा तथा अन्य जंगली जातियों और उत्तर-पूर्वी भारत की खस जातियों से मिलते-जुलते हैं फलतः भारत ही इन सब जातियों का आदि स्थान था।[4]

३. मजुमदार, 'कम्बुज देश', पृ० ४। पुरी 'भारत और कम्बुज', पृ० २। इस विषय पर विस्तृत रूप से विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं जिनका उल्लेख संक्षिप्त रूप में सिडो ने अपने ग्रन्थ में किया है (ए० हि०, पृ० २३ से)। यहाँ पर उन पर केवल सूक्ष्म रूप से विचार किया जायगा।

४. देखिए, बु० इ० फ्रा० ७, पृ० २१३ से। सिडो, ए० हि०, पृ० २४। पुरी पृ० ३। भाषा के आधार पर स्मिट ने आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग का सम्बन्ध आस्ट्रो-नेशियन वर्ग से स्थापित करने का प्रयास किया है तथा एक बृहत् आस्ट्रिक क्षेत्र की धारणा की है। हिन्द-चीन और हिन्दनेशिया के निवासी, जो उत्तरी भारत के खस तथा मध्य भारत की अन्य जंगली जातियों से मिलते-जुलते हैं, वास्तव में एक ही वर्ग के थे। व्रिग्स ने स्मिट के विचारों को रूढ़िवादी माना है। उनका कथन है कि हिन्द-चीन की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से प्रतीत होता है कि वहाँ के आदिनिवासी प्रोटो-आस्ट्रोलायड, पपुअन, प्रोटो-मेलानेसियन, नेगरिटो तथा प्रोटो-इन्डोनेशियन वर्ग के थे। नेगरिटो के अतिरिक्त अन्य सब डोलीसिफेलिस थे (जनरल-अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी (ज० अ० ओ० सो०), ६५, १९४५, पृ० ५५-५७। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। लेवी स्मिट के मत से सहमत हैं (जनरल एशियाटिक, ज० ए०) जुलाई-सितम्बर, १९३३, पृ० ५५-५७। पर क्रोम का कथन है कि पहले जावा-निवासी भारत में आकर बसे और उसके बाद भारतीय वहां गये (हि० ज० गे०, पृ० ३८)। हारनेल के मतानुसार मलाया के आदिनिवासी अपने साथ कोका लाये (ज० ए० सो० बं० ७, १९२०, पृ० ११९)। विंस्टेड ने हिन्दनेशिया और मों-ख्मेर कहानियों में समानता दिखाने का प्रयास किया है (जे० रा० ए० सो०, मलाया ब्रांच, नं० ७६, पृ० ११९)।

हिन्द-चीन के थाई और उनके उपनिवेश

हिन्द-चीन के आन्तरिक भाग में थाई रहते थे जिन्होंने आगे चलकर स्याम का नाम थाईलैंड रखा। वे मंगोल जाति के थे और चीनियों से मिलते-जुलते थे। वे चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी भाग से ई ा से तीन शताब्दी पहले दक्षिण की ओर बढ़े और टोंकिन तथा युंनान में बस गये। उसके बाद वे क्रमशः दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने अपने बहुत-से स्थानीय उपनिवेश स्थापित किये। यह घटना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों की है। ८-९वीं शताब्दी तक वे इरावदी नदी के ऊपरी भाग, सालवीन नदी तक पश्चिम में और दक्षिण में स्याम तथा कम्बोडिया की सीमा तक पहुँच गये थे।[५] थाई लोगों ने हिन्द-चीन के उत्तरी भाग में बर्मा से पूर्व तथा स्याम और कम्बोडिया के उत्तर में अच्छी तरह से अपने पैर जमा लिये। इनका एक केन्द्र युंनान और दूसरा टोंकिन था तथा चीनियों से निकट रहते हुए भी ये अपना अस्तित्व बनाये रहे। चीनियों के साथ होते हुए भी इनकी स्वतंत्रता कायम रही। ७वीं शताब्दी में इन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जो ६०० वर्ष तक कायम रहा। इसका नाम नन-चो अथवा विदेह राज्य था और इसकी राजधानी मिथिला थी। थाई जाति के दूसरे अंग ने अनम के उत्तरी भाग में ईसा की दसवीं शताब्दी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

लगभग १००० वर्ष के चीनी नियंत्रण के फलस्वरूप टोंकिन और उत्तरी अनम पर चीनी संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, पर युंनान के थाई, चीनियों के इतने निकट होते हुए भी भारतीय रंग में रंग गये थे, जैसा कि विदेह राज्य और उसकी राजधानी मिथिला तथा अन्य भारतीय नामों से पता चलता है। इन पर भारतीय प्रभाव या तो स्वतंत्र रूप से पड़ा अथवा ब्रह्मा में स्थापित हिन्दू राज्यों द्वारा हुआ। पिलियों के मतानुसार[६] नान-चाओ के थाइयों के दो लेखों के अक्षर भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं और उक्त देश में बहुत-से स्थानों के नाम भी

५. विस्तृत वृत्तान्त के लिए देखिए, टूंग-पाओ १८९७, पृ० ५३। १९०९, पृ० ४९५। बोश, 'इंडियन कालोनी आफ स्याम' लाहौर १९२७, मजुमदार, 'कम्बुज देश,' पृ० ५ से।

६. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० १५२ से।

भारतीय हैं, जैसे गंधार, विदेह राज्य और उसकी राजधानी मिथिला, जो मिथिला राष्ट्र भी कहलाता था। स्थानीय किंवदन्तियों के अनुसार[७] भारत से यहाँ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर आये और उन्होंने यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। ८वीं शताब्दी में यहां के एक नृप का चीनी संस्कृति की ओर झुकाव देखकर सप्त भारतीय धर्म-प्रवर्तकों ने उसको पुनः भारतीय संस्कृति और धर्म का अनुसरण करने का आदेश दिया। युंनान में चन्द्रगुप्त नामक एक हिन्दू साधु, जो मगधनिवासी होने के कारण मागधी कहलाता था, अपने अद्भुत कृत्यों के कारण प्रसिद्ध था। युंनान में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रसिद्ध पीपल-गुहा, बोधि-वृक्ष तथा गृद्धकूट पहाड़ी भी थी। स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार युंनान के नृप अशोक के वंशज थे और बुद्ध ने यहाँ आकर ता-लि झील के निकट ज्ञान प्राप्त किया था। रमीउद्दीन नामक अरब लेखक ने १३वीं शताब्दी में इस देश का गंधार के नाम से उल्लेख किया है और उसके मतानुसार यहाँ के निवासी भारत और चीन से आये थे। युंनान के थाइयों ने भारतीय संस्कृति को पूर्णतया अपना लिया था।[८] युंनान के अतिरिक्त इसके पश्चिम और दक्षिण में थाइयों के और भी कई राज्य थे। चीनी स्रोत के अनुसार मनीपुर और असम से पूर्व की ओर ता-सिन नामक एक ब्राह्मण राज्य था और इससे १५० मील पूर्व चिन्दविन नदी के आगे एक दूसरा राज्य था। भारतीय थाई राज्यों ने इरावदी और सालवीन के बीच कोसम्बी नामक एक संघ बना लिया था। इसके पूर्व में कुछ छोटे-छोटे राज्य थे जो युंनान से कम्बुज और स्याम की सीमा तक फैले हुए थे। इनके नाम क्रमशः आल्वीराष्ट्र, ख्मेर-राष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गशील, योनक-राष्ट्र, हरिपुन्जय इत्यादि थे।[९]

स्थानीय पालि ग्रन्थों में इन राज-वंशों का उल्लेख मिलता है और यहाँ गुप्तकालीन तथा अन्य समय की कुछ मूर्तियां भी मिली हैं। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मंगोलों से इतने निकट होते हुए भी थाइयों पर चीनी संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् वे भारतीय संस्कृति में ही रंग गये। इस भारतीय सम्पर्क का उल्लेख चीनी स्रोत में भी मिलता है। चीनी राजदूत

७. मजुमदार, 'कम्बुज देश,' प० ९।

८. पिलियो, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० १५२ से। मजुमदार, पृ० ५९।

९. एटूडिये, एशियाटिक (इ० ए०) २, प० ९६ से।

चंग-किअन ने ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी में बैक्ट्रिया में चीनी कौशेय (रेशम) तथा बांस की बनी चीजें देखीं जो युंनान और शेज़-च्वान से उत्तरी भारत, अफगानिस्तान होती हुई बैक्ट्रिया आयी थीं। स्थल मार्ग से इरावदी की उत्तरी घाटी तथा युंनान होते हुए भारत से चीन के लिए यातायात का मार्ग था और ईसवी प्रथम शताब्दी में इसी मार्ग से दो भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन गये थे। उस समय में चीन और पश्चिम एशिया के बीच में युंनान, उत्तरी ब्रह्मा तथा भारत होकर जाने का मार्ग था। इत्सिग ने २० चीनी भिक्षुओं के इसी मार्ग से भारत जाने का उल्लेख किया है और ९१४ ई० में इसी मार्ग से ३०० चीनी भिक्षु धार्मिक ग्रन्थों की खोज में भारत आये थे।[१०]

फूनान और कम्बुज

प्राचीन कम्बुज देश की सीमाओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। साम्राज्य के रूप में इसके अधिकार में कम्बुज के अतिरिक्त स्याम, लाओस और कोचिन-चीन का विशाल क्षेत्र आ गया था, जिसमें मेकांग और मीनम के बीच की घाटी सम्मिलित थी। भौगोलिक दृष्टिकोण से कम्बुज देश से केवल मेकांग की दक्षिण घाटी में स्थित वर्तमान कम्बोडिया और कोचिन-चीन का ही संकेत है। भौगोलिक असुविधाएँ होते हुए भी भारतीय औपनिवेशिकों ने प्रकृति पर विजय पायी और देश के प्राचीन मन्दिर, जिनमें अंकोरवाट का दिव्य मन्दिर अपनी विशालता और सुन्दर चित्रण के कारण संसार में प्रसिद्ध है, मनुष्य की प्रकृति के ऊपर विजय के प्रतीक हैं तथा अपने अतीत गौरव की कहानी कहने के लिए प्रस्तुत हैं। इस देश के प्राचीन निवासी ख्मेर कहलाते थे[११] जिनका दक्षिण ब्रह्मा की इरावदी और सालवीन नदियों की घाटी में स्थित मों के साथ सम्बन्ध था। स्याम में ब्रह्मा से आये हुए मों तथा कम्बुज के ख्मेर जाति के व्यक्तियों का समन्वय हुआ। कौण्डिन्य के नेतृत्व में आये हुए भारतीय औपनिवेशिकों ने इस देश के निवासियों को नग्न अवस्था में पाया और

१०. देखिए, पिलिओ, पू०सं० १३१ से। मजुमदार, 'कम्बुज देश', पृ० ११ से।

११. चम्पा के प्राचीन लेखों में इन्हें 'क्विर' तथा 'क्मिर' नामों से सम्बोधित किया गया है। अरब लेखकों ने इन्हें 'कोमर' कहा है। ख्मेर और वर्तमान कम्बोडिया की समानता पूर्णतया निश्चित है। (मजुमदार, 'कम्बुज देश', पृ० १४।)

उन्होंने ही इन्हें वस्त्र पहनना सिखाया, जैसा कि चीनी स्रोतों का कथन है।[१२] भारतीयों का आगमन स्थल तथा समुद्री मार्ग से हुआ और उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये। चीनी यात्री च्वान यांग (ई० ७वीं शताब्दी) ने समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) के आगे पाँच राज्यों का उल्लेख किया है[१३] जिनमें से ई-रांग-न-पु-लो (ईशानपुर) और मो-हो-चेम-मो की समानता कम्बुज और महाचम्पा से की जा सकती है। पूर्वी भारत, ब्रह्मा तथा हिन्द-चीन के बीच यातायात का मार्ग मध्य युग में भी जारी रहा, जैसा कि ब्रह्मा के स्रोतों से पता चलता है।[१४] भारतीय समुद्री मार्ग द्वारा ईसा की पहली शताब्दी में भी कम्बुज देश तथा हिन्द-चीन के अन्य बन्दरगाहों में जाते थे। पेरीप्लस के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में भारतीय बन्दरगाहों से मलाया जहाज जाते थे और मलाका की खाड़ी से चीन जाने का भी मार्ग था। टालमी ने हिन्द-चीन, मलाया तथा अन्य द्वीपों के भारतीय नामों का उल्लेख किया है। लिअंग-वंश के इतिहास (ईसवी ७वीं शताब्दी) में दक्षिण सागर के मार्ग से भारतीय राजदूतों के चीन में जाने का उल्लेख है।[१५] चीनी स्रोतों में ईसा की तीसरी शताब्दी में भारत और कम्बुज के बीच सामुद्रिक सम्पर्क का उल्लेख है। उस समय तक वहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी।

कौण्डिन्य का प्रवेश

कौण्डिन्य द्वारा फूनान राज्य की स्थापना का उल्लेख कंग-ताई ने ईसा की

१२. मजुमदार, 'कम्बुज देश', पृ० १५।

१३. नील, 'बुद्धिस्ट रेकार्ड' भाग २, पृ० २०० (वाटर्स, पृ० १८७-८९)। चीनी यात्री के अनुसार समतट से उत्तर-पूर्व (दक्षिण-पूर्व) की ओर समुद्र के किनारे शि-लि व-त लो (श्री-क्षेत्र) का राज्य है। इससे दक्षिण-पूर्व में समुद्र के किनारे किअु-मो-लंग-किअ (कामलंका) का देश हैं तथा इससे पूर्व में ई-शंग-न-पु-लो (ईशानपुर) और इसके भी पूर्व में मो-हो-चेन-पो (महाचम्पा) है। यही लिन-इ भी कहलाता है। इसके दक्षिण-पश्चिम में येन-निओ-न-चेऊ (यवनद्वीप) है। विद्वानों ने इसकी समानता दिखाने का प्रयास किया है। जे० आर० ए० स०, १९२९, पृ० १४४७।

१४. मजुमदार, 'कम्बुज देश,' पृ० १६।

१५. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७१-२।

तीसरी शताब्दी में किया है। उसने फूनान में प्रचलित किंवदन्तियों पर आधारित वृत्तान्त दिया है, जिनके अनुसार पहले कम्बुज का शासन ल्यू-ये नामक एक स्त्री के हाथ में था। हुएन-टिएन नामक देवभक्त ब्राह्मण को एक स्वप्न हुआ और एक दैव प्राप्त धनुष को लेकर वह एक व्यापारी के जहाज में विदेश-यात्रा को चला। वायु के झोंकों ने उसे फूनान के तट पर उतार दिया, उसी समय ल्यू-ये सम्राज्ञी एक नाव में उक्त जहाज को लूटने आयी। हुएन-टिएन-चे ने उसी दैवी धनुष का प्रयोग किया और सम्राज्ञी ने भय से अपने को समर्पित कर दिया। उस समय से हुएन-टिएन उस देश पर राज्य करने लगा।[१६] इस व्यक्ति के निवासस्थान मो-फु की समानता नहीं की जा सकती[१७] और यह कहना कठिन है कि वह उत्तरी अथवा दक्षिणी भारत से आया था। इसका उल्लेख अन्य स्रोतों में भी है। बाद के चीनी ग्रन्थों में हुएन-टिएन और ल्यू-ये के विवाह का भी उल्लेख है।[१८] चम्पा के एक लेख[१९] में भी कम्बुज की राजधानी भवपुर की स्थापना से सम्बन्धित इसी प्रकार की कहानी है। ब्राह्मण द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त एक भाले को कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने यहीं गाड़ा था। इस ब्राह्मण ने नाग-राजकन्या सोमा के साथ विवाह कर उस वंश को चलाया, जिसमें आगे चलकर भववर्मा राजा हुआ और उसने अपने नाम पर भवपुर का निर्माण कराया। कम्बुज स्रोतों में इस राज्य की स्थापना का उल्लेख दूसरे ढंग से है। इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवंश अपने एक पुत्र से असंतुष्ट हो गया था, उसने उसको अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया। वह वहाँ से कोकथलोक नामक स्थान में गया और वहाँ के स्थानीय शासक को हराकर स्वयं राजा बन गया। रात्रि में एक नाग-कुमारी उसके समीप जलतट पर आयी और दोनों ने विवाह-सूत्र में बँधने का निश्चय किया। नागराज ने अपने जामाता तथा कन्या के

१६. स्टूडिये एशियाटिक (ए० ए०) २, पृ० २४४ से।

१७. यदि इसे मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी किनारे पर रखा जाय तो फूनान में सीधे भारत से संस्कृति का प्रवेश नहीं हुआ था। नीलकंठ शास्त्री, हिन्दू इन्फ्लूएन्स, पृ० २७।

१८. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २५४, २५६, २६५।

१९. माइ-सोन के प्रकाशधर्म के शक सं० ५७९ के लेख में भी कौण्डिन्य और सर्पकन्या सोमा के विवाह का उल्लेख है। मजुमदार, चम्पा लेख, नं० १२, पृ० २३।

लिए समुद्र के जल को पीकर उसके राज्य की सीमा बढ़ा दी तथा उसकी राजधानी का निर्माण कराया।[20] इस सम्बन्ध में कम्बुज के वकसेई चंक्रोम लेख में[21] आर्य देश के राजा कम्बु स्वयम्भू और अप्सरा मीरा के संसर्ग से कम्बुज वंश की उत्पत्ति कही गयी है। किंवदन्तियों पर आधारित कहानियों और नागकन्या से उत्पन्न पल्लव वंश का उल्लेख दक्षिण भाग के क्षेत्रों से भी ज्ञात होता है। कुछ लेखों के अनुसार अश्वत्थामा के पुत्र स्कन्दशिष्य के नागकन्या के साथ संसर्ग से पल्लव वंश की उत्पत्ति हुई। दूसरे लेखों में स्कन्दशिष्य के पूर्वज का नागकन्या से विवाह होना और उसी के द्वारा उसे राज्य प्राप्त होना वर्णित है। मणिमेखलाई तथा अन्य तीन तमिल ग्रन्थों के अनुसार एक चोल राजा ने नागकन्या से विवाह किया और उनका पुत्र कांची का पल्लव राजा हुआ।[22] कम्बुज और पल्लव वंश की उत्पत्ति से सम्बन्धित किंवदन्तियों से प्रतीत होता है कि कम्बुज वंश की स्थापना में दक्षिण भारतीय औपनिवेशिकों का हाथ रहा हो और उन्होंने अपने देश और वंश की परम्परा पर आधारित कम्बुज देश के राजकीय वंश की उत्पत्ति बतायी हो। यह कहना कठिन है कि केवल दक्षिण भारत से ही यहाँ औपनिवेशिक आये, क्योंकि उत्तर भारतीय लिपि तथा वहाँ के नगरों, जैसे मिथिला, अयोध्या इत्यादि नामों से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत से भी यहां औपनिवेशिक आये और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। इनमें से कुछ का नाम चीनी स्रोतों में भी मिलता है।

लिअंग वंश के इतिहास (५०२-५५६ ई०) में टुएन-सिउन का उल्लेख है। फूनान की दक्षिणी सीमा पर कोई ३००० ली की दूरी पर १००० ली के घेरे में यह राज्य था और इसकी राजधानी समुद्र से कोई १० ली की दूरी पर थी। यहाँ भारत और पार्थिया से बहुतायत से व्यापारी आते थे। यहां पूर्व और पश्चिम के व्यापारी

२०. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १९।

२१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ९२, पृ० १८५ से।

२२. बु० इ० फ्रा० ११, पृ० ३९१-३३। २४ पृ० ५०१ से। मजुमदार, 'कम्बुज देश', पृ० २०। नीलकंठ शास्त्री, हिन्दू इन्फ्लूएन्स, पृ० २६ से। हेरोडोटस ने भी सीथियन्स की उत्पत्ति इसी प्रकार से हेराक्लीज तथा सर्पकन्या के, जिसका ऊपरी भाग कन्या और निचला भाग सर्प की भाँति था, संसर्ग से दिखायी है।

मिलते थे तथा बहुमूल्य पदार्थों की बिक्री होती थी। अनार की भाँति के एक वृक्ष के रस से मदिरा बनायी जाती थी।[२३] चे नामक एक भारतीय ने, जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी में यहाँ आया था, टुएन-सिउन का वृत्तान्त दिया है। उसके अनुसार यह फूनान के अधीन था। यहां का राजा कुवेन लुएन कहलाता था। यहाँ कोई ५०० हु (कदाचित् वणिक वर्ग) कुटुम्ब रहते थे, दो सौ फो-तू (कदाचित् बौद्ध) और एक सहस्र से अधिक ब्राह्मण रहते थे। टुएन-सिउन के निवासी उनके धर्म का पालन करते थे और उनके साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर देते थे। वे धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी करते थे तथा पात्रों में पुष्प और चन्दन देवताओं को अर्पित करते थे। मृत्यु होने पर उनका शरीर पक्षियों के लिए नगर के बाहर छोड़ दिया जाता था। दाह संस्कार भी किया जाता था।[२४]

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि टुएन-सिउन एक व्यापारिक केन्द्र था जहाँ भारत तथा चीन से व्यापारी आते थे। भारतीय व्यापारियों के साथ में ब्राह्मण तथा बौद्ध भी आकर यहाँ बस गये थे और स्थानीय कन्याओं के साथ विवाह करके यहीं के अंग बन गये। उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति को यहाँ फैलाया और सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठाया। भारतीय व्यापारी तथा धर्मप्रवर्तक के रूप में मलाया तथा हिन्द-चीन के भागों में बराबर जाते रहे और जहाजों के तट के किनारे चलने के कारण समुद्रतट के निकटवर्ती भाग में भारतीय उपनिवेश स्थापित होते रहे जहाँ से वे आगे बढ़े। इन छोटे-छोटे उपनिवेशों की आधारशिला पर विस्तृत राज्य स्थापित हुए जिनमें पहला राज्य फूनान का था, जो कई सौ वर्ष तक कायम रहा। इसका इतिहास भी चीनी स्रोतों तथा कम्बुज में मिले लेखों के आधार पर लिखा जा सकता है।

२३. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २६३। मजुमदार, पृ० २२।
२४. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७७। मजुमदार, पृ० २२।

अध्याय २

फूनान का भारतीय राज्य

फूनान, जिसकी समानता वर्तमान कम्बोडिया और कोचिन चीन के कुछ भाग को मिलाकर की जा सकती है, मेकांग की दक्षिण घाटी में प्रथम भारतीय राज्य था, जिसकी स्थापना कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने ईसवी प्रथम शताब्दी में की थी। इसका वृत्तान्त केवल चीनी स्रोतों[1] से प्राप्त है। यहां के आदि निवासी जंगली थे और वे नग्न रहते थे। उनकी रानी का नाम ल्यू-ये था जिसको हुएन-टिएन चेन नामक एक ब्राह्मण ने हराकर वहां अपना राज्य स्थापित किया और देश में सभ्यता का प्रवेश हुआ। उसी समय से स्त्रियों को भी कपड़े पहनना सिखाया गया। हुएन-टिएन मो-फू निवासी था जिसका पता लगाना कठिन है,[2] पर कदाचित् यह ब्राह्मण

१. चीनियों ने इसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। आमोनिये के मतानुसार यह चीनी शब्द है जिसका अर्थ 'सुरक्षित दक्षिण' है, किन्तु पिलियो इसे स्थानीय नाम का चीनी रूप ही बतलाते हैं। पिलियो ने श्लेगल तथा पारकर के मत का भी खंडन किया है जिसके अनुसार फूनान का प्राचीन नाम 'पो नम' या माम-पो था (बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २४८-३०३)। कालग्रेन का कथन है कि यह व्यू-नाम शब्दों को मिलाकर बना है जो ख्मेर भाषा में न्नाम हुआ और नोम रूप में प्रयोग होने लगा (सिडो, ए० हि०, पृ० ६८)। फिनो के मतानुसार ख्मेर-कुरुंग न्नाम संस्कृत 'पर्वत भूपाल' अथवा 'शैलराज' के आधार पर चीनियों ने इसका नाम-संस्करण किया (जू० ए० १९२७ जनवरी-मार्च, पृ० १८६)। सिडो के विचार में यह बा-नोम पर आधारित है जो दक्षिण कम्बुज का एक पहाड़ी क्षेत्र है (ए० हि० पृ० ६८)। उसके मतानुसार वानोम पहाड़ी के नीचे फूनान की राजधानी व्याधपुर स्थित थी। बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १२७ से।

२. पिलियो ने इस की समानता दिखाने का प्रयास किया है, पर वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका। एटू० ए० २, पृ० २४५, ४६।

भारत अथवा मलाया के किसी भारतीय उपनिवेश से ईसा की प्रथम शताब्दी में यहां आया था। हुएन-टिएन के विषय में और कुछ जानकारी प्राप्त नहीं है। उसके पुत्र के समय में इस राज्य के सात नगरों में स्थानीय शासक थे जो इसके अधीन थे, पर धीरे-धीरे उनकी शक्ति बढ़ने लगी और वही फूनान राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। उसके एक वंशज हुएन-पेन-हुवेंग ने उन स्थानीय शासकों के स्थान पर अपने पुत्र और पौत्रों की नियुक्ति की और उसने ९० वर्ष की आयु तक राज्य किया।[३] उसका काल द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध भाग माना जाता है। उसके द्वितीय पुत्र पन-पन के समय में राज्य का भार फन-मन अथवा फन-ये-मन पर था और तीन वर्ष बाद उसी को शासक चुन लिया गया।[४] चीनी[५] स्रोत के अनुसार इसने एक विशाल बेड़े की सहायता से पांच-छः हजार ली तक अपने राज्य को विस्तृत किया। उस समय से यह फूनान का सम्राट् घोषित होने लगा और कदाचित् इस विशाल साम्राज्य की सीमाएँ सम्पूर्ण स्याम, लाओस के भाग तथा मलाया प्रायद्वीप तक फैल गयीं। चीनी स्रोत के अनुसार किन्-लिन या सुवर्णभूमि अथवा सुवर्ण देश के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रस्तुत होते समय वह बीमार पड़ गया और उसकी मृत्यु हो गयी। उसने अपने बड़े पुत्र फन-किन-चेंग को सेना का अध्यक्ष बनाकर भेजा, पर इस बीच में उसके भांजे सेनापति फन यन ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया।[६] यह लगभग २२५ ई० की घटना है। इसका राज्यकाल विशेष महत्त्व रखता है। तीसरी शताब्दी के लेखक चेन-येन,–की-सन-कु-ये के, जिसमें लगभग २२०-२८० तक का इतिहास

३. पिलियो, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २६५।

४. सिडो ने इसकी समानता श्रीमार से की है। इ० हि० क्वा १६, पृ० ४८४।

५. 'ट्सी वंश का इतिहास' पिलियो, पू० सं०, पृ० २५७। एक ली लगभग ५७६ मीटर के बराबर था (सिडो, ए० हि०, पृ० ७१, नोट ३)।

६. पू० सं०, पृ० २६६-७। फूनान के प्रायः सभी राजाओं के नाम के आगे 'फन' शब्द का प्रयोग हुआ है और चम्पा में भी श्रीमार के वंशजों के नाम के साथ में यह जुड़ा है। कदाचित् यह स्थानीय भाषा अथवा बोलचाल में शासक के सम्बोधन करने के लिए प्रयोग किया जाता रहा होगा अथवा इसकी समानता 'वर्मन्' प्रत्यय से की जा सकती है। मासपेरो, गोयाम् डु चम्पा, पृ० ५३, नोट ७। सिडो, हि० रा०, पृ० १८, नोट १।

है, अनुसार इसने २४३ ई० में कुछ देशीय पदार्थ तथा गायक भेंट के रूप में चीन के शासक के पास भेजे।[७] इसी के समय में पश्चिमी भारत के टन-यंग का निवासी किअ-सिंग-ली भी व्यापार के सम्बन्ध में फूनान पहुँचा और उसने अपने देश का इतना सुंदर चित्र खींचा[८] कि सम्राट् ने सु-बु नामक एक दूत को भारत भेजा। वह त्यू-की-ली (तकोला)[९] से एक वर्ष में गंगा के मुहाने पहुँचा और फिर नदी के मार्ग से ७००० ली चलकर वह भारत के सम्राट् के यहाँ पहुँचा। सम्राट् ने उसका स्वागत किया और यू-चे देश के चार घोड़े उस दूत को उसके शासक के लिए भेंट किये। चार वर्ष बाद सू-वू अपने देश वापस पहुंचा, पर वहां परिस्थिति बदल चुकी थी। फन-चे-मन के छोटे भाई ने फन चंग का वध कर डाला था, पर सेनापति फन सिउन उसे मारकर स्वयं राजा बन बैठा।

इसके समय में दो चीनी दूत कंग-ताई और चू-यिंग फूनान आये और उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे जिनमें देश की राजनीतिक स्थिति का वर्णन है। कंग-ताई के ग्रन्थ से बाद के इतिहासकारों ने भी बहुत-सा वृत्तान्त अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया है। इसमें भारत के विषय में भी येन-सोंग द्वारा प्राप्त कुछ वृत्तान्त लिखा है। इसका कथन है कि भारत का राजा म्यू-लुन कहलाता था और उसके देश के दाहिने बायें किज वै (कपिलवस्तु) और ये वै (श्रावस्ती) इत्यादि छः राज्य थे। लेवी के मतानुसार[१०]

७. पिलियो, सं० पृ० ३०३। पिलियो के मतानुसार यह कदाचित् प्रथम दूत था जो फूनान से चीन भेजा गया था (पृ० ३०३), पर अन्य स्थान पर उसने 'वु० ली' नामक ग्रन्थ के आधार पर २२५ अथवा २२९-२३१ ई० में एक और दूत भेजने का उल्लेख किया है। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० २८, नोट १७।

८. इसके वृत्तान्त में भारतीय आचार-विचार और देश की सम्पत्ति का विवरण है। फूनान से भारत लगभग ३०,००० ली दूर था और आने-जाने में ३-४ वर्ष लगते थे। पिलियो, पृ० २७७, मजुमदार, पृ० २८।

९. फेरंड, 'क्वेन लुएन' (जू० ए० १९१९, पृ० ४३१)। तकोला नामक बन्दरगाह के विषय में लेवी का मत है कि इसकी समानता टालमी के तकोला से की जा सकती है। सिडो, ए० हि०, पृ० ७५।

१०. पुराणों के अनुसार इसने ३५० वर्ष तक राज्य किया और एक जैन ग्रन्थ में एक मुरुन्ड राजा की पाटलिपुत्र राजधानी बतायी गयी है। मुरुन्डों का उल्लेख

म्यू लुन की समानता मुरुन्ड नृप से की जा सकती है। इस विद्वान् के विचार में इस वंश का कुषाणों से सम्बन्ध था। केग-ताई के वृत्तान्त के अनुसार इसने देश में नग्न रहने की प्रथा को बन्द किया।[११] इसके अपने समय में २६८, २८५, २८६ तथा २८७ में चार दूत फूनान से चीन भेजे गये। इसके बाद ३५७ में फूनान से चत्तन अथवा चन्द्र नामक हिन्दू राजा ने एक दूत को कुछ पालतू हाथी देकर चीन भेजा, पर कदाचित् चीनी सम्राट् ने भविष्य में इनको न भेजने का आदेश दिया अथवा इनको लौटा दिया।[१२] फूनान के इतिहास में पुनः परिवर्तन हो चुका था और ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त अथवा पाँचवीं के आरम्भ में कियाओं चेन जू अथवा कौंडिन्य नामक शासक वहां राज्य कर रहा था।

कौण्डिन्य द्वितीय

ईसवी ३५७ में चन्तंन अथवा चन्दन के उल्लेख से प्रतीत होता है कि फूनान में एक भारतीय शासक राज्य कर रहा था जो लेवी के मतानुसार कुषाण वंशीय था।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में भी है (जू० ए० जनवरी-मार्च, १९३६, प० ६१ से)। लेवी का मत विवादास्पद है।

११. पिलियो सं०, पृ० २६८।

१२. यही पृ० २६९, २५५। लेवी ने चत्तन, चन्दन अथवा चन्द्र को 'चीन स्थान' पढ़ा और इनके मतानुसार इससे देवपुत्र का संकेत था जो कुषाणों की उपाधि थी और कदाचित् वहां से यह दूत चीन गया, पर पिलियो इस मत से सहमत नहीं है। (बु० इ० फ्रा० ३, नोट ४। देखिए, मजूमदार, पृ० ३०, नोट २६)। कनिष्क को चेनरियन अथवा चन्दन नाम से मध्य एशिया के ग्रन्थ में संबोधित किया गया है और डा० मजुमदार ने इसी आधार पर मेहरौली के चन्द्र की समानता कनिष्क से की (ज० ए० सो० बं० १९४३)। यह कहना कठिन है कि चन्दन शब्द से कुषाण-वंशजों का संकेत था। सिडो के मतानुसार पश्चिमी कोचीन चीन में फूनान के ईरानी संसार के साथ सम्पर्क का प्रमाण कला के क्षेत्र में मिलता है (ए० हि०, पृ० ८३), जैसे सूर्य की मूर्ति का लम्बा चोगा और विष्णु की मूर्ति का मुकुट तथा बालों का सजाव। ओसियो की खुदाई में कुछ ईरानी पदार्थ भी मिले। (ए० वि० इ० आ० १९४०. ७, पृ० ५१।

चीनी तथा पुरातात्त्विक स्रोतों से ज्ञात होता है कि ईसवी चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवीं के आरम्भ में भारतीयों का दल दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में पहुँच चुका था और उनका चीनियों के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था। बोर्नियो के मूलवर्मन् तथा जावा के पूर्णवर्मन् के लेखों से वहाँ भारतीयों के राज्य-स्थापन तथा अपनी संस्कृति के प्रसारण का प्रमाण मिलता है। लेवी के मतानुसार समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय ने पल्लव राजवंशीय व्यक्तियों को देश से बाहर जाने को बाध्य किया। सिडो इसका कारण समुद्रगुप्त की उत्तरी भारत की विजय मानते हैं और इसी लिए फूनान में कुषाणवंशीय चन्दन ई० ३५७ में राज्य कर रहा था।[१३] यह सच है कि उत्तरी तथा दक्षिणी भारत से राजकुमारों, ब्राह्मणों तथा अन्य विद्वानों के नये दल सुदूर पूर्व के विभिन्न देशों में गये और वहां उन्होंने भारतीय संस्कृति को और बढ़ावा दिया। लिअंग वंश के इतिहास (ई० ५०२-५५६) में किआओ चेन जू अथवा कौण्डिन्य के विषय में लिखा है कि वह ब्राह्मण था और भारत का रहनेवाला था। एक दिन उसने फूनान जाकर वहां पर राज्य करने के लिए भविष्यवाणी सुनी। वह फूनान के दक्षिण में पन-पन पहुँचा जहां के लोगों ने उसका स्वागत किया और उसे अपना शासक चुन लिया। उसने वहां भारतीय नियम, संस्कार और परम्पराओं का प्रसार किया। उसके एक वंशज चे लि तो प मों[१४] (श्री इन्द्रवर्मन् अथवा श्रेष्ठवर्मन्) ने शुंग वंश के सम्राट् वेन (ई० ४२४-४५३) के समय में भेंट देकर ४३४, ४३५ और ४३८ में राजदूत भेजे। प्रथम शुंग वंश के इतिहास में ४३१ अथवा ४३२ ई० में इसी फूनान-सम्राट् के चम्पा के शासक से टोंकिन के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए सहायता प्राप्त करने का भी उल्लेख है।[१५] पर उसने सहायता देने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

१३. सिडो, हि० रा०, पृ० ८३।

१४. प्रथम शुंग-वंश के इतिहास में इसे चे-लि-प-मो कहा गया है और लि अंग वंश के इतिहास में इसका नाम चे लि तो प मो है। देखिए, पिलियो, पू० सं०, पृ० २५५, २६९।

१५. पिलियो, पू० सं०, पृ० २५५। फूनान और चम्पा में पहले से घनिष्ठ सम्बन्ध था और वे दोनों टोंकिन के विरोधी थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में टोंकिन के चीनी शासक ताओ-हुअंग ने अपने सम्राट् के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा

इन्द्रवर्मन्-जयवर्मन्

चीनी स्रोतों में कौण्डिन्य के एक और उत्तराधिकारी का भी विवरण प्राप्त है। शुंग वंश (ई० ४२०-४७९) के अन्तिम काल में फूनान में चो ये प मो (जयवर्मन्) नामक शासक राज्य करता था। वह कौण्डिन्य वंशज था। उसने व्यापार के लिए कुछ व्यापारियों को कैंटन भेजा था। लौटते समय न किअ सिएन (नागसेन) नामक एक भारतीय भिक्षु उनके साथ हो लिया। तूफान आने के कारण उन्हें चम्पा के तट पर उतर जाना पड़ा, जहां के लोगों ने उन्हें लूट लिया, पर नागसेन किसी प्रकार फूनान पहुँच गया। इस सम्बन्ध में जयवर्मन् ने चम्पा के शासक के विरुद्ध एक पत्र चीनी सम्राट् के पास भेजा। चम्पा में उस समय फूनान से भागा एक विद्रोही क्यू-चेऊ-लो नामक व्यक्ति राज्य कर रहा था। फूनान के शासक जयवर्मन् ने इस विद्रोही चम्पाशासक के विरुद्ध चीनी सम्राट् से सैनिक सहायता माँगने के लिए सोने का नागराज के सिंहासन का एक नमूना, सफेद चन्दन का एक हाथी, दो हाथीदांत के स्तूप, दो रेशमी वस्त्र, सुन्दर पत्थर के बने दो फूलदान और सुपारी रखने के लिए सीप की एक शराव (तश्तरी) भेंट के रूप में वहां भेजी। साथ में नागसेन भी गया और उसने फूनान के धार्मिक आचार-विचार तथा महेश्वर के विषय में चीनी सम्राट् को वृतान्त दिया तथा महेश्वर, बुद्ध और सम्राट् की प्रशंसा में अपनी एक काव्य-रचना भी भेंट की। चीनी सम्राट् ने भी अपनी ओर से फूनान के शासक के लिए भेट दी, पर चम्पा के विरुद्ध सैनिक सहायता का उल्लेख नहीं है। ५०३ ई० में एक दूसरा दूत जयवर्मन् की ओर से चीन गया और सम्राट् ने फूनान के शासक को 'शान्त दक्षिण के सेनापति' की उपाधि प्रदान की।[१६] जयवर्मन् के राज्यकाल में ५११ तथा ५१४ ई० में दो और राजदूत चीन गये और दोनों देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। फूनान के दो बौद्ध भिक्षु भी चीन में बस गये। उनमें संघपाल अथवा संघवर्मन् (४६०-५२४ ई०) कई भाषाओं का

जिसमें टोंकिन की ७००० सेना को घटाकर २४२० सैनिकों के रखने पर जोर दिया गया था। उसका कथन था कि इससे कम सैनिकों से देश पर चम्पा की ओर से आक्रमण की संभावना बढ़ जाएगी। चमों के साथ फूनान के निवासी भी थे और इन दोनों ने चीन के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया था। पिलियो, यही।

१६. पिलिओ, पू० सं०, पृ० २६९ से।

ज्ञाता था, और सम्राट् वू के आदेश पर उसने १६ वर्ष तक बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इसमें मन्द्र अथवा मन्द्रसेन ने भी सहयोग दिया जो ५०३ ई० में चीन आया था।[१७] जयवर्मन् की मृत्यु ५१४ ई० में हो गयी और उसके वाद ज्येष्ठ पुत्र रुद्रवर्मन् गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि वह गणिकापुत्र था और अपने छोटे भाई को मारकर उसने सिंहासन प्राप्त किया था।

रुद्रवर्मन् और फूनान का अन्त

दक्षिण कम्बोडिया के त्रैंग प्रान्त में मिले एक लेख में जयवर्मन् की सम्राज्ञी कुलप्रभावती द्वारा एक आराम, एक तड़ाग तथा निवास (आलय) के दान का उल्लेख है।[१८] अक्षरों की लिखावट के आधार पर सिडो ने इस जयवर्मन् की समानता फूनान के जयवर्मन् से की है और उनके मतानुसार थप-मुसी लेख का गुणवर्मन्, जयवर्मन् और कुलप्रभावती का पुत्र था जिसे मारकर गुणवर्मन् सिंहासन पर बैठा।[१९] एक लेख में रुद्रवर्मन् के गुणों का उल्लेख है, पर उसके विषय में कोई ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है।[२०] इसने ५१७-५३९ ई० के बीच में कोई छः राजदूत चीन भेजे। ५१९ ई० में भेजा गया राजदूत अपने साथ में चन्दन की वनी बुद्ध की मूर्ति और भारतीय मणि-मुक्ता अपने साथ ले गया था। ५३९ ई० में उसने एक जीवित बारहसिंगा तथा बुद्ध का एक लम्बा बाल चीनी सम्राट् के पास भेंट में भेजा।[२१] रुद्रवर्मन् फूनान का अन्तिम शासक था। उसके बाद लगभग ७५ वर्ष तक इसके विषय

१७. इनके ग्रन्थों का उल्लेख चीनी त्रिपिटक में मिलता है। पिलिओ, पृ० २८४-५ सिडो, पृ० १००।

१८. ज० ग्रे० इ० सु०, भाग ४, पृ० ११७ से।

१९. बु० इ० फ्रा० ३१, पृ० १ से। यह वैष्णव लेख है और इसकी लिखावट प्राचीन है। गुणवर्मन् के आदेश पर यह लिखा गया था। यह संभव है कि यह जयवर्मन् की सम्राज्ञी कुलप्रभावती का पुत्र था और जयवर्मन् की मृत्यु के बाद यह सिंहासन पर बैठा और इसके सौतेले भाई लिओ-तो-मो (रुद्रवर्मन्) ने, जिसका उल्लेख 'लिअंग-वंश के इतिहास' में मिलता है, इसे मारकर स्वयं राज्य प्राप्त किया।

२०. यही।

२१. पिलिओ, पू० सं०, पृ० २७०-१।

में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि चैन-लो[२२] के शासक ने इस पर अधिकार कर लिया था और ६१६-७ में उसके पुत्र ईशा नसेन ने एक दूत चीन भेजा था। फूनान का अस्तित्व नहीं नष्ट हुआ था। चेन-लो के शासक द्वारा अधिकार करने पर यहां का नृप दक्षिण में न-छु-न चला गया जिसकी समानता पिलिओ ने नकनगर से की है और यह कम्पोट के निकट था।[२३] सातवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व कायम रहा और यहां से ६१८-६२६ तथा ६२७-६४९ के समय में दो बार राजदूत चीन भेजे गये।[२४] ईत्सिंग ने भी इसका उल्लेख[२५] किया है। उसके अनुसार चम्पा से चलकर दक्षिण-पश्चिम में पनान नामक स्थान पड़ता है जो पहले फूनान कहलाता था। यहां के निवासी पहले नग्न रहते थे और वे बहुत-से देवताओं को पूजते थे। बौद्ध धर्म भी उन्नति कर रहा था, किन्तु एक कुटिल नृप ने इसे बड़ी क्षति पहुँचायी और अब यहां बौद्ध भिक्षु नहीं हैं।

ईसा की ७वीं शताब्दी के बाद का फूनान का इतिहास अंधकारमय है और उसका उल्लेख चीनी स्रोतों में नहीं मिलता। चेन-ला अथवा कम्बुज ही हिन्द चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करता। इसका उल्लेख चीनी स्रोतों में भी मिलता है। इसका इतिहास आगे लिखा जायगा। फूनान में हिन्दू धर्म और संस्कृति की छाप सबसे पहले पड़ी। भारतीय कौण्डिन्य के आगमन से पहले देश में पाषाण युग

२२. चेन ला का उल्लेख सबसे पहले 'सुई वंश के इतिहास' में मिलता है। इसके अनुसार यह राज्य लिन यी के दक्षिण-पश्चिम में था और पहले यह फूनान के अधीन था। उसका शासक क्षत्रिय (त्छ ली) था और उसका नाम चित्रसेन (त्छे तो स्यु न) था (पिलिओ, पू० सं०, पृ० २७२। सिडो, ए० हि०, पृ० ११४)। चेन ला का प्राचीन भूगोल, देखिए, बु० इ० फ्रा०, १८-९, पृ० १-३ (२८, पृ० १२४)।

२३. पिलिओ, फूनान, पू० सं०, पृ० २७४, २९५। सिडो का कथन है कि चित्रसेन के आक्रमण से फूनान का उत्तरी भाग वहां के शासक के हाथ से निकल गया। कदाचित् राजधानी पर भी आक्रमण हुआ, पर उस पर चेन-ला का अधिकार न हो सका। शत्रु से रक्षा के लिए फूनान के सम्राट् ने दक्षिण में न कु नको अपनी राजधानी बनाया। बु० इ० फ्रा० भाग २८, पृ० १३०।

२४. पिलिओ, पू० सं०, पृ० २७४।

२५. तककुसु, ईत्सिंग, पृ० १०।

की सभ्यता थी, जैसा कि औसियो नामक स्थान की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से प्रतीत होता है।[२६] चीनी स्रोतों के अनुसार भी कौण्डिन्य ने सम्राज्ञी सोमा को वस्त्र पहनना सिखाया और उस समय से भारतीय नियमों तथा संस्कारों को अपनाया गया। ईसा की चौथी शताब्दी में दूसरे कौण्डिन्य ने भारत से आकर यहां पुनः भारतीय संस्कृति की स्थापना की । 'शिन वंश के इतिहास' में भी (ई० २६५-४१९), जिसकी रचना फंग-ह्निअन-लिंग (ई० ५७८-६४८) ने की, फूनान का वृत्तान्त मिलता है। वहां के लोग काले थे और नग्न रहते थे। वे साधारण और सीधी प्रकृति के थे तथा खेती करते थे और स्वयं अपने आभूषण भी बना लेते थे। चाँदी की थालीं में वे भोजन करते थे तथा राज्य को सोना, चाँदी, मुक्ता और गंध के रूप में कर देते थे। उनके पास पुस्तकें भी थीं और भारत से आयी हुई लिपि[२७] का वे प्रयोग करते थे। उनके विवाह और दाह संस्कार चम्पा के निवासियों की भाँति होते थे। 'दक्षिण-त्सी के इतिहास'[२८] (४७९–५०१ ई०) में भी ईसा की छठी शताब्दी के आरम्भ का फूनान का इतिहास है। इस वृत्तान्त के अनुसार उच्च कुल के लोग 'सरोंग' नामक एक रेशमी कढ़ा वस्त्र पहनते थे और स्त्रियाँ एक वस्त्र से अपना शरीर और शीश ढकती थीं। साधारण व्यक्ति केवल एक वस्त्र का प्रयोग करते थे। उनके लकड़ी के सुन्दर मकान थे और व्यापार के लिए ८०-९० फुट लम्बी तथा ६-७ फुट चौड़ी नावें बनाते थे। मनोरंजन के लिए मुर्गे की लड़ाइयाँ भी होती थीं। इनके सम्राट् और उसके पीछे स्त्रियां हाथी पर चलती थीं। चीनी स्रोतों से और भी वृत्तान्त मिलता है[२९] जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीयों के आगमन से देश का सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्तर बहुत ऊंचा उठ गया। भारतीय लिपि का प्रयोग तथा पुस्तकों का अध्ययन विशेष महत्त्व

२६. पू० सं०।

२७. पिलिओ, फूनान, पूर्व सं०, पृ० २५४। पिलिओ के मतानुसार 'हु' शब्द का प्रयोग मध्य एशिया के लिए हुआ है, पर सभी लिपियों का भारतीय लिपि से सम्बन्ध है। फूनान के संस्कृत भाषा में मिले तीन लेख इसकी पुष्टि करते हैं कि भारतीय लिपि और संस्कृत भाषा का प्रचलन उस देश में हो चुका था।

२८. पिलिओ, पू० सं०, पृ० २६१ से।

२९. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ३८-३९।

रखता है। फूनान से प्राप्त तीन संस्कृत लेख[30] धार्मिक और साहित्यिक प्रभाव पर प्रकाश डालते हैं। पहले लेख में विष्णु की उपासना कही गयी है। दूसरे में कुमार गुणवर्मन् द्वारा विष्णुचक्र तीर्थस्वामी के लिए दिये गये दानों का उल्लेख है। इसकी स्थापना में वेद, उपवेद तथा वेदांगों में पारंगत ब्राह्मण और श्रुतियों के ज्ञाता साधुओं ने भाग लिया था। इसमें भागवतों का भी उल्लेख है। तीसरे लेख में किसी बौद्ध स्थान के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है और बुद्ध, धर्म और संघ तथा आर्य संघियों का भी विवरण है। इस बौद्ध लेख में जयवर्मन् और उसके पुत्र रुद्रवर्मन् का नाम आया है और उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। जयवर्मन् का कोषाध्यक्ष (धनानामध्यक्षः) एक ब्राह्मण था और उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इन तीनों लेखों तथा चीनी स्रोत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सातवीं शताब्दी तक फूनान में शैव (माहेश्वर)[31], वैष्णव तथा बौद्ध धर्म अच्छी तरह फैल चुका था, और भारतीय संस्कृति ने वहाँ अपनी गहरी छाप लगा दी थी। कला के क्षेत्र में भी गुप्तकालीन मूर्ति तथा वास्तुकला का प्राचीन ख्मेर मूर्तियों तथा मन्दिरों पर प्रभाव पड़ा, जैसा कि प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वानों[32] ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

३०. सिडो, ज० ग्रे० इ० सो० ४, पृ० ११७ से तथा बु० इ० फ्रा० ३१, पृ० १ से। दूसरे लेख से प्रतीत होता है कि 'भक्ति और कर्म' के धार्मिक सिद्धान्तों ने भी अपना स्थान बना लिया था। चक्रतीर्थ स्वामी का भक्त सन्तुष्ट हृदय से उपासना कर अपने दुष्कृत कर्मों के प्रभाव से मुक्त होकर विष्णुलोक जाता है। 'मुक्तो दुष्कृतकर्म्मणा स परमं गच्छेत् पदं वैष्णवम्।' मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ० ४, पद १०।

३१. नागसेन ने चीनी सम्राट् के सम्मुख फूनान में प्रचलित माहेश्वर मत का उल्लेख किया और सम्राट् ने उसकी प्रशंसा की (पिलिओ, फूनान, पू० सं०, पृ० २५७ से। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ३२)।

३२. देखिए, पामांतिये (बु० इ० फ्रा० ३२, पृ०१८३), ग्रोसलिये (इ० ए०, भाग १, पृ० २९७-३१४), डूपो (बु० इ० फ्रा० ४१, पृ० २३३-२५४), ग्रूसे, इ० इ० ओ०, भाग २, पृ० ५७८। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग २, पृ० ३४७।

अध्याय ३

कम्बुज देश का प्रारम्भिक इतिहास

'तंग-वंश का नवीन इतिहास' के अनुसार रुद्रवर्मन् द्वारा ५३९ ई० में अंतिम बार फूनान से चीन के लिए राजदूत भेजा गया और उसके बाद ७वीं शताब्दी में पुन: राजदूत भेजे गये। इनके बीच के समय में फूनान की राजनीतिक परिस्थिति वदल चुकी थी। चेन-ला के आक्रमण के फलस्वरूप राजधानी टो-मो[1] से हटाकर दक्षिण में न-फू न ले जायी गयी। 'सुई वंश का इतिहास' के अनुसार चेन ला का राज्य लि-यि के दक्षिण-पश्चिम में था[2] और पहले यह फूनान के अधीन एक राज्य था। यहां का राजा क्षत्रियवंशज था और उसका नाम चित्रसेन था। उसके पूर्वजों ने अपने राज्य की शक्ति बढ़ायी थी और चित्रसेन स्वयं फूनान का शासक हो गया था। इसके पुत्र ईशानसेन ने ईशाननगर की स्थापना की। चेन-ला से प्रथम राजदूत ६१६-७ में चीन भेजा गया। 'सुई वंश का इतिहास' में केवल ५८९-६१८ ई० के बीच का ही वृत्तान्त है, पर एक दूसरे चीनी ग्रन्थ 'नान ये' के, जिसमें चेंग-कुअन

१. पिलिओ, फूनान, बु० इ० फ्रा०, भाग ३, पृ० २७४। सिडो के मतानुसार इस चीनी शब्द की समानता ख्मेर ध्याक् अथवा दल्माक् से की जा सकती है। इंस्क्रुपशंस डु कम्बोज (इ० कं०) भाग २, पृ० ११०, नोट ५। इसकी राजधानी व्याधपुर थी (बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १२७) जो वा नोम के निकट थी और वर्तमान प्राई-वेंग के बनाम-नाम गांव से इसकी समानता की जा सकती है। 'ली वंश' के इतिहास के अनुसार यह समुद्र तट से ५०० ली (२०० किलोमीटर) की दूरी पर था। लगभग इतनी ही दूरी पर ओसियो में खुदाई कराने पर प्राचीन भग्नावशेष मिले। सिडो, ए० हि०, पृ० ६९।

२. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७२। सिडो इसे मेंकांग के मध्य भाग में वसाक क्षेत्र के वत-फु के निकट रखते हैं। ए० हि०, पृ० ११४।

(६२७-६४९ ई०) का वृत्तान्त है,[३] अनुसार ईश.न ने इस काल के आरम्भ में फूनान पर अधिकार कर लिया था। चीनी स्रोतों से फूनान पर अधिकार करने का श्रेय चित्रसेन तथा ईशान दोनों को ही है और यह प्रतीत होता है कि चित्रसेन के पहले से ही उसके पूर्वजों ने फूनान पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया था और फूनान राज्य धीरे-धीरे संकुचित होता गया। अन्त में यह चेन ला का ही अंग बन गया।[४] चित्रसेन तथा ईशान का उल्लेख कम्बुज लेखों में भी मिलता है। अतः इन स्रोतों के आधार पर देश के इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

कम्बुज देश के प्रारम्भिक शासक

कम्बुज के प्रारम्भिक शासकों में श्रुतवर्मन् का नाम राजेन्द्रवर्मन् के वैकसाई चंक्रोन के लेख[५] में मिलता है। इसमें राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली श्रुतवर्मन् के समय से दी गयी है और उसे ही मूल कहा गया है जिससे वह वंश चला (**श्री कम्बुभूभर-भृतश् श्रुतवर्म्ममूला मौलादपास्तबलिबन्धकृताभिमाना**)। और इसने देश को परतंत्रता के बंधनों से मुक्त किया। इस वंश का जन्म कम्बु स्वायम्भुव और मीरा नामक अप्सरा के संसर्ग से हुआ था।[६] श्रुतवर्मन् का उल्लेख जयवर्मन् सप्तम के सं० ११०८ (११८६) के ता प्रोम के लेख में भी मिलता है।[७] जयवर्मन् इसी का वंशज था। इस लेख में श्रुतवर्मन् के पुत्र श्रेष्ठवर्मन् तथा उसकी राजधानी श्रेष्ठपुर का भी उल्लेख है (**श्रेष्ठपुराधिराजः**। पद ७)। इस लेख में 'कम्बुजराजलक्ष्मी' का भी

३. पिलिओ, पू० सं०, पृ० २७५।

४. फूनान के अन्त के विषय में सिडो ने एक लेख में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। बु० इ० फ्रा०, भाग ४३, पृ० १ से।

५. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ९२, पृ० १८५ से। जू० ए० १९०९ (१), पृ० ४६७। यह एक मन्दिर का नाम है जो वकँग पहाड़ी पर स्थित है और यह अंकोरधाम के दक्षिण में थोड़ी दूरी पर है।

६. कोयी के पल्लव वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की किंवदन्ती है और सिडो के मतानुसार इन दोनों वंशों की उत्पत्ति का स्रोत एक ही रहा होगा। (ए० हि०, पृ० ११५) बु० इ० फ्रा० ११, पृ० ३९१।

७. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १७७, पृ० ४६१-५-६।

उल्लेख है और पुनः भववर्मन् से वंशावली चली है। इस आधार पर भववर्मन् का श्रुतवर्मन् तथा श्रेष्ठवर्मन् के वंश के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। श्रेष्ठपुर के उल्लेख से श्रेष्ठवर्मन् तथा उसके पिता के मूल राज्य-स्थान का पता चल सकता है। श्रेष्ठपुर का उल्लेख शक सं० १०५८ के वठ-फु के लेख में भी है।[८] यह ख्मेर भाषा में है और इसमें भद्रेश्वरास्पद प्रदेश तथा श्रेष्ठपुर के विषय के कमीर संघ के लें-त्वन-लो और उसके पुत्र व्रहः-मूल-सूत्र द्वारा दिये दान का उल्लेख है। यह लेख लाओस में वसाक के निकट मिला और इससे यह प्रतीत होता है कि श्रेष्ठवर्मन् की राजधानी उत्तर में वसाक के निकट थी। 'सुई वंश का इतिहास' के आधार पर चेन-ला की राजधानी लिंग-किअ-पो-पो नामक एक पहाड़ी पर थी, जहां पर एक मन्दिर था। नगर के उत्तर की ओर पो-टो-ली नामक एक दैवी शक्ति के लिए नरबलि दी जाती थी। लिंग-किआ-पो-पो की समानता सरलता से लिंग-पर्वत से हो सकती है जो वत-फु पहाड़ी का दूसरा नाम था (**अत्र श्रीनर्तिलिंगपर्व्वतवरे**)।[९] इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फूनान के अतिरिक्त उत्तरी-पूर्वी भाग में भारतीयों ने एक और उपनिवेश स्थापित कर लिया था, जो पहले तो फूनान के अधीन था, पर बाद में वह स्वतंत्र हो गया तथा उसने फूनान पर अधिकार कर विस्तृत कम्बुज का रूप धारण किया। कदाचित् यहां भारतीयों का प्रवेश स्थल मार्ग से हुआ था। श्रुतवर्मन् तथा उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् के पश्चात् भववर्मन् का उल्लेख है जिससे कम्बुज वंश के राजाओं की वंशावली चली। ता-प्रोम लेख में कम्बुज-लक्ष्मी का भी उल्लेख है और यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या भववर्मन् का श्रुतवर्मन् के वंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था। यहां पर पहले भववर्मन् और उसके वंशजों के लेखों का उल्लेख करना आवश्यक है और उनके आधार पर भववर्मन् के श्रुत्रबर्मन् तथा फूनान के रुद्रवर्मन् के साथ सम्बन्ध, उनकी राजधानी तथा फूनान विजय और अन्त में उसके वंशजों पर प्रकाश डाला जायगा।

भववर्मन् प्रथम

भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारियों के कई लेख इस वंश के इतिहास पर

८. मजुमदार, यही नं० १११, पृ० ४३७।
९. यही, नं० ३७, पृ० ४७, पद ४।

प्रकाश डालते हैं। नोम-वंते के लेख[१०] में भववर्मन् द्वारा त्र्यंबक (शिव) की लिंग-स्थापना तथा उसके साथ में दिये गये धनदान का उल्लेख है जो उसने अपने धनुष के वल पर प्राप्त किया था (**शरासनोद्योग जितार्थदानैः**) दूसरा लेख[११] नोम प्र-विहार (कोंपोग-चंग प्रदेश) से मिला जिसमें भववर्मन् के एक पदाधिकारी विद्यापुष्प के दान का उल्लेख है। इस लेख के प्रथम भाग में भववर्मन् की प्रशंसा की गयी है तथा उसे सोमा-वंशज कहा गया है। तीसरा लेख पोंहिए-होर (त्रांग प्रान्त)[१२] में मिला, इसमें पसेंगपति नामक एक पदाधिकारी का उल्लेख है। उसने भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारी अथवा पूर्वाधिकारी के समय में पसेंग नामक किसी नगर अथवा विषय के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। इसने भववर्मन् से एक सुनहरा छत्र प्राप्त किया। चौथा लेख[१३] (कोंपोग सिएम और स्तुंग त्रांग) के बीच हन-ये के मन्दिर के द्वार के स्तम्भों पर दो भागों में लिखा मिला। प्रथम भाग में भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारी की प्रशंसा है तथा भद्रेश्वर नामक शिवलिंग की उग्रपुर के प्रान्तीय शासक द्वारा स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में भी उसे सोमा-वंशज कहा गया है (**सोमान्वये प्रसूतस्य**) लेख के दूसरे भाग में भी भववर्मन् की प्रशंसा की गय है। अन्तिम लेख तुंग-त्रांग के निकट बीलकन्तेल से प्राप्त हुआ,[१४] जिसमें त्रिभुवनेश्वर तथा सूर्य की मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। यह शर्वशर्मन् ने की थी जिसकी पत्नी वीरवर्मन् की पुत्री और भववर्मन् की बहिन (स्वसा) थी। अरुन्धती की भाँति यह पतिव्रता थी। इस लेख का राजनीतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व है क्योंकि इसमें भववर्मन् के पिता वीरवर्मन् का उल्लेख है। कदाचित् वह राजवंशीय न था और इसी लिए नोम-वंते के लेख में उसके स्वतः राज्य प्राप्त करने का उल्लेख है और अपनी वीरता

१०. मजुमदार, कम्बुज लेख।
११. स राजा भववर्म्मेति भवत्यधिकशासनः।
सोम-वंश्योऽप्यरिध्वान्तप्रध्वंसनदिवाकरः ।। (नं० १०, पृ० १२, ५-३)।
१२. मजुमदार, यही, नं० ११, पृ० १३।
१३. मजुमदार, यही, नं० १२, पृ० १३ से।
सोमान्वयनमस्सोमो यः कलाकान्तिसम्पदा।
रिपुनारीमुखाब्जेषु कृतबाष्पपरिप्लवः ।। (पद ३)
१४. यही, नं० १३, पृ० १८ से।

के कारण वह दोनों लोक अपने हाथ में लिये हुए था (**करस्थलोक-द्वितयेन तेन**) उपर्युक्त पांचों लेखों में कुछ भववर्मन् प्रथम से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य भववर्मन् द्वितीय का होना सूचित करते हैं। यह प्रश्न विवादास्पद है क्योंकि लेखों के मिलने के स्थानों से प्रतीत होता है कि भववर्मन् ने क्रम से कम्बुज क्षेत्र का भाग जीता होगा। उसकी तिथि तथा अन्य सम्बंधित विषयों पर प्रकाश डालने के लिए हमें उसके उत्तराधिकारियों के लेखों से भी सहायता लेनी होगी।

पूर्वज तथा वंशावली

फु-लो-खोन (मुन और मेकांग नदी के संगम के निकट) के लेख में[१५] महेन्द्रवर्मन् अथवा चित्रसेन द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। यह भववर्मन् का कनिष्ठ भ्राता तथा वीरवर्मन् का पुत्र और सार्वभौम का पौत्र था। यह कहना कठिन है कि 'सार्वभौम' से उसके राजकीय प्रशासक होने का संकेत होता है अथवा यह केवल उसका नाम ही था। इस लेख की कई प्रतिलिपियां भी अन्य स्थानों में मिलीं। भववर्मन् का उल्लेख अंग-चुमनिक (वा-नोम प्रान्त) के लेख[१६] में भी मिलता है जिसकी तिथि शक सं० ५८९ (६६७ ई०) है, और यह जयवर्मन् प्रथम के समय का है। इसमें जयवर्मन् के भिषज् सिंहदत्त, जो आढचपुर का शासक भी था, द्वारा श्री विजयेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में सिंहदत्त से चार पीढ़ी पहले तक के पूर्वजों का उल्लेख है और कम्बुज शासकों में रुद्रवर्मन्, भव-

१५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १५, पृ० २०।

नप्ता श्रीसार्व्वभौमस्य सूनुश् श्रीवीरवर्म्मणः।
शक्त्यानूनः कनिष्ठोऽपि भ्राता श्रीभववर्म्मणः॥
श्रीचित्रसेननामा यः पूर्व्वमाहतलक्षणः।
स श्रीमहेन्द्रवर्म्मेति नाम मेजेऽभिषेचनम्॥

इस लेख की अन्य प्रतिलिपियां खन-थेवद (बु० इ० फ्रा० २२-५८) थम-प्रसत (यही, पृ० ५९) तथा मुन नदी पर स्थित कृंग-तन (यही, पृ० ३८५) और इसी से मिलता एक अन्तिम पद मुओग-मुरिन (स्याम) के वत-जुमफोन में मिला। यही, पृ० ५९।

१६. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ३०, पृ० ३८ से।

वर्मन्, महेन्द्रवर्मन्, ईशानवर्मन् तथा जयवर्मन् का भी नाम मिलता है। इस लेख में भववर्मन् के विषय में लिखा है कि उसने अपनी शक्ति से अपना राज्य स्थापित किया था (**स्वशक्त्या क्रान्तराज्यस्य राज्ञश् श्रीभववर्मणः**। पद ५) और उसका राज्य कल्पतरु फल की भाँति था (**राज्यकल्पतरोः फलम्**)। इसी लेख में रुद्रवर्मन् की तुलना साम्राज्य विस्तार के क्षेत्र में दिलीप से की गयी है (**यस्य सौराज्यमद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम्**। पद २)। रुद्रवर्मन् और भववर्मन् के पारस्परिक सम्बन्ध पर इस लेख से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है, पर इन दोनों के बीच में कोई और शासक नहीं हुआ था। भववर्मन् का उल्लेख चम्पा में प्रकाशधर्म के माइ-सोन के लेख[१७] में भी मिलता है, जो शक सं० ५७९ (६५७ ई०) का है और इसमें भववर्मन् को एक शक्तिशाली शासक कहा गया है। इसने अपने बल और पुरुषार्थ से शत्रुओं को दबाया था (**क्षितिपतेश्शक्तित्रयश्लाघिनो**)। और उसके भाई महेन्द्र की तुलना इन्द्र से की गयी है (**त्रिदशाधिपतुल्यविक्रमः**)। इन लेखों के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है—

१७. बु० इ० फ्रा०, भाग ४, पृ० ९२३ से। मजुमदार, चम्पा, भाग ३, पृ० १६। इस लेख में भद्रेश्वरवर्मन् का किसी कार्य से भव (भवपुर) जाने का उल्लेख है जहां पर कौण्डिन्य ने द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त भाला आरोपित किया था। दूसरे भाग में भववर्मन् की त्रिकोणशक्ति, शत्रुओं के मान-दर्प-मर्दन, उसके सैनिक प्रयास तथा वीर कृतियों का भी उल्लेख है —

श्रीभववर्म्मणः क्षितिपतेश्शक्तित्रय श्लाघिनो, वीर्योद्दामसपत्नसंघ समर-स्पर्द्धाभिमानच्छिदः। (पद २०)
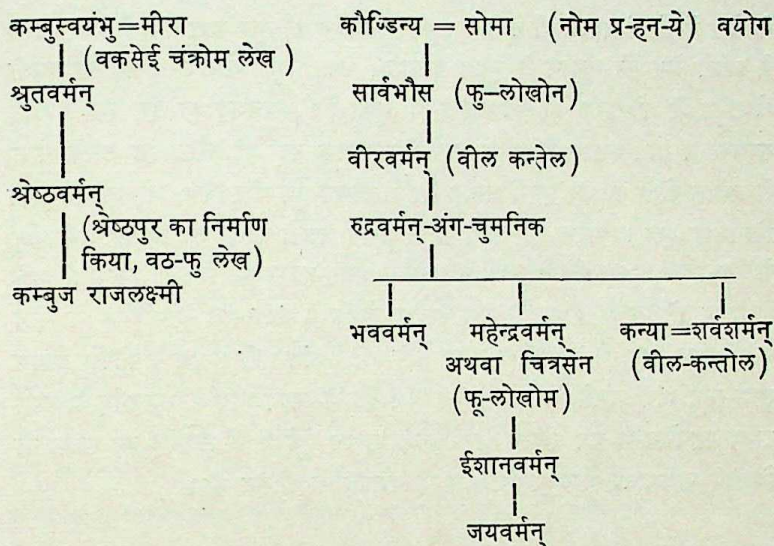
चीनी स्रोत 'सुई वंश का इतिहास' (५८९—६१८ ई०) में चेन-ला के विषय में लिखा है कि यह फूनान के अधीन एक राज्य था और इसका शासक क्षत्रिय था तथा उसका नाम चित्रसेन था और उसका फूनान पर भी अधिकार था। उसके पुत्र ईशानवर्मन् ने ईशानपुर नगर बसाया तथा ६१६ अथवा ६१७ ई० में उसने एक राजदूत चीन भेजा। 'नन ये' नामक एक अन्य ग्रन्थ में ईशान का राज्यकाल चेंग-कुआन यग (६२७-६४७ ई०) में रखा है तथा फूनान पर अधिकार का इसी को श्रेय दिया गया है।[१८]

विजय और राज्य विस्तार

उपर्युक्त वृत्तान्तों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कम्बुज-राज्य के शासकों का फूनान पर अधिकार करने का प्रयास धीरे-धीरे सफल हुआ और इसमें भववर्मन्, महेन्द्रवर्मन् तथा उसके पुत्र ईशानवर्मन् का भी हाथ था। ता-प्रोम

१८. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७५। सिडो, ए० हि०, पृ० ११९।

के लेख में जो वंशावली दी गयी है उसमें श्रुतवर्मन् को मूल कहा गया है और उसी ने अपने देश को फूनान से मुक्त कराया। उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् की राजधानी श्रेष्ठपुर थी जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। भववर्मन् का इस वंश से कोई सम्बन्ध न था। इसका पितामह सार्वभौम शासक रहा हो, जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता है, पर इसमें सन्देह है।[१९] उसका पुत्र वीरवर्मन्, जो भववर्मन् का पिता था, एक साधारण व्यक्ति था और उसने अपनी कन्या का विवाह शर्वशर्मन् से किया था। भववर्मन् ने अपने पुरुषार्थ से अपने राज्य का निर्माण किया। उसके लेखों के मिलने के स्थान से पता चलता है कि वे बटम-वंग के पश्चिम में पोंग चंगवें, त्रंग छड़ों से ३० मील उत्तर पश्चिम, मेकांग नदी के पूर्व में कोपोंग सिएम तथा स्तुंग त्रांग प्रान्तों में मिले।[२०] कम्बुज देश के मध्य भाग में भववर्मन् ने अपने राज्य का निर्माण कर लिया था। इसके उत्तर पूर्व में श्रेष्ठवर्मन् का राज्य था जिसकी राजधानी श्रेष्ठपुर लाओस के वसाक के निकट थी।

१९. भववर्मन् के पिता वीरवर्मन् को किसी लेख में राजकीय उपाधि नहीं दी गयी है। सिडो के मतानुसार उसका नाम श्री था और सार्वभौम से उसकी राजनीतिक सत्ता का संकेत होता है (बु० इ० फ्रा० भाग २२, पृ० ५८-५९)। गुप्त वंश के स्थापक श्री-गुप्त का नाम श्री था और गुप्त से उसके वंश का संकेत होता है। भववर्मन् के अपने तथा अन्य सम्बन्धित लेखों से प्रतीत होता है कि उसने स्वभुज-बल से अपने राज्य का निर्माण किया। अतः इस विषय पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि श्री सार्वभौम भी कहीं का शासक था अथवा वह कोई सामान्य व्यक्ति था।

२०. सिडो के मतानुसार भववर्मन् और उसके भाई चित्रसेन ने फूनान पर आक्रमण किया और पूर्व में मेकांग पर ऋते, मुन और उग्रेक के बीच बुरिअम, पश्चिम में विशाल झील के आगे भोंगोल बोराई तक अपना राज्य विस्तृत किया। दक्षिण में फूनान की राजधानी टू-मो (व्याधपुर अथवा बो-नोम) से न-फुन्न (नर्वनगर) ले जायी गयी (ए० हि०, पृ० ११९), सिडो, बु० इ० फ्रा०, भाग ४३, पृ० ३-४। हन-ये के लेख में भववर्मन् को महाराजाधिराज कहा गया है। मजुमदार के अनुसार इस लेख का सम्बन्ध भववर्मन् द्वितीय से है। (कम्बुज देश, पृ० ५३)।

ता प्रोम के लेख में श्रेष्ठवर्मन् के बाद कम्बुज राजलक्ष्मी और दूसरे पद में भववर्मन् का उल्लेख मिलता है और अंग-चुमनिक के लेख में रुद्रवर्मन् के बाद भववर्मन् का नाम आता है। अतः यह प्रतीत होता है कि पहले भववर्मन् ने उत्तर-पूर्व में श्रुतवर्मन् के राज्य पर अधिकार किया और कदाचित् कम्बुज लक्ष्मी से विवाह कर वह अधिकृत रूप से वहां का शासक बन बैठा और फिर वह दक्षिण की ओर बढ़ा।[२१] इस वंश का फूनान पर सम्पूर्ण अधिकार ईशानवर्मन् के समय में हुआ था, जिसने ६१७ ई० में एक राजदूत चीन भेजा। फूनान की ओर से अन्तिम शासक रुद्रवर्मन् ने ५३९ ई० में अपना दूत चीन भेजा था। अतः ५३९= ६१७ ई०=-७८ वर्ष के काल में हम रुद्रवर्मन् तथा फूनान के अन्त, भववर्मन्, महेन्द्रवर्मन् अथवा चित्रसेन और ईशानवर्मन् के प्रारम्भिक काल को रख सकते हैं। अंग-चुमनिक लेख में भिषज्-कुल की कई पीढ़ियों का उल्लेख है। ब्रह्मदत्त तथा उसके भाई ब्रह्मसिंह रुद्रवर्मन् के भिषज् थे। इससे प्रतीत होता है कि रुद्र वर्मन् का राज्यकाल लम्बा था। अतः लगभग ५५० ई० तक उसका राज्य काल रखा जा सकता है। ब्रह्मदत्त के भागिनेय धर्मदेव और सिंहदेव तथा उसके भाई भववर्मन् और महेन्द्रवर्मन् के वैद्य थे। धर्मदेव का पुत्र सिंहवीर ईशानवर्मन् का मंत्री था और उसका पुत्र सिंहदत्त जयवर्मन् की ओर से आढचपुर का शासक था। यदि ईशानवर्मन् के अभिषेक की तिथि ६०० ई० मानें और भववर्मन् तथा उसके भाई महेन्द्रवर्मन् का लगभग ३० और २० वर्ष का राज्यकाल निर्धारित करें, तो भववर्मन् ने लगभग ५५० से ५८० तक और उसके भाई महेन्द्रवर्मन् ने लगभग ५८० से ६०० तक राज्य किया।

२१. ता-प्रोम के लेख में श्रेष्ठवर्मन् को सूर्यवंशज और भववर्मन् को चन्द्र-वंशज कहा गया है। वकसेई-चंक्रोम लेख में कम्बुस्वयंभु के वंशजों ने सूर्य और चन्द्र कुलों का एकीकरण किया। इसके अतिरिक्त ता-प्रोम के लेख में श्रेष्ठवर्मन् और भववर्मन् के बीच में कम्बुज राजलक्ष्मी का उल्लेख है। मजुमदार के मतानुसार यह प्रतीत होता है कि भववर्मन् ने कम्बुज राजलक्ष्मी से, जो कदाचित् श्रेष्ठवर्मन् की पुत्री थी, विवाह कर दोनों वंशों को एक में मिलाया और उसका सम्पूर्ण कम्बुज पर अधिकार हो गया।

चित्रसेन महेन्द्रवर्मन्

चित्रसेन महेन्द्रवर्मन्-लेखों और चीनी स्रोतों के अनुसार भववर्मन् के बाद उसके भाई चित्रसेन अथवा महेन्द्रवर्मन् ने राज्य किया।[२२] उसके लेखों में[२३], थ्मा-क्रे (संभोर के दक्षिण में मेकांग नदी पर स्थित एक गांव) चट्टान पर अंकित लेख में चित्रसेन द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। इसकी दो और प्रतिलिपियां भी कुआं-अंफिल (बील-कन्तेल के दक्षिण) तथा स्याम के रजशिमा प्रान्त के थम तथोंग में मिली हैं।[२४] उसका फू-लोखोन का लेख[२५] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। इसमें उसकी वंशावली है तथा महेन्द्रवर्मन् नाम भी है जो उसने सिंहासन पर बैठने पर रखा। इस लेख की भी कई प्रतिलिपियां अन्य स्थानों में मिली हैं।[२६] स्याम के सुरिन में प्राप्त एक अन्य लेख[२७] में सब देशों पर विजय-प्राप्ति के पश्चात् एक नन्दी की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है (**निखलैर्देशा अस्मिन् देशे शिलामयम् वृषभं स्थापयम्**)। 'सुईवंश का इतिहास' के अनुसार यह फूनान का शासक बन बैठा और इसके बाद ईशानवर्मन् सिंहासन पर

२२. डा० मजुमदार के मतानुसार हन-ये लेख से प्रतीत होता है कि भववर्मन् के बाद उसका कनिष्ठ पुत्र सिंहासनारूढ़ हुआ और दानी ने कदाचित् दोनों शासकों की सेवा की थी, ('उपधाशुद्धिमान् भृत्यस्तयोरवनिपालयोः)' यह कहना कठिन है कि उसकी थोड़े ही समय में मृत्यु हो गयी अथवा चित्रसेन नामक चाचा उसका वध कराकर स्वयं राजा बन बैठा। इस सम्बन्ध में एक चीनी वृत्तान्त भी उल्लेखनीय है जिसमें चित्रसेन के राज्याभिषेक के बाद ही लिखा है कि जैसे ही कोई नया शासक सिंहासन पर बैठता है तो उसके भाइयों की नाक और उंगलियां काट ली जाती हैं और वे बन्दी कर लिये जाते हैं। (कम्बुज देश, पृ० ५४)।

२३. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १४, पृ० १९ से। ब्रु० इ० फ्रा०, ३, २१।

२४. बु० इ० फ्रा०, ४.७३९। २२-९२।

२५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १५, पृ० २०।

२६. बु० इ० फ्रा० २२, पृ० ५८-५९, ३०५।

२७. सिडो, कम्बुज लेख, भाग ५, पृ० ३।

बैठा। इसने चम्पा से मित्रता स्थापित करने के लिए वहां एक दूत भी भेजा।[२८] महेन्द्रवर्मन् के लेखों से पता चलता है कि उसने कम्बुज राज्य की सीमा को बढ़ाया। उत्तर में वह मेकांग की घाटी में बसाक से आगे चन-नखोन और स्याम में सुरिन तक था, तथा दक्षिण में वनोम (व्याघपुर) तक वह पहुँच चुका था, जैसा कि चीनी वृत्तान्त से प्रतीत होता है।

ईशानवर्मन्

इस वंश का सबसे महान् शासक ईशानवर्मन् था जिसने फूनान पर पूर्णतया अधिकार कर अपने राज्य की सीमाओं को विस्तृत किया तथा चम्पा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा मित्रता स्थापति की और चीन में भी राजदूत भेजा। चीनी स्रोत के अनुसार सिंहासन पर बैठने पर इसने अपने सब भाइयों को बन्दी कर लिया,[२९] पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसके लेख मेकांग और मुन के संगम से उसके मुहाने तक के क्षेत्र में मिले हैं। पर अधिकतर यह कोपोंग थोम के उत्तर में संभोर प्राई कुक क्षेत्र में मिले हैं और कदाचित् यहीं पर इसकी राजधानी ईशानपुर भी होगी।[३०] क्योंकि इसी नाम से चीनी यात्री श्वान चांग ने भी कम्बुज का संकेत किया है।[३१] ईशानवर्मन् की रानी का नाम शाकारमंजरी था[३२] (श्री ईशानवर्म्मनाम्नस्तस्य नृपेन्द्रस्य या प्रिया पत्नी शाकारमंजरी) और इसकी

२८. सिंहदेवोऽनुजो राज्ञा दूतत्वे सत्कृतः कृती।
प्रीतये प्रेषितः प्रेम्णा चम्पाधिपनराधिकम्॥
मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ० ३९, पद ८।

२९. आमोनिए, कम्बुज, पृ० ३२। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ५५।

३०. ईशानवर्मन् की राजधानी की समानता कोपोंग-थोम के उत्तर में संभोर प्राई-कुक के क्षेत्र से की जा सकती है, जहां पर इसके सबसे अधिक लेख मिले हैं। (बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १२५)। सिडो, ए० हि०, पृ० १२०।

३१. श्वान-चांग के मतानुसार ईशानवर्मन् का राज्य उत्तर में हिन्दचीन के मध्य भाग, पश्चिम में द्वारावती, मध्य स्याम तथा पूर्व में महाचम्पा-अनम तक विस्तृत था। वील, भाग २, पृ० २००।

३२. सिडो, कम्बुज, लेख ४, पृ० २४।

पुत्री का विवाह दक्षिण (कदाचित् दक्षिण भारत) के शक ब्राह्मण दुर्ग स्वामिन् अथवा उसके एक शिष्य के साथ हुआ था। अंकोर-कालीन ख्मेर लेखों में शक अथवा शक ब्राह्मण की विचित्र मूर्ति का उल्लेख कई बार हुआ है।"[३३] चम्पा के इतिहास में भी इस कम्बुजसम्राट् का नाम आता है। महेन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र ईशानवर्मन् ने चम्पा के घरेलू विषयों में हस्तक्षेप किया था। ईशानवर्मन् की पुत्री श्री सर्वाणी का विवाह चम्पा के जगद्धर्म के साथ हुआ था और उनके पुत्र प्रकाशधर्म ने सिंहासनारूढ़ होने पर शासन-व्यवस्था स्थापित की थी।[३४] ईशानवर्मन् के संभोर-प्राई कुक के ५४९ शक सं० (६२७ ई०) के लेख से उसकी तिथि निर्धारित होती है। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उसने किस समय तक राज्य किया, पर नोम पेन्ह के शक सं० ५६१ के लेख से प्रतीत होता है कि ६३९ ई० में भववर्मन् (द्वितीय) कम्बुज का शासक था।[३५] अंग-चुमनिक लेख के अनुसार ईशानवर्मन् के बाद जयवर्मन् (प्रथम) शासक हुआ और इसके तुओल-कोकप्राह के शक सं० ५७९ के लेख से प्रतीत होता है कि ६५७ ई० में जयवर्मन् (प्रथम) कम्बुज का शासक था।

जयवर्मन् प्रथम

भववर्मन् प्रथम के वंश में जयवर्मन् प्रथम अन्तिम शासक था, जैसा कि अंग

३३. राको पि लज्जते समये...
श्री ईशानवर्म्मणस्तस्य जन्मय...
यस् सुता संप्रदानेन पूजा...
यंत्रब्राह्मण सूत्रेषु तेत्रिय...
दक्षिणपथ जन्मा यो दुर्गस्वामि

महाभारत में शक द्वीप के ब्राह्मण को मग कहा गया है। सिडो, कम्बुज लेख, भाग १, पृ० १९५। बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १०५, नं० १। ११६। ३२, पृ० ७३।

३४. मजुमदार, चम्पा, नं० १२, पृ० २३।

३५. इसका एक और लेख नोम बयान में मिला जिसमें उत्पन्नेश्वर देवता की मूर्तिस्थापना का उल्लेख है। इसमें कोंगवर्मन् का उल्लेख भी है और यह शब्द दक्षिण पूर्वी भाग के गंग राजाओं के लेखों में भी पाया जाता है। कोड इ० का०, भाग १, पृ० २५२। ज० ग्रे० इ० सो० भाग ४, पृ० १५६।

चुमनिक के लेख से प्रतीत होता है। जयवर्मन् का प्रथम लेख शक संवत् ५७९ (६५७ ई०) तुओल कोक प्राह (प्राई वांग प्रान्त) से और अन्तिम लेख तुओल अन त्नोत (तकओ प्रान्त) से शक सं० ६०३ (६८१ ई०) का मिला है। इसके लेख वत-फु (बसाक) से लेकर वा-नोम प्रान्त तक में मिले हैं और इनसे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् ने विस्तृत कम्बुज राज्य पर पूर्णतया अधिकार रखा। अंग-चुमनिक के सं० ५८९ के लेख में सम्राट् जयवर्मन् के भिषज् सिंहदत्त द्वारा, जो आढचपुर का शासक था, श्री विजयेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इसके लेखों में कई राज्य-पदाधिकारियों का भी उल्लेख है। ज्ञानचन्द्र उसका अमात्य था जिसने आम्रातकेश्वर की मूर्ति स्थापित की थी।[३६] सम्राट् के 'राजसभाधिपति' ने एक शिवलिंग स्थापित किया था।[३७] तन-क्रन के लेख[३८] में धर्मस्वामी नामक वेद-वेदांग-पारग ब्राह्मण विद्वान् का उल्लेख है, जिसके ज्येष्ठ पुत्र ने 'महाश्वपति', 'श्रेष्ठपुर-स्वामी, ध्रुव पुरस्वामी पदों को सुशोभित किया था और उसका छोटा भाई 'नरेन्द्र-परिचारक' तथा सम्राट् के अंगरक्षक के मुख्य (**नृपान्तरंगयोधानां परिग्राहो** तथा **'समन्तनौवाहन'**) पदों पर आसीन रहा।

'तकेओ प्रान्त में इस शासक के अधिकार समय के लेख मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वह अंकोर वोराई में अधिक समय तक रहा। प्राचीन राजधानियों में व्याधपुर (बा नोम) तथा लिंगपर्वत (वत-फु) में भी मूर्तियों की स्थापना के लेख उन स्थानों की प्रधानता का संकेत करते हैं। श्रेष्ठपुर में सम्राट् की ओर से शासक नियुक्त था। इस सम्राट् का चीन के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्पर्क रहा। तंग-वंश के प्राचीन इतिहास के अनुसार काओ सोंग के राज्यकाल (६५०-६८३ ई०) में चेन ला से चीनसम्राट् के पास दूत आये।[३९]

जयवर्मन् प्रथम के बाद कम्बुज राज्य का इतिहास अंधकारमय हो जाता है। तंग वंश के इतिहास के आधार पर ७०६ ई० में देश दो भागों में विभाजित हो चुका था। उत्तर की घाटियों और पहाड़ियों से घिरा क्षेत्र 'पृथ्वी चेन ला' कहलाता

३६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० २८।
३७. यही, नं० ३३।
३८. यही, नं० ३४।
३९. सिडो, ए० हि०, पृ० १२४।

था और दक्षिण का झील तथा समुद्र तट का भाग 'जल चेन ला' नाम से सम्बोधित किया जाता था। जयवर्मन् का ३० वर्ष का राज्यकाल शांतिमय बीता, पर उसके बाद देश में अशान्ति और अराजकता का वातावरण छा गया। कदाचित् उसका कोई उत्तराधिकारी न था। अंकोर से प्राप्त ७१३ ई० के एक लेख[४०] में जयदेवी रानी को समय की अभागिनी कहा गया है और इसमें शिव त्रिपुरांतक की मूर्ति को दिये दानों का उल्लेख है, जिसकी स्थापना जयवर्मन् की पुत्री ने की थी। उसका विवाह भारत के शैव ब्राह्मण चक्रस्वामिन् से हुआ था।

एक सौ वर्ष से अधिक के राज्यकाल में भववर्मन् और उसके वंशजों ने कम्बुज राज्य को फूनान की अधीनता से विमुक्त कराकर एक विस्तृत शक्तिशाली राष्ट्र बनाया। इस कार्य में भववर्मन् के अतिरिक्त उसके भाई महेन्द्रवर्मन् तथा भतीजे ईशानवर्मन् का बड़ा हाथ था। कम्बुज राज्य वसाक से वा नोम के नीचे पहुँच चुका था। फूनान का अस्तित्व धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था और जैसा कि चीनी स्रोतों से प्रतीत होता है, लगभग ६३५ ई० में फूनान का पूर्ण रूप से अन्त हो गया। च्वान चांग के मतानुसार[४१] ईशानवर्मन् की राजधानी ईशानपुर से ही सम्पूर्ण कम्बुज का संकेत होता था। जयवर्मन् प्रथम ने इस विस्तृत साम्राज्य को सुरक्षित रखा और उसने सुचारु रूप से शासन किया, जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है और उसने चीन तथा चम्पा के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखा। पर उसके बाद कम्बुज का इतिहास अंधकारमय हो जाता है, क्योंकि यह छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया जिनका न तो कोई इतिहास ही लिखा जा सकता है और न उनकी समानता ही दिखायी जा सकती है। चीनी स्रोत तथा कुछ लेखों के आधार पर इस अंधकार युग में प्रकाश की रेखा कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

४०. बु० इ० फ्रा०, भाग ३९, पृ० ३४१।
४१. सिडो, ए० हि०, पृ० ११९।

अध्याय ४

अन्धकार युग से जयवर्मन् द्वितीय और तृतीय तक

आठवीं शताब्दी का कम्बुज इतिहास अंधकारमय है। इस समय के कुछ लेख तथा चीनी स्रोतों के सिवा देश का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है।[1] तंग वंश के इतिहास के अनुसार ७०५-७०६ ई० के बाद चेन-ला अथवा कम्बुज दो भागों में बंट गया था; 'स्थल कम्बुज' और 'जल कम्बुज'।[2] स्थल कम्बुज के, जिसे वेन-तन तथा पो-ल्यू नामों से भी सम्बोधित किया गया है, अन्तर्गत कम्बुज का उत्तरी भाग था और इसमें पहाड़ियां तथा घाटियां थीं। दक्षिणी भाग में समुद्रतट निकट था और इसमें कासार तथा झीलें थीं। मा-त्वान-लिन के अनुसार जल कम्बुज ८०० ली के घेरे में था और इसका शासक पो-लो-ति-प में रहता था।[3] स्थल कम्बुज में कम्बुज का उत्तरी भाग, टोंकिन के निकट लाओस का अधिक भाग तथा युंनान का थाई राज्य था। इसका चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध था और ७१७ ई० में वहां से एक दूत चीन भेजा गया था। पांच वर्ष बाद अनम विद्रोही न्घेअन को सहायता देकर इसने चीनी सेना को हरा

१. इस काल के इतिहास का विशेष रूप से डूपो ने अपने लेख चेन-ला में उल्लेख किया है। बु० इ० फ्रा० ४३, पृ० १७ से।

२. बु० इ० फ्रा० ३६, पृ० १ से। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ६७।

३. सिडो के मतानुसार जल कम्बुज की राजधानी पो-लो-ति-प की समानता बालादित्य द्वारा बसाये गये नगर बालादित्यपुर से की जा सकती है। वह कौंडिन्य तथा नागी सोमा-वंशज था और उसका सम्बन्ध फूनान के राज्य से रहा होगा। बु० इ० फ्रा०, भाग १८, पृ० १२७-१३१। ए० हि०, पृ० १५०। कम्बुज विभाजन का कारण देश की अराजकता थी जो जयवर्मन् प्रथम की मृत्यु के बाद कम्बुज में हुई। (ब० इ० फ्रा० ३६, पृ० १८)।

दिया।[४] थोड़े समय बाद इसका चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और ७५० ई० में यहां से एक दूत चीन भेजा गया। ७५३ में यहां का राजकुमार अन्य राज्यकर्मचारियों के साथ चीन गया। ७७१ ई० में पो-मो नामक शासक स्वयं चीन गया। अन्तिम दूत ७९९ में चीन भेजा गया।[५] चीनी वृत्तान्त के आधार पर यह प्रतीत होता है कि उत्तरी अनल स्थल कम्बुज का राजनीतिक सम्बन्ध चीनी साम्राज्य के टोंकिन प्रान्त के निकट होने के कारण चीन से बराबर बना रहा और मेकांग की मध्य घाटी तक इस राज्य की दक्षिणी सीमा थी, जैसा कि किअ टिअन के 'यात्रा' नामक ग्रन्थ से भी प्रतीत होता है।[६] कदाचित् इसी काल का एक लेख फू-खिओ-काओ (कोरत के छैया-फुम) में मिला जिसमें सम्राट् जयसिंहवर्मन् का उल्लेख है।[७]

दक्षिण कम्बुज

जल कम्बुज अथवा दक्षिणी कम्बुज में कई छोटे-छोटे राज्य हो गये थे और इनका उल्लेख यशोवर्मन् के लेखों में मिलता है, जो ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में विशाल कम्बुज देश का शासक हो गया है। प्रह्-वत, प्रे-रूप और मेवीब के लेखों के अनुसार अनिन्दितपुर के वंश में पुष्कराक्ष नामक एक शासक हुआ जिसने शम्भुपुर का राज्य प्राप्त किया था। यह नृपतीन्द्रवर्मन् का पुत्र था जिसकी मां सरस्वती अनिन्दितपुर शासक बालादित्य की भांजी थी। अनिन्दितपुर के शासक कौण्डिन्य और सोमा के वंशज थे। पुष्कराक्ष ने शम्भुपुर राज्य पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था।[८] इसी वंश में राजेन्द्रवर्मन् नामक एक शासक भी हुआ जिसकी मां

४. मासपेरो, बु० इ० फ्रा० १८, नं० ३, पृ० २९-३०। सिडो, ए० हि०, पृ० १४९।

५. पियो ट्यू इटीनरर्स (द० इ०), पृ० २१२। सिडो, ए० हि०, पृ० १४८।

६. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ६८।

७. सिडो, ए० हि०, पृ० १६२।

८. 'आसीदनिन्दितपुरेश्वरवंशजातः, श्री पुष्कराक्ष इति शम्भुपुराप्तराज्यः।' प्र-वत, मे-वोन और प्रे-रूप के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है—

व्याधपुर के अधिराजवंश की थी और उसने भी शम्भुपुर में राज्य किया।[९] शम्भुपुर की समानता मेकांग पर स्थिर सम्भोर से की गयी है।[१०] इन लेखों में उल्लिखित दो अन्य राज्य अनिन्दितपुर और व्याधपुर थे। आमोनिये के मतानुसार व्याध-पुर की समानता प्राई-क्रेवास के अंगोर-वोराई से की जा सकती है, पर सिडो इसे वा-नोम पहाड़ी के नीचे रखते हैं और कदाचित् इससे प्राचीन फूनान का संकेत था। अनिन्दितपुर के विषय में सिडों का मत है कि यह अंकोर के पूर्व तथा प्रसिद्ध सरोवर
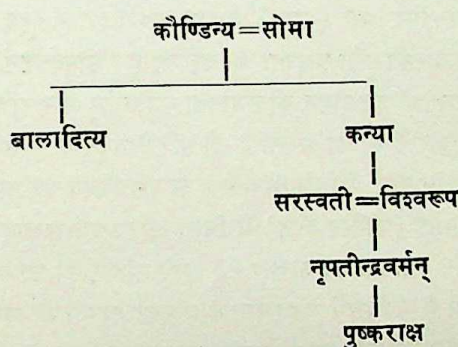
९. तद्वंशजो व्याधपुराधिराजः
संतानसंपादितमातृवंशजः।
राजेन्द्रवर्म्मेति गुणैकराशि।
रवाप यः शम्भुपुरेऽपि राज्यम्।
प्रह्-वत लेख ५-३, मजुमदार, नं० ६०, पृ० ७६।

१०. आमोनिये, कम्बुज लेख, भाग १, पृ० ३०९। सिडो के मतानुसार शम्भुपुर की समानता निश्चित रूप से मेकांग पर स्थित सम्भोर से की जा सकती है जैसा कि आमोनिये का मत है। शम्भुपुर का उल्लेख सम्भोर से ३ किलोमीटर की दूरी पर मिले एक लेख में भी है और यहां प्राचीन भग्नावशेष भी मिले हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह स्थान ७-८वीं शताब्दी में प्रसिद्ध था। सम्भोर से ५० किलो-मीटर दक्षिण-पूर्व में प्र-थत-क्वन के लेख में ७१६ ई० (शक सं० ६३८) में पुष्कर द्वारा श्री पुष्कराक्ष देवता की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। (बु० इ० फ्रा०, भाग २८, पृ० १३१)।

के उत्तर में होना चाहिए।[११] इन तीन छोटे राज्यों में पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध तथा संघर्ष होना स्वाभाविक था। कुछ विद्वानों के मतानुसार शम्भुपुर और व्याधपुर राज्यों का एकीकरण राजेन्द्रवर्मन् के समय में हुआ, पर लेखों में केवल व्याधपुर की कुमारी के साथ राजेन्द्रवर्मन् के विवाह का उल्लेख है। यदि व्याधपुर की समानता वो-नोम (प्राचीन फूनान) से मान ली जाय तो यशोवर्मन् का, जो राजेन्द्रवर्मन् का प्रपौत्र था, सम्बन्ध प्राचीन राजवंश से स्थापित हो सकता है।

पुष्कर-शम्भुवर्मन् नृपादित्य

प्रा-थत-कवन पिर क्रते (प्रान्त) के शक सं० ६३८ (७१६ ई०) के लेख में पुष्कर द्वारा पुष्करेश की मूर्त्ति स्थापना का उल्लेख है (**श्रीपुष्करेशो द्विजवरमुनिभिः स्थापितः पुष्करेण**)।[१२] इस पुष्कर की समानता यशोवर्मन् और राजेन्द्रवर्मन् के लेखों में उल्लिखित पुष्कर से की जा सकती है जो अनिन्दितपुर के शासक बालादित्य का वंशज था। कोचिन चीन में मिले तीन लेख भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम लेख[१३] थप-मुई (कोचिन-चीन) में मिला और इसमें सम्राट् शम्भुवर्मन् द्वारा पुष्कराक्ष की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इसी मन्दिर का उल्लेख वहीं पर मिले दूसरे लेख में भी है,[१४] जिसमें मूल स्थान में पुष्पवट स्वामी की मूर्ति स्थापना का विवरण है। तीसरा लेख लोन-जुएन क्षेत्र में नुई-वथे पहाड़ी के निचले भाग में मिला और यह वर्धमान लिंग की स्थापना से सम्बन्धित है।[१५] इस पुण्यकार्य का फल राजा नृपादित्य को अर्पित किया गया है। इन लेखों से पता चलता है कि शम्भुवर्मन् तथा नृपादित्य नामक शासकों का कोचिन चीन क्षेत्र पर अधिकार था और उनका

११. ए० हि०, पृ० १३३।

१२. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ५०, पृ० ५५।

१३. बु० इ० फ्रा० ३६, नं० ३। मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० २०, पृ० २५।

१४. बु० इ० फ्रा० ३६.५। आमोनिए १.१३९। मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० २१, पृ० २६।

१५. बु० इ० फ्रा० ३६.७। मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० २२, पृ० २६-२७। इस लेख में वर्धमानदेव (विष्णु) की उपासना कही गयी है और वहीं पर एक विष्णु की भी मूर्ति मिली, पर शिवलिंग का उल्लेख यह संकेत करता है कि यह शैव लेख है।

पुष्कर राजा के साथ संबंध था। राजेन्द्रवर्मन् के लेखों में इनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं है। कदाचित् यह प्रतीत होता है कि ज़यवर्मन् प्रथम की मृत्यु के पश्चात् कम्बुज दो राज्यों में बँट गया, जिनमें एक की राजधानी शम्भुपुर और दूसरे की अनिन्दितपुर थी। अनिन्दितपुर के शासक अपने को सोमा और कौण्डिन्य का वंशज मानते थे और यह संभव है कि उनका भववर्मन् के वंश के साथ भी कुछ सम्बन्ध रहा हो। पर इन दोनों वंशों का विस्तृत इतिहास नहीं मिलता है। शक सं० ७२५ (८०३ ई०) के एक ख्मेर लेख में[१६] ज्येष्ठार्या नामक सम्राज्ञी द्वारा दिये गये दान का तथा तीन व्यक्तियों; जयेन्द्र, राज्ञी नृपेन्द्र देवी तथा श्री इन्द्रलोक गये शासक का उल्लेख है। यह लेख सम्भोर के एक मन्दिर में खुदा मिला है और इससे यह प्रतीत होता है कि इन व्यक्तियों का शम्भुपुर से सम्बन्ध था। सिडो के मतानुसार स्थल कम्बुज की समानता अनिन्दितपुर और शंभुपुर के संयुक्त राज्य से की जा सकती है।[१७]

जावा और कम्बुज

कम्बुज साम्राज्य की राजनीतिक एकता ८वीं शताब्दी में नष्ट हो चुकी थी और भववर्मन्, महेन्द्रवर्मन् तथा ईशानवर्मन् का स्थापित साम्राज्य अब कई टुकड़ों में बँट गया था। अतः विदेशी शक्तियों का कम्बुज की परिस्थिति में हस्तक्षेप करना स्वाभाविक था। शैलेन्द्रों का उत्कर्ष भी इसी समय में हुआ और उनका साम्राज्य सुमात्रा, जावा, मलय प्रायद्वीप तथा वहुत-से अन्य प्रद्वीपों तक फैल चुका था। मलाया के उत्तरी भाग तक शैलेन्द्रों का अधिकार पहुँच चुका था और कम्बुज को उस ओर से भय था। लेखों से प्रतीत होता है कि कम्बुज देश पर जावा का अधिकार हो चुका था। जावा के राजा संजय के ७३२ ई०[१८] के लेख में लिखा गया है कि उसने निकटवर्ती राजाओं को हराया और उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। एक अन्य ग्रन्थ 'चरित्र परह्यन्गन्' में जावा और बालि पर विजय के पश्चात् संजय

१६. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ५३, पृ० ५७।
१७. बु० इ० फ्रा० ३६, पृ० १२।
१८. चंगल लेख (चटर्जी और चक्रवर्ती, इंडिया एण्ड जावा, भाग २, पृ० २९ से, पद ११)।

का मलयु की ओर बढ़ने का उल्लेख है तथा ख्मेर और श्रीविजय की हार का भी विवरण है।[१९] अरबी लेखक सुलेमान के; जिसने अपना 'भारत और चीन यात्रा' ग्रन्थ ८५१ ई० में लिखा और जिसे अब्बुज़ैद ने ९१६ ई० में उद्धृत किया, अनुसार ख्मेर के शासक द्वारा 'महाराज' शासक का कटा शीश देखने की इच्छा प्रकट करने पर उसे स्वयं अपना शीश देना पड़ा। महाराज ने एक बड़ी नौसेना लेकर ख्मेर राज्य पर आक्रमण कर दिया, सम्राट् का वध किया और पुनः वह अपने देश लौट आया।[२०] कम्बुज के स्डोक काक लेख के, जो शक सं० ९७४ (१०५२ ई०) का है और ख्मेर तथा संस्कृत में लिखा है, अनुसार जावा से जयवर्मन् द्वितीय इन्द्रपुर आया और यहां उसने एक धार्मिक कृत्य किया, जिससे कम्बुज देश पुनः जावा के अधीन न रहे।[२१] समुद्री मार्ग से जावा के सैनिकों के आक्रमणों का उल्लेख हमें चम्पा के कुछ लेखों में भी मिलता है। ७८४ ई० के एक लेख में लिखा है कि ७७४ ई० में बाहर के असभ्य पुरुषों ने जहाजों में आकर दक्षिण अनम के शिवमन्दिर को जला दिया।[२२] ७९९ ई० के एक दूसरे लेख में जावा के सैनिकों द्वारा जहाजों में आकर शक सं० ७०९ (७८७ ई०) में चम्पा के एक मन्दिर को जलाने का उल्लेख है।[२४] चम्पा पर इस प्रकार के आक्रमणों के लिए जावा का कम्बुज पर किसी न किसी रूप में अधिकार होना आवश्यक था। लेख, चीनी वृत्तान्त, सुलेमान और अलमसूदी का विवरण[२५] इस प्रकार जावा के थोड़े काल के लिए कम्बुज पर अधिकार अथवा नियंत्रण का संकेत करते हैं। कम्बुज की राजधानी को ऊपरी भाग में ले जाना भी इसी की पुष्टि करता है।

जयवर्मन् द्वितीय और तृतीय

नवीं शताब्दी के आरम्भ में कम्बुज के इतिहास का एक पृष्ठ पलटता है।

१९. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० २३०।
२०. फेरंड, 'वोयाज', पृ० ९८-१०२। सिडो, ए० हि०, पृ० १६०-१।
२१. बु० इ० फ्रा० १५ (२), पृ० ८७। मजुमदार, कम्बुज, लेख पृ० ३६४।
२२. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० २२, पृ० ४१ से।
२३. यही, नं० २३, पृ० ४४ से।
२४. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १५६। मासपेरो, चम्पा, पृ० १३०।
२५. इलियट और डौसन, हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृ० ८।

राजनीतिक अस्थिरता, पारस्परिक संघर्ष, देश के विभाजन तथा विदेशी आक्रमणों के स्थान पर एकता, समृद्धिशालिता, संगठन और धार्मिक तथा कलात्मक क्षेत्र में विकास इस युग की प्रमुखताएं हैं। इस संगठन और देश को राजनीतिक सूत्र में बांधने का श्रेय जयवर्मन् द्वितीय को है जिसने पचास वर्ष के लम्बे शासनकाल में कम्बुज देश में नवीन स्फूर्ति का संचार किया। स्थल कम्बुज और जल कम्बुज अब मिलकर एक हो गये। देश को स्वतंत्र रखने के लिए सम्राट् ने तांत्रिक शैव मत चलाया और इसमें पारंगत हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण को भारत से आमंत्रित किया। उसने शिवकैवल्य को तांत्रिक क्रियाएँ सिखायीं और उसके वंशज २५० वर्ष तक राज्य-पुरोहित के पद पर आसीन रहे। जयवर्मन् द्वितीय के कोई लेख नहीं मिलते हैं, पर इसके वंशजों के लेखों में इसका विवरण मिलता है।[२६] इनके आधार पर जयवर्मन् के वंश, सिंहासनारोहण की तिथि, उसकी राजधानियों, राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं तथा राज्य-विस्तार पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जयवर्मन् का वंश तथा मूलस्थान

जयवर्मन् के पूर्वजों का कुछ पता नहीं चलता है, पर इसका सम्बन्ध अनिन्दितपुर के पुष्कराक्ष से अवश्य था जैसा कि प्रह-वत के लेख से प्रतीत होता है। उस लेख के अनुसार जयवर्मन की नानी की माँ पुष्कर की बहिन थी। अपनी माँ की ओर से इसका स्थल कम्बुज के प्राचीन राज्य से सम्बन्ध था। अतः यह कम्बुज के लिए आगन्तुक न था। नोम-संडक के लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि इसने एक नवीन वंश चलाया और इसकी उपमा सरोवर से निकले कमल से दी गयी है।[२७]

२६. इस सम्बन्ध में निम्नलिखित लेख उल्लेखनीय हैं—

(अ) जयवर्मन् तृतीय का शक सं० ८०५ का प्रसत-कोक पो लेख। मजुमदार, नं० ५८।

(ब) यशोवर्मन् का शक सं० ८११ का प्रह-वत लेख। यही, नं० ६०।

(स) इसी सम्राट् का शक सं० ८१७ का नोम-संडक लेख। यही, नं० ७३।

(द) उदयादित्य वर्मन् द्वितीय का स्डोक-काक लेख। यही, नं० १५२।

२७. योऽभूत्प्रजोदयायैव राजवंशेऽति निर्म्मले।
अपंकजमहापद्मे पद्मोद्भववद्वीक्षितः।। नं० ७३ बी० ५-८।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लेख भी प्रकाश डालते हैं। इन्द्रवर्मन् के प्रसत कंडोल के शक सं० ८०१ के लेख में जयेन्द्राधिपतिवर्मन् को जयवर्मन् द्वितीय का मामा कहा गया है।[२८] इन्द्रवर्मन् का गुरु शिवसोम जयेन्द्राधिपति का दौहित्र था। शिवसोम का उल्लेख स्डोक-काक के लेख में भी हुआ है। ८०३ ई० के एक और लेख में सम्राज्ञी ज्येष्ठार्या के दान के साथ जयेन्द्र, सम्राज्ञी नृपेन्द्रदेवी और श्री इन्द्रलोक गये शासक के नाम मिलते हैं। यह लेख वत-त्सर मन्दिर में मिला जो सम्भोर में स्थित है। अतः इस लेख के अनुसार इस जयेन्द्र का शंभुपुर से सम्बन्ध था। यदि जयेन्द्र और जयेन्द्राधिपति की समानता मान ली जाय तो जयवर्मन् द्वितीय का प्राचीन शंभुपुर राज्य से सम्बन्ध था और वास्तव में कम्बुज के राज्य पर मातृक अथवा पैतृक रूप से उसका अधिकार पहुँचता था।

यशोवर्मन् और राजेन्द्रवर्मन् के लेखों से उद्धृत वंशावली के अनुसार[२९] जयवर्मन्

२८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ५४, पृ० ६०, पद ३०। यही, नं० ५३, पृ० ५१। आमोनिये, कम्बुज, भाग १, पृ० ३०५। प्रह-वत लेख, मजुमदार, नं० ६०, पृ० ७४।

२९. वंशावली—
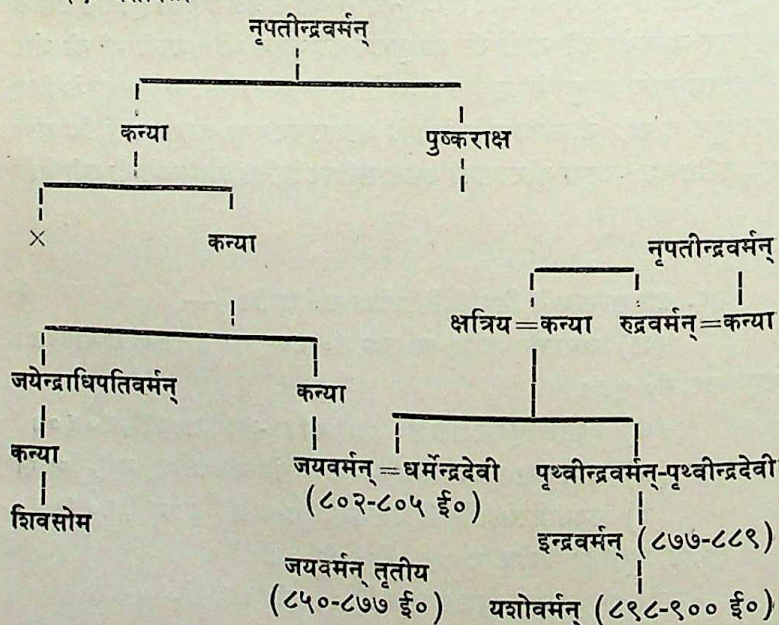
और उसकी सम्राज्ञी का राजवंश से सम्बन्ध था। पुष्कराक्ष ने, जो यशोवर्मन् का आदिपूर्वज था, शंभुपुर और अनिन्दितपुर पर राज्य किया। इसके साथ जयवर्मन् द्वितीय के सम्वन्ध का उल्लेख पहले हो चुका है। इसकी सम्राज्ञी पृथ्वीन्द्रवर्मन् की वहिन थी, जो इन्द्रवर्मन् का पिता और यशोवर्मन् का पितामह था। पर उदयादित्य-वर्मन् द्वितीय के स्डोक-काक के लेख के अनुसार सम्राट् परमेश्वर जयवर्मन् द्वितीय जावा से इन्द्रपुर में राज्य करने के लिए आया था। इसका गुरु शिवकैवल्य था। सम्राट् ने क्रमशः अपनी राजधानियाँ इन्द्रपुर से हरिहरालय, अमरेन्द्रपुर, महेन्द्र-पर्वत तथा पुनः हरिहरालय वदलीं। महेन्द्रपर्वत पर हिरण्यदाम नामक एक ब्राह्मण को जनपद (कदाचित् भारतीय जनपद) से आमंत्रित किया गया और उसने वहाँ तांत्रिक प्रक्रिया का प्रयोग किया, जिससे कम्बुज जावा के नियंत्रण में फिर न रहे। इस ब्राह्मण ने शिवकैवल्य नामक ब्राह्मण को तांत्रिक ग्रन्थों की शिक्षा दी। राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस लेख का विशेष महत्त्व है। इससे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् जावा से कम्बुज आया और उसने पहले जावा के अधीन होकर राज्य करना स्वीकार किया, पर थोड़े समय बाद परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। सिडो के मतानुसार शैलेन्द्रों का अधिकार क्षीण होने पर यह चम्पा से लगभग ८०० ई० में कम्बुज आया था और बहुत से प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र रूप से दृढ़तापूर्वक इसने ८०२ ई० से राज्य करना आरम्भ किया। उस समय देश में अराजकता थी और कदाचित् कोई शासक न था[३०] अथवा देश कई प्रतिद्वन्द्वियों में विभाजित था। इस युवक ने कम्बुज के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया।

राज्याभिषेक

जयवर्मन् के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि शक सं० ७२४ (८०२ ई०) मान ली गयी है। यह तिथि यशोवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् के कई लेखों के आधार पर निर्धारित की गयी है। प्रसतकोक के शक सं० ८०५ (८८३ ई०) के लेख के अनुसार जयवर्मन्

३०. ८०३ ई० के एक लेख में ज्येष्ठार्या नामक रानी के दान का वर्णन है जो सम्भोर में दिया गया था। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। (सिडो, ए० हि० पृ० १६२)

द्वितीय का राज्याभिषेक शक सं० ७२४ (८०२ ई०) में हुआ था।[३१] डा० मजुमदार ने सिडो द्वारा प्रकाशित लोवोक श्रोत लेख का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार इस लेख में जयवर्मन् के राज्य करने का उल्लेख है (**श्रीजयवर्म्मणि नृपतौ शासति पृथ्वीं समुद्रपर्यंताम्**) और इसकी समानता उन्होंने जयवर्मन् द्वितीय से की है। शक संवत् ७२४ (८०२ ई०) का लेख जयवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि का संकेत नहीं करता है वरन् इसमें महेन्द्रपर्वत पर राजधानी स्थापित करने की तिथि दी है।[३२] सिडो ने अपने नये ग्रन्थ में जयवर्मन् द्वितीय द्वारा कम्बुज पर दृढ़ता से शासन करने की तिथि ८०२ ई० मान ली है, अतः इस विषय पर पुनः विचार आवश्यक है।

राज्यकालीन घटनाएँ

जयवर्मन् द्वितीय ने कम्बुज लौटने पर वहां की राजनीतिक अराजकता को दूर करने की चेष्टा की और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर विशाल कम्बुज देश को एक राजनीतिक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में स्डोक-काक के लेख के अनुसार उसने कई राजधानियां बदलीं जिसका मूल कारण राजनीतिक परिस्थिति रही होगी। जयवर्मन् ने सर्वप्रथम इन्द्रपुर को अपना केन्द्र बनाया। गुरु शिवकैवल्य उसका पुरोहित हुआ और सम्राट् के साथ वह पूर्वदिश विषय आया, जहां सम्राट् ने उसके तथा उसके कुटुम्ब के रहने के लिए भूमि दी और कुटी नामक ग्राम बसाया तथा वह उसे अर्पित कर दिया (पद ६१–६४)। उसके बाद सम्राट् हरिहरालय नगर आया और शिवकैवल्य भी उसके साथ था (६५-६६)। तत्पश्चात् सम्राट् ने अमरेन्द्रपुर की स्थापना की और शिवकैवल्य भी उसके साथ रहा। वहां उसने भवालय नामक ग्राम में अपने कुटुम्बियों को कुटी से बुलाकर

३१. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ५८, पृ० ७०, पद ४।

३२. सिडो, बु० इ० फ्रा०, भाग २८, पृ० ११९। मजुमदार, ज० ग्रे० इ० सो०, भाग १०, पृ० ५२ (कम्बुज देश, पृ० ८३)। डा० मजुमदार के मतानुसार कई लेखों में जयवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि का उल्लेख है और इसे शक सं० ७२४ (८०२ ई०) में ही रखना चाहिए। सिडो ने अपने ग्रन्थ में भी ८०२ ई० से इसका कम्बुज पर दृढ़ता से शासन करना निर्धारित किया है। ए० हि०, पृ० १६८

बसाया। गंगाधर नामक एक सम्बन्धी ब्राह्मण ने वहां शिवलिंग की स्थापना की (६६–६९)। वहां से सम्राट् महेन्द्रपर्वत आया और शिवकैवल्य भी सम्राट् के साथ था। यहीं पर हिरण्यदाम नामक भारतीय ब्राह्मण ने शिवकैवल्य को तांत्रिक ग्रन्थों की शिक्षा दी (६९-७८)। अन्त में सम्राट् पुनः हरिहरालय आया और जीवन के अन्त काल तक रहा। शिवकैवल्य और उसके सम्बन्धी भी सम्राट् के साथ रहे। इन प्राचीन नगरों की पहचान दिखाने के लिए फ्रांसीसी विद्वानों ने प्रयास किया है।[३३]

इन्द्रपुर के विषय में सिडो का मत है कि यह कोंमपोंग प्रान्त के ख्वोंग-ख्मुम क्षेत्र में था और इसकी पहचान वर्तमान वन्ते-प्राई नोकोर से की जा सकती है। यहां पर मिले भग्नावशेष भी कला की दृष्टि से प्राचीन हैं और ९वीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं।[३४] स्टर्न के मतानुसार इसकी समानता अंकोर के निकट वारे से की जा सकती है।[३५] कुटी ग्राम अंकोर थाम से पूर्व में स्थित था और इसकी समानता बन्ते कड़ाई से की जा सकती है जहां के मन्दिर भी प्राचीन हैं।[३६]

हरिहरालय में जयवर्मन् ने अपने राज्यकाल का अधिक भाग बिताया। आमोनिये ने इसकी समानता अंगकोर के उत्तर में प्रह्-खन से की है। सिडो के मतानुसार[३७] इन्द्रवर्मन् ने बहुत-से मन्दिर हरिहरालय में बनवाये जहां वह बहुत समय तक रहा और ये मन्दिर अंकोर से १३ मील दक्षिण-पूर्व में रुलोह के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसलिए उसने हरिहरालय को इसी क्षेत्र में रखा जहां वर्तमान लोले है। कोक-

३३. सिडो ने 'जयवर्मन् द्वितीय की राजधानियां' सम्बन्धी अपने लेख में इन प्राचीन नगरों की पहचान दिखाने का प्रयास किया है। बु० इ० फ्रा०, भाग २८, पृ० ११७-१९। स्टर्न ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। (बु० इ० फ्रा० ३८, पृ० ३३३)।

३४. पामांतिये, आर्ट ख्मेर प्रिमिटिव (प्राचीन ख्मेर कला), पृ० २०६।

३५. बु० इ० फ्रा० ३८, पृ० ३३३।

३६. इस स्थान के तीन प्राचीन मन्दिरों को कुटीश्वर नाम से सम्बोधित किया गया है। विशेष विवरण के लिए देखिए : बु० इ० फ्रा० ३७, पृ० ३३३-४७ तथा कर्न इंस्टीट्यूट, वि० इ० आ० १९३०, पृ० १४-१६।

३७. ए० हि०, पृ० १७०।

स्वे-प्रह्म के लेख[३८] से इसकी पुष्टि होती है। जयवर्मन् ने दो बार यहां अपनी राजधानी बनायी और यहां ही उसकी मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारियों ने भी यशोवर्मन् के समय तक यहां राज्य किया। यशोवर्मन् ने यशोधरपुर नामक नगर बसाया।

अमरेन्द्रपुर की समानता आमोनिए ने वन्ते-चमर से की है[३९] और ग्रोसलिए ने इसकी पुष्टि की,[४०] पर वन्ते-चमर का मन्दिर १२वीं शताब्दी का प्रतीत होता है और इसे जयवर्मन् के समय का नहीं कहा जा सकता है, जैसा कि स्टर्न का विचार है।[४१] सिडो के मतानुसार यह प्राचीन स्थान वटम-वंग के उत्तरी भाग में ही रहा होगा।[४२]

अन्तिम स्थान महेन्द्रपर्वत की, जो जयवर्मन् तथा शिवकैवल्य से सम्बन्धित था, समानता आमोनिए ने अंकोर क्षेत्र से उत्तर-पश्चिम में नोम-कुलेन से की है और फिनो ने इसे वेंग-माला के अवशेषों में रखा है। नोम-कुलेन की पहाड़ी पर ईंटों के कुछ अवशेष हैं जो प्राचीन ख्मेर और इन्द्रवर्मन् की कलाओं के मध्ययुग के हैं। इसलिए महेन्द्रपर्वत की समानता नोम-कुलेन से की जा सकती है।[४३]

जयवर्मन् के राजधानियों के बदलने का कारण कदाचित् देश की राजनीतिक परिस्थिति रही होगी। शंभुपुर के निकट इन्द्रपुर में उसने अपनी प्रथम राजधानी बनायी और वहां से वह पश्चिम की ओर बढ़ा तथा धीरे-धीरे उसने कम्बुज देश पर अपना अधिकार जमाया। अन्त में हरिहरालय में सम्राट् ने अपनी राजधानी

३८. शक सं० ८९१ के इस ख्मेर लेख में हरिहरालय के ग्रामवृद्ध और पुरुष-प्रधान के नाम किसी आदेश का उल्लेख है, तथा कुछ अन्य प्रमुख व्यक्तियों के नाम भी मिलते हैं। इस लेख में हरिहरालय के प्राचीन स्थान की समानता रुलो मन्दिरों से की जा सकती है। मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १०९, पृ० २८।

३९. कम्बुज, भाग ३, पृ० ४७०।

४०. बु० इ० फ्रा० २, पृ० ३५९ से।

४१. बु० इ० फ्रा० ३८, पृ० १८० से।

४२. बारे के पश्चिम में कुछ प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष मिले हैं जो अंकोर कला के प्रारम्भिक युग के हैं और कुलेन कला से पहले के हैं। (ए० हि०, पृ० १७१)

४३. कम्बुज, भाग १, पृ० ४२८। बु० इ० फ्रा०, भाग २८, पृ० १२२। स्टर्न, बु० इ० फ्रा०, भाग ३८, पृ० १५१ से। सिडो, ए० हि०, पृ० ११२।

बनायी और वहीं उसकी मृत्यु हुई। डा० मजुमदार के मतानुसार[४४] जयवर्मन् को अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए इधर-उधर घूमना पड़ा हो और उसका राज्य-काल इतना शान्तिमय न रहा हो, जैसा कि विचार किया जाता है।

वैदेशिक सम्बन्ध

जयवर्मन् को चम्पा की ओर से भी सतर्क रहना पड़ा। हरिवर्मन् के पो-नगर लेख[४५] के अनुसार उसके एक सेनापति ने कम्बुज में घुस कर देश को बड़ी क्षति पहुंचायी। इस लेख की तिथि शक सं० ७३९ (८१७ ई०) है, अतः यह घटना जय-वर्मन्के राज्यकाल की ही है। हो सकता है कि इसी कारण से जयवर्मन् को इन्द्रपुर तथा अंकोर का क्षेत्र छोड़कर अपनी राजधानी पश्चिम में ले जानी पड़ी हो। चम्पा की ओर से यह आक्रमण कम्बुज के लिए विशेष रूप से हानिकारक नहीं सिद्ध हुआ, क्योंकि जयवर्मन् ने ४८ वर्ष तक राज्य किया।

वैवाहिक सम्बन्ध

लेखों में सम्राट् के वैवाहिक सम्बन्धों का भी उल्लेख है। उसकी अग्र-महिषी पवित्रा का नाम प्रसत-त-केव लेख में मिलता है।[४६] दूसरी रानी कम्बुजलक्ष्मी थी जिसे प्राणा भी कहा गया है और इसका उल्लेख शक सं० ८१५ के प्रसत-त-केव लेख में है[४७] जिसमें इसके उच्च पदों पर आसीन सम्बन्धियों का भी विवरण है। थे-वकु लेख में रानी धरणीन्द्रदेवी का नाम मिलता है और उसे जयवर्द्धन अथवा जयवर्मन् तृतीय की माता कहा गया है।[४८] कुछ विद्वानों ने शक सं० ७२५ के लेख

४४. कम्बुज देश, पृ० ८२।

४५. मजुमदार, चम्पा, भाग ३, पृ० ६१। लेख में चम्पा के स्वामी श्री हरि-वर्मदेव द्वारा उसके कनिष्ठ पुत्र श्री विक्रान्तवर्मन् को पाण्डुरंग के अधिपति पद पर नियुक्त करने का उल्लेख हैं। उसकी रक्षा के लिए एक महायमपति पंत्र था जिसने सिंह की भाँति कम्बुज के नगरों को उजाड़ा था (अतिगहन कम्बुजपुरकाननजन-गजपदप्रथननैकराजसिंहायमानस्तु)।

४६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १४८, पृ० ३५३।

४७. यही, नं० ७१, पृ० १४१।

४८. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ८५।

में उल्लिखित ज्येष्ठार्या को भी इस सम्राट् की रानी माना है, पर यह विवादास्पद है। जयवर्मन् के पुत्रों में जयवर्धन के अतिरिक्त कम्बुजलक्ष्मी का पुत्र धर्मवर्द्धन भी था, पर जयवर्मन् के बाद जयवर्द्धन ही सिंहासन पर बैठा।[४९]

राज्य-विस्तार और अन्तर

जयवर्मन् ने ४८ वर्ष तक राज्य किया। प्रसत-चक-के लेख[५०] के अनुसार शक सं० ७९१ (८६९) में परमेश्वरपुत्र जयवर्मदेव के राज्यकाल का १६वाँ वर्ष था। अत: जयवर्मन् द्वितीय ने लगभग ८५० ई० तक राज्य किया। इतने लम्बे राज्यकाल में उसने देश में एकता स्थापित की। चीनी ग्रन्थ मंचु (८६३ ई० में लिखित) के अनुसार ख्मेर राज्य उत्तर में चेन-नन (कदाचित् आल्वीराष्ट्र के उत्तरी भाग टोंकिन के पश्चिम) तक विस्तृत था तथा उसमें सम्पूर्ण लाओस भी सम्मिलित था।[५१] अरब लेखक याकूवी ने भी ८७५–८८० ई० के लगभग अपने वृत्तान्त में लिखा है कि ख्मेर साम्राज्य वृहत् और शक्तिशाली था और इसके अधीन कई और राज्य थे।[५२] इब्न-रोस्तेह ने ९०३ ई० में यहां के शासन की प्रशंसा की है, पर उसने कुछ मनगढंत बातों का भी उल्लेख किया है। जैसे, मुर्गों की लड़ाई से ५० मन सोने की नित्य आय होती थी।[५३] मसूदी ने इस देश की सेना तथा भौगोलिक परिस्थिति का उल्लेख किया है। इब्न खोरदादज़्वेह (८४४–८४८) ने यहां के नैतिक स्तर को सराहा है कि ख्मेर सम्राट् ने शराब और व्यभिचार का पूर्णतया निषेध कर दिया था, जिसकी पुष्टि इब्नरोस्तेह (९०३ ई०) ने भी की है।[५४]

जयवर्मन् तृतीय

सिडो के मतानुसार जयवर्मन् द्वितीय की मृत्यु ८५० ई० में हुई, पर डा०

४९. यही।
५०. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १५०, पृ० ३६१।
५१. ए० ए० २, पृ० ९४। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ८९।
५२. फेरंड टेक्स्ट्स १, पृ० ४८। मजुमदार, यही, पृ० ९०।
५३. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ९०।
५४. यही।

मजुमदार इसे ८५४ ई० में रखते हैं।[५५] मृत्यु के उपरान्त इसे परमेश्वर नाम से सम्बोधित किया गया। इसके बाद इसका पुत्र जयवर्द्धन जयवर्मन तृतीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। प्रसत-चक के लेख के अतिरिक्त इस सम्राट् का न तो कहीं उल्लेख है और न इसके विषय में कोई जानकारी प्राप्त है, पर उपर्युक्त चीनी और अरबी वृत्तान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि इसने अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित रखा और इसका राज्यकाल शांति एवं सुव्यवस्था का युग था। जयवर्मन् तृतीय की मृत्यु के पश्चात् इन्द्रवर्मन् ने दूसरा राजवंश चलाया।

५५. कम्बुज देश, पृ० ८९।

अध्याय ५

अंकोर राज्य की स्थापना (८७७--१००१ ई०)

जयवर्मन् द्वितीय तथा उसके पुत्र जयवर्मन् तृतीय ने कम्बुज राज्य को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने तथा देश को शान्तिमय वातावरण और सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था प्रदान करने का प्रयास किया, जिसका परिचय लेखों के अतिरिक्त हमें चीनी और अरबी वृत्तान्तों से मिलता है। कदाचित् जयवर्मन् तृतीय के कोई पुत्र न था और सिंहासनारूढ़ होने के अनियमित विधान के फलस्वरूप इन्द्रवर्मन् नामक एक अन्य राजकीय वंशज ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। उसके लेखों से पता चलता है कि उसने अनधिकारी रूप से राज्य नहीं प्राप्त किया था, वरन् वह जयवर्मन् के वंश से दूर से सम्बन्धित था। इसके तथा इसके पुत्र के लेखों के आधार पर हम इसकी वंशावली तथा राज्यकाल की मुख्य घटनाओं पर प्रकाश डाल सकेंगे। इन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र यशोवर्मन् ने कला और साहित्यिक क्षेत्र में भी अंशदान किया, जिसका विवरण उन अध्यायों में किया जायगा। राजनीतिक दृष्टिकोण से इस युग में अंकोर राज्य की स्थापना हुई, जिसने आगे चलकर विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया और इसका लोहा निकटवर्ती चम्पा तथा यवद्वीप के शासक भी मानने लगे। साम्राज्य की उत्तरी और पश्चिमी सीमाएं भी पूर्णतया विस्तृत हुईं।

वंशावली

इन्द्रवर्मन् के लेखों में सर्वप्रथम सियमराप प्रदेश में रुलो के प्राह-श्वो मन्दिर में सुहावटी पर लिखा शक सं० ८०१ (८७९ ई०) का एक लेख है[1], जिसके अनुसार सम्राट् का राज्याभिषेक ७९९ (८७७ ई०) में हुआ था। इस लेख में इन्द्रवर्मन् की

१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५५, पृ० ६१ से।

वंशावली भी दी हुई है। इन्द्रवर्मन् का पिता क्षत्रिय पृथ्वीवर्मन् था और इसकी माँ सम्राज्ञी रुद्रवर्मन् की पुत्री थी और नृपतीन्द्रवर्मन् की दौहित्री थी। इसी रुद्रवर्मन् की भांजी जयवर्मन् द्वितीय को ब्याही थी और इनका पुत्र जयवर्मन् तृतीय था। अतः इन्द्रवर्मन् अपने नाना की ओर से जयवर्मन् द्वितीय से सम्बन्धित था। इसी सम्राट् के प्रसत कंडोल[२] (स्तुत निकोम प्रान्त में प्राप्त) शक सं० ८०१ (८७९ ई०) के लेख में इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवसोम का जयवर्मन् द्वितीय के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। इस गुरु ने भगवान् शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था। यह जयेन्द्राधिपति का पौत्र था जो जयवर्मन् का मातुल था (**महेन्द्रादित्यभूपाल-मातुलस्य महाभुजः, यः श्रीजयेन्द्राधिपतिवर्म्मण=स्तनयात्मजः।** पद ३०)। इन्द्र-वर्मन् के पुत्र यशोवर्मन् के दो लेखों के आधार पर इसकी वंशावली विस्तृत रूप से प्रस्तुत की जा सकती है। यशोवर्मन् के प्राह-वत (कौं प्राई प्रदेश) से प्राप्त ८११ के लेख[३] तथा अंकोरवाट से १० मील दक्षिण-पूर्व में लोले[४] से प्राप्त लेखों के आधार पर इस वंश का सम्बन्ध प्राचीन अनिन्दितपुर, व्याधपुर तथा शंभुपुर राजवंशों से था। इन्द्रवर्मन् की सम्राज्ञी इन्द्रदेवी महीपतिवर्मन् नामक सम्राट् की पुत्री थी जो राजेन्द्रवर्मन् और उसकी सम्राज्ञी नृपतीन्द्रदेवी का पुत्र था। राजेन्द्रवर्मन् का किसी अन्य वंशज द्वारा पुष्कराक्ष से सीधा पैतृक सम्बन्ध था जो अनिन्दितपुर में राज्य करता था (७१६ ई०)। इन्द्रवर्मन् की रानी इन्द्रदेवी की माँ राजेन्द्रदेवी, राजपतिवर्मन् तथा नरेन्द्रलक्ष्मी की पुत्री, नरेन्द्रवर्मन् की पौत्री तथा अगस्त्य नामक एक ब्राह्मण और यशोमती की प्रपौत्री थी। इन्द्रवर्मन् पृथ्वीन्द्रवर्मन् का पुत्र था जिसकी बहिन धरणीन्द्रदेवी जयवर्मन् द्वितीय को ब्याही थी। पृथ्वीन्द्र-वर्मन् स्वतः क्षत्रियवंशज था और इसकी स्त्री पृथ्वीन्द्रदेवी रुद्रवर्मन् की पुत्री थी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अगले पृष्ठ की वंशावली[५] से यह प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत हो सकेगा।

२. यही, नं० ५४, पृ० ५७। सिडो इ० क० १, पृ० ३७।

३. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ६०, पृ० ७४ से।

४. यही, नं० ६१, पृ० ८१ से।

५. उपर्युक्त वंशावली सिडो तथा मजुमदार के ग्रन्थों पर आधारित है।

अगस्त्य (भारतीय ब्राह्मण) = यशोमती राजकन्या
नृपतीन्द्रवर्मन् व्याधपुर शंभुपुर पुष्कराक्ष
कन्या = पुत्र
नरेन्द्रवर्मन् = ×
नरेन्द्रलक्ष्मी
राजेन्द्रवर्मन् राजपतिवर्मन् = नृपतीन्द्रवर्मन्
महीपतिवर्मन् = राजेन्द्रदेवी
यशोवर्मन् (८९९–९००)
अज्ञात
क्षत्रिय = × रुद्रवर्मन् = ×
जय-वर्मन् द्वितीय (८०२.८५०) = धरणीन्द्रदेवी
पृथ्वीन्द्रवर्मन् = पृथ्वीन्द्रदेवी
जयवर्मन् तृतीय (८५०.८७७)
इन्द्रवर्मन् (८७७–८९९) इन्द्रदेवी
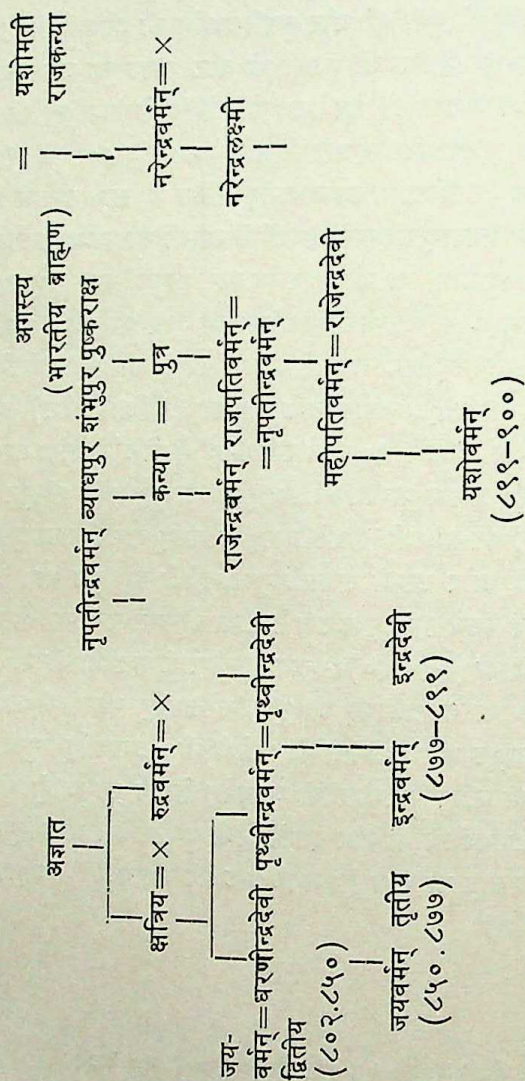
उपर्युक्त वंशावली से यह प्रतीत होगा कि इन्द्रदेवी की ओर से सम्राट् इन्द्रवर्मन् का व्याधपुर और शंभुपुर नामक प्राचीन राज्यों पर अधिकार पहुंचता था और उसका पिता पृथ्वीन्द्रवर्मन् कहीं का स्थानीय शासक रहा होगा। नृपतीन्द्रवर्मन्, रुद्रवर्मन् और पृथ्वीन्द्रवर्मन् की तिथि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। या तो जयवर्मन् से पहले ये स्थानीय शासक थे अथवा जयवर्मन् के सामन्त थे। इन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र यशोवर्मन् के लेखों में जयवर्मन् द्वितीय और तृतीय को आदरणीय स्थान दिया गया है और उनका गुरु शिवसोम जयवर्मन् द्वितीय के मातुल का पौत्र था।

मुख्य घटनाएँ

इन्द्रवर्मन् के १२ वर्ष के राज्यकाल (८७७ से ८८९) की मुख्य घटनाओं का विस्तृत उल्लेख कहीं नहीं मिलता, पर लेखों में संकेत है कि इसने दूर तक विजय प्राप्त की। एक लेख में लिखा है कि इसके अनुशासनों का पालन चीन, चम्पा और यवद्वीप में होता था।[६] चम्पा के साथ पहले भी संघर्ष हुआ था और वहां के एक सेनापति ने कम्बुज में घुसकर बड़ी क्षति पहुंचायी थी। अतः उस देश के साथ पुनः संघर्ष होना अस्वाभाविक बात न थी। चम्पा में उस समय इन्द्रवर्मन् ने एक नवीन वंश की स्थापना की थी और उपर्युक्त लेख से चम्पा के प्रति सम्बन्ध की न तो पुष्टि ही हो सकती है और न खंडन किया जा सकता है।[७] जावा में इस समय मध्य जावा के मतराम राज्य का अन्त हो चुका था और पूर्वी भाग राजनीति का केन्द्र बन चुका था। चम्पा और जावा के बीच राजनीतिक सम्बन्ध का उल्लेख हमें मिलता है और यह प्रतीत होता है कि इन्द्रवर्मन् ने कम्बुज के दोनों शत्रुओं को उनकी उग्र नीति अपनाने का अवकाश ही नहीं दिया। यह कहना कठिन है कि वे दोनों कम्बुज के अधीन थे, पर इन्द्रवर्मन् के लेख कम्बुज की बढ़ती हुई शक्ति

६. प्रसत-कंडोल लेख, मजुमदार, नं० ५४, पृ० ५७।
"चीन-चम्पा-यवद्वीपभूभृदुत्तुंगमस्तके।
यस्याज्ञा-मालतीमाला-निर्मला चुम्बलायते॥" (पद २०)। सिडो के मतानुसार यह वृत्तान्त बढ़ा-चढ़ाकर दिया गया है (ए० हि०, पृ० १८९)।

७. मजुमदार, चम्पा लेख नं० २६, पृ० ६२।

का अवश्य संकेत करते हैं। चीन के विषय में यह संभव है कि दक्षिण के कुछ राज्य, जो पहले चीन का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे, अब कम्बुज के अधीन हो गये हों।

राज्य-विस्तार

उत्तर में कम्बुज का राज्य चीनी प्रान्त युंनान तक पहुँच चुका था। चीनी स्रोतों के अनुसार नन-चाओ राज्य के अन्तर्गत, जिसे थाई ग्रन्थों में मिथिला राष्ट्र कहा है, युंनान का उत्तरी भाग था। उसके दक्षिण में आल्वी राष्ट्र था जिसमें दक्षिणी युंनान था। ८६२ ई० में आल्वी का उत्तरी भाग कम्बुज राज्य की सीमा थी। इन्द्रवर्मन् तथा यशोवर्मन् के लेखों से यह संकेत होता है कि उनके राज्य में चीनी नन-चाओ (थाई मिथिला राज्य) सम्मिलित हो चुका था। योनक में, जिसके अन्तर्गत आल्वी राष्ट्र और हरिपुंजय के राज्य थे, एक ख्मेर शासक द्वारा सुवर्ण ग्राम की स्थापना का उल्लेख था। यही आगे चलकर जिएन-सेन के नाम से राजधानी बनी।[८] इन स्रोतों के आधार पर कम्बुज साम्राज्य की उत्तरी सीमा युंनान तक पहुँच चुकी थी। पश्चिम में इसकी सीमा मीनम की घाटी तक पहुंची थी और स्याम का लोपवुरि भी इसी साम्राज्य में था। उत्तर में कई छोटे-छोटे राज्य भी कम्बुज के अधीन थे। ये क्रमशः दक्षिण से सुखोदय, योनक राष्ट्र और क्षेमराष्ट्र थे। अन्तिम राज्य की सीमा आल्वी राष्ट्र से मिलती थी। यहां के स्थानीय वृत्तान्तों के अनुसार यह कम्बुज राज्य के अधीन थी और कम्बुज-शासकों ने उन्मार्ग शिलानगर नामक एक गढ़ स्थान की स्थापना की थी, जिससे मेकांग और मीनम नदियों की घाटियों पर नियंत्रण रखा जा सके। यह कहना कठिन है कि इन्द्रवर्मन् के समय में ही कम्बुज साम्राज्य मीनम की घाटी तक पहुंच चुका था, पर इसमें सन्देह नहीं कि कम्बुज-शासक वहां के छोटे-छोटे राज्यों पर अपनी सत्ता स्थापित किये हुए थे।[९]

यशोवर्मन्

इन्द्रवर्मन् ने १२ वर्ष तक राज्य किया (८७७–८८९ ई०) और मरने पर

८. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १०२।
९. यही, पृ० १०३।

उसे 'ईश्वरलोक' की उपाधि मिली। उसके बाद उसका पुत्र यशोवर्मन् सिंहासन पर बैठा। यशोवर्मन् कम्बुज का सबसे विद्वान् शासक हुआ है और समुद्रगुप्त की भांति उसने अपनी शूरता, वीरता तथा विद्वत्ता का यथेष्ट परिचय दिया। उसके पिता इन्द्रवर्मन् ने उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए शिवकैवल्य के भाई के पौत्र की नियुक्ति की थी।[१०] इस शिवकैवल्य ने हिरण्यदाम से तंत्रवाद की शिक्षा प्राप्त की थी और इसके कुलज २५० वर्ष तक राज-पुरोहित के पद पर आसीन रहे। इस शासक की स्वयं भी शास्त्रों और काव्यों में रुचि थी। प्राप्त लेखों में प्रह्-वत के लेख के अनुसार[११] यह ८११ शक सं० (८८९ ई०) में सिंहासन पर बैठा और इसका अन्तिम लेख[१२] शक सं० ८३२ (९१० ई०) का फीमेनक के द्वार पर लिखा मिला है। इस सम्राट् के अन्य लेखों में तिथि वाले शक सं० ८१३, ८१५, ८१७ के हैं[१३] जिनमें विशेष रूप से किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है। लोले के लेख के अनुसार उत्तर में इसके राज्य की सीमा चीन तक थी (**चीनसंधिपयोधिभ्यां मितोर्वी येन पालिता**)।[१४] इन्द्रवर्मन् की विजय तथा उत्तर-पूर्व के स्थानीय राजाओं द्वारा कम्बुज का आधिपत्य स्वीकार करने का उल्लेख पहले ही हो चुका है। यह प्रतीत होता है कि यशोवर्मन् के समय में कम्बुज साम्राज्य की सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। पूर्वी बारे के लेख में एक सामुद्रिक बेड़े को बाहर भेजने का उल्लेख है। (**नौकार्वुदं येन जयाय याने प्रसारितं सीतसितं (पीतसितं) समन्तात्**),[१५] पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह बेड़ा किस ओर भेजा गया। इसके भतीजे राजेन्द्रवर्मन् के वक-सेई-चंक्रोन के लेख के अनुसार इसका राज्य सूक्ष्मकाम्रात (बिरमनी) के किनारे से स्याम की खाड़ी (पयोधि) या चम्पा और चीन की सीमा तक फैला था (**आसूक्ष्मकाम्रातपयोधि-चीनचम्पादिदेशाद्धरणेर-**

१०. मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ० ३६५ (पद ४-१०)।

११. यही, नं० ६०, पृ० १४ से।

१२. यही, पृ० १५५ से।

१३. यही, नं० ६८ (अ), पृ० १३७, नं० ६९ तथा ७०, पृ० १३८। नं० ७२, पृ० ८१५ और नं० ७३, पृ० १५०।

१४. यही, नं० ६१, पृ० ८६, पद ५६।

१५. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६२, पृ० ९२, पद ४६।

धीशः)।[१६] चीन से कदाचित् नन-चाओ राज्य का संकेत है जो एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार नवीं शताब्दी के दूसरे भाग में कम्बुज का आधिपत्य स्वीकार कर चुका था।[१७] यशोवर्मन् के लेख उत्तर में लाओस से लेकर स्याम की खाड़ी के बीच छन्टाबून और हा-तिएन के क्षेत्र में पाये गये थे।[१८]

विद्वत्ता और धार्मिक कृत्य

यशोवर्मन् के लेखों से हमें उसकी विद्वत्ता का भी पता चलता है। इसका श्रेय उसके पिता इन्द्रवर्मन् को था, जिसने शिवकैवल्य के पौत्र वामशिव की नियुक्ति इसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए की थी। एक अन्य लेख में इसे 'महाभाष्य' का टीकाकार लिखा गया है। इसी लेख में नागेन्द्र का भी उल्लेख है।[१९] सम्राट् शास्त्रों और काव्यों का प्रेमी था और उसके लेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वह धार्मिक और लौकिक साहित्य का प्रेमी था। यशोवर्मन् के बहुत-से लेखों में या तो धार्मिक दानों का उल्लेख है अथवा विहारों के निर्माण का विवरण है, जो उसने अपने राज्य-काल के प्रथम वर्ष से ही साम्राज्य के विभिन्न भागों में बनवाये। यशोधर-आश्रम भी प्रथम वर्ष में गणेश की उपासना के लिए बना। सम्राट् के धार्मिक विचार उच्च थे और इन आश्रमों के निर्माण में उसने उदारता दिखायी। स्वयं शैव होते हुए भी वह वैष्णव और बौद्ध धर्मों का आदर करता था। प्रह्-वत और लोले के लेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण-आश्रम शैव, पाशुपत तथा सात्वतों के लिए निर्मित किये गये, और सौगताश्रम बौद्धों के लिए था।[२०] सम्राट् ने ८९३ ई० में इन्द्रतडाक के बीच में राजधानी के उत्तर की ओर एक विहार का निर्माण करवाया

१६. यही, नं० ९२, पृ० १९०, पद २७।

१७. बु० इ० फ्रा० १८ (३), पृ० ३२। सिडो : ए० हि०, पृ० १९४।

१८. सिडो : ए० हि०, पृ० १९४।

१९. नागेन्द्रवक्त्रविषदुष्टतयेव भाष्यं मोहप्रदं प्रतिपदं किल शाब्दिकानाम्।
व्याख्यामृतेन वदनेन्दुविनिर्गतेन यस्य प्रबोधकरवे पुनः प्रयुक्तम्॥
मजुमदार, लेख नं० ६२, पृ० ९६, पद ९४।

२०. इन आश्रमों के भग्नावशेषों का पता लगाने का प्रयास किया गया है। बु० इ० फ्रा० ३२, पृ० ८५। ३, ३१९। सिडो : ए० हि०, पृ० १९२-३।

जिसमें उसके माता-पिता तथा पूर्वजों की मूर्तियां रखी गयीं। यह आज भी लोले के नाम से प्रसिद्ध है। उच्च शिक्षा के लिए उसने शिवपुर में एक विद्यालय स्थापित किया और वहां के प्राध्यापक ने शैवधर्म के विकास में बहुत भाग लिया। इसके समय में विस्तृत रूप से धार्मिक आश्रमों का निर्माण हुआ और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का ज्ञान विशेष रूप से प्रसारित हुआ। इन लेखों में संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत बहुत-से श्लोक तथा साहित्यिक कवियों के नाम भी मिलते हैं, जिन पर विस्तृत रूप से साहित्य के अध्ययन में विचार किया जायगा। कला के क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। इसके समय में तड़ागों, मन्दिरों, आश्रमों इत्यादि का निर्माण हुआ और यशोधरपुर नामक नगर की स्थापना हुई, जो १५वीं शताब्दी तक कायम रहा। सिडो के मतानुसार इसकी मृत्यु ९०० ई० में हुई, पर मजुमदार ने इसे ९०२ में रखा है।[21] मरने के पश्चात् इसका नाम 'परमशिवलोक' रखा गया।

यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी

यशोवर्मन् के उत्तराधिकारियों में उसके दो पुत्र हर्षवर्मन् प्रथम और ईशानवर्मन् द्वितीय थे, जो क्रमशः एक-दूसरे के बाद गद्दी पर बैठे। उनके बाद यशोवर्मन् का बहनोई जयवर्मन् चतुर्थ के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। ईशानवर्मन् द्वितीय के लेखों में वत-थिपेदि (सियम रेव) के मन्दिर का वर्णन है। शक सं० ८३२ (९१० ई०) के लेख में[22] यशोवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि ८११ (८८९ ई०) और उसके दो पुत्र हर्षवर्मन् प्रथम तथा ईशानवर्मन् द्वितीय का उल्लेख है और यह कि इन तीनों शासकों ने शिखाशिव नामक ब्राह्मण विद्वान् को सम्मानित किया था। वत-चक्रेत (वा-नाम पहाड़ी के नीचे) के लेख में[23] यशोवर्मन् के पुत्र हर्षवर्मन् (**श्रीहर्षवर्मा स श्रीयशोवर्मपुत्रकः**) द्वारा शिव-मन्दिर के निमित्त दी गयी दासियों का उल्लेख है। अन्तिम ख्मेर पंक्ति में इसकी तिथि को ८३४ पढ़ा गया है, पर यह माना नहीं गया है। इसके अनुसार हर्षवर्मन् ने ९१२ ई० में फूनान की प्राचीन राजधानी में एक दान दिया और नोम-वेकेंग की पहाड़ी के नीचे वकसेई-

२१. ए० हि०, पृ० १९४, कम्बुज देश, पृ० ९५।
२२. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ७८, पृ० १६१ से।
२३. यही, नं० ७९, पृ० १६४।

चंक्रोंग का मन्दिर भी बनाया।[२४] सिडो के अनुसार[२५] उसने ९२२ ई० तक राज्य किया और मृत्यु के उपरान्त उसे 'रुद्रलोक' के नाम से सम्बोधित किया गया।

ईशानवर्मन् द्वितीय के विषय में, जिसे 'परमरुद्रलोक' नाम दिया गया, अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। तुओल-कुल (मों प्रदेश, वट्मवंग) के लेख में शक सं० ८४७ (९२५ ई०) में 'परमरुद्रलोक' अथवा ईशानवर्मन् द्वितीय से किये गये निवेदन का उल्लेख है।[२६] शक सं० ८४३ (९२१ ई०) के प्रसत-थोम (खो-खेर प्रान्त) के मन्दिर के लेख में[२७] जयवर्मन् (चतुर्थ) द्वारा त्रिभुवनेश्वर के निमित्त दान का उल्लेख है। शक सं० ८४४ के दो लेख कोंन-अन[२८] (थ्वोन ख्मुय प्रान्त) तथा तुओल पाई[२९] (स्तुंग प्रान्त) में मिले हैं। प्रथम लेख में सम्राट् जयवर्मन् द्वारा पृथ्वीन्द्रवर्मन् को त्रिभुवनैकनाथ की स्थापना सम्बन्धी आदेश देने का उल्लेख है जिसे प्राण नामक एक ब्राह्मण ने दिया था। दूसरे लेख में सम्राट् का नाम ठीक तरह से पढ़ा नहीं जा सका। आमोनिये के मतानुसार[३०] यह ईशानवर्मन् था पर सिडो[३१] इसे हर्षवर्मन् पढ़ते हैं। लेखों की तिथि से कौटुम्बिक कलह और संघर्ष का संकेत होता है। यह प्रतीत होता है कि ईशानवर्मन् द्वितीय के राज्यकाल में जयवर्मन् यशोधरपुर से बाहर चला गया और उसने उत्तर-पूर्व के खो-खेर, जहां पर कुल-देवता की मूर्ति भी लगायी गयी, और स्तुंग भाग पर अधिकार कर लिया। ईशानवर्मन् की मृत्यु कदाचित् ९२८ ई० में हुई और तब जयवर्मन् सम्पूर्ण कम्बुज देश का शासक हो गया।[३२]

२४. बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १२७-८। जू० ए० मई-जून १९०९, पृ० ५२०।

२५. ए० हि०, पृ० १९५।

२६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १०४, पृ० २७७। ज० ग्रे० इ० सो० ३, पृ० ६५। यह लेख शक सं० ८९० का है और उस समय ईशानवर्मन् दिवंगति प्राप्त कर चुका था।

२७. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८०, पृ० १६६।

२८. यही, नं० ८१, पृ० १६६।

२९. यही, नं० ८२, पृ० १६७।

३०. आमोनिये, कम्बुज, भाग १, पृ० ४४३।

३१. सिडो, बु० इ० फ्रा० ३३, पृ० १७।

३२. यही, ३१, पृ० १७। ए० हि०, पृ० १९५।

जयवर्मन् चतुर्थ

जयवर्मन् के उपर्युक्त उल्लिखित लेखों से प्रतीत होता है कि इसने स्वतंत्र रूप से अपना राज्य उत्तर-पूर्व में स्थापित कर लिया था, पर वैधानिक रूप से उसका सम्पूर्ण कम्बुज देश पर शक सं० ८५०-(९२८ ई०) तक अधिकार न हो सका। प्रसत-निअंग-ख्मो के लेख में इसके अभिषेक की तिथि शक सं० ८५० दी हुई है।[३३] इस सम्राट् के अन्य लेख ८५१, ८५२, ८५४ और ८५९ में खो खेर (प्रसत-थोम) में मिले हैं।[३४] ये ख्मेर भाषा में हैं और आमोनिये के मतानुसार[३५] इनमें जयवर्मन् द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। सिडो ने प्रसत-कयप[३६] के मन्दिर में मिले एक अन्य ख्मेर लेख का भी उल्लेख किया है जिसमें शक सं० ८५० में जयवर्मन् द्वारा त्रिभुवनदेव की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। शक सं० ८५९ में प्रसत-वन्ते-पिरकन के लेख[३७] में गणपति को प्रज्ञापतीश्वर देवता के प्रति दान देने का आदेश है। प्रसत-अन्डोन के लेख में[३८] शिव, गंगा, विष्णु, ब्रह्मा, उमा, भारती, कम्बु तथा कम्बुज के सम्राटों की स्तुति के पश्चात् यशोवर्मन्, हर्षवर्मन् (प्रथम), ईशानवर्मन् (द्वितीय) तथा जयवर्मन् (चतुर्थ) की प्रशस्ति है और जयवर्मन् द्वारा ८१ हाथ की ऊँचाई पर लिंग स्थापना का उल्लेख है (**नवधा नवहस्तान्ते प्रतिमामिर (रति) ष्ठिपत्।** पद २८)। इसी लेख में यशोवर्मन्, हर्षवर्मन् प्रथम, ईशानवर्मन् तथा जयवर्मन् चतुर्थ की प्रशंसा की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् ने यशोवर्मन् के कुल से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा। इस सम्राट् के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं में चम्पा के साथ संघर्ष का संकेत प्रसत-कोक के लेख में मिलता है।[३९] जयवर्मन् को मृत्यु के पश्चात् 'परमशिवपद' की उपाधि मिली और इसका उत्तराधिकारी इसका पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय हुआ।

३३. आमोनिये, कम्बुज, भाग १, पृ० १८३।
३४. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८४, पृ० १६७।
३५. कम्बुज, भाग १, पृ० ४०६-७।
३६. इ० क० १, पृ० ५२।
३७. यही, पृ० ५५।
३८. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८६, पृ० १७१ से।
३९. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १५१, नं० ८३ (अ)

हर्षवर्मन् द्वितीय

इसके वटक-अई मन्दिर (केपोंग-थोम के उत्तर-पूर्व) में अंकित लेख में[४०] इसके अभिषेक की तिथि शक सं० ८६४ (९४२ ई०) है। नोम-वयांग के ८६३ शक सं० (९४१ ई०) के लेख में[४१] जयवर्मन् चतुर्थ के पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय द्वारा यतीश्वर के, जो विषयाधिपति भी था, सम्मानित करने का उल्लेख है, पर विद्वानों ने इसकी तिथि ८६४ (सन् ९४२ ई०) ही रखी है और विचार किया जाता है कि जयवर्मन् चतुर्थ ने ९४१ तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा,[४२] जिसने केवल दो ही वर्ष राज्य किया और उसके बाद उसका मौसेरा भाई राजेन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा। किंवदन्तियों के अनुसार हर्षवर्मन् को भागना पड़ा था, जिससे गृहयुद्ध का संकेत होता है। राजेन्द्रवर्मन् ने पुनः यशोधरपुर (अंकोर) को अपनी राजधानी बनाया।

राजेन्द्रवर्मन्

राजेन्द्रवर्मन् यशोवर्मन् की बहिन महेंद्रदेवी का पुत्र था। इसका शक सं० ८६६ (९४४ ई०) का लेख त्रपन-संवोत[४३] (त्रांग प्रान्त के सुदूर दक्षिण तथा नोम वयांग के दक्षिण-पूर्व) में मिला। इसमें कुछ ब्राह्मणों द्वारा मन्दिर के निमित्त दी गयी भूमि-सम्पत्ति की मर्यादा-रक्षा की प्रार्थना की गयी थी। अन्य लेखों में[४४] प्रमुख ये हैं प्रह-पुत-लो चट्टान (कुलेनप हाड़ी, प्राचीन महेन्द्रगिरि) का शक सं०-८६९का लेख इसी तिथि का प्रसत-प्राम लेख (कों-पोग-स्वे प्रान्त), वकसेई-चमक्रो लेख (अंकोर थाम से थ ड़ा दक्षिण में वेखेंग की पहाड़ी पर स्थित मन्दिर) जो राज्य-वंशावली के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है, नोम-प्रह-नेत-प्राह का शक सं० ८७१ का लेख, मेबोन (अंकोर थाम के निकट एक मन्दिर) का शक सं० ८७४ का लेख (इसमें भी राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली दी हुई है), स्तुंग-प्रान्त में थ्वरंकडाई के ८७४

४०. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८८, पृ० १७८।
४१. यही, नं० ८७, पृ० १७५।
४२. सिडो, ए० हि०, पृ० १९६। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ९७।
४३. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८९, पृ० १७८।
४४. यही, नं० ९० से ९७, पृ० १७९ से २३२।

सं० के दो लेख, ८७८ का नोम-संडक (खो खेर से १५ मील उत्तर में) का लेख, ८८२ शक सं० का वट-चुम मन्दिर (अंकोर थाम के निकट) का लेख, ८८३ का प्रे-रूप (अंकोर क्षेत्र) का लेख, जो सबसे लम्बा है और इसमें राजेन्द्रवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि शक सं० ८६६ (९४४ ई०) दी हुई है। इसमें सम्राट् के राज्यकाल की कुछ अन्य घटनाओं का भी उल्लेख है, जिनमें यशोधरपुर लौटकर पुनः राजधानी स्थापित करना तथा चमों के ऊपर विजय प्राप्त करना विशेषतया उल्लेखनीय है। राजेन्द्रवर्मन् का अन्तिम लेख शक सं० ८८८ (९६६ ई०) का दों-त्रि (वत्म-वंग क्षेत्र) में मिला है।[४५] मेवोंन के लेख के आधार पर राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली निम्नलिखित है—
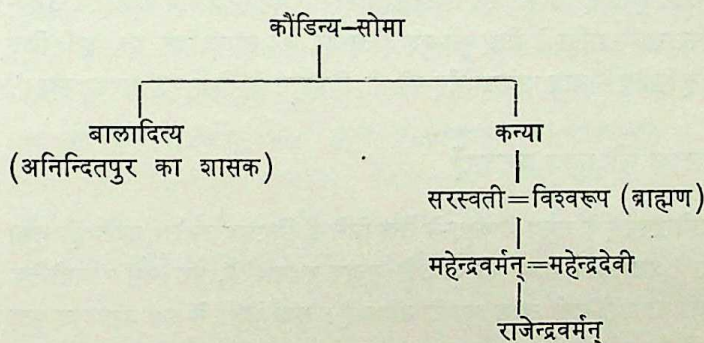
प्रे-रूप के लेख में भी राजेन्द्रवर्मन् की माता महेन्द्रदेवी का उल्लेख है। उपर्युक्त लेख के अनुसार यशोवर्मन् के दो बहिनें थीं—जयदेवी तथा महेन्द्रदेवी। जयदेवी का विवाह जयवर्मन् चतुर्थ के साथ हुआ था और उनका पुत्र राजेन्द्रवर्मन् हुआ। कदाचित् जयदेवी बड़ी थी और इसी लिए उसंका पुत्र कनिष्ठ होते हुए भी पहले गद्दी पर बैठा। प्रे-रूप के लेख में वेदवती का उल्लेख है जो बालादित्य की भांजी सरस्वती की वंशज थी। यशोवर्मन् के उत्तराधिकारियों की तालिका इस प्रकार अंकित की जा सकती है—

४५. यही, नं० १००, पृ० २६९।

प्रह-पुत-लो चट्टान लेख के[५५] अनुसार उसने तथागत (बुद्ध) और महेश्वर की मूर्तियों की स्थापना की। मेवोन के लेख में शक सं० ८७४ में पार्वती, विष्णु, ब्रह्मा और राजेन्द्रेश्वर नामक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। प्रे-रूप के लेख के अनुसार शक सं० ८८३ (९६१ ई०) में वहां एक मन्दिर का निर्माण किया गया, वहीं राजेन्द्रभद्रेश्वर लिंग की स्थापना हुई और चार अन्य मन्दिर—दो शिव के तथा उमा और विष्णु के—बने।[५६] मृत्यु के उपरान्त इसे 'शिवलोक' नाम से सम्बोधित किया गया।

जयवर्मन् पंचम

वन्ते-श्राई के शक सं० ८९० के लेख से[५७] प्रतीत होता है कि उस समय जयवर्मन् पंचम राज्य कर रहा था। इस लेख के ख्मेर भाग में सम्राट् द्वारा राजकुल-महामंत्री तथा अन्य पदाधिकारियों को त्रिभुवन-महेश्वर के मन्दिर के संबंध में आदेश दिया गया है। अंकोरवाट में इसी संवत् के एक दूसरे लेख में[५८] जयवर्मन् पंचम के इसी वर्ष सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख है और सेनापति वीरेन्द्रवर्मन् को एक वैष्णव मन्दिर की स्थापना का आदेश दिया गया है। इस लेख के अनुसार जयवर्मन् राजेन्द्रवर्मन् का पुत्र था (**श्रीराजेन्द्रवर्म्मेश्वरसनुरासीत**)। नोम-वरवेन के ८९० शक सं० के लेख[५९] में भी जयवर्मन् पंचम द्वारा दिये गये आदेशों का उल्लेख है। जयवर्मन् के दो अन्य लेख[६०] शक सं० ९०१, ९१६, (९७९, ९९४ ई०) (के प्रसत कर) सियम-रेप के एक मन्दिर में मिले। उसके उत्तराधिकारी उदयादित्यवर्मन् का लेख शक सं० ९२३ (१००१ ई०) के प्रसत-थोम[६१] (खो खेर के एक मन्दिर) में मिला। सिडो के मतानुसार[६२] ९६८ ई० में राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था

५५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ९०, पृ० १७९।
५६. यही, नं० ९७, पृ० २३४।
५७. यही, नं० १०२, पृ० २७२।
५८ यही, नं० १०५, पृ० २७८।
५९. यही, नं० १०६, पृ० २७९।
६०. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १४४, पृ० २९९।
६१. यही, नं० ११८, पृ० ३०८।
६२. ए० हि०, पृ० २००। इ० क० २, पृ० ६५।

अधिक न थी, क्योंकि ९७४ ई० तक वह गुरु की अध्यक्षता में अध्ययन करता रहा। उसने लगभग ३३ वर्ष तक राज्य किया, पर उसके राज्यकाल की राजनीतिक घटनाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। उसने जयनगरी का निर्माण ९७८ ई० में करवाया।[६३] उसकी वहिन इन्द्रलक्ष्मी का विवाह भारतीय ब्राह्मण दिवाकरभट्ट के साथ हुआ, जो कालिन्दी अथवा यमुना के तट पर रहता था, जहां कृष्ण ने अपना बाल्यकाल विताया था। उसने बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण कराया तथा मूर्तियां स्थापित कीं। यद्यपि राजकीय धर्म शैव मत की ओर सम्राट् का झुकाव था, पर योगाचार मत का भी प्रभाव बढ़ रहा था, जिसमें कीर्ति पंडित नामक व्यक्ति का बड़ा हाथ था।[६४] जयवर्मन् की मृत्यु १००१ ई० में हुई और मृत्यु के उपरान्त इसका नाम 'परमवीरलोक' पड़ा। पश्चात् इसके भांजे उदयादित्यवर्मन् ने राज्य किया।

युग का विशेष महत्त्व

इन्द्रवर्मन् (८७७ ई०) से जयवर्मन् पंचम (१००१ ई०) के बीच के समय का कम्बुज इतिहास और संस्कृति के रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस समय में चीन में अराजकता फैली हुई थी। इसलिए कम्बुज को राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में कठिनाई न हुई। उत्तर में चीन के अधीनस्थ टोंकिन तथा अन्य राज्यों पर अधिकार हो जाने से कम्बुज साम्राज्य की उत्तरी सीमा चीन तक पहुंच गयी थी।[६५] इन्द्रवर्मन् के लेखों से तो चीन तक के प्रान्तों पर अधिकार का संकेत मिलता है, पर यह धारणा निर्मूल है। इससे चीन के अधीन किसी राज्य का संकेत होगा। पश्चिम में कम्बुज साम्राज्य की सीमा स्याम तक पहुंच गयी थी और मीनम तथा मेंकांग के बीच के राज्य कम्बुज साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे। दक्षिण में मलय देश के उत्तरी भाग पर कम्बुज का अधिकार था। चम्पा देश स्वतंत्र था, पर उसका कम्बुज देश के साथ बराबर द्वन्द्व चलता रहा और इसमें कम्बुज सम्राटों का पलड़ा भारी रहा। ब्रह्मा में स्थित तीन राज्यों में रमणदेश, रमण अथवा मों का

६३. यही।
६४. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ११३, पृ० २९९, ११५, पृ० ३०१।
६५. ए० ए० २, पृ० ७९, मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १०१।

देश, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण दक्षिणी ब्रह्मा, टवो, मेरगुई और टेनासिरम को रख सकते हैं, रामावती, हंसावती, द्वारावती तथा श्रीक्षेत्र का समूह था। इसके उत्तर में पगान अथवा अरिमर्दनपुर था जो इरावदी और चिंदविन के बीच उत्तरी ब्रह्मा में था। इससे उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में इरावदी और साल्वीन की घाटियों में कई थाई राज्य थे, जो कौशाम्बी के नाम से एक संघ में मिल गये थे। कम्बुज साम्राज्य की सीमा इन तीनों राज्यों से मिलती थी। यद्यपि कम्बुज और शैलेन्द्र साम्राज्यों के बीच संघर्ष का कहीं उल्लेख नहीं है, पर इन्द्रवर्मन् ने कदाचित् जावा के अधीनस्थ कुछ प्रान्त पर अधिकार कर लिया था।

साम्राज्य विस्तार तथा राजनीतिक प्रभुता के अतिरिक्त इस युग में भारतीय संस्कृति और साहित्य ने कम्बुज देश में अपना पूर्ण स्थान बना लिया। लेखों से प्रतीत होता है कि वहां भारतीय साहित्य ने अपना स्थान बना लिया था और रचनाओं में सभी प्रकार के छन्द तथा अलंकारों का प्रयोग किया जाता था। सम्राट् यशोवर्मन् स्वयं बड़ा विद्वान् था और उसने 'महाभाष्य' पर व्याख्या लिखी थी। पाणिनि के सूत्रों का भी कई लेखों में उल्लेख मिलता है। 'मनुस्मृति' के बहुत-से श्लोक-उद्धरण लेखों में मिलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण वैष्णव तथा शैव और बौद्ध धर्म पूर्ण रूप से प्रचलित थे और उनके विभिन्न आश्रम भी थे। भारत से आये हुए ब्राह्मणों का समाज और शासन में आदरणीय स्थान था तथा राजवंश के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित होता था। राजेन्द्रवर्मन् की पुत्री राजलक्ष्मी का विवाह मथुरानिवासी दिवाकर भट्ट नामक ब्राह्मण के साथ हुआ था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं।

वास्तव में १००० ई० तक कम्बुज देश ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति की, जिसका श्रेय भारतीय सम्पर्क तथा भारतीय अंशदान को है। यद्यपि आगे चलकर देश में समय-समय पर राज्याधिकार के लिए गृहयुद्ध हुआ, पर वह थोड़े समय तक ही रहा और विस्तृत कम्बुज साम्राज्य लगभग तीन सौ वर्षों तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित रख सका।

अध्याय ६

विशाल कम्बुज साम्राज्य

जयवर्मन् पंचम की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक कम्बुज देश में कई शासकों ने एक साथ अलग-अलग क्षेत्रों में राज्य किया। अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त करने और सिंहासनारूढ़ होने का मुख्य कारण किसी ऐसे नियम का अभाव था जिसके अनुसार पिता के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन पर बैठे। कम्बुज देश में बहनोई तथा मातुल भी सिंहासन के लिए अपना अधिकार समझते थे। इस समय के जो लेख प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार उदयादित्यवर्मन् प्रथम, जयवर्मन् तथा सूर्य-वर्मन् ने एक ही समय में राज्य किया। उदयादित्यवर्मन् प्रथम के दो लेख म्ल्यू-प्राई[1] और खो-खेर[2] प्रान्तों में मिले। प्रथम लेख में प्रसत-खन के मन्दिर का उल्लेख है और इसमें विष्णु की आराधना की गयी है तथा सम्राट् उदयादित्यवर्मन् के ज्येष्ठभ्राता, जो उन्हीं के सेनापति भी थे, नरपतिवर्मन् द्वारा विष्णु की एक सुवर्ण-मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में उदयादित्यवर्मन् के अभिषेक की तिथि शक सं० (९२३-१००१ ई०) लिखी गयी है तथा उसके बड़े भाई सेनानी के शौर्य का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार निम्नलिखित वंशावली निकलती है।
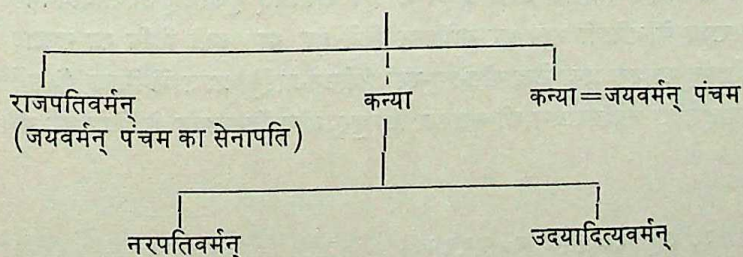
१. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ११७, पृ० ३०३। बु० इ० फ्रा० ११, पृ० ४००।

२. यही, नं० ११८, पृ० ३०८।

उदयादित्यवर्मन्—जयवीरवर्मन्

राजपतिवर्मन् और उसके भांजे नरपतिवर्मन् का उल्लेख सियम-रूप में प्राप्त जयवर्मन् पंचम के लेख[३] में है, जिसमें मृतक कम्सते श्री राजपतिवर्मन् और कम्सते श्री नरपतिवर्मन् की नानी के रूप की प्रतिमाओं के निर्माण का उल्लेख है। इसी लेख में नरपतिवर्मन् के साथ ही म्रताञ ख्लोञ (प्रान्तीय शासक) श्री जययुद्ध-वर्मन् का भी उल्लेख है। उदयादित्य का दूसरा लेख खो-खेर के प्रसत-थोम मन्दिर में मिला और यह भी इसी तिथि का है। इसमें सम्राट् उदयादित्यवर्मन् द्वारा म्रताञ-ख्लोञ श्री पृथ्वीनरेन्द्र और मृताञस्टेंञ श्री वीरेन्द्रारिमथन द्वारा राजकीय घोषणा को अंकित करने का आदेश दिया गया है। इन दोनों लेखों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि उदयादित्यवर्मन् प्रसिद्ध झील के उत्तर-पूर्व में शक सं० ९२३ (१००१ ई०) में राज्य कर रहा था और यह जयवर्मन् पंचम का भांजा था। कदाचित् अपने भाई की सहायता से इसने राज्य प्राप्त किया था। सफलता प्राप्त करने का कारण इन दोनों भाइयों का जयवर्मन् पंचम के साथ सम्बन्ध तथा नरपति-वर्मन् का सेनानी होना था। इसी तिथि १००१ ई० का सूर्यवर्मन् प्रथम का एक लेख कों-पों-स्वे में[४] मिला, जिसमें सोमेश्वर पंडित द्वारा सम्राट् सूर्यवर्मन् से प्राप्त भूमिदान का उल्लेख है। इसी प्रान्त में सूर्यवर्मन् का प्रसत-त्रपन-रुन का ९२४ अथवा ९३४ का लेख[५] भी मिला। सूर्यवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि ९२४ (१००२) ई० थी और उसने ९ वर्ष तक युद्ध किया। इसका उल्लेख तुओल त पेक (कों ओं थोम) से प्राप्त लेख में मिलता है।[६] ये दोनों प्रान्त खो खेर और म्ल्यू प्राई से दक्षिण में प्रसिद्ध झील के पूर्व में हैं। कदाचित् सूर्यवर्मन् उदयादित्यवर्मन् के राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार किये हुए था। इसी तिथि का सम्राट् सूर्यवर्मन् का एक अन्य लेख वोस-प्रह-रन[७] (चोउंग-प्राई) प्रान्त में मिला, जिसमें सम्राट् द्वारा भद्रेश्वराश्रम की स्थापना लिंगपुर और लिंगसाधन के लिए हुई थी

३. यही, नं० ११४, पृ० २९९।
४. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १२०, पृ० ३१०।
५. यही, नं० १२० (अ), पृ० ३१०
६. यही, नं० १२० (ब), पृ० ३१०।
७. यही, नं० १२० (स), पृ० ३१०।

और रमनि (रमणी) देश के पृथ्वीन्द्र पंडित ने इसमें भाग लिया था। इसी लेख में सम्राट् के मृत गुरु विजयेन्द्रवर्मन् और भवपुर के प्रान्तीय पैतृक राज्यकाल समराधिपतिवर्मन् का भी उल्लेख है। यह स्थान प्रसिद्ध झील के दक्षिण-पश्चिम में है।

उदयादित्यवर्मन् प्रथम के विषय में १००२ ई० के बाद कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। कदाचित् उसने केवल दो ही वर्ष तक राज्य किया, किन्तु सूर्यवर्मन् के एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी का उल्लेख कई लेखों में मिलता है। इसका नाम जयवीरवर्मन् था और इसके शक सं० ९२७ के तीन लेख प्रह-खो, प्रसत-दमवोक तथा प्रह-तते में मिले।[८] शक सं० ९२७ के एक अन्य लेख में सम्राट् सूर्यवर्मन् का उल्लेख है[९], जयवीरवर्मन् का ९२८ शक सं० का एक लेख कों-पोंग-स्वे प्रान्त में प्रसत-त्रपन के मन्दिर में मिला, जिसमें जयवर्मन् द्वितीय, जयवर्मन् पंचम तथा जयवीरवर्मन् का उल्लेख है।[१०] इसके बाद इस शासक का कोई अन्य लेख नहीं मिलता। लेखों के प्राप्त स्थानों से पता चलता है कि जयवीरवर्मन् ने अंकोर क्षेत्र तथा पश्चिमी क्षेत्र में राज्य किया। सूर्यवर्मन् के तुओल-त-पेक के लेख से प्रतीत होता है कि सूर्यवर्मन् प्रथम ने नौ वर्ष तक संघर्ष किया और शक सं० ९२४ (१००२ ई०) में उसका अभिषेक हुआ।[११] इस तिथि की पुष्टि अन्य लेख से भी होती है।[१२] अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर्यवर्मन् का संघर्ष जयवीरवर्मन् के साथ कुछ वर्षों तक चलता रहा और अन्त में सूर्यवर्मन् सफल हुआ और उसने सम्पूर्ण कम्बुज देश पर अधिकार कर लिया तथा अपने राज्य की सीमा पश्चिम में स्याम तक बढ़ायी।

सूर्यवर्मन् प्रथम

सूर्यवर्मन् के पूर्वजों का किसी भी लेख में उल्लेख नहीं मिलता। अपने प्रसत-

८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १२६, १२७, १२८, पृ० ३२१, ३२२। यह लेख क्रमशः रुलो (प्राचीन हरिहरालय), खवों तथा वटम वंग क्षेत्र में मिले हैं।

९. यही, नं० १२८, पृ० ३२२। आमोनिये, कम्बुज २, पृ० ३२३।

१०. यही, नं० १३३, पृ० ३३१।

११. यही, नं० १२० (ब), पृ० ३१०। बु० इ० फ्रा० ३४। ४२७, ३५-४९३।

१२. यही, नं० १२९, पृ० ३२३।

ते-केव के लेख[१३] के अनुसार वह इन्द्रवर्मन् का वंशज था और नोम-प्रह विहार के लेख में[१४] इसकी सम्राज्ञी श्री विजयलक्ष्मी को श्री हर्षवर्मन् तथा श्री ईशानवर्मन् को वंशज बताया गया है। क्योंकि प्रसन-खन लेख[१५] के अनुसार वीरलक्ष्मी की माँ हर्षदेव वंश की थी। हर्षवर्मन् तृतीय के लों-वेक लेख[१६] में सूर्यवर्मन् का नाम श्री जयवर्मन् के ठीक बाद आता है, पर दोनों का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है, अन्यथा उदयादित्यवर्मन् श्री जयवर्मन् के बाद सिंहासन पर न बैठा होता। सिडो के मतानुसार[१७] वीरलक्ष्मी के नाम से प्रतीत होता है कि उसका पहले एक विवाह हुआ था और सूर्यवर्मन् ने जयवीरवर्मन् को जीतकर उसकी रानी वीरलक्ष्मी के साथ विवाह कर लिया। सूर्यवर्मन् की उपाधि 'कम्त्वन्' (मलय-त्वन्) के आधार पर सिडो ने इसे स्याम अथवा मलय-वंशज कहा है। 'चामदेवी वंश' नामक एक पालि ग्रन्थ में श्री धम्मनगर के पुत्र कम्बुज-सम्राट् द्वारा हरिपुंजय पर आक्रमण करने का उल्लेख है[१८] और यह घटना वहाँ के निवासियों के सुधम्मपुर जाने से २० वर्ष

१३. प्रसत-त-केव का मन्दिर अंकोर थोम के निकट पूर्वी वरे के पश्चिम में है। मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १४८, पृ० ३५१। आमोनिये, कम्बुज, भाग ३, पृ० ३८।

१४. मजुमदार, यही, नं० १४६, पृ० ३४८।

१५. यही, नं० १४४, पृ० ३४६।

१६. यही, नं० १६०, पृ० ४२२, पद २७, २८।

१७. ए० हि०, पृ० २२९।

१८. 'चामदेवी वंश' (१५वीं शताब्दी के आरम्भकाल का ग्रन्थ), 'जिनकालमालिनी' (१५१६ में पूरा किया गया) तथा 'मूलसासन' में इस घटना का उल्लेख है। हरिपुंजय (लम्पुं) के अत्रास्तक नामक एक शासक ने लवो (लोपवुरि) पर आक्रमण किया, जहाँ उस समय उच्छिट्ट चक्कवति राज्य करता था। उसी संघर्ष के समय श्रीधम्मनगर (लिगोर) का शासक सुजित एक सेना और विशाल बेड़े सहित लवो पहुँचा। उपर्युक्त दोनों प्रतिद्वन्द्वी हरिपुंजय की ओर चले जहाँ उच्छिट्ट चक्कवति पहले पहुंच गया और उसने अपने को सम्राट् घोषित कर अत्रास्तक की रानी के साथ विवाह कर लिया। लिगोर का शासक सुचित लवो में जम गया। अत्रास्तक दक्षिण की ओर कहीं चला गया। तीन वर्ष के अन्त में सुजित के पुत्र कम्बोजराज ने हरिपुंजय

पहले की है, जो १०५६-७ में हुई। श्रीधम्मपुर की समानता मलाया के लिगोर से की जाती है, अतः इसे भी मलाया-निवासी माना गया है और सूर्यवर्मन् के बौद्ध होने का यही कारण भी है, क्योंकि लिगोर उस समय बौद्धधर्म का बड़ा केन्द्र था। यद्यपि हम सूर्यवर्मन् को मलाया निवासी न भी मानें क्योंकि उसके पहले के लेख उत्तर-पूर्व में मिलते हैं और जयवीरवर्मन् के दक्षिण-पश्चिम में मिलते हैं, पर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उसने मीनम की घाटी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ायी। सूर्यवर्मन् की स्याम तथा दक्षिण ब्रह्मदेश की विजय का उल्लेख 'जिनकाल-मालिनी' तथा 'मूलसासन' में भी मिलता है, पर ये ग्रन्थ १५-१६वीं शताब्दी के हैं। हाँ ! मीनम की घाटी में मिले कुछ लेख तथा पुरातात्त्विक भग्नावशेष ख्मेर अधिकार के साक्षी हैं। ख्मेर अधिकार मेंकांग पर स्थित लुअंग-प्र वेंग से लेकर मीनम पर स्थित सुखोथई-सबनक लोक तक था।[१९] लोपवुरि (स्याम) से प्राप्त लेख[२०] के अनुसार समस्त धार्मिक स्थानों, विहारों, यतियों, हीनयान तथा महायान भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि वे अपने तप द्वारा प्राप्त पुण्य सम्राट् को अर्पण कर दें। शक सं० ९४८ का सूर्यवर्मन् का एक लेख स्याम के सिस्फोन-प्रान्त में मिला।[२१] म्ल्यू प्राई से लेकर वारी तक के क्षेत्र में इस सम्राट् के लेख मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उसने सम्पूर्ण कम्बुज देश तथा स्याम और ब्रह्मा के भाग तक के क्षेत्र पर राज्य किया। इसके लेख ९२४[२२] से ९७० शक सं० तक के मिले,[२३] पर इनमें केवल दान का ही उल्लेख है। उसके राज्यकाल की किसी राजनीतिक घटना का कहीं भी विवरण नहीं मिलता। प्रह्-खन लेख[२४] में सम्राट् की विद्वत्ता का भी

पर अधिकार करना चाहा, पर उसे हारकर लौटना पड़ा। इसी कम्बुजराज की समानता सूर्यवर्मन् से की गयी है। (सिडो, ए० हि०, पृ० २३१-२)

१९. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० ४११।

२०. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १३९, पृ० ३४३।

२१. यही, नं० १४०, पृ० ३४४।

२२. यही, नं० १२०, पृ० ३१०। सूर्यवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि प्रसत-त-केओ लेख में भी शक सं० ९२४ दी गयी है। (नं० १४८, पृ० ३५२)।

२३. अन्तिम तिथि को ९७० (१०४८ ई०) पढ़ा गया है (नं० १४७, पृ० ३५१)

२४. यही, नं० १४९, पृ० ३६०।

उल्लेख है। वह भाष्य, काव्य षड्दर्शन और धर्मशास्त्रों में पारंगत था, (**भाष्यादि-चरणकाव्यपाणिनिषड्दर्शनेन्द्रिया** पद ८)। उसका गुरु योगेश्वर पंडित था जिसकी मां सत्यवती जयवर्मन् द्वितीय की पौत्री थी। यद्यपि वह बौद्ध था, पर उसने कुलदेवता की उपासना की और शैव तथा वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया। उसने सामाजिक जाति व्यवस्था को भी यथोचित रूप दिया (**वर्णभागे कृते**)। कम्बुज देश में गृहयुद्ध की संभावना को दूर करने के लिए उसने एक नवीन प्रणाली चलायी जिसके अनुसार पदाधिकारियों को सम्राट् के प्रति आजन्म स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। इसका उल्लेख अंकोर थोम के गोपुरम् के स्तम्भों पर अंकित ८ लेखों में है, जो शक सं० ९३३ (१०११ ई०) के हैं।[२५] अग्नि, ब्राह्मण और आचार्यों के सम्मुख सम्राट् सूर्यवर्मन् के प्रति, जो शक सं० ९२४ से राज्य कर रहा था, अपना जीवनदान करने के लिए चार सहस्र पदाधिकारियों ने शपथ ली। शपथ के अनुसार वे न तो किसी अन्य के अधीन रहेंगे, न सम्राट् के विरुद्ध शत्रु की सहायता करेंगे तथा सम्राट् सूर्यवर्मन् के प्रति पूर्णतया स्वामिभक्त रहेंगे। युद्ध के समय वे रणभूमि से नहीं हटेंगे। अवहेलना करने पर सम्राट् जो चाहे दंड दे। सूर्यवर्मन् ने जयवीरवर्मन् के अतिरिक्त अन्य शासकों से संघर्ष करके सम्पूर्ण स्याम पर अधिकार कर लिया और इसकी विजय दक्षिण ब्रह्मा, थटोन के मों राज्य तक हो गयी, पर विस्तृत रूप से इसका वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता।[२६] सूर्यवर्मन् की मृत्यु कदाचित् १०४९ ई० में हुई और उसके बाद उदयादित्यवर्मन् सिंहासन पर बैठा।

उदयादित्यवर्मन् द्वितीय

सिडो के मतानुसार[२७] उदयादित्यवर्मन् सूर्यवर्मन् प्रथम का पुत्र था और १०५० के आरम्भ में वह सिंहासन पर बैठा। इसका शक सं० ९७१, ९७२ का लेख[२८] सिस्फोन प्रान्त के प्रसत-रोल्हु में मिला। इस लेख के अनुसार वह शक सं० ९७१

२५. यही, नं० १३६, पृ० ३४१।
२६. सिडो, ए० हि०, पृ० २३२।
२७. यही, पृ० २३३।
२८. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १५१, पृ० ३६२।

में फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को सिंहासन पर बैठा और ९७२ में उसने श्री जयेन्द्र पंडित को भूमि तथा दास दान में दिये।[२९] इसके लेख क्रमशः ९७६ में स्डोक काक थोम (सिस्फोन से १५ मील उत्तर पूर्व), इसी तिथि का फुम दा[३०] (को पों छनम्), ९८२ का प्रत-रूनं[३१] (म्ल्यू-प्राई) तथा कदाचित् इसी शासक का ९८८ का प्रह्-नोक (सियम शप) में मिले हैं।[३२] इन लेखों में कम्बुज देश की राजनीतिक परिस्थिति, विप्लव तथा चम्पा से संघर्ष का वृत्तान्त मिलता है जिसकी पुष्टि चम्पा के लेखों से भी होती है। प्रह्-नोक के लेख के अनुसार शक सं० ९७३ (१०५८ ई०) में अरविन्दह्रद नामक एक व्यक्ति दक्षिणी भाग में विद्रोह कर बैठा। उसने अपने को शक्तिशाली वना लिया था। इस विद्रोह को संग्राम नामक सेनापति ने दबाया और अरविन्द चम्पा भाग गया। उसने देश के उस भाग में शान्ति स्थापित की और तीन आश्रमों का निर्माण कराया। लेख से प्रतीत होता है कि अरविन्द कदाचित् कम्बुज-सिंहासन की प्राप्ति के लिए इच्छुक था और वह बड़ा शक्तिशाली था। उसके विरुद्ध कई वीर सेनापति असफल रहे। अन्त में सेनापति संग्राम ने उसे हरा दिया। दूसरा विद्रोह कंवौ नामक सेनापति ने सम्राट् के विरुद्ध उत्तर-पश्चिम में किया। प्रसत-प्रह् के शक सं० ९८९ के लेख में इसका उल्लेख है।[३३] एक सुसज्जित सेना एकत्रित करके उसने राजकीय सेना को हराया और देश को ध्वस्त कर दिया। इसी विद्रोह में मंत्री संग्राम द्वारा सूर्यवर्मन् को दिये हुए शिवलिंग को भी क्षति पहुंची और ९८९ में पुनः इस लिंग के साथ ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की मूर्तियां स्थापित की गयीं। ९८८ में संग्राम स्वयं सेनापति कंवौ के विरुद्ध हो गया और उसका वध कर दिया गया। उसकी सेना नष्ट हो गयी। पृथुशैल पर्वत पर उस विजय के उपलक्ष्य में उसने शिव के मन्दिर के लिए बहुत-सा धन दिया। तीसरा

२९. यही, नं० १५२, पृ० ३६२ से। नं० १५३, पृ० ३८२ से।

३०. यही, नं० १५३, पृ० ३८२ से।

३१. यही, नं० १५७, पृ० ४००।

३२. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १५५, पृ० ३८५।

३३. यही, नं० १५६, पृ० ३९८। इस लेख में उदयार्कवर्मन् की तिथि शक सं० ९८८ दी हुई है, और उदयादित्यवर्मन् का प्रह्-नोक लेख (नं० १५५) भी इसी संवत् का है। अतः इन दोनों को एक ही मानना उपयुक्त होगा।

विप्लव स्लवत नामक एक व्यक्ति ने पूर्व दिशा में किया जिसके सहायक उसके कनिष्ठ भ्राता सिद्धिकार तथा सगान्तिभुवन थे। संग्राम ने इनको हराकर प्रशान्-त्रेम्यंत तक भगाया और वहां की स्थानीय सेना को हराकर स्लवत की सेना को पुनः हराया। तीसरा विद्रोह १०६६ ई० में हुआ जो सम्राट् के राज्यकाल का अंतिम वर्ष था।[३४]

गृह-विद्रोह के अतिरिक्त उदयादित्यवर्मन् को चम्पा से भी संघर्ष करना पड़ा जिसका उल्लेख चम्पा के जयपरमेश्वरदेव के शक सं० ९७२ के पों-ल्कौं[३५] तथा पो-नगर लेख[३६] में है तथा इसी सम्राट् के शक सं० ९७८ के माइ-सोन लेखों[३७] में ख्मेरों की पराजय और शम्भुपुर के सभी स्थानों को नष्ट करने का उल्लेख है। इसका श्रेय युवराज महासेनापति को था। इस युद्ध के कारण का पता नहीं है। हर्षवर्मन् तृतीय के प्रसत शिलाओं के लेख में[३८] उदयादित्यवर्मन् द्वारा ब्रह दंनप नामक नगर को छोड़ने का उल्लेख है। कदाचित् गृह-विप्लवों के कारण उदयादित्यवर्मन् को ऐसा करना पड़ा होगा।

उदयादित्यवर्मन् द्वितीय के समय के स्डोक काक के लेख[३९] में जयवर्मन् द्वितीय के समय से उदयादित्यवर्मन् के समय के लगभग २५० वर्ष के काल में शिव-कैवल्य के वंशजों ने देवराज की पूजा के लिए राजपुरोहित के पद को सुशोभित किया। उदयादित्यवर्मन् का गुरु जयेन्द्र पंडित इसी वंश का था और उसने सम्राट् को सिद्धान्त व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कराया था। सम्राट् का शंकर पंडित नामक एक अन्य गुरु भी था। लोवेक के लेख[४०] के अनुसार शंकर पंडित सूर्यवर्मन्, उदयादित्यवर्मन् तथा हर्षवर्मन् का राज्य-पुरोहित था। उदयादित्य की मृत्यु के पश्चात् इसी शंकर पंडित ने सचिवों की

३४. सिडो, ए० हि०, पृ० २३५।
३५. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ५४, पृ० १५०।
३६. मजुमदार, चम्पा, नं० ५५, पृ० १५१।
३७. यही, नं० ५९, पृ० १५५।
३८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १५९, पृ० ४१७।
३९. यही, नं० १५२, पृ० ३६२।
४०. यही, नं० १६०, पृ० ४१९।

सहायता से उसके सहोदर हर्षवर्मन् को सिंहासन पर बैठाकर उसका राज्याभिषेक किया।

हर्षवर्मन् तृतीय

हर्षवर्मन् तृतीय के समय के लेख[४१] पल्हल (मो रूसी), प्रसत श्रुलौ[४२] (पुओक प्रान्त), लोवेक[४३] (अब नोम-पेन्ह में है) क्रमशः शक सं० ९९१, ९९३ तथा बिना तिथि के हैं। प्रसत-श्रुलौ लेख के अनुसार हर्षवर्मन् शक सं० ९८७ (१०६५ ई०) में गद्दी पर बैठा, किन्तु उदयार्कवर्मन् (उदयादित्यवर्मन्) द्वितीय के ९८८ तथा ९८९ शक संवत् के लेख मिले हैं। इसका समाधान करने के लिए या तो हर्षवर्मन् का उदयादित्यवर्मन् के समय में ही राज्याभिषेक मानें, जिसका कोई प्रमाण नहीं, अथवा प्रसत-श्रुलौ के लेख की तिथि को चालू संवत् में माना जाय और दूसरे दो लेखों की तिथि को गत वर्ष में मानें। सिडो के मतानुसार हर्षवर्मन् १०६६ ई० में सिंहासन पर बैठा।[४४] इस सम्राट् के राज्यकाल की मुख्य राजनीतिक घटनाओं का पता अन्य सूत्रों से लगता है। १०७४ और १०८० ई० के बीच काल में इसका चम्पा के साथ संघर्ष हुआ। चम लेखों[४५] से पता चलता है कि चम्पा के सम्राट् हरिवर्मन् चतुर्थ ने कम्बुजसेना को सोमेश्वर में हरा दिया और सेनापति कुमार श्री नन्दवर्म-देव को बन्दी कर लिया। कदाचित् इसी समय में चम्पासम्राट् के भाई कुमार पागे ने, जो थोड़े समय बाद परमबोधिसत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ, शम्भुपुर (मेकांग पर स्थित संभोर) के मन्दिरों को नष्ट कर दिया। कदाचित् यह घटना १०८० ई० के लगभग हुई होगी।[४६] १०७६ ई० में चीनी सम्राट् ने अनम के विरुद्ध एक सेना भेजी तथा सहायता के लिए उसने चम्पा और कम्बुज के राजाओं

४१. यही, नं० १५८, पृ० ४११।
४२. यही, नं० १५९, पृ० ४१७।
४३. देखिए, नं० ४०।
४४. सिडो, ए० हि०, पृ० २५७।
४५. फिनों, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ९६३, नं० २१। मजुमदार, चम्पा, नं० ७२, पृ० १७८, नं० ७४, पृ० ८२, नं० ७५, पृ० १९२, नं० ७६।
४६. मजुमदार, चम्पा, पृ० १६५।

से सहायता की याचना की। दोनों ने सेनाएँ भेजीं, पर वे हार गये। चीनियों की हार से संयुक्त सेनाओं को लौटना पड़ा।[४७] जयवर्मन् के नोम-वन लेख[४८] से पता चलता है कि उसने १०८२ ई० तक राज्य किया,[४९] पर सिडो इसका राज्यकाल १०८० ई० तक ही रखते हैं।[५०] क्योंकि जयवर्मन् षष्ट के नोम-वन के लेख से पता चलता है कि १००४(१०८२ ई०) में वह कोरट के उत्तर-पूर्व में राज्य कर रहा था। मृत्यु के उपरान्त इसका नाम 'सदाशिव' पड़ा।

जयवर्मन् षष्ठ

इस कम्बुज-सम्राट् के समय के दो लेख मिले हैं,[५१] शक सं० १००४ का नोम-वन, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है तथा १०१८ का प्रसत-कोक का लेख (अंकोर थोम के निकट) मिला। जयवर्मन् षष्ठ का कम्बुज राजवंश से कोई सम्बन्ध न था। इसकी वंशावली का उल्लेख सूर्यवर्मन् द्वितीय के नोम-रुन[५२] (स्याम के कोरट प्रान्त) तथा जयवर्मन् सप्तम के ता प्रोम[५३] के दो लेखों में है। इन दोनों लेखों के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है।

४७. बु० इ० फ्रा० १८ (३), पृ० ३३। सिडो, ए० हि०, पृ० २५८।

४८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १६१, पृ० ४२५। सिडो, बु० इ० फ्रा० २९, पृ० २९९।

४९. कम्बुज देश, पृ० १२१।

५०. ए० हि०, पृ० २५८।

५१. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १६१, पृ० ४२५। नं० १६२, पृ० ४२६।

५२. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १७४, पृ० ४५६।

५३. यही, नं० १७७, पृ० ४५९।
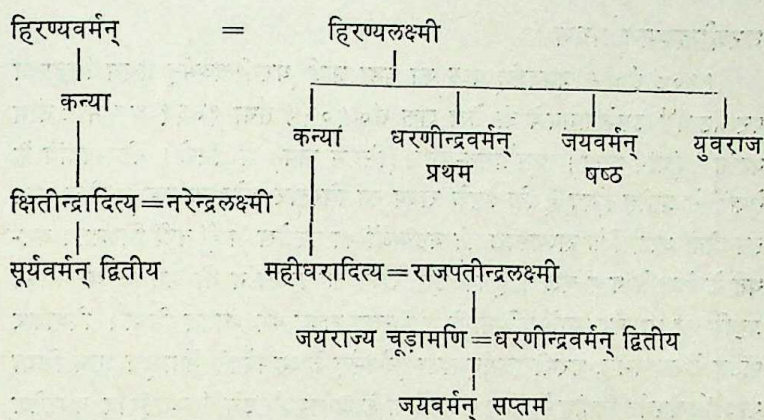
जयवर्मन् षष्ट हिरण्यवर्मन् का पुत्र था जो पहले क्षितीन्द्रग्राम में रहता था, पर जयवर्मन् सप्तम के लेख के अनुसार इस वंश का मूल स्थान महीधरपुर था। इन दोनों स्थानों की समानता अभी नहीं दिखायी जा सकती है। हिरण्यवर्मन् को नृप, महीपति और जनेश उपाधियों से सुशोभित किया गया है, किन्तु यह कहना कठिन है कि यह स्वतंत्र पहले से ही हो गया अथवा हर्षवर्मन् के समय में उसका सामन्त रहा। सीडो के मतानुसार[५४] यह कदाचित् प्रान्तीय शासक था और उदयादित्यवर्मन् के पश्चात् इसने केन्द्रीय सत्ता स्वयं अपने हाथ में ले ली। इसके उत्तराधिकारियों द्वारा दिये गये दान और मन्दिरों की स्थापना उत्तरीय भाग में अधिक है जहां कदाचित् इसने पहले अधिकार किया होगा। जयवर्मन् का एक ज्येष्ठ भाई भी था, पर उसने स्वतंत्र रूप से विद्रोह कर अपनी सत्ता स्थापित की थी। इसके प्रयास में दिवाकर पंडित का बड़ा हाथ था जो राज्यपुरोहित के पद पर हर्षवर्मन् तृतीय के समय से था और उसने जयवर्मन् षष्ट तथा उसके दो उत्तराधिकारियों का अभिषेक भी किया। जयवर्मन् ने ११०७ ई० तक राज्य किया जैसा कि सूर्यवर्मन् द्वितीय के एक लेख[५५] से प्रतीत होता है। जयवर्मन् के राज्यकाल की मुख्य घटनाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। मृत्यु के पश्चात् उसे 'परमकैवल्यपद' नाम मिला।

५४. ए० हि०, पृ० २५९।
५५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १७०, प० ४३५।

धरणीन्द्रवर्मन् प्रथम

११०७ ई० में जयवर्मन् षष्ठ का बड़ा भाई धरणीन्द्रवर्मन् प्रथम सिंहासन पर बैठा।[५६] इसके समय के दो लेख शक सं० १०२९ तथा १०३१ के क्रमशः नोम वयांग[५७] (त्रांग प्रान्त) तथा प्रसत-त्रौ[५८] (सियम राप) में मिले। नोम-वयांग के लेख[५९] से प्रतीत होता है कि इसके राज्य का विस्तार छोड़ाक तक सीमित था। इन दोनों भाइयों के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वन-थत के लेख से पता चलता है कि उसे राज्य की इच्छा न थी क्योंकि वह सौम्य प्रकृति का था, पर उसने बुद्धिमानी से विस्तृत राज्य पर शासन किया। दिवाकर पंडित ने जयवर्मन्, धरणीन्द्रवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् के अभिषेकों में प्रमुख भाग लिया था।[६०] सूर्यवर्मन् द्वितीय के नोम संडक लेख के अनुसार[६१] इसे 'भगवत्पाद कम्रतेञ अञ गुरु' की उपाधि प्राप्त थी और इसने वहुत-से यज्ञ किये, तालाब खुदवाये तथा अन्य धार्मिक कृत्य और धार्मिक स्थानों को दान दिये। इसी ने शक सं० १०३४ (१११२ ई०) में सूर्यवर्मन् द्वितीय का भी अभिषेक किया।

सूर्यवर्मन् द्वितीय

जयवर्मन् सप्तम के प्रसत-श्रुन लेख[६२] के अनुसार सूर्यवर्मन् ने धरणीन्द्रवर्मन् को हराया (**पूर्व्वं श्रीधरणीन्द्रवर्मनृपतेः श्रीसूर्यवर्मा बिना रक्षां राज्यमहर्युधैव जगृहे**)[६३]। यह धरणीन्द्रवर्मन् की वहिन का दौहित्र था। इसके लेख नोम-संडक (खोखेर से १५ मील उत्तर में) शक सं० १०३८, नोम-प्रह विहार[६४] (म्ल्यू-प्राई प्रान्त,

५६. सिडो, ए० हि०, पृ० २६०।
५७. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १६३, पृ० ४२६।
५८. यही, नं० १६४, पृ० ४२७।
५९. यही, नं० १७३, पृ० ४३८। बु० इ० फ्रा०, १२।२।, पृ० १।
६०. आमोनिये, भाग १, पृ० ३९५-६।
६१. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १६७, पृ० ४३०।
६२. मजुमदार, कम्बुज, लेख, नं० १८१, पृ० ५१३।
६३. यही, नं० १६७, पृ० ४२९।
६४. यही, नं० १६८, पृ० ४३१।

शक सं० १०४१ वट-फु),[६५] वसाक के निकट मेकांग नदी पर शक सं० १०६१ तथा नोम-रुन[६६] (कोरट स्याम के दक्षिण पश्चिम) में मिले हैं और इनसे यह प्रतीत होता है कि इसने कम्वुज के दोनों राज्यों पर अधिकार कर लिया था। वट-फु के लेख में इसकी राज्याभिषेक-तिथि शक सं० १०३४ (१११२ ई०) और नोम-प्रह के लेख में १०३५ (१११३ ई०) दी हुई है। वट-फु के लेख में उल्लिखित दो राज्यों को एक में मिलाना (**श्रीसूर्यवर्म्मदेवोऽधाद्राज्यन् द्वन्द्वसमासतः**) इस बात का संकेत करता है कि धरणीन्द्रवर्मन् के समय में अथवा जयवर्मन् षष्ठ के राज्यकाल में ही कम्वुज राज्य के दो भाग हो गये थे। डा० मजुमदार के मतानुसार[६७] एक भाग पर धरणीन्द्रवर्मन् राज्य कर रहा था और दूसरे पर हर्षवर्मन् तृतीय का कोई वंशज राज्य कर रहा था। सूर्यवर्मन् द्वितीय ने दोनों को हराकर सम्पूर्ण कम्वुज देश पर राज्य किया।[६८] मृत्यु-पश्चात् इसे 'परम निष्कलपद' नाम मिला।

सूर्यवर्मन् द्वितीय की यशोगाथाएँ

नोम सण्डक लेख[६९] के अनुसार सूर्यवर्मन् द्वितीय शक सं० १०३४ (१११२.३ ई०) में सिंहासन पर बैठा। यह जयवर्मन् षष्ठ और धरणीन्द्रवर्मन् की वहिन का दौहित्र था।[७०] इसकी मां का नाम नरेन्द्रलक्ष्मी था। इसके अभिषेक में दिवाकर पंडित का मुख्य हाथ था और उसी ने इसे 'ब्रह्मगुह्य' (तंत्र शास्त्र) की शिक्षा दी तथा सम्राट् ने कोटिहोम, लक्षहोम, महाहोम और पितरों के लिए यज्ञ किये।[७१] इसी समय भद्रेश्वर पद में जिसका प्रसिद्ध मन्दिर वट-फु में था, शिवलिंग, शंकर, नारायण, विष्णु तथा ब्रह्म श्री गुरु की मूर्तियां शक सं० १०३४, १०४४, १०४९ में और दो

६५. यही, नं० १७२, पृ० ४३७।
६६. यही, नं० १७३, पृ० ४३८।
६७. कम्बुज देश, पृ० १२२।
६८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १७३, पृ० ४४०।
६९. नं० ६३।
७०. कम्बुज, लेख नं० १७४, पृ० ४५६।
७१. यही, नं० १६८, पृ० ४३१।

अन्य तिथियों पर स्थापित की गयीं।[७२] सूर्यवर्मन् ने अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के हेतु अन्य देशों को जीतने के लिए सेनाएं भेजीं। बहुत-से द्वीपों के शासकों ने आत्मसमर्पण कर दिया, पर अन्य राज्यों को उसने जीतकर रघु की कीर्ति को भी धूमिल कर दिया।[७३] शुंग-वंश के इतिहास के अनुसार उसने १११६ और ११२० ई० के बीच में दो राजदूत चीन भेजे और चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया, जो आठवीं शताब्दी के बाद बन्द हो चुका था।[७४] चीन के सम्राट् ने सूर्यवर्मन् को उच्च उपाधियों से विभूषित किया। चीनी स्रोतों के अनुसार उसका राज्य चम्पा से दक्षिण ब्रह्मा तक सीमित था और इसमें मलाया प्रायद्वीप का उत्तरी भाग वैंडों की खाड़ी तक सम्मिलित था।[७५]

यद्यपि सूर्यवर्मन् के लेखों में केवल सम्राट् की दिग्विजय का साधारण रूप से उल्लेख है, पर चीनी स्रोतों के आधार पर मासपेरो ने इसका विस्तृत रूप से विवरण दिया है।[७६] ११२३ तथा ११२४ से दाई-विएट (अनम) के विरुद्ध, जहां कम्बुज और चम भागकर शरण ले लेते थे, संघर्ष आरम्भ हो गया। ११२८ में उसने २०,००० सेना लेकर अनम के न्धेअन पर आक्रमण किया। उसी समय ७०० जहाज़ों का बेड़ा चम्पा की सेना के साथ सहायता के लिए बढ़ा। स्थलसेना ह-त्रै के दर्रे से अनमी पहाड़ियों को पार कर फो गिएंग में पहुंची, पर बेडा अभी वहां पहुंच नहीं पाया था। अनमी सेना ने कम्बुजसेना पर धावा बोलकर उसे हरा दिया! कई महीने बाद जहाजी बेड़े ने पहुंचकर न्धेअन और थन हुआ नामक स्थानों को लूटा। ११३२ में चम्पा की सेना के साथ एक और कम्बुज सेना ने न्धेअन पर आक्रमण किया, पर थन-

७२. यही, नं० १७२, पृ० ४३८।

७३. 'स्वयं प्रयाय द्विषतां प्रदेशं, रघुञ्जयन्तं लघयाञ्चकार' नं० १७३, पृ० ४५३, पद ३५।

७४. सिडो, ए० हि०, पृ० २७०।

७५. इसका विस्तृत वृत्तान्त मा-त्वान-लिन ने दिया है। अंकोर के चित्रों में भी कम्बुज सेनापतियों की अध्यक्षता में स्यामी सैनिक लड़ते दिखाये गये हैं। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १२३, बु० इ० फ्रा० २५, पृ० १८। आई० एच० क्यू १, पृ० ६१८।

७६. चम्पा, पृ० १५५-६।

हुआ के प्रान्तीय शासक ने उन्हें हरा दिया। अनम के साथ सन्धि हो गयी और वहां राजदूत भेजे गये। दो वर्ष बाद कम्बुजसेना ने पुनः अनम पर आक्रमण किया, पर चम्पा की सेना ने ख्मेरों का साथ दिया और कम्बुजसेना हार गयी। चम्पा के दक्षिणी भाग में एक नये राजा जयहरिवर्मन् का राज्याभिषेक हुआ। सूर्यवर्मन् ने चम्पा पर अधिकार करने के लिए अपने सेनापति शंकर को भेजा और उसके साथ कम्बुज-अधीन विजय की सेना भी थी। चम्पा के लेखों से प्रतीत होता है[७७] कि जयवर्मन् की सेना ने ख्मेरों को राजपुर के मैदान में ११४७ ई० में हरा दिया और कम्बुज सेनापति मारा गया। दूसरे वर्ष सूर्यवर्मन् ने एक विशाल सेना चम्पा के विरुद्ध वीरपुर में भेजी, पर हरिवर्मन् ने इसे भी हरा दिया।[७८] हरिवर्मन् की ओर से आक्रमण की सम्भावना के डर से उसने विजय में अपनी प्रथम सम्राज्ञी के छोटे भाई को वहां का शासक बना दिया और उसकी रक्षा के लिए कम्बुजसेना रख दी। जयहरि-वर्मन्, हरिदेव के विजय पहुंचने से पहले ही वहां सेना लेकर पहुंच गया और नगर जीत लिया। महीश के मैदान में जयहरिवर्मन् ने हरिदेव को हरा दिया और ख्मेरों का अधिकार चम्पा से जाता रहा। यह ११४९ की घटना है। दूसरे वर्ष ११५० में सूर्यवर्मन् ने अनम के विरुद्ध पुनः सेना भेजी, पर प्राकृतिक सुविधा के बिना वह लौट आयी।[७९] सूर्यवर्मन् का राज्यकाल युद्ध करते-करते बीता। अन्य सूत्रों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सूर्यवर्मन् की बराबर पराजय होती गयी, किन्तु उसके लेखों में लिखा है कि अपनी दिग्विजयों से वह रघु से भी आगे बढ़ गया (**रघुञ्जयन्तं लघयाञ्चकार**)। चीनी सूत्रों के अनुसार इसका राज्य चम्पासे दक्षिण ब्रह्मा तक फैला था और मलय देश की वैंडो की खाड़ी तक का प्रान्त उसके अधि-कार में था।[८०] सूर्यवर्मन् ने अंकोरवाट की स्थापना की थी और मृत्यूपरान्त इसे 'परमविष्णुलोक' नाम से सम्बोधित किया गया। इस सम्राट् का झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था। अंकोरवाट में विष्णु-कृष्ण के जीवन की लीलाएं अंकित हैं। १२वीं शताब्दी में कम्बुज और जावा में भक्तिमार्ग जोर पकड़ रहा था, और इसी लिए

७७. **मजुमदार, चम्पा पृ० ९६ से। चम्पा लेख नं० ७२, ७४, ७५।**
७८. **सिडो, ए० हि०, पृ० २७१।**
७९. **मासपेरी, बु० इ० फ्रा० १८।३। पृ० ३४।**
८०. **ए० हि०, पृ० २७३।**

यह आश्चर्यजनक बात नहीं कि सूर्यवर्मन्, जिसने दिवाकर पंडित से बृहद्गुह्य तंत्र की दीक्षा ली थी, अब तंत्रवाद से भक्तिवाद की ओर प्रेरित हो गया तथा कृष्ण-विष्णु की भक्ति में लीन हो गया। सम्राट् के राज्यकाल के अंतिम वर्षों का इतिहास अंधकारमय है। ११५५ ई० में एक दूत यहां से चीन भेजा गया था,[८१] पर इस सम्बन्ध में अन्य किसी स्रोत से प्रकाश नहीं मिलता है। सूर्यवर्मन् द्वितीय के बाद धरणीन्द्र-वर्मन् द्वितीय कम्बुज का राजा हुआ।

धरणीन्द्रवर्मन्—यशोवर्मन् द्वितीय

धरणीन्द्रवर्मन् का सूर्यवर्मन् द्वितीय के साथ कोई सम्बन्ध न था। सिडो के मतानुसार इसका पिता महीधरादित्य सूर्यवर्मन् की माता नरेन्द्रलक्ष्मी का भाई था। अतः यह सूर्यवर्मन् के मामा का लड़का था। उसने हर्षवर्मन् तृतीय की पुत्री जयराजचूड़ामणि के साथ विवाह किया था।[८२] इसी विद्वान् का मत है कि राज-प्रासाद में किसी विप्लव के कारण इसे सम्राट् बना दिया गया होगा। इस सम्राट् का कोई लेख नहीं मिलता है। यह बौद्ध था और इसके समय में बौद्ध धर्म की वृद्धि हुई। इसके बाद यशोवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा, पर इसका गत सम्राट् से कोई सम्बन्ध न था। वन्ते-चमर के एक लेख[८३] से इसके राज्यकाल पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस लेख में सम्राट् यशोवर्मदेव का उल्लेख है जिसकी यशोवर्मन् प्रथम से तुलना नहीं की जा सकती है, वरन् सिडो के मतानुसार यह यशोवर्मन् द्वितीय था।[८४] उसके समय में भरतराहु सम्बुद्धि नामक व्यक्ति ने विप्लव खड़ा कर दिया जिसने भीषण रूप धारण कर लिया। जब भरतराहु प्रासाद पर अधिकार करने के लिए बढ़ा और रक्षक सेना भाग खड़ी हुई तो श्री इन्द्रकुमार लड़ा और उसकी सहायता सञ्जक अर्जुन और सञ्जक श्रीधरदेवपुर ने की। भरतराहु हार गया। लेख के साथ अंकित चित्र में राहु द्वारा सूर्य को ग्रसित करते हुए दिखाया गया है। श्री इन्द्रकुमार, जिसने विप्लव शान्त किया, कदाचित् भावी सम्राट् जयवर्मन् सप्तम का

८१. यही, पृ० २७५।
८२. बु० इ० फ्रा० २९, पृ० ३१०।
८३. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १८३, पृ० ५२८।
८४. बु० इ० फ्रा० २९, पृ० ३०५। ए० हि०, पृ० २७८।

पुत्र था। इसी इन्द्रकुमार की अध्यक्षता में एक सेना चम्पा के विरुद्ध पहले भेजी गयी थी जो गढ़ को जीतकर लौट आयी थी। लौटते समय सेना के पिछले भाग पर चमों ने आक्रमण कर दिया और केवल ३० व्यक्ति बाकी बचे। श्री इन्द्रकुमार की सञ्जक श्रीदेव तथा सञ्जक श्रीवर्द्धन ने रक्षा की, पर उन्होंने वीरगति प्राप्त की। कम्बुजसेना वीरता से कई स्थानों पर लड़ी, पर उसे वापस आना पड़ा। इन्द्रकुमार की मृत्यु युवावस्था में ही हो गयी थी और उसकी मूर्त्ति सञ्जकों की मूर्तियों के साथ स्थापित की गयी। चम्पा की ओर से अशान्ति बनी हुई थी और इसलिए जयवर्मन् के सेनापतित्व में एक और सेना विजय (मध्य चम्पा) भेजी गयी। इसी समय कम्बुज में एक और विप्लव हुआ और त्रिभुवनादित्य यशोवर्मन् का वध कर वहां का शासक बन बैठा।[८५] यह समाचार मिलते ही जयवर्मन् ने कम्बुज की ओर प्रस्थान किया, पर वह देर से पहुंचा और त्रिभुवनादित्य वहां का शासक घोषित हो चुका था। यह घटना ११६५ ई० की है।[८६]

त्रिभुवनादित्य

त्रिभुवनादित्यवर्मन् का अधिक समय युद्ध करते बीता। इसका राज वंश से कोई सम्बन्ध न था। चम्पा के साथ इसके संघर्ष का उल्लेख कम्बुजलेखों[८७], जय इन्द्र-वर्मन् चतुर्थ के पो नगर लेख[८८] तथा चीनी स्रोतों से मिलता है। मासपेरो ने तीन स्रोतों के आधार पर इसका विस्तृत रूप से उल्लेख किया है।[८९] इनके अनुसार जय-इन्द्रवर्मन् ने ११७० ई० में कम्बुज पर आक्रमण किया और यह युद्ध ७ वर्ष तक चलता रहा। ११७७ में एक बड़ा बेड़ा मेकांग नदी के मुहाने से राजधानी की ओर बढ़ा। उसे लूटकर वह वापस चला गया। इस संघर्ष में त्रिभुवनादित्यवर्मन्

८५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १८२, पृ० ५१६।

८६. सिडो, ए० हि०, पृ० २७६।

८७. जयवर्मन् का प्रसत तोर लेख, कम्बुज लेख नं० १८०, पृ० ५०३, पद ३५, ४५। सिडो, इ० क० १२२७। इसी शासक का फिमेनक लेख नं० १८२, पृ० ५१५। सिडो, इ० क० २, पृ० १६१। फिनो, बु० इ० फ्रा० २५, पृ० ३७२।

८८. मजुमदार, चम्पा, नं० ८०, पृ० १९८।

८९. चम्पा, पृ० १६४ से।

मारा गया, पर कम्बुज देश की रक्षा जयवर्मन् ने की। उसने चमों को समुद्री युद्ध में हराया और चार वर्ष बाद वह सम्पूर्ण कम्बुज का सम्राट् घोषित हुआ।[९०] इस सामुद्रिक विजय का चित्रण वे ओन तथा वन्ते चमर की शिल्पकला में अंकित है।

जयवर्मन् सप्तम

१२वीं शताब्दी के अंतिम भाग में कम्बुज देश की गिरती हुई राजनीतिक परिस्थिति को, जो चमों के आक्रमण और गृहयुद्ध के कारण अत्यन्त गंभीर हो चली थी, सँभालने का श्रेय जयवर्मन् को है। ११७७ के चमों के आक्रमण से देश पर घोर आपत्ति आ गयी थी। त्रिभुवनादित्य, जिसने अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त किया था, इसको न रोक सका और उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। इसी समय धरणीन्द्रवर्मन् द्वितीय के पुत्र ने, जिसका पिता तथा माता की ओर से कम्बुज सिंहासन पर अधिकार पहुंचता था, कम्बुज शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जयवर्मन् का जन्म ११२५ ई० के बाद ही हुआ था और उसने जयराजदेवी से विवाह किया। सूर्यवर्मन् द्वितीय के शासनकाल में वह युवक रहा होगा।[९१] एक अनिश्चित तिथि में वह एक सेना लेकर चम्पा की राजधानी विजय (विन-डिन्ह) गया जहां यशोवर्मन् द्वितीय की मृत्यु और त्रिभुवनादित्य के अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त करने का समाचार मिलते ही वह स्वदेश वापस लौटा। चमों के आक्रमण और उनकी पराजय के बाद ११७७ ई० से ११८१ ई० तक का समय कम्बुज देश के लिए शान्ति का युग था। उसने राजधानी का पुनः निर्माण किया और उसके चारों ओर खाइयां खुदवायीं।[९२]

दिग्विजय

मा-त्वान-लिन के मतानुसार[९३] उसने सिंहासन पर बैठते ही चमों से बदला

९०. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १९०, पृ० ५४१, पद ४। बु० इ० फ्रा० २५, पृ० ३९३।

९१. बु० इ० फ्रा० ३९, पृ० ३०४।

९२. बु० इ० फ्रा० २८, पृ० ५८-५९।

९३. सिडो, ए० हि०, पृ० २८७।

लेने की शपथ ली, पर यह १८ वर्ष वाद ही पूरी हो सकी। पहले उसे अपने राज्य के दक्षिण भाग में वटम-वंग के मलयंग में विद्रोह का सामना करना पड़ा। इसको दबाने के लिए विद्यानन्दन नामक एक युवक राजकुमार को श्रेय है जो चम्पा से कम्बुज आया था। माइ-सोन के शक सं० ११२५(१२०३ ई०)के चम लेख में[९४] शक सं० ११०४ (११८२ ई०) में कुमार विद्यानन्दन के कम्बुज जाने का उल्लेख है। कम्बुजशासक ने इसमें ३३ गुण देखे और इसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रवन्ध किया। एक राजकुमार की भाँति उसे सभी शास्त्रों और शस्त्रों के प्रयोग में शिक्षा मिली। उसी समय कम्बुज-अधीन मलयत्र नगर में कुछ कुटिल व्यक्तियों ने सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया जिसे विद्यानन्दन ने दबा दिया और सम्राट् ने प्रसन्न होकर उसे युवराज का पद प्रदान किया तथा उसको सुख की सामग्रियां भी दीं। इसी कुमार ने चम्पाशासक श्री जयइन्द्रवर्मन् के आक्रमण का भी सामना किया जो उसने शक सं० १११२ (११९० ई०) में किया था। इसने विजय पहुंचकर चमों को हराया और सम्राट् को वन्दी करके कम्बुज ले गया। जयवर्मन् के श्यालक (साले) 'सूर्यवर्मदेव' को विजय का शासक घोषित कर दिया और वह स्वयं दक्षिण में पांडुरंग में सूर्यवर्मदेव के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसकी राजधानी राजपुर थी। चम्पा दो भागों में विभाजित कर दिया गया। पर यह राजनीतिक परिस्थिति अधिक समय तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही उत्तरी राज्य, जिसकी राजधानी श्रीविजय थी, पर रघुपति नामक एक स्थानीय सरदार ने अधिकार कर लिया। श्री सूर्यवर्मदेव हार गया और उसे कम्बुज वापस आना पड़ा। रघुपति श्री जयइन्द्रवर्मदेव के नाम से विजय के सिंहासन पर बैठा। कम्बुज के शासक जयवर्मन् सप्तम ने विजय को जीतने के लिए एक सेना भेजी और वहां के श्री जयइन्द्रवर्मन् ओं-वतुव को भी साथ में भेजा।[९५] यह सेना पहले राजपुर गयी और वहाँ से सम्राट् सूर्यवर्मदेव कुमार श्री विद्यानन्दन के सेनापतित्व में यह विजय की ओर बढ़ी। जयइन्द्र-

९४, फिनो, बु० इ० फ्रा० ४ पृ० ९७० नं०४२। मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ८४, पृ० २०२।

९५. मासपेरो के मतानुसार जयइन्द्रवर्मन् ओं-वतुव की समानता ग्रामपुर के जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ से की जा सकती है, जिसने ११७७ ई० में कम्बुज के विरुद्ध सेना भेजी थी। चम्पा, पृष्ठ १६१, सिडो, ए० हि०, पृ० २८८।

वर्मन् (रघुपति) की हार हुई और वह मारा गया। चम्पा के दोनों भाग सूर्यवर्म-देव के हाथ आ गये। जयइन्द्रवर्मन् ओं-वतुव ने, जिसे जयवर्मन् ने सहायता के लिए भेजा था, सूर्यवर्मदेव के विरुद्ध उपद्रव खड़ा कर दिया। पर त्रेक में उसे सूर्यवर्मदेव ने हरा दिया तथा उसका वध करके वह सम्पूर्ण चम्पा का एकमात्र अधिकारी बन बैठा। जयवर्मन् ने सूर्यवर्मदेव के इस स्वतंत्र रूप को दबाने का ११९३—४ में दो बार प्रयास किया, पर उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा। सूर्यवर्मदेव अधिक समय तक शान्तिपूर्वक राज्य न कर सका। १२०३ ई० में कम्बुज-सम्राट् ने उसके चाचा युवराज ओं-धनपतिग्राम को उसके विरुद्ध भेजा। यह युवराज भी सूर्यवर्मदेव की भाँति चम्पा से भागकर कम्बुज आया था और इसने यहां शरण ली थी। इसने भी मलयज्ञ के विद्रोह को शान्त करने में प्रमुख भाग लिया था और यह भी सम्राट् का कृपापात्र बना। अपने भतीजे को हराकर यह चम्पा का शासक बना और इसने जयवर्मन् का आधिपत्य स्वीकार किया। इसी समय में चम्पा के कई भागों में विद्रोह हुए जिनमें आज्ञाकु के विद्रोह को दबाकर उसे कम्बुज सम्राट् के पास भेज दिया गया। सम्राट् ने प्रसन्न होकर १२०७ ई० में विधिपूर्वक उसे चम्पा का शासक घोषित किया। १२०७ से लेकर १२१८ ई० तक अनमियों से भी संघर्ष चलता रहा। चौ-दिन्ह के लेख[९६] के अनुसार ११२८ शक सं० १२०७ ई० में ख्मेर सम्राट् द्वारा युवराज को चम्पा के सिंहासन पर बैठाने के बाद कम्बुज से आयी स्यामी और पुकम (पगान) की सेना का उत्तर में अनमियों के साथ संघर्ष हुआ। दोनों ओर बड़ी सैनिक क्षति हुई, शक सं० ११४२ (१२२० ई०) में ख्मेरों ने चम्पा को छोड़ दिया और श्री जय परमेश्वरवर्मन् द्वितीय शक सं० ११४८ (१२२६ ई०) में चम्पा का सम्राट् हो गया। यह कहना कठिन है कि उस समय जयवर्मन् सप्तम कम्बुज का शासक था अथवा मर चुका था।

उत्तर पूर्व के अतिरिक्त पश्चिमी क्षेत्र में भी जयवर्मन् को अन्य शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। पगान और स्यामी सैनिकों का कम्बुज राज्य की ओर से अनमियों के विरुद्ध चम्पा में लड़ना यह संकेत करता है कि कम्बुज का इन दोनों देशों अथवा इनके कुछ भागों पर अवश्य अधिकार हो गया होगा। ११वीं शताब्दी के मध्य भाग से पगान राज्य की शक्ति बढ़ रही थी और रमण्ण देश पर अधिकार

९६. मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ८६, पृ० २०६।

होने से इसका स्वामित्व मध्य और दक्षिणी ब्रह्मा पर हो गया था। चाओ-जू-कुआ के कथनानुसार १२२५ में चेन-ला के अधिकृत राज्यों में मलय प्रायद्वीप के विरमिनी तक के भाग का उल्लेख है।[९७] जयवर्मन् सप्तम के प्रह-खन के लेख[९८] के अनुसार इस मन्दिर के वार्षिक अभिषेक में ब्राह्मण सूर्यभट्ट, जावा सम्राट्, चवन सम्राट् (अनम) और चम्पा के दोनों शासक पानी भरकर लाते थे। सूर्यभट्ट कदाचित् राजसभा में ब्राह्मणों में श्रेष्ठ था। चवनसम्राट् से अनम के शासक का संकेत प्रतीत होता है और चम्पा के दो शासक थे विजय (विन-दिन्ह) का सूर्यविजयवर्मदेव जो सम्राट् जयवर्मन् का श्यालक था, तथा पांडुरंग का सूर्यवर्मदेव कुमार विद्यानन्दन।[९९] जयवर्मन् के प्रसत-तोर (सियम राप)। लेख में[१००] चम्पा विजय के अतिरिक्त पश्चिम के एक शासक को हराने का भी उल्लेख है। कम्बुज साम्राज्य की सीमा पश्चिम में दक्षिण ब्रह्मा से पूर्व में अनम और चीनसागर तक फैल गयी। उत्तर में थाई राज्य इसका आधिपत्य माने हुए थे और दक्षिण में सम्पूर्ण स्याम, कम्बोडिया, कोचिन-चीन तथा मलाया प्रायद्वीप तक यह विस्तृत था।

धार्मिक प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य

अपनी महिषी जयराजदेवी की मृत्यु के पश्चात् जयवर्मन् उसकी बड़ी बहिन इन्द्रादेवी को सम्राज्ञी पद प्रदान किया जो विज्ञान और कला में पूर्ण रूप से पारंगत थी।[१०१] इसने बौद्ध भिक्षुणियों को पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया था। ये दोनों रुद्रवर्मन् नामक एक ब्राह्मण और राजेन्द्रलक्ष्मी की पौत्री थीं। इन्द्रादेवी ने नगेन्द्र-तुंग, तिलकोहर तथा नरेन्द्राश्रम में बौद्ध भिक्षुणियों को पढ़ाया था और फिमानक के लेख की रचना भी इसी ने की थी। अपने पति के चम्पाविजय से लौटने के

९७. सिडो, ए० हि० पृ० २९०।
९८. 'द्विजाः श्री सूर्यभट्टाद्या जनेन्द्रो चवनेश्वरः।
चाम्पेन्द्रौ च प्रतिदिनं भक्त्या स्नानाम्बुधारिणः॥'
मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १७८, पृ० ४९०।
९९. सिडो, ए० हि०, पृ० २९०।
१००. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८०, पृ० ५०२।
१०१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८२, पृ० ५१५।

सु—१७

पश्चात् उसने जातक कथाओं के आधार पर एक नाटक की रचना की और उसे खेला जिसमें भिक्षुणियों ने भाग लिया था। जयवर्मन् की दोनों सम्राज्ञियों ने सम्राट् की धार्मिक प्रवृत्ति में बड़ा अंशदान दिया था, जिसके फलस्वरूप उसने जनता के कल्याण के लिए चिकित्सालय और विश्रामालयों का भी निर्माण कराया। ता-प्रोम के लेख[१०२] में इनका विवरण विस्तृत रूप से मिलता है। राजविहार अथवा ता-प्रोम के मन्दिर के लिए जहां उसने अपनी मां की प्रज्ञा-पारमिता के रूप में मूर्ति स्थापित की, ६६,६२५ व्यक्ति नौकर थे और ३४०० गांवों की आय का उसमें व्यय होता था। एक समूह मन्दिर के लिए सोना, चांदी, हीरा, मोती तथा अन्य रत्नों का दान दिया गया। सम्पूर्ण राज्य में ७९८ मन्दिर और १०२ चिकित्सालय थे जिनमें से १५ चिकित्सालयों का स्थान लेखों के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है।[१०३] इन लखों में चिकित्सालयों के प्रशासन के लिए एक ही प्रकार के नियम दिये हुए हैं। सम्राट् ने मुख्य मार्गों पर १२१ वह्निगृह अथवा धर्मशालाएं भी बनवायीं जो यात्रियों तथा पथिकों के आराम के लिए थीं। सम्राट् स्वयं बौद्ध था और मृत्यू-परान्त उसे 'महापरमसौगत' नाम से सम्बोधित किया गया। वह महायान सम्प्रदाय का अनुयायी था तथा लोकेश्वर का उपासक था। प्रह्-खन लेख के अनुसार[१०४] शक सं० १११३ (११९१ ई०) में उसने वोधिसत्त्व लोकेश्वर के रूप में अपने पिता की मूर्ति वहां के मन्दिर में स्थापित की। पर बौद्ध होते हुए भी उसके यहां ब्राह्मणों का आदर होता था। राजपुरोहित के पद पर नरपतिदेश कदाचित् विरमनी से आया हुआ हृषीकेश नामक भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मण था और उसके दो उत्तराधिकारियों के समय में भी वह इसी पद पर रहा।[१०५]

कलात्मक क्षेत्र में अंशदान

जयवर्मन् ने अपने जीवन काल में धार्मिक के अतिरिक्त कलात्मक क्षेत्र में भी अंशदान दिया। अंकोर-थोम और उसकी वीथी में अंकित चित्र, पांच तोरण और

१०२. यही, नं० १७७, पृ० ४५९। बु० इ० फ्रा० ६, पृ० ४४।
१०३. बु० इ० फ्रा० ४०, नं० ३४४।
१०४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १७८, पृ० ४७५।
१०५. यही, नं० १९०, पृ० ५४१।

बीच में वेओन का विशाल मन्दिर, वन्ते-कड़ाई, ता-प्रोम, प्रह-खन, निएक पिएन, वन्ते चमर, वट नौकोर उसकी कृतियां हैं। वन्ते-कड़ाई अथवा पूर्व तथागत का मन्दिर कदाचित् सबसे पहले बना और ११८६ में राजविहार (वर्तमान ता-प्रोम) बना, जिसमें सम्राट् की मां जयराजचूड़ामणि की मूर्ति प्रज्ञापारमिता के रूप में स्थापित की गयी।[१०६] पांच वर्ष बाद ११९१ में जयश्री का मन्दिर (वर्तमान प्रह-खन) बना जिसमें उसके पिता धरणीन्द्रवर्मन् द्वितीय की मूर्ति बोधिसत्त्व लोकेश्वर के रूप में जयपरमेश्वर नाम से स्थापित की गयी।[१०७] राजश्री (वर्तमान निएक-पिएन) का मंदिर झील के बीच में बनाया गया। राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में मन्दिरों की वीथियों तथा वेओन के मन्दिर का निर्माण हुआ, जो बिलकुल बीच में स्थित है और इसके चारों ओर वीथियां हैं जिनमें चित्र अंकित हैं। कलात्मक दृष्टि से इन कृतियों पर आगे विचार किया जायगा।

जयवर्मन् ने २० वर्ष से अधिक काल तक राज्य किया।[१०८] उसका अंतिम तिथि संबंधी लेख संभोर में शक सं० ११२६ का मिला है। इसके पहले जयवर्मन् की अंतिम तिथि १२०१ मानी जाती थी।[१०९] प्रसत-लिक (ऋलञ) प्रान्त से प्राप्त शक सं० ११२८ (१२०६ ई०) का लेख[११०] मिला है जिसमें केवल यवर्म्मदेव लिखा है और सिडो ने इसे जयवर्म्मदेव (जयवर्मन् सप्तम) माना है। यदि इसे जयवर्मदेव ही मान लें तो इस सम्राट् का अन्तिम लेख ११२८ शक सं० अर्थात् १२०६ ई० का मिलता है और इसने २५ वर्ष तक राज्य किया।

१०६. सिडो, बु० इ० फ्रा० ६, पृ० ७५।

१०७. बु० इ० फ्रा० ४१, पृ० २८८। ए० हि०, पृ० २९४।

१०८. जयवर्मन् सप्तम के लेख ता-प्रोम (शक सं० ११०८), प्रह-खन, सफोंग, प्रसत तोर (शक सं० १११७ अथवा १११८), प्रसत श्रुन, फिमेनक, वन्ते चमर तथा संभोर (११२६) के मिले हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने लगभग २० वर्ष तक राज्य किया होगा। (मजुमदार, कम्बुज लेख, क्रमशः नं० १७७ से १८४ तक, पृ० ४५९, ५३०)।

१०९. बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १०२।

११०. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८५, पृ० ५३१। इ० क० इ०, पृ० ११६।

जयवर्मन् के उत्तराधिकारी

जयवर्मन् के कई पुत्र थे, पर उनमें से चार के नाम मिलते हैं; ता-प्रोम के लेख का रचयिता श्री सूर्यकुमार, सम्राज्ञी राजेन्द्रदेवी का पुत्र वीरकुमार, जिसने प्रह-खन का लेख लिखा, जयराजदेवी का पुत्र इन्द्रवर्मन्, जो सम्राट् की ओर से लवों का शासक था तथा अन्तिम श्रीन्द्रकुमार, जिसकी मूर्ति वन्ते-चमर के मध्य भाग में रखी गयी है। यह अन्तिम पुत्र सिंहासन पर बैठा। सिडो ने इसकी समानता[१११] वन्ते-चमर के लेख में उल्लिखित श्री श्रीन्द्रकुमार से की है जिसने यशोवर्मन् के समय में भरतराहु के विद्रोह को दबाया था। यह घटना ११६५ ई० की है जब वह युवक रहा होगा। इस आधार पर सिंहासनारूढ़ होने पर यह प्रौढ़ था। इसके राज्यकाल का अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं है। १२१६ और १२१८ में अन्तिम बार कम्बुजसेना नघे-ऊन की ओर बढ़ी, किन्तु १२२० में कम्बुजों को चम्पा छोड़ना पड़ा। तुरई-विनय के चमकुमार अंशराज को विजय के सिंहासन पर बैठाया गया। जयवर्मन् सप्तम की मृत्यु के बाद मुख्य अधीन राज्य स्वतंत्र हो गये। चाओ जू-कुआ के ग्रन्थ चाओ-फेन-चे (प्रकाशित १२२५) में चम्पा और कम्बुज के बीच १२वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए युद्ध का उल्लेख है।[११२] इसी लेखक ने कुछ अधीन राज्यों का उल्लेख किया है जो मीनम की घाटी और मलाया के बीच में स्थित थे।[११३] इन्द्रवर्मन् द्वितीय के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। इसके दो लेख[११४] १२२६ और १२३० ई० के मिले हैं।

१११. बु० इ० फ्रा० २९, पृ० ३२६। सिडो, ए० हि०, पृ० ३०३।

११२. हर्थ तथा राकहिल, पृ० ३०४। सिडो, ए० हि०, पृ० ३०४।

११३. ये राज्य निम्नलिखित थे——तेंग-ल्यू-माई (मलाया प्रायद्वीप में), पों-स्यू-लन (स्याम की खाड़ी के तट पर), लो-हू (लवो, लोपवुरि), सन-लू (मीनम के ऊपरी भाग पर स्याम), चेन-लि-फू (स्याम की खाड़ी के तट पर), मा-लो वेन (कदाचित् मलयज्ञ जो वटमवंग के दक्षिण में है), लू-यंग, तुएन-लि-फू, पू-कन (पगान), वर्तल (विरमनी के उत्तर में), सि-पेंग (तू-हुए-सिउन)। सिडो, ए० हि०, पृ० ३०४।

११४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८७-१८८, पृ० ५३२-५३३। वन्ते-श्राई और कोक स्वे-चेक से प्राप्त इन दो लेखों के अतिरिक्त श्रीन्द्रवर्मन् का एक

जयवर्मन् अष्टम

इन्द्रवर्मन् द्वितीय के वाद जयवर्मन् अष्टम कम्बुज का शासक हुआ।[११५] अंकोर के श्रीन्द्रजयवर्मन् के एक लेख से[११६] पता चलता है कि नरपति देश के भारद्वाजीय ब्राह्मण जय महाप्रधान ने श्री इन्द्रवर्मन् की आत्मा की शान्ति के लिए ११६५ (१२४३ ई०) में प्रार्थना की। कदाचित् उसकी इसी वर्ष मृत्यु हुई थी। उसने श्रीप्रभा से विवाह किया था, जिसकी पुत्री चक्रवर्ती रजदेवी जयवर्मन् अष्टम की सम्राज्ञी हुई। इस लेख में यह भी लिखा है कि उसने अपने जामाता श्री इन्द्र के लिए अपना सिंहासन छोड़ दिया और शक सं० १२२९ में श्री इन्द्र भी तप करने के लिए जंगल चला गया।[११७] सं० ११६५ (१२४३ ई०) और १२२९ (१३०७ ई०) के बीच के काल में हम जयवर्मन् अष्टम तथा उसके जामाता श्री इन्द्र को रख सकते हैं। इसी समय में मंगोलों का भी चम्पा और कम्बुज की ओर धावा हुआ। १२८३ में मंगोल सेनापति सोगाटू उत्तर और मध्य चम्पा की ओर बढ़ा। कम्बुज की ओर से कुवलई खाँ को १२८५ में भेंट भेज दी गयी और देश मंगोलों के आक्रमण से बच गया।[११८] चेऊला-कुएन ने जो १२९६ में कम्बुज आया, लिखा है कि थोड़े समय पहले सुखोवई के थाइयों के साथ संघर्ष के फलस्वरूप देश को बड़ी क्षति पहुंची थी। जयवर्मन् का सिंहासन त्याग और उसके जामाता का इस पर आरूढ़ होना नाटकीय ढंग से हुआ था। जयवर्मपरमेश्वर के अंकोरवाट के लेख[११९] से पता चलता है कि सम्राट् का होता (होतृ) विद्याविशेष आर्यदेशीय व्यक्ति था और उसने इन्द्रवर्मन् युवराज का अभिषेक किया था।

और लेख वन्ते-श्राई में मिला (नं० १८९, पृ० ५३५) पर इसमें तिथि नहीं है।

११५. बु० इ० फ्रा० २५, पृ० २९६।

११६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १९०, पृ० ५४०।

११७. मूर्त्यो आदि दुष्टुं (जामा) तृश्रीन्द्रभूपतौ।
विप्रभू राज्य यो ब्रह्मालयं गतः। यही, पद ४१, पृ० ५४६।

११८. सिडो, ए० हि०, पृ० १४०, पिलिओ, बु० इ० फ्रा० २-१४०।

११९. कम्बुज लेख, नं० १९१, पृ० ५४८।

कम्बुज के अन्तिम शासक

चेऊ-ता-कुएन के समय में श्रीन्द्रवर्मन् कम्बुज सम्राट् था और उसने १३०७ ई० तक राज्य किया, फिर अपने पुत्र युवराज को सिंहासन देकर जंगल चला गया। इसके कई लेख मिलते हैं।[१२०] वन्ते-श्राई का लेख शक सं १२२६ का है और कोक-स्वे कापाली का लेख १२३० (१३०९ ई०) का है। इस लेख से कम्बुज में लंका के हीनयान मत के प्रवेश का संकेत है। इसमें एक विहार तथा बुद्ध मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। श्री इन्द्रवर्मन् ने अपने पुत्र युवराज के पक्ष में १३०७ में सिंहासन छोड़ दिया और नये शासक ने श्रीन्द्रजयवर्मन् के नाम से २० वर्ष तक राज्य किया। इसके समय का एक लेख[१२१] अंकोर में मिलता है। इसमें उसके पुरोहित जय मंगलार्थ ब्राह्मण की १०४ वर्ष की आयु में मृत्यु तथा राजधानी में उसकी मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। १३२० ई० में चीन से एक विशिष्ट मंडल हाथी खरीदने कम्बुज आया था।[१२२] १३२७ में जयवर्मादिपरमेश्वर सिंहासनारूढ़ हुआ। इसका उल्लेख वे-ओन के एक ख्मेर लेख तथा अंकोरवाट के एक संस्कृत लेख[१२३] में मिलता है। इसमें विद्या-विशेष धीमन्त नामक एक ब्राह्मण का श्री इन्द्रवर्मन्, श्री इन्द्रजयवर्मन् तथा जयवर्मा-दिपरमेश्वर के राज्यकाल में राजपद पर नियुक्त होने का उल्लेख है। १३३० ई० में इसने एक दूत चीन भेजा तथा १३३५ में एक मंडल अनम आया।[१२४] कम्बुज का अन्तिम इतिहास दो निकटवर्ती राज्यों के संघर्ष की कहानी है। एक तो सुखोई के राज्य के बाद अयूथिया में स्थापित थाई राज्य था और दूसरा अनम का राज्य था जिसका चम्पा पर अधिकार हो गया था। १३५२ में अयूथिया के प्रथम शासक रम धिपति ने अंकोर पर अधिकार कर लिया और वहां अपने पुत्र को बैठा दिया। उसके बाद १३५७ में दो और कुमार वहां स्याम की ओर से शासन करते रहे। १३५७ में लंपोग राजा, जिसने लाओस में शरण ली थी, सूईवंश राजाधिराज

१२०. यही, नं० १८७, १८८, १८९ (उ० उ०)।

१२१. यही, नं० १९०, पृ० ५४०। सिडो : बु० इ० फ्रा० ३६-१५।

१२२. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २४०, नोट ५। सिडो : ए० हि०, पृ० ३७९।

१२३. कम्बुज लेख, नं० १९१, पृ० ५४८। सिडो : बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १४५।

१२४. सिडो : ए० हि०, पृ० ३७९।

के नाम से गद्दी पर बैठा।[१२५] उसने स्यामियों के नये आक्रमणों को रोका और उत्तर में कोरत तथा पश्चिम में अचिन तक अपना राज्य कायम रखा। उसने २० वर्ष तक राज्य किया। 'मिंग वंश का इतिहास' के अनुसार १३७९ में एक नवीन राजा कम्बुज में राज्य कर रहा था, जिसका नाम समदच्छ कम्बुजाधिराज था और उसके बाद उसका पुत्र धम्मासो राजाधिराज हुआ। स्याम की ओर से १३९३ ई० में पुनः आक्रमण हुआ और इन्द्र राजगद्दी पर बैठाया गया, पर थोड़े समय बाद उसका वध कर दिया गया। १४वीं शताब्दी के बाद का कम्बुज का इतिहास अंधकारमय है। विपक्षी राजनीतिक शक्तियां दो ओर से कम्बुज को दबा रही थीं। शक्ति और सम्मान से क्षीण होकर यह देश केवल अपने अतीत काल के गौरव की चादर ओढ़े सदा के लिए सो गया। यशोवर्मन्, सूर्यवर्मन् तथा जयवर्मन् के निर्मित विशाल मन्दिरों को प्रकृति ने अपने आंचल में ढक लिया। १८५४ तक फ्रांसीसियों ने यहां अपने पैर पूरी तरह जमा लिये और १०० वर्ष के ऊपर तक इनका यहां अधिकार रहा।

१२५. यही, पृ० ३९३

अध्याय ७

शासन-व्यवस्था

कम्बुज लेखों से उस देश की शासन-व्यवस्था पर पूर्णतया प्रकाश डाला जा सकता है। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि विस्तृत कम्बुज राज्य, जो टोंकिन और चम्पा तथा स्याम की सीमाओं से घिरा था और जिसमें विभिन्न जाति के लोग रहते थे, एक राजनीतिक सूत्र में बांधा जा सका और लगभग ७०० वर्ष तक यहां की राजकीय व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही। देश में पहले स्त्री-राज्य था और भारतीय कौण्डिन्यों ने आकर यहां अपना शासन चलाया। शासक पद पर ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त माता की ओर के सम्बन्धी भी अधिकारी हो सकते थे। इसी कारणवश उत्तराधिकारी का प्रश्न कभी-कभी जटिल समस्या बन जाया करता था, पर राजकीय व्यवस्था को कायम रखने का श्रेय उस शासनप्रणाली को था जो भारतीय परम्परा पर आधारित थी और जिसके अन्तर्गत शासक के प्रति श्रद्धा की भावना ओत-प्रोत थी। देश, प्रान्तीय और स्थानीय जनपदों में विभाजित था और व्यवस्था में गणतन्त्रवाद के भी लक्षण पाये जाते थे। लेखों में राज्य-सभा, सभापति तथा ग्राम-वृद्धकों द्वारा स्थानीय शासक को चुनने के प्रमाण मिलते हैं जिनसे गणतंत्रवाद का संकेत होता है। प्रायः पिता के बाद पुत्र ही राज्य-सिंहासन प्राप्त करता था, और इसी लिए इस शासन-व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गयी थी। उपर्युक्त दृष्टिकोण से हम कम्बुज की शासन-व्यवस्था में सम्राट् के पद, उसके अधिकार, राजकीय प्रासाद, प्रान्तीय शासन, सामंत, पदाधिकारी, निम्न पदाधिकारी, न्याय, स्थानीय शासन, भूमि बिक्री प्रबन्ध, सैनिक शासन, नियुक्तियां और शपथ तथा अन्य सम्बद्ध विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

सम्राट् का पद और उसके अधिकार

लेखों में अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का उल्लेख है[1] और शासक के पद की

१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ३०, पृ० ३९, पद ६।

पूर्णतया व्याख्या की गयी है। कम्बुज देश में सम्राट् को देवता स्वरूप माना जाता था और इसे धर्म का रूप दिया गया था। एक लेख में जयवर्मन् का शिव के ही अंग से पृथ्वी पर जन्म लेना कहा गया है।[२] शासन-व्यवस्था में सम्राट् सर्वोत्तम पदाधिकारी था तथा वही विधान का भी स्रोत था। सेना का भी वह सबसे उच्च अध्यक्ष था और उसी के द्वारा प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति होती थी।[३] वह सब मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था। उसकी सहायता के लिए मंत्री तथा अन्य पदाधिकारी होते थे। एक लेख में 'राज्यसभाधिपति' का उल्लेख है।[४] किन्तु उसके सम्राट् के साथ सम्वन्ध तथा उसके अधिकारों का कहीं भी वर्णन नहीं है। सम्राट् की रक्षा का भार राष्ट्र पर था और इसी लिए 'नृपान्तरंग' तथा 'द्वाराध्यक्ष' नामक उसके अंगरक्षक रहते थे।[५] 'शयनगृह परीक्षक' और 'नरेन्द्रपरिचारक' इत्यादि राजप्रासाद के विशेष रूप से रक्षक थे। चीनी सूत्रों के अनुसार उसके सहस्रों अंगरक्षक थे।[६] सम्राट् के प्रति जनता अपने संचित पुण्यों को अर्पित करने के लिए सदा ही उत्सुक

'तस्य तौ मन्त्रिणावास्तां सम्मतौ कृतवेदिनौ।
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ॥'

एक लेख में सम्राट् को सर्वोपधा-शुद्ध कहा गया है। नं० १२, पृ० १८, पद १२। जिससे उसके शुद्ध आचरण का संकेत होता है। देखिए, अर्थशास्त्र १, अध्याय १०।

२. कम्बुज लेख, नं० ३४, पृ० ४५, पद २-३।
'तस्य लिंगसहस्रारामं......
तदंशेनावतीर्णेन जितं श्री जयवर्म्मणा॥'

३. प्रायः विषयपति पद पर नियुक्ति के पहले उसे अन्य छोटे पदों पर भी काम करना पड़ता था। चीनी स्रोतों के अनुसार प्रान्तीय शासक के पद पर प्रायः राजकुमारों की ही नियुक्ति होती थी। इस विषय पर विस्तृत रूप से आगे विचार किया जायगा।

४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ३३, पृ० ४३।

५. यही, नं० ३४, पृ० ४६ पद १६।

६. बु० इ० फ्रा० पृ० २६४।

रहती थी जैसा कि लेखों में उल्लेख है।[७] कभी-कभी सम्राट् के कोई विशेष कृपापात्र पदाधिकारी भी होते थे।

प्रान्तीय शासन

बृहत् कम्बुज साम्राज्य बहुत-से प्रदेशों में विभाजित था जो चीनी सूत्रों के अनुसार ३० थे। लेखों में भी कई एक का उल्लेख है, जैसे तंदत्रपुर, ताम्रपुर, आढ्यपुर, श्रेष्ठपुर, भवपुर, ध्रुवपुर, धन्विपुर, ज्येष्ठपुर, विक्रमपुर, उग्रपुर और ईशानपुर। आढ्यपुर का शासक सिंहदत्त सम्राट् का भिषज् भी था[८] और धर्मपुर का शासक ब्राह्मण था।[९] एक लेख में भवपुर और जेष्ठपुर के शासकों द्वारा दिये गये दानों के सम्बन्ध में उल्लेख है।[१०] इनकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी। ये प्रायः राजवंशज थे, पर कभी-कभी उच्च पदाधिकारी भी प्रान्तीय शासक नियुक्त होते थे। एक लेख में धर्मस्वामिन् के ज्येष्ठ पुत्र का ध्रुवपुर के शासक के पद पर नियुक्त होने का उल्लेख है। वह पहले 'महाश्वपति' पद पर रह चुका था।[११] लेख में 'पुनर्ध्रुवपुरं प्राप्य' यह संकेत करता है कि या तो यह पहले भी वहीं शासक रह चुका था अथवा अपने पिता के बाद उसकी इस पद पर नियुक्ति हुई थी। पैतृक रूप से नियुक्ति व्यक्तित्व और विद्वत्ता पर भी आधारित थी। राजाधिकृत नामक एक सामन्त का नाम एक लेख में मिलता है और एक अन्य लेख में ताम्रपुर के सामन्त का उल्लेख है जिसके अधिकार में चक्रांगपुर, अमोथपुर और भीमपुर थे।[१२]

अन्य पदाधिकारी

कम्बुज लेखों के कुछ उच्च पदाधिकारियों की समानता प्राचीन भारतीय

७. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १३९, पृ० ३४४। नं० १४८, पृ० ३५१। पृ० ६१४।

८. यही, नं० ३९, पृ० ३९।

९. यही, नं० ३४, पृ० ४५।

१०. यही, नं० १२०, पृ० ३१०।

११. यही, नं० ३४, पृ० ४४।

१२. यही, नं० २५, पृ० ३०।

शासन-व्यवस्था के पदाधिकारियों से की जा सकती है। इनमें क्रमशः कुमारमंत्री,[13] बलाध्यक्ष,[14] मंत्री,[15] राजभिषक्[16] और राजकुल-महामंत्री[17] उल्लेखनीय हैं। कुमार-मंत्री की समानता उत्तरी भारत के लेखों में उल्लिखित कुमारामात्य से की जा सकती है।[18] ये राजकुमारों के साथ में रहते थे और प्रायः इनका कर्तव्य उन पर नियंत्रण रखना तथा उनके द्वारा सम्राट् के आदेशों का पालन करना भी था। बला-ध्यक्ष का उल्लेख भी भारतीय लेखों में है और इसकी समानता बलाधिकृत से की जा सकती है।[19] यह सेनापति से भिन्न था जो सेना के साथ युद्धभूमि में जाता था। बलाधिकृत कदाचित् राजकीय मंत्रालय में सेना सम्बन्धी विषयों का अध्यक्ष था और उसके लिए युद्धभूमि में जाना अनिवार्य न था। मंत्री का भी कई लेखों में उल्लेख है। उसकी नियुक्ति सम्राट् करता था। मंत्रियों की संख्या एक से अधिक रहती थी क्योंकि किसी लेख में दो मंत्रियों का उल्लेख है और वे प्रायः उच्च कुल के ही होते थे। चीनी सूत्र के अनुसार ईसां की सातवीं शताब्दी में सम्राट् के सम्मुख पांच प्रकार के उच्च पदाधिकारी आसन ग्रहण करते थे और सम्राट् उनसे परामर्श करता था। अंकोरवाट के चित्रों में भी इस प्रकार की राजकीय सभा दिखायी गयी है। अन्य पदाधिकारियों में पुरोहित, द्वाराध्यक्ष,[21] अन्नाधिपति,[22] गुण-दोषपरीक्षक[23] होते थे। कुछ अन्य छोटे पद विहारों से सम्बन्धित

१३. यही, नं० ६६, पृ० १२७, पद १०६।

१४. नं० ७१ (अ), पृ० १४९, पद ४१।

१५. नं० ६७, पृ० १३३, पद १०६।

१६. नं० ३०, पृ० ३९।

१७. नं० १००, पृ० २६९।

१८. भंडारकर, लिस्ट आफ इंशक्रिप्शंस नं० १२७०, १२७१, १२७२ इत्यादि।

१९. 'बलाध्यक्ष' और 'बलाधिकृत' पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। महाभारत ७.१८९, हरिवंश १५.८४१। एपीग्राफिया इंडिका १०, पृ० ८५। १४ पृ० १८२।

२०. चटर्जी, इंडियन कलचरल इंफ्लूएंस (इ० क० इ०), पृ० ६१।

२१. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ६१, पृ० ८८।

२२. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ८६, पृ० १७६, पद ६।

२३. यही, नं० ८७, पृ० १७६।

थे। प्रसत कोमनप के लेख[२४] में इस प्रकार के बहुत-से छोटे पदाधिकारियों का भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विहारों से सम्बन्ध था, जिनका यशोवर्मन् ने निर्माण किया था। इनमें राजकुटीपाल, पुस्तकरक्षक, लेखक थे। उल्कैकधारक, शाकाधिहारक, पाणियहारक, पत्रकारक, ताम्बुलिक, तण्डुलकारिन्य और क्षुरक चाकर की श्रेणी में थे और उनका शासन से सम्बन्ध न था। लेखक की समानता कायस्थ से की जा सकती है और जिसका उल्लेख भारतीय लेखों में मिलता है।[२५] 'पुस्तकरक्षक' कदाचित् राजकीय विहारों के पुस्तकालय की देखभाल करता था और उनको नष्ट होने से बचाता था। इसके कर्तव्यों में पत्रों की रक्षा करना भी था। राजकुटीपाल राजकीय मोहर को रखता था। इन छोटे-छोटे पदाधिकारियों का धार्मिक विहारों के साथ सम्बन्ध आश्चर्यमय प्रतीत नहीं होता है। शासन-व्यवस्था में राजहोत्री[२६] का भी स्थान था। धार्मिक, दातव्य तथा जनहित के कार्यों में ख्मेर सम्राटों की रुचि थी और राष्ट्र तथा धर्म का एकीकरण हो गया था। इसीलिए धार्मिक क्षेत्र में भी छोटे पदाधिकारियों की नियुक्ति शासकों द्वारा ही की जाती थी।

सैनिक शासक

कम्बुज राज्य की भौगोलिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह अनिवार्य था कि स्थल और जल सैनिक व्यवस्था का सुचारु रूप से प्रबन्ध हो। लेखों में बहुत-से पदाधिकारियों का उल्लेख है जिनका इन दोनों अंगों से सम्बन्ध था। एक लेख में महाश्वपति, महानौमक और सामन्तनौवाह का उल्लेख है।[२७] 'सहस्त्रवर्गाधिपति' एक सहस्र सैनिकों के ऊपर नियुक्त होता था। अश्व सेना का अध्यक्ष 'महाश्वपति' कहलाता था।[२८] अंकोर में अंकित चित्रों से भी कम्बुज सेना के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इसमें सेनाध्यक्ष अपने अंगरक्षकों के साथ जाते

२४. यही, नं० ६६, पृ० ११९।
२५. एपीग्राफिया इंडिका १४, पृ० १३१ से।
२६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ७१ (अ), पृ० १४८।
२७. यही, नं० ३४, पृ० ४६।
२८. यही, पद्य १९।

दिखाये गये हैं। बख्तर पहने एक व्यक्ति हाथी पर सवार है, उसके कंधे पर भाला है और बांयें हाथ में ढाल है। उसके पीछे एक रक्षक छत्र लिये खड़ा है। उसके आगे चार घुड़सवार हैं।[२९] अंगरक्षकों में संजक नामक व्यक्ति अपना जीवन अर्पित करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। सम्राट् के लिए राजप्रासाद में व्यक्तिगत रक्षक रहते थे और उनका अध्यक्ष नरेन्द्र-परिचारक कहलाता था। वे भी शस्त्र लिये हुए दिखाये गये हैं। प्रासादीय सैनिक प्रवन्ध का अध्यक्ष 'सर्वोप-धाशुद्ध' कहलाता था। वह सम्राट् के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का परिचय कई बार दे चुका होता था और इस पद पर इसकी नियुक्ति राजकीय उलट-पलट की आशंका को रोकने के लिए ही की जाती थी।

न्यायव्यवस्था

कम्बुज लेखों में न्यायव्यवस्था का वर्णन है। एक लेख[३०] में 'व्यवहारा-धिकारी' तथा 'धर्माधिकरणपाल' नामक, न्यायव्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों का उल्लेख है। इसी में देवताओं की सम्पत्ति (अमृतकधन) के परीक्षक तथा सम्पत्तिरक्षक और 'गुणदोषपरीक्षक' का भी उल्लेख है, जिसके अधीन ये दोनों पदाधिकारी काम करते थे। पृथ्वीन्द्र पंडित नामक एक व्यक्ति का उल्लेख एक अन्य लेख में मुख्य न्यायाधीश के रूप में हुआ है,[३१] जो अन्य न्यायाधीशों के साथ में दिये हुए निर्णय को सम्राट् के पास भेज देता था। वास्तव में सम्राट् ही उच्च न्यायाधीश था। वह दंड देता था तथा उसके पास प्रार्थनापत्र मूल रूप से भी भेजा जाता था। एक लेख में[३२] वीरपुर क्षेत्र के अध्यक्ष मृतांगकुरु को सीमा उल्लंघन और क्षेत्र की उपज काटने के अपराध में १० औंस सोने का जुर्माना किया गया था और उसके छोटे भाई को पीठ पर १०२ बेंत मारने का दंड दिया गया था। एक और लेख में[३३] पृथ्वीन्द्र पंडित को, जो कि प्रथम श्रेणी के दीवानी

२९. चटर्जी, इ० क० इ०, पृ० २०३।
३०. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १२५, पृ० ३१४।
३१. यही, नं० १२२, पृ० ३११।
३२. यही, नं० ९९, पृ० २६९।
३३. यही, नं० १४६, पृ० ३४९।

न्यायालय का अध्यक्ष था, सम्राट् की ओर से दंड का आदेश देकर भेजा गया। एक ख्मेर लेख में[३४] एक दीवानी के मुकदमे का उल्लेख है जिसमें भागकर पकड़े हुए दास को पुनः देवालय में अर्पित कर दिया गया था। इसमें न्यायाधीश, उसके अधीन दो निम्न पदाधिकारियों तथा गवाहों का भी उल्लेख है। तुओल प्रसत के लेख में[३५] पृथ्वीन्द्र पंडित द्वारा दिये गये निर्णय का उल्लेख है।

भूमिविक्री व्यवस्था

प्रसत कोक के लेख में[३६] भूमि की बिक्री व्यवस्था और इससे सम्बन्धित पदाधिकारियों का विस्तृत रूप से उल्लेख है। सबसे पहले भूमि चाहनेवाले अपना प्रार्थनापत्र भेजते थे। इस पर गुणदोषपरीक्षक उसकी जांच करता था और फिर नगर-सभा में बेचनेवाले बुलाये जाते थे। मूल्य निर्धारित करने का कार्य न्यायाधीश के आदेशानुसार व्यवहाराधिकारी करता था और उसकी सहायता के लिए 'धर्माधिकरणपाल' तथा 'अमृतकधननिरीक्षक' होते थे। जनता की ओर से पुरुषप्रधान, ग्रामवृद्ध तथा चारों दिशाओं के प्रतिष्ठित व्यक्ति उस कार्य में भाग लेते थे। ढोल पीटकर भूमि का अधिकार प्रार्थी को सौंप दिया जाता था। इसी लेख में भूमिविक्री सम्बन्धी कई और अधिकारियों का भी उल्लेख है, जैसे 'मुख्याचार्य', न्याय का प्रधान, 'गुणदोषपरीक्षक', धर्मशास्त्र को जाननेवाला, स्थानीय बालकों का परीक्षक (बालपरिचारक), राजकीय सम्पत्ति का परीक्षक। लोक सीमा व्यवस्था में जिन पदाधिकारियों का हाथ रहता था तथा जो इसमें भाग लेते थे उनकी तुलना दामोदरपुर के लेख में उल्लिखित पदाधिकारियों से की जा सकती है।

एक अन्य लेख में राजकीय प्रशस्ति द्वारा भूमि के विनिमय का भी उल्लेख[३७] है। इस कार्य में निकटवर्ती गांवों से प्रतिष्ठित व्यक्ति और नेता आकर सीमा निर्धा-

३४. आमोनिये, कम्बुज भाग १, पृ० २४७। चटर्जी, इ० क० इ०, पृ० १४९।

३५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १२२, पृ० ३११।

३६. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० १२५, पृ० ३१३।

३७. यही, नं० ३७, पृ० १४५।

रित करते थे। उन वृद्धों में जो इसमें भाग लेते थे, १० गांवों का अध्यक्ष 'दशक-ग्राम', अन्य १० गांवों का अध्यक्ष 'ग्रामवृद्ध', १० अन्य गांवों का एक अध्यक्ष तथा और बहुत-से व्यक्ति साक्षी के रूप में भाग लेते थे। एक दूसरे लेख में[३८] ब्राह्म-सभा द्वारा सीमा निर्धारित करने का उल्लेख है। यह भूमि बहुत-से पदाधिकारियों के दान का फल थी जो जयक्षेत्र देवता को दी गयी थी। भूमि बेचनेवाले इस बात की शपथ लेते थे कि इसको पुनः लेने का प्रयास नहीं करेंगे।

स्थानीय शासन

स्थानीय शासन में गणतन्त्रवाद के लक्षण थे। गांव का नेता ग्रामिक कहलाता था जिसका कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु जयवर्मन् के प्रसत त्रपन लेख में[३९] १० गांवों के अध्यक्ष का उल्लेख है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष रहा होगा। इसी लेख में 'ग्रामवृद्ध' और 'पुरुष-प्रधान' का भी उल्लेख है जो अपने अनुभव के आधार पर स्थानीय क्षेत्र की सीमा निर्धारित करने में सहायता देते थे।

नियुक्ति और शपथ

शासन प्रवन्ध को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक था कि पदाधि-कारियों की नियुक्ति उचित रूप से की जाय। इस सम्बन्ध में उनकी विद्वत्ता और सम्राट् के प्रति भक्ति ही मुख्य रूप से देखी जाती थी। प्रायः पुत्र ही पिता के पद पर नियुक्त किया जाता था, यदि वह विद्वान् हो और उसने अपने गुणों का प्रदर्शन किया हो। एक लेख में[४०] धर्मस्वामी नामक एक विद्वान् ब्राह्मण का उल्लेख है जो धर्मपुर का अध्यक्ष था और उसके पुत्र ने बहुत-से पदों को सुशोभित किया था, जैसे, 'महाश्वपति', 'श्रेष्ठपुरस्वामी' तथा ध्रुवपुर का अध्यक्ष इत्यादि। उसका छोटा भाई प्रचंडसिंह भी उच्च पद पर था और वह क्रमशः प्रासाद-रक्षकों का संरक्षक (नृपांतरंग), 'सामन्त नौवाहन', 'सहस्रवर्गाधिपति' आदि पदों को

३८. यही, नं० १४५, पृ० ३४७।
३९. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १३१, पृ० ३३३।
४०. यही, नं० ३४, पृ० ४४।

सुशोभित कर चुका था। नियुक्ति करते समय कुल का मुख्य रूप से ध्यान रखा जाता था। एक लेख में[४१] उदयादित्यवर्मन् द्वितीय से १३ पीढ़ी पहले एक व्यक्ति के कुटुम्ब वाले ही एक राज्य पद पर आसीन रहे। एक चीनी सूत्र के अनुसार[४२] अधिकतर उच्च पदों पर केवल राजकीय वंशज ही आसीन थे और पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियां भी उच्च पदों पर नियुक्त हो सकती थीं। सम्राट् राजेन्द्रवर्मन् की एक स्त्री प्राणा, जो कि वंश, आचरण तथा विद्वत्ता से पूर्णतया गुणवती थी, अपने पिता के मरने के पश्चात् जयवर्मन् द्वारा सम्राट् के निजी सचिव के पद पर नियुक्त हुई।[४३]

पदाधिकारियों को सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी, जिसमें वे अपना जीवन सम्राट् की ही सेवा में अर्पित कर देने की प्रतिज्ञा करते थे।[४४] यह शपथ एकत्रित ब्राह्मणों और आचार्यों के सामने ली जाती थी। शपथ लेनेवाले किसी अन्य सम्राट् के प्रति श्रद्धा अथवा सम्मान प्रकट नहीं कर सकते थे। वे अपने सम्राट् से कभी भी विमुख नहीं होते थे, न शत्रुवर्ग से उनका सम्बन्ध होता था। अपने सम्राट् की ओर से वे युद्ध करते थे और यदि सम्राट् की सेवा करते समय उनकी मृत्यु हो जाय तो वे इससे बढ़कर अपने कर्तव्य पालन का दूसरा अच्छा मार्ग नहीं समझते थे। युद्ध के समय सम्राट् के लिए अपना जीवन अर्पित कर देना उनका परमकर्तव्य रहता था। यदि वे साथ छोड़कर भाग जायँ तो चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश तक उनको नरक भोगने का शाप मिलता था। जो लोग सम्राट् के प्रति शपथ लेते थे, सम्राट् उनके तथा उनके कुटुम्ब के पालन पोषण का भार अपने ऊपर ले लेता था।

उत्तरार्धकालीन कम्बुज लेखों में संजकों का भी उल्लेख मिलता है। उससे प्रतीत होता है कि ये उस परम्परा के अधीन सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति का परिचय देते थे जिसकी आधारशिला शासकीय तथा नैतिक सिद्धान्त थी। जिन थोड़े-से लेखों में संजकों का उल्लेख है वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। सबसे पहले

४१. यही, नं० १५७, पृ० ४००।
४२. रेमसा, पृ० १०९। चटर्जी, इ० क० इ०, पृ० १६५।
४३. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १६३, पृ० ४२२, पद २४।
४४. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १३६, पृ० ३४१।

जयवर्मन् पंचम के शक संवत् ८९१ (९६९ ई०) के लेख में[४५] इसका उल्लेख है जो कोक-रोसाई नामक स्थान में एक शिला पर अंकित मिला। यह अंकोर के निकट कुलेन पर्वत से ढाई मील पूर्व की ओर है। इस लेख में उन कुलों का उल्लेख है जो अपनी कन्याएं उच्च पदाधिकारियों को दे दिया करते थे। स्वामिभक्त संजक सम्राट् के अंगरक्षक थे और युद्ध में उसकी रक्षा करते थे। सम्राट् की ओर से इनको मृतक धन मिलता था जो किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता था। इन संजकों के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध शासक के ऊपर था। जयवर्मन् पंचम के दूसरे लेख में[४६] जो शक संवत् ८९६(९७४ ई०) का है, सम्राट् के तीन संजकों का उल्लेख है जिनको खुमुक और कर्मान्तर जाति की स्त्रियों से विवाह करने की अनुमति प्रदान की गयी थी। तीसरा लेख[४७] जयवीरवर्मन् का है। इसकी तिथि ९२८ अथवा १००६ ई० है और यह प्रसत त्रपन रुन में मिला। इसमें सम्राट् के कवीन्द्र पंडित को दिये गये भूमिदानों में साक्षी के रूप संजकों का उल्लेख है। जिन संजकों के नाम दिये गये हैं, उनमें धर्मशास्त्र के ज्ञाता तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ग के 'भांडागारिक' और 'पुस्तकपाल' भी थे। इस लेख से प्रतीत होता है कि संजक सैनिक कार्य के अतिरिक्त दीवानी का कार्य भी कर सकते थे। चौथा लेख[४८] सिसफोन प्रान्त के प्रसत-वेन में मिला है। इसमें शक संवत् ९४८ के एक बौद्ध-दान का उल्लेख है जो सूर्यवर्मन् के समय में दिया गया था। इसमें सात संजकों का उल्लेख है जो इस दान के साक्षी थे। अंतिम लेख़ वन्ते-चमर के मंदिर में प्राप्त हुआ जो[४९] सिसफोन प्रदेश में है। इसमें चार संजकों की साहसिक वीरता का उल्लेख है। उन्होंने अपना जीवन देकर सम्राट् को बचाया था। सिडो के मतानुसार यह जयवर्मन् सप्तम के समय का लेख है और कुमार श्री इन्द्रकुमार सम्राट् का पुत्र था। इस लेख से प्रतीत होता है कि संजक केवल सम्राट् के ही रक्षक नहीं

४५. मजुमदार, नं० ११०, पृ० २८३।
४६. यही, नं० ११० (अ), पृ० ५८८।
४७. यही, नं० १३१, पृ० ३३१।
४८. यही, कम्बुज लेख नं० १४०, पृ० ३४४।
४९. सिडो, बु० इ० फ्रा० २९, पृ० ३०९। मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १८३, पृ० ५२८।

सु–१८

होते थे, वरन् राजकुमारों की रक्षा का भार भी उन पर होता था। ये पांचों लेख शक सं० ८९१ (७६९ ई०) से लेकर जयवर्मन् सप्तम के समय के हैं जिसने लगभग ११८१ ई० से १२०४ ई० तक राज्य किया। ये लेख राजधानी के निकट ही मिले। यह ठीक भी था क्योंकि संजकों का सम्राट् के साथ रहना आवश्यक था। उनकी संख्या अधिक नहीं थी। जयवर्मन् पंचम के कुल तीन मुख्य संजक अंगरक्षक थे और जैसा कि बन्ते-चमर के लेख से प्रतीत होता है, राजवंश के कुमारों की रक्षा का भार भी इन्हीं पर था। कदाचित् संजक जन्म भर तथा उसके बाद उनके पुत्र भी, राजवंश की सेवा करते थे और सम्राट् के मरने के पश्चात् वे उसके उत्तराधिकारी की रक्षा के लिए नियुक्त हो जाते थे यहां पर यह कह देना उचित है कि सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् उसके अंगरक्षक उसके साथ अपना जीवनदान नहीं करते थे। जैसी कि पाश्चात्य देशों में किसी समय में प्रथा थी।

आमोनिये के मतानुसार[५०] संजकों से उन राजभक्त और वीर सैनिकों का संकेत है जो विशेष संस्कार के पश्चात् सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेते थे। ये संजक शासन व्यवस्था में भी अपना अंशदान देते थे तथा धार्मिक कृत्यों और दानों से सम्बन्धित कार्यों में भी भाग लेते थे।[५१] यह भी प्रतीत होता है कि इसी प्रकार की प्रथा कम्बुज के अतिरिक्त भारत तथा लंका में भी किसी समय में प्रचलित थी[५२]। यह कहना कठिन है कि कम्बुज में यह प्रथा थोड़े ही दिनों तक रही, क्योंकि इसके बाद के लेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

न्याय और दण्ड

लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासन का दीवानी मामलों

५०. कम्बुज, भाग २, पृ० ३०५।
५१. बु० इ० फ्रा० २८, पृ० ६१, नोट ३।
५२. पुरी, प्रोसीडिंग इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, बल्लभविद्यानगर।

उपर्युक्त लेख में केरल के अमूकस अथवा अमोयी नामक व्यक्तियों का उल्लेख है जो सम्राट् की रक्षा के लिए अपने जीवन अर्पण की शपथ लेते थे। मेनन केरल इतिहास १, पृ० ५११। मारकोपोलो ने भी लंका के कुछ व्यक्तियों का उल्लेख किया है जो सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेते थे और उसके मृतक शरीर के साथ वे भी दफन कर दिये जाते थे।

में हस्तक्षेप करने का अधिकार रहता था। सीमाएं निर्धारित करने के लिए शासन की ओर से पदाधिकारी नियुक्त थे जो अपने कृत्यों का पूर्णतया पालन करते थे। अपने अधिकारों का अनौपचारिक रूप से प्रयोग करने पर उसके लिए उन्हें भी दंड दिया जाता था। सम्राट् सम्पूर्ण सम्पत्ति का मालिक था। एक लेख में मृतक धन का उल्लेख है।[५३] जनता को कर देना पड़ता था और सम्राट् इसमें कमी भी कर सकता था। एक ख्मेर लेख में कर एकत्रित करनेवालों के अध्यक्ष को एक बैल कर के रूप में दिया गया।

लेखों के आधार पर कम्बुज शासन-व्यवस्था का यह केवल आकार खींचा जा सका है। यह व्यवस्था अर्थ और धर्मशास्त्र पर आधारित थी,[५४] भारतीय व्यवस्था की भाँति यहां भी सम्राट् का सबसे उच्च स्थान था। शासन में मंत्रि-परिषद्, प्रान्तीय शासक तथा पदाधिकारी उसकी सहायता के लिए नियुक्त होते थे। नियुक्ति के समय पूर्वजों की सेवाओं का विचार किया जाता था। स्थानीय शासन में गणतन्त्रवाद का बीज था। यह सूक्ष्म रूप से कहा जा सकता है कि कम्बुज की शासन-व्यवस्था भारतीय थी तथा यह सुचारु रूप से बनायी गयी थी।

५३. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १८३, पृ० ५२८।

५४. 'तस्य तौ मंत्रिणावास्तां सम्मतौ कृतवेदिनौ।
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ।।'

मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ३०, पृ० ३९, पद ६

एक लेख में सम्राट् के एक विश्वसनीय पदाधिकारी का उल्लेख है जो 'सर्वोपधाशुद्ध' था (लेख नं० ३३)। उपधा अथवा प्रलोभन द्वारा परीक्षा का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी है। (१.अध्याय १०)।

अध्याय ८

सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था

कम्बुज लेख देश की तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर पूर्णतया प्रकाश डालते हैं। भारत से गये हुए ब्राह्मणों का उस देश में उत्तम आदर इस बात का साक्षी है कि नवीन आगन्तुकों, मुख्यतया ब्राह्मणों का समय-समय पर वहां सत्कार हुआ और राजकुल में उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। देश की सामाजिक व्यवस्था भारतीय वर्णाश्रम धर्म के आधार पर बनी थी। इसमें अन्तर्जातीय विवाह का भी स्थान बन गया था। स्थानीय मातृक व्यवस्था उक्त देश में प्रचलित थी। भारतीय सामाजिक परम्परा ने, जिसमें पिता से ही वंशावली चलती है, स्थानीय व्यवस्था को मिटाने का प्रयास नहीं किया। लेखों में कम्बुज सम्राटों ने कौण्डिन्य के अतिरिक्त सोमा को भी अपने पूर्वजों की श्रेणी में स्थान दिया है तथा पुत्र के अतिरिक्त माता की ओर के सम्बन्धी भी राज्य पर अपना अधिकार समझते थे। कम्बुज लेखों में कुछ नाम भारतीय तथा ख्मेर शब्दों से मिलकर बने हैं। भारतीय रक्त स्थानीय रक्त में पूर्णतया प्रधान था, पर स्थानीय संस्कृति का उसमें अशदान था। लेखों के आधार पर हम वर्ण-व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध तथा स्त्रियों के स्थान, वेश-भूषा, भोजन-भाजन, मनोरंजन, क्रीडा, दास व्यवस्था तथा दाहसंस्कार इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था

कम्बुज लेखों में चत्तुवार वर्णों का उल्लेख है।[1] ब्राह्मण लोगों का समाज में सबसे श्रेष्ठ स्थान था और उनके वैवाहिक सम्बन्ध राजवंश में भी स्थापित होते

१. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १७९, पृ० ४९७, पद १९।

थे। इस संसर्ग से ब्रह्मक्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई जिसका उल्लेख कई लेखों में है।[२] वैश्यों का किसी लेख में व्यक्तिगत रूप से उल्लेख नहीं है, यद्यपि वे समाज के अंग थे और चम्पा में उनका एक लेख मिलता है।[३] समाज में ब्राह्मणों के उच्च स्थान प्राप्त करने का श्रेय उन कौण्डिन्य ब्राह्मणों को है जिन्होंने कम्बुज देश में आकर अपनी सत्ता स्थापित की और वहां की रानियों से विवाह किया। एक ख्मेर किंवदन्ती के अनुसार ब्राह्मणों का जत्था जावा से कम्बुज देश आया और उसने यहां पर अपना राज्य स्थापित किया। ये ब्राह्मण काले रंग के थे। उनके लम्बे बाल थे और वे वाराणसी के मूल निवासी थे।[४] एक चीनी किंवदन्ती के अनुसार फूनान के अधीन तुअन-सिउन की वस्ती में एक हजार से अधिक ब्राह्मण रहते थे और वहां के स्थानीय निवासी अपनी कन्याओं का विवाह उनके साथ कर देते थे तथा उन्हीं के धर्म का पालन करते थे।[५] कम्बुज के लेखों में भारत से आये हुए बहुत-से ब्राह्मणों का उल्लेख है। भारतीय जनपद से हिरण्यदाम नामक एक ब्राह्मण राज्यपुरोहित शिवकैवल्य को तांत्रिक शिक्षा देने आया था।[६] अगस्त्य नामक भारत से आगत एक ब्राह्मण ने यशोमती नामक राजकुमारी के साथ विवाह किया।[७] वृन्दावन-निवासी ब्राह्मण दिवाकर ने भी राजवंश में राजेन्द्रवर्मन् की कन्या इन्दुमती से विवाह किया था।[८] भारद्वाज-गोत्रीय हृषीकेश कम्बुज देश आकर जयवर्मन् सप्तम का राजपुरोहित नियुक्त हुआ। वह नरपति देश (कदाचित् ब्रह्मा) का रहनेवाला था और उसने ब्रह्मपुर में विवाह किया, जिससे उसके चार पुत्र और दो कन्याएं हुईं। इनमें से ज्येष्ठ पुत्री जयवर्मन् अष्टम की सम्राज्ञी हुई।[९] यह ब्राह्मण-क्षत्रिय अन्तर्जातीय विवाह केवल राजकीय और भारत से आये हुए नवीन

२. यही, नं० ५२, पृ० ५६। नं० ९५, पृ० २९५, पद १० इत्यादि।
३. चम्पा, पृ० २१४, लेख नं० ६५, पृ० १६९।
४. चटर्जी, इंडियन इन्फ्ल्यूएंस इन केम्बोडिया (इ० इ० का०), पृ० ८।
५. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७७।
६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १५२।
७. यही, नं० ६०, पृ० ७६।
८. यही, नं० १११, पृ० २८५।
९. यही, नं० १९०, पृ० ५४१।

ब्राह्मणों के बीच ही हुआ करते थे। शिवकैवल्य और उसके वंशजों ने कोई ढाई सौ वर्ष तक राज्यपुरोहित के पद को सुशोभित किया। वामशिव नामक एक आगन्तुक ब्राह्मण इन्द्रवर्मन् का पुरोहित था।[१०] ब्राह्मणों ने सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया था और वे राजवंश में भी विवाह कर सकते थे।

सूर्यवर्मन् के समय में जातियों का पुनः विभाजन हुआ[११] और शिवाचार्य को सामाजिक व्यवस्था में सबसे उच्च स्थान दिया गया। व्यवसाय चुनने के लिए जन्म-जाति किसी प्रकार बाधक न थी। एक लेख में[१२] ब्राह्मण कुल के लोगों द्वारा हाथी हाँकना, गणिका संबंधी, कमीर और पुरोहित का कार्य करना लिखा है। जयवर्मन् पंचम के समय में खुमुक और कर्मान्तर नामक दो नयी जातियों के निर्माण का उल्लेख है तथा सप्तवर्ण के धार्मिक व्यक्तियों और आचार्यों की श्रेणी से प्रत्येक के लिए २० आदि सदस्य चुने गये।[१३] सप्तवर्ण की समानता अरब इतिहासकार द्वारा भारतीय समाज के सात अंगों में विभाजन से की जा सकती है।[१४] इन नयी जातियों के लिए चुने गये आदि सदस्यों का विवाह तीन ऊंचे वर्णों में हो सकता था। सम्राट् ने भी इन नयी जातियों के निर्माण में अपनी स्वीकृति दी थी। अंकोरवाट के चित्रों में भी विभिन्न जाति के व्यक्ति अपनी वेशभूषा में दिखाये गये हैं।

इन जातियों के अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न सन्तानों का भी लेखों में उल्लेख है जिन्होंने दान दिये। एक लेख में[१५] त्रिभुवनराज द्वारा विजया-

१०. मजुमदार, नं० १५३, पृ० ३६६।

११. यही, पृ० ३५३।

१२. यही, कम्बुज लेख नं० १५८, पृ० ४१०। इस सम्बन्ध में भारतीय लेखों तथा स्मृतियों में भी व्यवसाय बदलने का उल्लेख है। आपत्तिकाल में मनुष्य नीच वर्ग का कार्य भी कर सकता था। (गौतम, अध्याय ७, मनु, १०।८१), याज्ञवल्क्य ३।४५)। कुछ मध्यकालीन लेखों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे क्षत्रि-तैलिक (एप. इन. १, पृ० १४९), ब्राह्मण-कृषक (कामन लेख) इत्यादि।

१३. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ११०, पृ० ५८९।

१४. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृ० १६-१७। ७४-९३। इनके नाम क्रमशः सवकुफ्रिया, ब्रह्म, कतरिया, सुदरेस, वसुरिया, सन्डलिया तथा लाहुद थे।

१५. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ११३, पृ० २९९।

गीश्वर की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। उसकी बहिन का नाम तेनवई तथा बहनोई का नाम सोमवज्र था। लेखों में कुछ ऐसे नाम भी मिलते हैं जिनमें स्थानीय और भारतीय सम्मिश्रण है। जैसे लोञ, युधिष्ठिर, मृतोञ, जयेन्द्र पंडित, मृतोञ-पृथ्वीन्द्र पंडित। यह प्रतीत होता है कि वे स्थानीय और भारतीय वैवाहिक सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान थे।

वैवाहिक सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्राह्मण जिस वर्ण में चाहें विवाह कर सकते थे, पर ब्राह्मण कन्याएं ब्राह्मणों के अतिरिक्त केवल राजकीय वंश में ही दी जा सकती थीं। भववर्मन् प्रथम की बहिन का सोमशर्मन् नामक एक ब्राह्मण से विवाह हुआ था, और अरुंधती की भाँति वह साध्वी थी।[१६] यशोवर्मन् की मां इन्द्रदेवी अगस्त्य कुल की थी जो बड़ा विद्वान् था और आर्य देश से कम्बुज आया था।[१७] जयवर्मन् द्वितीय ने भवस्वामिनी नामक एक ब्राह्मणी से विवाह किया था और योगेश्वर पंडित इसी कुल की संतान था।[१८] जयवर्मन् सप्तम की दोनों रानियां ब्राह्मण कुल की थीं,[१९] और जयवर्मन् अष्टम ने नरपति देश से आये हुए एक ब्राह्मण की प्रभा नामक कन्या से विवाह किया था।[२०] वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की बाधा न थी। यशोवर्मन् ने अपने मामा की पुत्री से विवाह किया था जो उत्तरी भारत में वर्जित है और दक्षिणी भारत में इसका अब भी चलन है। वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः पिता द्वारा जोड़े जाते थे। एक लेख में मृतोञ श्री सर्वाधिकार की पौत्री मेसोंक द्वारा स्वयं विवाह का प्रस्ताव लेकर जाने का उल्लेख है और दहेज में उसने जीन सहित एक घोड़ा तथा कुछ और पदार्थ दिये।[२१] अनेक पति की प्रथा का संकेत भी एक लेख में मिलता है, जिसमें ४३

१६. यही, नं० १३, पृ० १९। 'पतिव्रता धर्मरता द्वितीयारुन्धतीव या।'
१७. यही, नं० १८२, पृ० ५१५।
१८. यही, नं० १४८, पृ० ३५१।
१९. यही, नं० १८२, पृ० ५१५।
२०. यही, पृ० ५४१।
२१. यही, नं० १९ (अ), पृ० ५८१।

दास और उनकी ९ स्त्रियों का उल्लेख है।[२२] कदाचित् ये दास और ये दासियाँ नीच वर्गों में उत्पन्न रहे होंगे। सुई-वंश के इतिहास के अनुसार विवाह के समय कन्या को सुन्दर वेशभूषा से आभूषित किया जाता था और दोनों वर्ग के लोग आठ दिन तक एक साथ रहते थे। दीप बराबर जलता रहता था और विवाह के बाद पति अपनी स्त्री को लेकर अलग रहता था।[२३] एक लेख में विधवा विवाह का भी उल्लेख है।[२४] हिरण्यवर्मन् के सबसे छोटे पुत्र युवराज के मरने पर उसकी विधवा स्त्री ने क्रमशः उसके दो बड़े भाइयों के साथ विवाह किया। यह भारतीय धर्मशास्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि विधवा का विवाह उसके दिवंगत पति के छोटे भाई के साथ ही हो सकता था।

वस्त्र, आभूषण और श्रृंगार

इस सम्बन्ध में अंकोरवाट में अंकित चित्र तथा चीनी वृत्तान्त के आधार पर विवरण दिया जा सकता है। चित्रों में भारतीय धोती मुख्य रूप से दिखायी गयी है। यह कमर के चारों ओर बांधी जाती थी और इसमें चुन्नट होती थी। इसका उल्लेख चीनी चेओ-त-कुएन ने भी किया है।[२५] कन्धे को ढकने के लिए एक प्रकार के दुपट्टे का प्रयोग होता था और सिर पर ऊँची मौलि (जयमुकुट) रहती थी। बेओन के एक चित्र में धोती पहने राजा दिखाये गये हैं और वे गले में हार पहने हैं। साधारणतया पुरुष आधी टांगों तक नीची धोती पहनते थे जिसकी चुन्नट अंकित चित्रों में दिखाई पड़ती है। चीनी सूत्र के अनुसार धोती का ही प्रयोग होता था और यह पश्चिम देश से मंगायी जाती थी। एक लेख[२६] में चीनी कौशेय (चीनांशुक) का भी उल्लेख है। 'दक्षिण-त्सि का इतिहास' के अनुसार उच्च वर्ग के लोग कढ़े हुए रेशमी वस्त्र पहनते थे।[२७] स्त्रियां नीचा लहँगा पहनती थीं। 'सुई

२२. मजुमदार, नं० २३, पृ० २९।
२३. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ६५।
२४. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १७४, पृ० ५४६।
२५. पिलियो, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २९६।
२६. मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ० ४६६।
२७. चटर्जी, इ० इ० का०, पृ० २२९।

वंश का इतिहास' में लिखा है कि सम्राट् कौशेय (रेशम) पहनते थे जिस पर काम बना रहता था।[२८] अंकित चित्रों में सम्राट् की भाँति ब्राह्मण भी कुंडल पहने दिखाये गये हैं, पर वीर क्षत्रिय कानों में कुछ नहीं पहने हैं। सम्राट् श्री उदयादित्यवर्मदेव ने यज्ञ के बाद जो आभूषण दक्षिणा में दिये उनमें मुकुट, कुंडल, केयूर, कटक तथा मुकुटवेणी थे।[२९] शृंगार के लिए दर्पण का प्रयोग होता था।[३०] लेखों में चांदी की मूठ लगे दर्पण का उल्लेख है। चीनी वृत्तान्त से पता चलता है कि स्त्रियां अपने हाथ-पैरों को रँगती थीं और बाल संवारकर ऊपर जूड़ा बांधती थीं। ता-प्रोम के लेख से[३१] ज्ञात होता है कि चन्दन का प्रयोग होता था जिसका विलेपन बनाया जाता था।

भोजन, भाजन

लेखों के अनुसार तंडुल ही कम्बुज के निवासियों का मुख्य भोजन था (भोजनं तंडुलम्)[३२] जो कि पकाया जाता था (पाक्यतंडुल)। व्यंजन के लिए नमक, जीरा तथा इलायची डाली जाती थी तथा अदरक, तेल और मधु का भी प्रयोग होता था।[३३] ता प्रोम के लेख में भोजन-पदार्थों में खार्य, भक्त, मुद्ग, घृत, दधि, क्षीर, गुड़,

२८. पिलियो, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २५४। देखिए बोसेलिए, ला स्टेचू ख्मेर (ख्मेर मूर्ति) भाग २, चित्र ७३ (अ)।

२९. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १५२, पृ० ३६९। दूरेन के संग्रहालय में प्रसिद्ध नर्तकी की मूर्ति मुकुट, केयूर, कटक, कुंडल और हार पहने है। स्टर्न, ला आर्ट टु चम्पा (चम्पा की कला) चित्र ५९। बोसेलिए, पू० सं० चित्र ३४ (अ), ५०।

३०. एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार पश्चिमी भारत से फूनान आये हुए जहाज पर एक स्फटिक का शीशा था जिसका व्यास कोई १६ फुट ५ इंच था और यह ४० पौंड से भी अधिक भारी था। (पिलियो : बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २८३)।

३१. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १७७, पृ० ४७१, पद १०१।

३२. यही, नं० १११, पृ० २९०।

३३. यही, नं० १४५, पृ० ३४८।

मधु और तेल का उल्लेख है।[३४] मक्खन का भी एक लेख में उल्लेख है।[३५] 'सुई वंश का इतिहास' तथा 'तंग वंश का इतिहास' में भी कम्बुज के भोज्य तथा पेय पदार्थों का उल्लेख है। प्रथम ग्रन्थ के अनुसार कम्बुज निवासियों का भोजन मुख्यतया मक्खन, मलाई, शक्कर और मिलेट था जिसकी रोटी बनती थी। वे भुने हुए मांस को रोटी के साथ नमक लगाकर खाते थे। दूसरे ग्रन्थ में लोगों के शराब पीने का भी उल्लेख है।[३६] भाजनों में घट, कढ़ाई, कलश, शराब (तश्तरी) तथा बड़े-बड़े घड़ों का भी उल्लेख है और सोने-चांदी के डब्बों का भी प्रयोग किया जाता था।[३७]

मनोरंजन इत्यादि

नृत्य, गायन और नाटक मनोरंजन के मुख्य साधन थे। नर्तकियां गायन और वादन में पारंगत थीं और वे वीणा, दुंदुभि और ताल का प्रयोग करती थीं।[३८] इनके अतिरिक्त पुरुष भी नृत्य-कला में प्रवीण थे।[३९] नर्तकियाँ प्रायः मन्दिरों को अर्पित की जाती थीं। एक लेख में सात नर्तकियों, ग्यारह गायकों और चार वीणा, कंजरी और लाहू पर वाद्य वादन करनेवालों के मंदिर के प्रति अर्पण करने का उल्लेख है।[४०] गायन तथा वाद्यवादन में पुरुष भी निपुण होते थे।[४१] एक लेख में[४२] एक प्रवीण गायक के विषय में लिखा है जिसका पिता जयवर्मन्, धरणीन्द्रवर्मन् प्रथम

३४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १७७, पृ० ४६७।

३५. यही, नं० १७१, पृ० ५८७।

३६. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० ६५।

३७. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६६, पृ० ३३१।

३८. यही, नं० ५५, पृ० ६४, पद ३५, 'वीणादिवाद्यवादिन्यो वेणुताल-विशारदाः।'

३९. यही, नं० १११, पृ० २८८।

४०. यही, पृ० ५५९।

४१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५५, पृ० ६४, पद ३६। 'पुरुषा रूपिणः श्लाघ्या नर्तनादिविशारदाः।'

४२. यही, नं० १८०, पृ० ५०३।

तथा सूर्यवर्मन् द्वितीय के समय में एक उच्च पदाधिकारी था। प्रह्-आइन-कोसी के लेख में बहुत-से वाद्यों, वादन-यंत्रों का उल्लेख है। जैसे पटह, वीणा, घंटा, मृदंग, पणव, भेरी और काहल इत्यादि।[४३] बहुत-से कुटुम्ब गायन और वादन के लिए प्रसिद्ध थे। नाटक भी खेले जाते थे और जयवर्मन् सप्तम की साली ने एक नाटक रचा था जिसका विषय जातकों से लिया गया था।[४४] जयवर्मन् पंचम का गुरु यज्ञवराह कथाकार और नाटककार भी था।[४५] इनके अतिरिक्त मनोरंजन के साधनों में मुष्टियुद्ध[४६] तथा उत्सवों का भी उल्लेख है। बसन्तोत्सव धूमधाम से मनाया जाता था और इसका भी एक लेख में उल्लेख है।[४७] जयवर्मन् सप्तम के समय में आढ्य-पुर के सामन्त ने वसंत में शिवरात्रि के उपलक्ष्य में एक धार्मिक उत्सव मनाया जिसमें नृत्य का भी आयोजन किया गया था।

कौटुम्बिक जीवन और स्त्रियों की दशा

समाज में स्त्रियों का आदरणीय स्थान था और इसका कारण मातृक व्यवस्था तथा भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। कुछ लेखों में मां की ओर से वंशावली दी गयी है। पर प्रायः पिता का श्रेष्ठ स्थान होता था और उसी से पुत्र को भी अधिकार प्राप्त होते थे। एक लेख में पुत्र द्वारा पिता की दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए तर्पण का उल्लेख है।[४८] कुटुम्ब में वृद्ध को भी आदरणीय स्थान प्राप्त था। एक लेख में वृद्ध पुरुष के दांत को सुरक्षित रखने का उल्लेख है।[४९] इससे कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं प्रतीत होती है। कदाचित् वृद्ध पुरुष की विद्वत्ता को सुरक्षित

४३. मजुमदार, नं० १११, पृ० २८८, पद ७।

४४. यही, नं० १८२, पृ० ५२४।

४५. यही, नं० १०२, पृ० २१४।

४६. यही, नं० १०० ई०, पृ० ५८४।

४७. यही, नं० १७७, पृ० ४७०, पद ८३ से। इस उत्सव में नर्तक और नर्तकियां अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।

४८. यही, कम्बुज लेख, नं० ३०, पृ० ४१।
'पितॄंश्चातर्पयत् तोयैः सपुत्रकरनिस्सृतैः।' (पद २३)

४९. यही, नं० ४९, पृ० ५५।

रखने के लिए ऐसा किया गया होगा। स्त्रियों को भी बहुत-से दान दिये गये जिनका लेखों में उल्लेख है और कदाचित् सामूहिक कुटुम्बव्यवस्था प्रचलित थी।

दास-प्रथा

कम्बुज लेखों से पता चलता है कि देश में दास-प्रथा प्रचलित थी। कुछ दास दत्तक थे, कुछ पैतृक रूप से, और कुछ जीते हुए देशों से बंदी के रूप में दास बनाये गये थे। अधिकतर ये मंदिरों को अर्पित कर दिये जाते थे। दास-दासियों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाते थे और एक लेख में ४२ दासों एवं उनकी ९ पत्नियों का उल्लेख है।[५०] इससे प्रतीत होता है कि एक दासी के कई पति होते थे। एक अन्य लेख में दासी के पुत्रों का भी उल्लेख है।[५१] प्रह खन के लेख में ३०६ दास और ३७२ दासियों का उल्लेख है जो चम्पा, यवन, पुकम (पगान, ब्रह्मा) और रुआन के रहनेवाले थे। दास अपने स्वामी की सम्पत्ति थे और यदि कोई भाग जाता था तो पकड़े जाने पर उसके नाक-कान काट लिये जाते थे। ये लोग अपने स्वामी की ओर से खेती-बारी भी करते थे और एक लेख में उपज के विभिन्न स्वामियों के बीच बटवारे का उल्लेख है।[५२]

मृतक-संस्कार

इस सम्बन्ध में 'लिअंग-वंश का इतिहास' से पता चलता है कि मृतक का चार प्रकार से अन्तिम-संस्कार किया जाता था। जलाकर, मृतक शरीर को नदी में फेंक कर, भूमि में गाड़कर और क्षेत्र में पशु-पक्षियों के खाने के लिए छोड़कर। दाह-कर्म करते समय मूंछ और बाल बनवा लिये जाते थे। 'सुई वंश का इतिहास' में भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त मिलता है।[५३] इस ग्रन्थ के अनुसार मृतक के वंशज सात दिन तक न तो कुछ खाते थे और न बाल बनवाते थे और बराबर चिल्लाया करते थे। मृतक शरीर के साथ पुरोहित प्रार्थना करते थे और गाते

५०. वही, नं० ८१, पृ० १६६।
५१. वही, नं० ५१, पृ० ५६।
५२. कम्बुज लेख, पृ० ५८२।
५३. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० ५८२।

हुए जाते थे तथा सब प्रकार के वृक्षों की लकड़ियों पर शरीर को रखकर दाह-संस्कार करते थे। एक सोने अथवा चांदी के पात्र में राख रख दी जाती थी और यह पात्र किसी नदी में फेंक दिया जाता था। कभी-कभी शरीर जंगली पशुओं के लिए छोड़ दिया जाता था।

इस प्रकार लेखों, चीनी सूत्रों तथा कला के आधार पर प्राचीन कम्बुज देश की सामाजिक व्यवस्था का केवल रेखाचित्र ही खींचा गया है। भारतीय संस्कृति का प्रभाव कम्बुज पर पूर्णतया पड़ा। वर्ण-व्यवस्था में यद्यपि वैश्यों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर वे भी समाज के अंग थे। ब्राह्मणों की प्रधानता भारतीय सामाजिक व्यवस्था की भाँति कम्बुज में भी मानी जाती थी और उनका राजकीय वंश में भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध से 'ब्रह्म-क्षत्रिय' वंश की उत्पत्ति हुई। इसका उल्लेख हमें चम्पा के लेखों में भी मिलता है। इनके अतिरिक्त बहुत-से व्यापारी वर्ग के व्यक्ति भी थे जो वैदेशिक व्यापार करते थे। यहां के निवासियों की वेशभूषा और आभूषण पूर्णतया भारतीय थे और इस सम्बन्ध में धोती का विशेष महत्त्व था। पुरुष और स्त्रियां, दोनों आभूषण पहनते थे और विशेषतया स्त्रियां ही इनसे अपने को अलंकृत करती थीं। कुटुम्ब में मां और पुत्री का, मातृक समाज-व्यवस्था होने के कारण आदरणीय स्थान था, पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप पिता और पुत्र के स्थान को माता और पुत्री न ले सकीं। हमने भोजन, मनोरंजन तथा क्रीड़ा के साधनों पर भी प्रकाश डाला है। आजकल की भाँति उस समय भी तंडुल या पके हुए चावल ही वहां के निवासियों का मुख्य भोजन था और नर्तक-नर्तकी, गायक तथा शोभक मनोरंजन के साधन थे। मृतक का दाह-संस्कार किया जाता था, पर मृतक शरीर का अन्य तरह से भी अन्तिम संस्कार किया जाता था। कम्बुज की सामाजिक व्यवस्था में दास-दासियों का अलग स्थान था। वे समाज के अंग थे और मुख्यतया मन्दिरों को अर्पित कर दिये जाते थे। उनका पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध संकेत करता है कि पैतृक रूप से दास ही केवल आजन्म अपनी उस स्थिति में नहीं रहता था, वरन् उसके पुत्रों को भी वही स्थान प्राप्त था और उनके लिए नियम कठोर थे। यह प्रथा भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल प्रतीत होती है। यद्यपि मनु ने भी कई प्रकार के दास-दासियों का उल्लेख किया है। वास्तव में कम्बुज की सामाजिक व्यवस्था भारतीय संस्कृति और समाज का ही सुदूरपूर्व में एक अंग बनी रही।

आर्थिक व्यवस्था

किसी देश के सामाजिक स्तर को उच्च बनाने के लिए वहां की आर्थिक व्यवस्था को सुगठित रखना आवश्यक है। देश की उपज अधिक होनी चाहिए, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़े और इसकी खपत के लिए विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध और सम्पर्क होना भी आवश्यक है। मुद्रा तथा विनिमय आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक हैं। यह भी आवश्यक है कि देश की जनता विभिन्न व्यवसायों में लगी हो और बेकारी कम से कम हो। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से राष्ट्र-निर्माण में जनता का पूर्ण रूप से सहयोग ही देश को आर्थिक क्षेत्र में सम्पन्न और शक्तिशाली बना सकता है। कम्बुज की आर्थिक व्यवस्था किस आधार पर बनी थी और भारतीय औपनिवेशिकों का इसमें क्या अंशदान था, इसका अंकन तो केवल लेखों से प्राप्त सामग्री तथा अन्य सूत्रों के आधार पर ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में सामग्री पूर्णतया पर्याप्त नहीं है, फिर भी हमको कृषि, पशुपालन, विभिन्न व्यवसायों, मुद्राओं, बाट, व्यापार तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर लेखों तथा चीनी सूत्रों से जानकारी प्राप्त हो सकती है और आर्थिक व्यवस्था का आकार खींचा जा सकता है। कम्बुज देश के मन्दिर तथा उनके लिए दिये गये दानों से राष्ट्र तथा जनसाधारण की आर्थिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त सम्पन्नता का भी संकेत मिलता है।

कृषि और पशुपालन

कम्बुज देश में सदा से ही चावल की उपज मुख्य रही है और इसका कई लेखों में उल्लेख है। ईशानवर्मन् के वट-शवाव के लेख में[५४] गायों, बैलों तथा चावल के क्षेत्रों के दान का उल्लेख है। नोम-बन्ते के शक संवत् ९०२-३ के लेख[५५] में त्रैलोक्य-विजयागीश्वर के प्रति भाजन, गायों, बैलों और धान क्षेत्रों के दान का विवरण है। एक और ख्मेर लेख[५६] में गुणपतिवर्मन् ब्राह्मण द्वारा विभिन्न धातुओं के बने पात्रों, एक हाथी, एक घोड़ा, कुछ कपड़ा और चावल के बदले धान के क्षेत्र और उद्यानों के विनिमय का उल्लेख है। देश में धान की उपज का कारण वहां का अनुकूल

५४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० २३, पृ० २९।
५५. यही, नं० १३३, पृ० २९९।
५६. यही, नं० १४५ व, पृ० ३४७।

जलवायु है और चावल (तंडुल) [५७] ही वहां के निवासियों का मुख्य भोजन रहा है। इससे यह न समझना चाहिए कि उस देश में किसी अन्य पदार्थ की उपज नहीं होती थी। लेखों में मुद्‌ग और तिल का भी उल्लेख है तथा भक्त से पानी में उबाले हुए किसी भी अन्न का संकेत हो सकता है।[५८] यह प्रतीत होता है कि कृषि के लिए श्रमिक आसानी से मिल जाते थे और प्रायः इस कार्य में खरीदे हुए दास लगाये जाते थे। इनको 'दासकृषीवल' कहते थे।[५९] इनके वेतन का कहीं उल्लेख नहीं है। एक लेख में इन दासों द्वारा पैदा की हुई उपज के विभाजन का उल्लेख है।[६०] चीनी सूत्रों के अनुसार[६१] यहां के निवासी साल में एक बार अन्न बोते थे और ३ वर्ष तक उसे काटते थे। कृषि के अतिरिक्त वे पशुपालन भी करते थे। बहुत-से लेखों में वैल, गाय तथा भेड़ों के दान का उल्लेख है और वे विनिमय में भी काम आते थे।

व्यवसाय और उनका संगठन

बहुत-से लेखों में व्यवसायों तथा श्रेणियों में उनके संगठन का उल्लेख है। श्रेणी का निर्माण अति प्राचीन है और इसका उद्देश्य उक्त श्रेणी को व्यवसाय के लिए सुरक्षा प्रदान करना था। एक लेख[६२] में सुवर्णकार संघ का उल्लेख है (चामीकरकारवर्गः)। जयवर्मन् सप्तम के एक लेख में[६३] इनके संघ के प्रमुख का उल्लेख है तथा एक अन्य लेख में[६४] श्रेष्ठपुर विषय के कर्मचारी संघ का विवरण है। इन संघों या श्रेणियों के अधिकार और कर्तव्यों का विवेचन किसी भी लेख में नहीं किया गया है। यद्यपि भारतीय स्रोत के अनुसार[६५] उनका कार्य अपने व्यवसायों के

५७. मजुमदार, नं० १११, पृ० २९०, पद २६।
५८. यही, नं० १७७, पृ० ४६७, पद ५४।
५९. यही, नं० ६६, पृ० १२६, पद १०२।
६०. यही, नं० ७१, पृ० १६६।
६१. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २५४।
६२. मजमदार, कम्बुज लेख, नं० १२६, पृ० ३२१।
६३. यही, नं० १८७, पृ० ५३२।
६४. यही, नं० १७१, पृ० ४३७।
६५. नारद १.७, ३.४। बृहस्पति १४.५। एपी० इन्डिका २१, पृ० ५५

अधिकारों और उनकी उपज की खपत का प्रबन्ध तथा उनके पारस्परिक झगड़ों को निपटाना तथा व्याज देकर धन जमा करना था। कम्बुज के बहुत-से लेखों में शिल्पी का भी उल्लेख है।[६६] वह 'स्थपत्याचार्य' से भिन्न था।[६७] वह केवल गृह-निर्माण से ही सम्बन्धित था। शिल्पियों का अन्य व्यवसायों से भी सम्बन्ध था और इनकी समानता कर्मार से की जा सकती है। भारतवर्ष के मध्यकालीन कमान के एक लेख में इन स्थपतियों की श्रेणी का उल्लेख है (श्रेण्या स्थपतिनाम)।[६७] सुवर्णकारों को चामीकरकार कहा जाता था और कदाचित् उनका व्यवसाय अच्छा था। उनके ब ाये हुए आभूषणों की कम्बुज में बहुत मांग थी। आभूषणों का बहुत-से लेखों में उल्लेख है और वे कई प्रकार के बनाये जाते थे। एक चीनी लेख के अनुसार कम्बुज निवासी अपने आभूषणों में नक्काशी भी करवाते थे।[६८]

कम्बुज लेखों में कुछ अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख है, जिनमें हीरा या ज्योतिषी,[६९] जापात्र जो कथाकार थे, अध्यापक, नाई (पूरक),[७०] जुलाहे (तन्तु-वाय),[७१] हाथी हांकने वाले[७२] तथा गांधिक[७३] विशेषतया उल्लेखनीय हैं। पुरोहितों में एक वंश ने राजपुरोहित पद को २५० वर्ष तक सुशोभित किया।[७४] एक अन्य

इत्यादि। श्रेणी तथा उसके संगठन और कर्त्तव्य पर प्राचीन भारतीय साहित्य तथा लेखों में उल्लेख मिलता है। चामीकरकार, सुवर्णकार अथवा हिरण्यकार का पर्याय-वाची शब्द है जिसका उल्लेख प्राचीन साहित्य तथा लेखों में मिलता है। महावस्तु ३, पृ० ४४२। बृहस्पति १५.२१। एपी० इंडिका भाग १।

६६. नं० १२६, १५८, १९२।
६७. एपी० इंडिका २४, पृ० ३३५।
६८. बु० इ० फ्रा० ३।
६९. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १९२, पृ० ५५७।
७०. यही, नं० ६७, पृ० १२६।
७१. यही, नं० १७७, पृ० ५६८।
७२. यही, नं० १५८, पृ० ४४१।
७३. यही, नं० १६१, पृ० ४२५।
७४. यही, नं० १५२, पृ० ५५७।

लेख में मध्यदेशा-मालिनी का उल्लेख है[७५] जो मन्दिरों में पुष्प लेकर जाती थी। पान बेचनेवाले ताम्बूलिक कहलाते थे।[७६] व्यवसाय चुनना जाति पर आधारित नहीं था।

एक लेख के अनुसार[७७] ब्राह्मण कुल के लोग हाथी हांकने वाले, गणिका संबंधी शिल्पी और पुरोहित होते थे। लेखों में अन्य व्यवसायों का उल्लेख नहीं-मिलता है। कुछ लेख इस बात का संकेत करते हैं कि उस देश की आर्थिक व्यवस्था में बहुत-से व्यवसायों का हाथ था जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

तौल और मान

इस सम्बन्ध में कम्बुज लेखों में विशेष सामग्री मिली है। कम्बुज देश में भारतीय तौल के मापदंडों का चलन था और वे क्रमशः 'खारिका',[७८] 'द्रोण',[७९] 'प्रस्थ'[८०] और 'कुडव'[८१] थे। 'कुडव' अन्तिम सबसे छोटा बाट था वह लगभग एक पाव के बराबर था। 'प्रस्थ' लगभग एक सेर के बराबर था। प्राचीन बटखरों में इससे बड़ा 'आढक' था पर इसका उल्लेख लेखों में नहीं है। यह चार सेर का बाट था और कदाचित् यह भी काम में लाया जाता था। १६ सेर के बाट को 'द्रोण' कहते थे और 'खारिका' सबसे बड़ा बाट था जो २५६ सेर होता था। एक लेख में[८२] ११।२ 'खारिका तंडुल' का उल्लेख है। 'अर्द्धप्रस्थ तंडूल' तथा 'द्रोण तंडुल' का भी उल्लेख मिलता है।[८३] 'काक' नामक एक और बाट का भी उल्लेख है, पर

७५. मजुमदार, नं० १३४, पृ० ६०७।
७६. यही।
७७. यही, नं० १५८, पृ० ४११।
७८. यही, नं० ६६, पृ० १२५, पद ८४।
७९. यही, कम्बुज लेख, नं० १२५, पृ० ३१६, पद १२।
८०. यही, नं० ६६, पृ० १२५।
८१. यही, नं० १७७, पृ० ४६६, पद ४१।
८२. यही, नं० ६६, पृ० १२५।
८३. यही, नं० १२५, पृ० ३१६, पद १।

इसका अनुपात नहीं निश्चित किया जा सकता है।[८४] मानों में 'पाद',[८५] 'घटी',[८६] 'तुला',[८७] 'पण'[८८] तथा 'सीस'[८९] का उल्लेख मिलता है। 'पाद' द्वारा मक्खन, दधि तथा मधु की नाप होती थी और यह १५० ग्रेन का था। घटी या कुम्हार की हांड़ी का प्रयोग घी तौलने या नापने के लिए होता था। 'घृतघटी' से इसके विशेष मान का संकेत होता है। तुला १०० पल के बराबर थी यद्यपि इसका प्रयोग अनुपात के लिए भी हो सकता है। 'पण' से मुद्रा और तौल दोनों का ही संकेत हो सकता है। यह २० माशे या ४ 'काकिणी' का होता था। 'सीस' का प्रयोग अधिकतर तन्तुवाय करते थे।[९०] इन तौल तथा माप-दंडों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि कम्बुज देश का आर्थिक जीवन पूर्णतया परिपक्व था।

व्यापार

व्यापार सम्बन्धी कुछ विषयों पर भी लेखों से जानकारी प्राप्त होती है। बिक्री के लिए शासन की ओर से अधिकारी नियुक्त होते थे। भूमि बेचते समय सीमा निर्धारित करने के लिए ग्रामवृद्ध तथा अन्य पदाधिकारी सहायता देते थे। इनके द्वारा व्यापारिक समस्याएं शीघ्र ही हल हो जाती थीं। कभी-कभी विनिमय का भी प्रयोग होता था। पर मुद्रा और अनुपात तथा मान के पैमानों से यह प्रतीत होता है कि प्रायः आर्थिक जीवन में इनका पूर्णतया प्रयोग होता था। बिक्री-कर का कहीं उल्लेख नहीं है, पर चीनी सूत्रों के अनुसार शासक को व्यापारिक कर सोना, चांदी, मुक्ता तथा गंध-वस्तु के रूप में दिया जाता था।[९१] देशीय के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी पूर्णतया विस्तृत था। एक लेख में चीनांशुक का भी

८४. 'अन्नं काकेषु दातव्यं अर्द्धप्रस्थकतण्डुलम्।' नं० ६६, पृ० १२५, पद ८३।
८५. यही, नं० १६१, पृ० ४२५।
८६. 'घृतं घटी त्रिकुडवं दधिक्षीरमधूनि तु।' यही, नं० १७७, पृ० ४६६, पद ४०।
८७. यही, पृ० ४८९, पद १४७।
८८. यही, पृ० ४६९, पद ७२।
८९. यही, पृ० ४६८, पद ६१।
९०. मोनियर विलियम्स : संस्कृत-डिक्शनेरी, पृ० १२१७.२।
९१. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७८।

उल्लेख है,[९२] जिससे प्रतीत होता है कि कदाचित् चीन से यहां रेशम आता था। एक और लेख में सम्राट् हर्षवर्मन् द्वारा शक संवत् ८४४ में वापचीन नामक व्यक्ति के माल को छोड़ देने का आदेश दिया गया है[९३] जिसमें दास, सोना, चांदी, हाथी, बैल इत्यादि थे। कदाचित् यह कोई चीनी व्यक्ति था जो कम्बुज देश में व्यापार के सम्बन्ध से आया था। लिअंग-वंश के इतिहास (ई० ५०२-५३३) के अनुसार भारत और पार्थिया से व्यापार के लिए बहुत-से व्यापारी फूनान आते थे और प्रायः हर एक वस्तु यहां बिकती थी। देश में सोना, चांदी, तांबा, टीन, हाथीदांत, मोर, मछली और पांच रंग के तोते बिक्री के पदार्थ थे। टंग-वंश के नवीन इतिहास में लिखा है कि कम्बुज (फूनान) का व्यापार उत्तर में टोंकिन और पश्चिम में भारत के साथ होता है और वहां पर हीरा, चन्दन तथा अन्य पदार्थ मिलते हैं।[९४] यहां एक प्रकार का हीरा भी मिलता था। एक और चीनी स्रोत के अनुसार[९५] पश्चिमी भारत से एक बड़ा जहाज फूनान आया था जिसमें बिक्री के लिए एक बड़ा भारी शीशा था जो नीले स्फटिक का था और उसका व्यास कोई १६ फुट ५ इंच था तथा वह लगभग ४० पौंड वजन का था। 'दक्षिण-त्सि का इतिहास' में कम्बुज देश के व्यापारिक पदार्थों में सोना, चांदी, रेशम का उल्लेख है।[९६] व्यापार अधिकतर सामुद्रिक मार्ग द्वारा ही होता था, किन्तु स्थल मार्ग का भी प्रयोग होता था। देश की उपज में कपास, मधु, तिल, चावल और अदरख, मसाले तथा इलायची थीं, जिनका एक दान के लेख में उल्लेख है।[९७] यातायात के साधनों में नावों का प्रयोग होता था और आन्तरिक व्यापार के लिए स्थल मार्ग में हाथी काम में लाये जाते थे।

सामग्री का अभाव होते हुए भी कम्बुज देश के आर्थिक जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यों का संकेत किया गया है। कम्बुज का पश्चिम में भारत और उत्तर-पूर्व में चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और खुदाई में प्राप्त सामग्री से यह भी

९२. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १७७, पृ० ४६६।
९३. यही, नं० ८२, पृ० १६७।
९४. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २७५।
९५. यही, पृ० २८३।
९६. यही, पृ० २६१।
९७. यही, नं० ५३, पृ० ५७।

प्रतीत होता है कि इस देश का रोम के साथ भी व्यापार होता था। देश की उपज अधिक थी और इसी लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति भी बढ़ती जाती थी। समृद्धिशाली होने के नाते समय-समय पर घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के होते हुए भी देश अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सका। भारतीय औपनिवेशिकों ने देश के समृद्धिशाली होने में पूर्ण रूप से अंशदान दिया। कम्बुज शासकों तथा जनता ने बहुत-से सार्वजनिक कार्यों के लिए दान दिये। जयवर्मन् सप्तम ने बहुत-से अस्पताल बनवाये। यह खेद का विषय है कि कम्बुज के लेख उक्त देश के व्यवसायों का पूर्ण रूप से उल्लेख नहीं कर सके और न कोई वहां की मुद्रा ही मिली। लेकिन इसमें सन्देह नहीं है कि आर्थिक जीवन में तौल तथा मान और मुद्राओं का प्रयोग होता था।

अध्याय ९

शिक्षा और साहित्य

कम्बुज के लेखों से उक्त देश की शिक्षाप्रणाली तथा साहित्य का पूर्णतया ज्ञान होता है। कम्बुज देश में भारतीय शैक्षिक परम्परा का अनुकरण किया गया था, जैसा कि अध्ययन विषय, शिक्षा प्रणाली, विभिन्न स्तर के शिक्षक, शैक्षिक केन्द्र इत्यादि से प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के तीनों अंगों; संस्कृत, पालि और प्राकृत को अपनाया गया, यद्यपि संस्कृत को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। एक लेख में[1] गुणाढ्य का भी उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा के भी अध्ययन का प्रचार था, पर प्राकृत भाषा में कोई लेख नहीं मिला है। कदाचित् यह प्रतीत होता है कि कम्बुज में आये हुए ब्राह्मण आगन्तुओं ने अपनी भाषा की शिष्टता को पवित्र रखना चाहा। लेखन के लिए ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग हुआ, यद्यपि कहीं-कहीं पर दक्षिणी पल्लव लिपि में भी लेख मिले हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में मतभेद रहा है[2] और इसी आधार पर यहां के भारतीय औपनिवेशिकों का उद्गम स्थान उत्तरी अथवा दक्षिणी भारत माना गया है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन कम्बुज देश में विदेशियों का अभाव न था और स्त्रियों को अपनी बुद्धि के आधार पर ज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। शैक्षिक क्षेत्र में भारत के साथ में भी कम्बुज देश का सम्बुन्ध रहा और यहां से विशेष विषयों की शिक्षा के लिए भारतीय विद्वान् बुलाये जाते थे। कभी-कभी कम्बुज के पंडित भी भारत में अध्ययन के लिए आते थे। शिक्षाकेन्द्रों में आश्रमों

१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६२, पृ० ९३, तथा ६३, पृ० १०५। 'पारदः स्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।' पृ० १०९, पद ६९।

२. देखिए, बी० आर० चटर्जी, इंडियन कल्चरल-इन्फ्ल्यूयंस (इ० क० ०, पृ० १११ से)।

का विशेष स्थान था। कुछ विद्वान् ब्राह्मण भी अपना विद्यार्थी-आश्रम बनाये हुए थे। उनका साहित्यिक प्रयास किसी प्रकार कम न था। उन्होंने नवीन ग्रन्थों की भी रचना की। जैसे यशोवर्मन् ने 'महाभाष्य' पर टीका लिखी है। इस अध्याय में हम अध्ययन विषयों, शिक्षक और विद्यार्थी, शैक्षिक सम्पर्क, शिक्षा स्थान, बौद्ध तथा साहित्यिक रचनाओं इत्यादि विषयों पर लेखों के आधार पर विचार करेंगे।

अध्ययन विषय

विद्यार्थी और शिक्षक की इच्छा तथा विद्वत्ता के अनुकूल विषयों का पठन-पाठन होता था। इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवशोम ने शास्त्र, वेद, तर्क, काव्य, पुराण, भारत, शेष, कदाचित् महाभारत और व्याकरण का अध्ययन किया था।[३] जयवर्मन् तृतीय के शिक्षक भागवत का पिता शिवस्वामी भी वेद, व्याकरण, तर्क में पारंगत था।[४] कवीन्द्र पंडित ने भी पंच व्याकरण (पंचव्याकरणान्तगः) शब्द, अर्थ, आगम शास्त्र, काव्य, सम्पूर्ण महाभारत तथा रामायण का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था।[५] सम्राट् यशोवर्मन् के विषय में कहा जाता है कि वह सब शास्त्रों तथा शस्त्रों में पारंगत था तथा शिल्प शास्त्र, लिपि, भाषा, नृत्य, गीत तथा विज्ञान आदि का अच्छा पंडित था, और उसने महाभाष्य पर टीका लिखी थी।[६] उसके पहले के भी कम्बुज के सम्राटों को विद्वान् तथा धर्मशास्त्रज्ञाता कहा गया है। भववर्मन् स्वयं बड़ा विद्वान्

३. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५८, पृ० ७०, पद ७, ८।
'श्रीस्वामी यस्य च पिता वेदव्याकरणोत्तमः।
तर्काभिपारगो विप्रो ब्रह्मैवैकं मुखन्दधत्॥'

४. यही, नं० ५८, पृ० ७१।
'वेदव्याकरणोत्तमः तर्काभिपारगः।'

५. यही, नं० १३१, पृ० ३३७।
'शब्दार्थागमशास्त्राणि काव्यं भारतविस्तरम्।
रामायणं च योऽधीत्य शिष्यानप्यध्यजीगपत्॥' (पद २८)

६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६१, पृ० ८६, पद ५१।
'यः सर्वशास्त्रशस्त्रेषु शिल्पभाषालिपिष्वपि।
नृत्तगीतादिविज्ञानेष्वादिकर्तेव पण्डितः॥'

था। ईशानवर्मन् का पदाधिकारी विद्वान् विद्याविशेष शब्द-वैशेषिकज्ञ था और न्याय के विभिन्न क्षेत्रों में उसका अच्छा ज्ञान था[७] (न्यायसमीक्ष्यसुगताध्वनाम्)। वेद-वेदांगों में धर्मपुर के विद्वान् ब्राह्मण धर्मस्वामी की विशेष रुचि थी।[८] वेदांगों के अन्तर्गत शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और काव्यों का अध्ययन होता था। ज्योतिष में लोगों की विशेष रुचि थी और होराशास्त्र का उल्लेख मिलता है।[९] राजाओं में सूर्यवर्मन् द्वितीय भी कई विषयों, जैसे भाष्य, काव्य, षड्दर्शन, धर्मशास्त्र[१०] में पारंगत था। जयेन्द्र पंडित ने श्री उदयादित्यवर्मदेव को सिद्धान्त, व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा दी थी।[११] इसी लेख में गंधर्वविद्या, शिल्पविद्या, होराशास्त्र तथा चिकित्सा का भी उल्लेख मिला है। अथर्ववेद और सामवेद का भी उल्लेख कई लेखों में है और इन्द्र-अहल्या वृत्तांत का उल्लेख सूचित करता है कि वैदिक कथाओं से वे अनभिज्ञ न थे।[१२] शैव व्याकरण से अष्टाध्यायी का संकेत है। रामायण, महाभारत और पुराणों का भी अध्ययन होता था। सब पुराणों का नाम लेखों में नहीं मिलता है, किन्तु सावित्री, वासुदेव, कंसवध तथा हिरण्यकश्यप आदि की कथाओं से यह प्रतीत होता है कि देश में पौराणिक कथाएं प्रचलित थीं।[१३] लेखों के रचयिताओं ने मनुस्मृति से भी बहुत कुछ उद्धृत किया है।[१४] कालिदास के ग्रन्थ मुख्यतया 'रघुवंश' से भी विद्वान् परिचित थे क्योंकि दक्षिणा और दिलीप का एक लेख में उल्लेख है,[१५] जिसमें रुद्रवर्मन् के साम्राज्य की तुलना दिलीप के राज्य से की गयी है। कालिदास के अतिरिक्त

७. यही, नं० १५, पृ० २२, पद ८-९।
८. यही, नं० ३४, पृ० ४५।
९. यही, नं० १५३, पृ० ३६५।
१०. यही, नं० १७३, पृ० ४५१।
११. यही, नं० १५२, पृ० ३६९।
१२. यही, नं० ६५, पृ० ११२।
१३. यही, पृ० ७३, २३१।
१४. यही, नं० ६६, पृ० १२३, पद ६३, ६४।
१५. यही, नं० ३०, पृ० ३९, पद २। 'यस्य सौराज्यमद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम्।'

भारवि, वसुबन्धु तथा गुणाढ्य का भी उल्लेख है। प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध', 'सिंहावलोकितन्याय' तथा गौतम के 'न्यायसूत्र' का भी एक लेख में उल्लेख है।[१६] कदाचित् कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी जानकारी थी।[१७] संस्कृत के अलंकारों का अच्छी तरह से प्रयोग किया गया है और इससे यह प्रतीत होता है कि लेखरचयिताओं को छन्दःशास्त्र का पूर्णतया ज्ञान था। उपर्युक्त उदाहरणों से यह प्रतीत होगा कि शिक्षा के लिए वैदिक विषय, वेद तथा वेदांग, व्याकरण, मुख्यरूप से पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' जिसका उल्लेख कई लेखों[१८] में है तथा एक में तो एक सूत्र ही उद्धृत है, 'महाभाष्य', तर्क तथा 'षट्दर्शन', जिसमें योग और सांख्य का विशेष रूप से उल्लेख है,[१८] शब्द, उसकी ध्वनि और स्फोट तथा अर्थ जिससे 'निरुक्त' का भी संकेत है, श्रुति[१९], धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण, ज्योतिष (होराशास्त्र) तथा चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन होता था।[२०] उपनिषदों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर कदाचित् श्रुति के अन्तर्गत ये भी थीं। रामायण तथा महाभारत के रचयिता क्रमशः वाल्मीकि तथा व्यास का तथा प्रमुख पात्रों का भी उल्लेख मिलता है।[२१] संस्कृत साहित्य ने कम्बुज में अपना यथेष्ठ स्थान बना लिया था और इसका विस्तृत रूप से आगे वृत्तान्त दिया जायगा।

शिक्षक और विद्यार्थी

लेखों में उपाध्याय[२२] तथा अध्यापक[२३] का उल्लेख मिला है। विद्यार्थियों

१६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६३, पृ० ९७।

१७. 'धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ।' यही, नं० ३०, पृ० ३९, पद ६।

१८. यही, नं० ६४, पृ० १०७, पद ८४। नं० ९७, पृ० २३३। नं० १९०, पृ० ५४४।

१९. यही, नं० ९३, पृ० २१८, पद २१०।

२०. एक लेख में सुश्रुत का नाम मिला है (नं० ६१, पृ० ८५, पद ४९) ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता होराज्ञ कहलाते थे। (नं० ७४, पृ० १५६, पद ८)।

२१. यही, नं० ६४, पृ० ११०, पद ८१। नं० ४१, पृ० ५१।

२२. यही, नं० ७, पृ० १३०।

२३. यही, नं० १९०, पृ० ५४४।

को अन्तेवासिन् अथवा शिष्य कहते थे। शिवशोम का एक शिष्य जिसने भगवान् शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था, श्री इन्द्रवर्मेश्वर क्षेत्र में उपाध्याय नियुक्त हुआ था।[२४] इसी प्रकार से परमेश्वर के मंदिर में विजय की उपाध्याय पद पर नियुक्ति हुई थी।[२५] जयमहाप्रधान का दौहित्र जयमंगलार्थ श्री इन्द्रजयवर्मन् के समय में अध्यापक पद पर नियुक्त हुआ था।[२६] अध्यापक तथा उपाध्याय पदों में भिन्नता दिखाना कठिन है। पर शब्दकोश के अनुसार 'उपाध्याय' केवल वेद, वेदाङ्ग और व्याकरण के खंड अध्यापन से ही अपनी जीविका चलाता था। ये दोनों आचार्य से भिन्न थे। मंदिर विद्या के केन्द्र थे और यहां पर शिक्षक और विद्यार्थी रहते थे तथा उनको भोजन तथा स्थान मिलता था। इनमें स्त्रियां नहीं रह सकती थीं, पर उनके पढ़ने का अलग प्रबन्ध था। लेखों में बहुत-से विदेशियों का भी उल्लेख मिलता है तथा शिक्षित स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं। योगेश्वर पंडित की एक विख्यात शिष्या जनपदा थी जिसने केशव नामक ब्राह्मण से विवाह किया था।[२७] जयवर्मन् सप्तम की प्रथम रानी ने भी अपनी बड़ी बहिन से शिक्षा पायी थी जो स्वयं विदुषी थी और बौद्ध आश्रमों में शिक्षा देती थी। अपनी छोटी बहिन के मरने के बाद उसने सम्राट् से विवाह कर लिया।[२८] एक अन्य लेख में तिलका नामक एक विदुषी का उल्लेख है जिसने वागीश्वरी भगवती की उपाधि प्राप्त की थी।[२९] इन लेखों से गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु जिस आधारशिला पर शिक्षा अथवा शैक्षिक परम्परा की नींव डाली गयी थी उसके अन्तर्गत गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र की भाँति था।

शैक्षिक सम्पर्क

लेखों से यह ज्ञात होता है कि भारत से समय-समय पर गये हुए विद्वानों से

२४. **मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५४, पृ० ५८।**
२५. **यही, नं० १२६, पृ० ३१९।**
२६. **यही, नं० १९०, पृ० ५४१।**
२७. **यही, नं० १४८, पृ० ३५५।**
२८. **यही, पृ० ५७५।**
२९. **यही, नं० १७३, पृ० ४००।**

इनको बड़ा प्रोत्साहन मिला था और इसी लिए भारत के साथ शैक्षिक सम्पर्क बना हुआ था। कम्बुज में भारतीय विद्वान् आगन्तुकों में आर्यावर्त का निवासी अगस्त्य वेद और वेदांगों में पारंगत था।[३०] सर्वज्ञ मुनि नामक आर्यावर्त निवासी ब्राह्मण चारों वेदों और आगमों का ज्ञाता तथा शिवभक्त था। कम्बुज देश में आकर उसने तथा उसके वंशजों ने उच्च पदों को सुशोभित किया।[३१] हिरण्यदाम नामक तांत्रिक शिवकैवल्य को 'ब्रह्मविमानशिव', 'नयोत्तर', 'संमोह' तथा 'शिरच्छेद' नामक चार ग्रन्थों में शिक्षा देने के लिए भारत से कम्बुज आया था।[३२] भारत के अतिरिक्त नरपति देश (कदाचित् ब्रह्मा) से जयमहाप्रधान नामक ब्राह्मण कम्बुज के विद्वानों के साथ सम्पर्क स्थापित करने वहां आया था।[३३] कम्बुज देश से जो विद्वान् शिक्षा प्राप्त करने भारत गये उनमें इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवशोम ने भगवान् शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था।[३४] सिडो के मतानुसार गौड़ शैली में लिखे कुछ लेख यह संकेत करते हैं कि इनके लेखक या तो पूर्वी भारत के रहनेवाले थे अथवा कुछ दिन वहां रह चुके थे।[३५] भारत के साथ शैक्षिक सम्पर्क इनके शिक्षा के स्तर को उच्च करने में सहायक सिद्ध हुआ।

शिक्षण केन्द्र

धार्मिक आश्रम और मंदिर ही शिक्षा के केन्द्र थे। यशोवर्मन् ने इस प्रकार के १०० आश्रम तथा प्रत्येक के साथ में एक-एक मंदिर का निर्माण किया था।[३६] इनका

३०. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १०८। कम्बुज लेख, नं० ६०, पृ० ७४।

३१. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १९१, पृ० ५४८।

३२. यही, नं० १५२, पृ० ३६३।

३३. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १९०, पृ० ५४१।

३४. सिडो, इंसक्रिप्शंस कम्बुज (इ० क० १, पृ० ३७)। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ० १०९ तथा कम्बुज लेख, नं० ५८, पृ० ७०। नीलकंठ शास्त्री, 'जरनल ओरिंटियल इंस्टीट्यूट मद्रास, ११, नं० ३, पृ० २८५। कुछ विद्वानों का विचार है कि इसमें स्वामी शंकराचार्य का संकेत है। मजुमदार, पू० सं०। पर नीलकंठ शास्त्री ने इसका विरोध किया है। (पू० सं०)।

३५. मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ० १६२। कम्बुज देश, पृ० १०९।

३६. यही, नं० ६१, पृ० ८२ तथा अन्य सम्बन्धित लेख।

प्रमुख 'कुलाध्यक्ष' कहलाता था। लेखों में इनके प्रशासन सम्बन्धी नियम भी दिये हुए हैं। वैष्णव आश्रमों में इस तरह सुविधाएं प्रदान की जाती थीं—आगन्तुकों के आदर-सत्कार के सम्बन्ध में, वैष्णव आश्रम में तीन वेदों के ज्ञाता, आचार्य, शाब्दिक, ब्रह्मचारी पूर्व क्रम से आदर पात्र थे। पंचरात्र और व्याकरण के शिक्षक को विशेष आदर स्थान प्राप्त था। शैव आश्रमों में शैव और पाशुपत आचार्यों तथा वैयाकरणों को आदरणीय स्थान और सुविधाएं प्राप्त थीं। शिक्षक ज्ञाता से अधिक मान्य था। बौद्ध आश्रमों में भी विद्वान् ब्राह्मणों को केवल बौद्ध व्याकरण और सिद्धान्त के ज्ञाता से उच्च स्थान प्राप्त था। बौद्ध धर्म तथा व्याकरण में से किसी एक का शिक्षक इन विषयों के ज्ञानी से अधिक आदरपात्र समझा जाता था।[३७] सभी आश्रमों में दो लेखक, दो पुस्तकरक्षक और दो राजकुटीपाल तथा छः पत्रकार रहते थे।[३८] ये आश्रम शिक्षाकेन्द्र थे और इनमें जातीयता को स्थान न था। ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए पत्रकारों की नियुक्ति की जाती थी। लेखनी तथा दावात (मसी) और ताम्रपत्रों का भी उल्लेख है।[३९] एक लेख में आश्रम के लिए सम्पूर्ण शास्त्रों की हस्तलिखित प्रतिलिपि के दान का उल्लेख है।[४०] एक अन्य लेख में ब्राह्मण दिवाकर द्वारा द्विजेन्द्रपुर में स्थापित विद्याश्रम का उल्लेख है जहां विष्णु-महेश्वर की मूर्ति स्थापित की गयी थी।[४१] आश्रमों में अध्यापक तथा अन्तेवासियों के लिए राज्य तथा उच्च श्रेणी के पुरुषों की ओर से सहायता के अतिरिक्त कृषीवलों तथा व्यापारियों से भी अन्न तथा वस्त्र प्राप्त होता था।[४२] वन्तेश्राई के जयवर्मन् पंचम के शक सं० ८९० के लेख में[४३] मन्दिर के अध्यक्ष को आदेश दिया गया है कि वहां अध्यापकों द्वारा बराबर वेद का पाठ होता रहे (**अध्यापकेन चाच्छिन्नं ब्रह्मसत्रमतन्द्रिणा**) (पद ३८)। ये ही आश्रम

३७. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६७, पृ० १३०, पद ५८।
३८. यही, पृ० १२६, पद ९८।
३९. यही, नं० ६७, पृ० १३१, पद ८४।
४०. यही, नं० १७३, पृ० ४४०।
४१. यही, नं० ११२, पृ० २९३।
४२. यही, नं० १७७, पृ० ४६०।
४३. यही, नं० १०२, पृ० २७१।

विद्या के बड़े केन्द्र थे और यहीं से ब्राह्मण तथा बौद्ध विद्वान् शिक्षा प्राप्त कर निकलते थे।

बौद्ध शिक्षा

तेप-प्रानम के लेख में[४४] यशोवर्मन् द्वारा बौद्ध आश्रमों के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है। इस प्रकार के बहुत-से बौद्ध शिक्षाकेन्द्र थे जो सौगताश्रम के नाम से प्रसिद्ध थे। यहां बौद्ध धर्म और व्याकरण का अध्ययन होता था। जयवर्मन् पंचम का मंत्री कीर्तिवर्मन् नामक एक विद्वान् विदेशों से बहुत-से ग्रन्थ लाया था और उसने माध्यमिक शास्त्र की ज्योति यहां जलायी थी।[४५] सूर्यवर्मन् ने भी बौद्ध शिक्षा के प्रसार में अनुदान दिया और उसने एक केन्द्र भी खोला। जयवर्मन् सप्तम की द्वितीय सम्राज्ञी इन्द्रादेवी ने सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया था और वह नगेन्द्रतुंग, तिलाकोट्टर तथा नरेन्द्र आश्रम की बौद्ध भिक्षुणियों को शिक्षा देती थी। उसने अपनी छोटी बहिन को भी जो सम्राट् की प्रथम पत्नी थी, शिक्षा दी थी और चम्पा से विजय प्राप्त कर लौटने के पश्चात् सम्राट् के सम्मान में उसने एक नाटक खेला था जो जातकों के आधार पर रचा गया था।[४६] इसमें भिक्षुणियों तथा अन्य लड़कियों ने भाग लिया था। बौद्ध शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा का भी बौद्ध आश्रमों में समुचित प्रबन्ध था। यहां बौद्ध साहित्य तथा व्याकरण और शास्त्रों के अतिरिक्त योगाचार दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी।[४७]

राजकीय प्रशिक्षण

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, विचार तथा शिक्षा का कम्बुज देश में इतनी तेजी से प्रसरण न होता यदि राजकीय प्रोत्साहन का अभाव होता। ज्ञान के क्षेत्र में यशोवर्मन्, सूर्यवर्मन् द्वितीय और जयवर्मन् सप्तम ने विशेषतया केन्द्रों की स्थापना कर शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। वे कवियों को भी प्रोत्साहित करते थे और

४४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ६७, पृ० १२७।
४५. सिडो, ए० हि०, पृ० २०१।
४६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८२, पृ० ५१५।
४७. यही, नं० ९७, पृ० २३३, २७५।

देश में उस प्रकार के कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता था, जैसा कि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है। जयवर्मन् तृतीय का गुरु भागवत कवि था जो श्रीनिवास कवि कहलाता था और उसने अन्य पृथ्वीन्द्र पंडित की उपाधि प्राप्त की थी तथा उसे एक सोने की पालकी भी मिली थी।[४८] जयेन्द्र पंड़ित के एक शिष्य फलप्रिय को भी कवीन्द्र पंडित की उपाधि से सुशोभित किया गया।[४९] यह प्रतीत होता है कि कवि-सम्मेलनों में कभी-कभी इस प्रकार की प्रतियोगिता भी होती थी। एक लेख में शूर का अपने प्रतिद्वन्द्वी मीमक को हराने का उल्लेख है[५०] तथा इसी लेख में एक और कवि मौर्य का भी नाम है। राजकुमार की शिक्षा के लिए पुरोहित विद्वानों की नियुक्ति होती थी। यशोवर्मन् की शिक्षा शिवशोम के शिष्य वामशिव द्वारा हुई थी जो इन्द्रवर्मन् का भी शिक्षक था।[५१] जयेन्द्रवर्मन् ने श्री उदयादित्यवर्मदेव को शिक्षा दी थी।[५२] जयवर्मन् की तुलना पाणिनि से की गयी है।

साहित्य और लेखन-कला

ग्रन्थों के अध्ययन का उल्लेख पहले ही हो चुका है। वेद, वेदांग, सूत्र, न्याय, व्याकरण, षड्दर्शन, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति, काव्य, छन्द, संस्कृत साहित्य के दिग्गज कालिदास, भारवि तथा अन्य साहित्यकारों की रचनाओं, मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन कामसूत्र इत्यादि का कम्बुज में अध्ययन होता था। लेखों से प्रतीत होता है कि प्रशस्तिकार शुद्ध संस्कृत लिख सकते थे और साहित्यिक क्षेत्र में उनका अच्छा मान था। कम्बुज के विद्वान् भी भारतीय साहित्य में अपना अंशदान दे रहे थे। यशोवर्मन् ने स्वयं महाभाष्य पर टीका लिखी थी। विद्वानों की कमी न थी। भारतीय साहित्य कम्बुज देश में मूल रूप में ही पहुंचा था और उसको सुरक्षित रखने का पूर्णतया प्रयास किया गया।

४८. मजुमदार, नं० ५८, पृ० ७१।
४९. यही, नं० १५७, पृ० ४००।
५०. यही, नं० ६४, पृ० १०५।
५१. यही, नं० १५६, पृ० ३८५।
५२. यही, कम्बुज लेख, नं० १५२, पृ० ३६३।

यशोवर्मन् के आश्रम-नियम सम्बन्धी लेखों में लेखक और पत्रकारों का उल्लेख है जो मूल ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनाते थे। कम्बुजनिवासियों का साहित्यिक संग्रह विस्तृत था। वेदों, रामायण, महाभारत और पुराणों से उद्धृत आख्यान तथा आख्यायिकाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्मृतियों से श्लोक उद्धत किये गये हैं तथा साहित्य के पात्रों से कम्बुजशासकों की उपमाएं दी गयी हैं। अलंकार और छंद का पूर्णतया ज्ञान था। वहां की लेखन-शैली भारतीय पल्लव अथवा उत्तर भारत की लिपि से मिलती थी और भारतीय वर्णमाला का भी प्रयोग होता था। त्सिन-वंश के इतिहास में, जिसमें २६५ से ४१९ ई० तक का विवरण है, फूनान की लिपि और वर्णमाला का उल्लेख है जो हू प्रान्त (मध्यभारत) से मिलती-जुलती थी।[५३] एक दूसरे ग्रन्थ टोंग-टिएन के, जिसकी रचना ८वीं शताब्दी में हुई थीं और जो एक प्रकार का विश्वकोष है, अनुसार कम्बुज लिपि व वर्णमाला भारतीय थी। इस देश में संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में लिखे लेख इसकी पुष्टि करते हैं।

कम्बुज देश के शिक्षाप्रणाली सम्बन्धी विविध विषयों पर इस अध्याय में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। यह पूर्णतया विदित है कि वहां भारतीय शैक्षिक परम्परा को अपनाया गया। यहां तक कि लेखों में विद्या को धन, वंश, आय तथा दान से भी ऊपर माना गया है। देश की राजनीतिक स्थिति भी साहित्यिक प्रगति के प्रतिकूल न थी। उदारचित्त कम्बुजशासक स्वयं विद्वान् थे और उन्होंने विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार किया। भारत से आये ब्राह्मणों के राजवंश में विवाह के कई उदाहरण मिलते हैं।

५३. बु० इ० फ्रा० ३, पृ० २५४।

अध्याय १०

धर्म

कम्बुज देश का प्राचीन इतिहास वास्तव में ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण शासकों की सफलताओं का प्रतीक है। भारत से सर्वप्रथम कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण दैवी प्रेरणा से वहां गया और उसने देश को भारतीय संस्कृति और धर्म प्रदान किया। चीनी सूत्रों के अनुसार भारतीय शासक ने यहां के निवासियों को वस्त्र पहनना सिखाया। स्याम की खाड़ी से १६ मील दूर ओसियो नामक स्थान में की गयी खुदाई तथा अन्य स्थानों के पुरातात्त्विक अवशेष इस बात के साक्षी हैं कि भारतीयों के आगमन के पहले यहां पाषाण युग की सभ्यता थी।[१] भारतीय संस्कृति और धर्म को इन ब्राह्मणों, व्यापारियों तथा पुरुषार्थियों ने जाकर इस देश में पहुंचाया और समय-समय पर बराबर भारत से विद्वान् ब्राह्मण यहां पहुंचते रहे। इसी के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म, संस्कृत भाषा और वर्ण व्यवस्था ने यहां अपना स्थान तथा प्रभाव जमा लिया था। बौद्ध धर्म यहां बाद में पहुंचा, किन्तु सूर्यवर्मन् प्रथम तथा जयवर्मन् सप्तम आदि सम्राटों से इसे प्रोत्साहन मिला और उन्होंने तथागत के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की, पर राजकीय धर्म, जो देवराज के नाम से प्रसिद्ध था, उनके लिए मान्य था। ब्राह्मण आगन्तुकों में प्रथम कौण्डिन्य ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग और दूसरा चौथी के अंत अथवा पांचवी के आरम्भ में फूनान आया था और यहां के निवासियों ने इन दोनों आगन्तुकों का सत्कार ही नहीं किया, वरन् उन्हें अपना शासक भी चुन लिया। इन्होंने यहां भारतीय विधान, संस्कार तथा रीतिरिवाज प्रचलित किये। एक चीनी सूत्र के अनुसार फूनान के अधीन एक उपनिवेश में लगभग एक हजार से ऊपर ब्राह्मण रहते थे और एक ख्मेर किंवदन्ती

१. सिडो, ए० हि०, पृ० ६९। मेलैरे, वि० इ० हि० ए० आ० १९४०-७, पृ० ५१।

के अनुसार कम्बुज देश में जावा से भी ब्राह्मण आये थे।[२] जावा के ब्राह्मणों के आगमन से यहां की राजनीति पर कुछ प्रभाव पड़ा। भारत से हिरण्यदाम नामक तांत्रिक ब्राह्मण शिवकैवल्य को तंत्र विद्या सिखाने गया था जिसके वंशज २५० वर्ष तक राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे। आगन्तुक ब्राह्मणों का देश में बड़ा मान होता था।

लेखों में ब्राह्मण धर्म की विभिन्न विचारधाराओं के प्रचलन का भी उल्लेख है। जैसे यज्ञ, भक्ति, तप, तंत्र इत्यादि। शिव की पूजा लिंग तथा पार्थिव रूप में की जाती थी। वैष्णव धर्म भी प्रचलित था और लेखों में विष्णु के भी बहुत-से नाम मिलते हैं। त्रिमूर्ति तथा बहुत-से ब्राह्मण देवताओं तथा देवियों का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। संयुक्त मूर्त्तियों की स्थापना में शंभु, विष्णु, शंकर, नारायण तथा हर और अच्युत का भी उल्लेख है। इस प्रकार की संयुक्त मूर्तियों की स्थापना का चलन उत्तरी भारत में भी था। वैदिक यज्ञ भी किये जाते थे और तपस्वियों का अभाव न था। इससे प्रतीत होता है कि देश में ब्राह्मण धर्म अपने सभी स्वरूपों में विद्यमान था जिनमें देवताओं की उपासना, यज्ञ, तप इत्यादि सम्मिलित थे। इस सम्बन्ध में लेखों के आधार पर विधिवत् विचार करना आवश्यक है।

शैव मत

शैवमत राजकीय धर्म था और बौद्ध शासक भी इसको मानते थे। इसको देवराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था, जिसमें कदाचित् तीन धाराओं का समावेश था; ऊंचे स्थान पर लिंग की स्थापना करना, शासक को किसी देवता का स्वरूप मानना और पितरों की उपासना तथा उनकी मूर्ति स्थापित करना। इस मत का तंत्रवाद से भी सम्बन्ध था और हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण ने व्रहः विनाशिख के अनुसार एक धार्मिक क्रिया की तथा 'व्रह विनाशिख', 'नयोत्तर संमोह' और 'शिरच्छेद' नामक ग्रंथों की शिवकैवल्य को शिक्षा दी। इनमें से प्रथम तीन के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है, पर 'शिरच्छेद' से देवी के आगे शीश काटकर चढ़ाने का संकेत होता है, जिसका उल्लेख 'कथासरित्सागर' तथा 'हितोपदेश' में मिलता है और इसका भारतीय शिल्पकला में भी चित्रण है। इस मत के अनुसार राष्ट्र

२. सिड़ो, ए० हि०, पृ० ६९।

और धार्मिक संघ का एकीकरण किया गया है और इसमें शिव-शक्ति की उपासना के अतिरिक्त पूर्वजों की उपासना तथा सम्राट् को देवता स्वरूप माना गया है। इसलिए वेओन के मंदिर में देवताओं के अतिरिक्त देश के शासकों की मूर्तियां भी स्थापित हैं। इस मत पर आगे चलकर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा। शैव धर्म को सैद्धान्तिक रूप से शिव-पार्वती की मूर्तियों द्वारा ही प्रदर्शित किया गया है। वट-विहार मंदिर में मिले लेख[३] में शिव और पार्वती का उल्लेख है और इन दोनों की मूर्तियां भी उस मन्दिर में मिलीं, जिसमें पार्वती शिव की बांयीं जांघ पर बैठी दिखायी गयी हैं। सम्राट् इन्द्रवर्मन् ने भी शिव तथा तीन अन्य देवताओं की मूर्त्तियों की स्थापना शक सं० ८०१ (८७९ ई०) में की थी।[४] अमरभव नामक एक साधु ने भी, जो यशोवर्मन् और इन्द्रवर्मन् का कृपापात्र था, शिव की एक सोने की उत्सव-मूर्त्ति बनवायी थी, जिसे जुलूस में ले जाया जाता था।[५] वन्ते-श्राई में रावण द्वारा कैलास उठाने का प्रयास बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित है और उसमें शिव और पार्वती एक साथ बैठे दिखाये गये हैं। एक लेख में[६] यज्ञवराह द्वारा उमा-महेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है तथा एक दूसरे लेख में[७] शिव और दुर्गा की मूर्तियों की स्थापना का विवरण मिलता है।

शिवलिंग की स्थापना भी कई लेखों में उल्लिखित है। बहुत-से लेखों में उपासक के नाम पर शिवलिंग का नामकरण किया गया है। शिवरुद्र के वैदिक नामों में शंभु, गिरीश, त्रियम्बक, शंकर, महेश्वर तथा ईशान का लेखों में उल्लेख है। दानियों द्वारा रखे गये नाम, जैसे आम्रातकेश्वर,[८] गंभीरेश्वर,[९] पिंगलेश्वर,[१०] सिद्धेश्वर[११]

३. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ७, पृ० ८।
४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५५, पृ० ६१।
५. यही, नं० ७५, पृ० १५७।
६. यही, नं० १०२, पृ० २७१।
७. यही, नं० ६१, पृ० ८१।
८. यही, नं० २८, पृ० ३६, नं० ३४, पृ० ४४।
९. यही, नं० ४-५, पृ० ७।
१०. यही, नं० ३४, पृ० ४४।
११. यही, नं० ९३, पृ० १९४।

इत्यादि भी मिलते हैं। लेखों में शिव का वर्णन तथा उनकी स्तुति भी की गयी है। उनके शीश पर गंगा तथा इन्दु विराजमान हैं। एक लेख में शिव की आठ प्रकार की मूर्ति (अष्टमूर्ति) की स्थापना का उल्लेख है।[१२] कदाचित् उससे आठ शैव मन्दिरों के निर्माण का संकेत होगा। मूर्ति स्थापना के लिए बड़े और ऊँचे मन्दिर बनाये जाते थे। एक लेख में ८१ फुट की ऊँचाई पर शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है।[१३] लिंग के साथ अन्य मूर्तियों की स्थापना की जाती थी। राजेन्द्रवर्मन् के मेबोंन के लेख में एक लिंग और पार्वती की ही दो मूर्तियों, विष्णु और ब्रह्मा की मूर्तियों एवं अपने नाम पर एक शिवलिंग की स्थापना का विवरण है।[१४] ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति का कई लेखों में उल्लेख है।[१५]

शैव मत के अनुयायी विभिन्न समुदायों में विभाजित थे। जयवर्मन् प्रथम के समय के एक लेख में[१६] एक याज्ञिक का उल्लेख है जो पंचरात्र क्रियाओं का पूर्ण रूप से ज्ञाता था। भववर्मन् के नोम प्रह लेख में[१७] विद्यापुष्प नामक सम्राट् के एक अधिकारी के दानों का उल्लेख है। यह व्यक्ति पाशुपत सम्प्रदाय का आचार्य था। इस लेख का विशेषतया महत्त्व है क्योंकि यह चाओ-ता-कुएन के, जो १२९६ में चीन से कम्बुज आया था, दिये हुए पाशुपत वृत्तान्त की पुष्टि करता है। इसका उल्लेख यशोवर्मन् के आश्रम सम्बन्धी लेखों में भी है जिसमें शैव तथा पाशुपत सिद्धान्तों के शिक्षक को अधिक आदर का पात्र समझा गया है। शिव की प्रधानता कला के क्षेत्र में भी रही, जैसा कि वहाँ के मन्दिरों से ज्ञात होता है और इसका विस्तृत रूप से उल्लेख कला के अध्याय में किया जायगा।

वैष्णव मत

विष्णु की उपासना कई लेखों में की गयी है तथा उनको वासुदेव, माधव,

१२. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५६, पृ० ६७, पद २५।

१३. यही, नं० ८५, पृ० १७२।

१४. यही, नं० ९३, पृ० १९४।

१५. यही, नं० ७४, पृ० १५५ ७। नं०८, पृ० १६१। नं० ९७, पृ० २३३ इत्यादि।

१६. यही, नं० २७ (अ), पृ० ५६०।

१७. यही, नं० १०, पृ० ११।

हरि, नारायण, कृष्ण, पद्मनाभ त्रिविक्रम इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। एक प्राचीन लेख में[१८] गुणवर्मन् द्वारा विष्णु देवता की मूर्ति के प्रति दिये हुए दान का उल्लेख है और इसे स्वामिन् कहा है। जयवर्मन् की महिषी कुलप्रभावती ने कुरुम्बनगर में जहां ब्राह्मण रहते थे, विष्णु देवता की एक मूर्ति स्थापित की थी। कम्बुज देश का यह सबसे प्राचीन लेख है और इसमें सम्राट् की समानता फूनान के राजा जयवर्मन् से की गयी है जिसने ४७४ से लेकर ५१४ ई० तक राज्य किया। एक और लेख में इनके पुत्र गुणवर्मन् द्वारा चक्रतीर्थ-स्वामिन् विष्णु के पदचिह्नों की स्थापना का उल्लेख है।[१९] जयेन्द्रवर्मन् के पुत्र अमृतगर्भ ने ८८३ ईसवी में हरि के एक मंदिर की स्थापना की।[२०] एक अन्य लेख में[२१] यशोवर्मन् के समय में विष्णु की एक मूर्ति की स्थापना सम्राट् के मामा ने की थी तथा उसके प्रति दान भी दिया था। जयवर्मन् पंचम के गुरु यज्ञवराह के सम्बन्धी प्रवीण पंडित ने भी विष्णु की एक मूर्ति की स्थापना वन्ते-श्राई में की।[२२] कम्बुज लेखों में कृष्ण और उनकी लीलाओं का भी उल्लेख मिलता है। सूर्यवर्मन् के समय के शक सं० ९६३ के लेख में गरुड़ पर बैठे कृष्ण की मूर्ति का उल्लेख है जिसके प्रति दान दिया गया था।[२३] इसके पहले शक संवत् ८५० का एक लेख प्रसत निएंग खमो के एक मन्दिर में मिला जिसमें विष्णु की आराधना की गयी है और निकट के दूसरे मन्दिर में कृष्ण को गोवर्धन उठाते हुए तथा विष्णु को वामन के रूप में तीन पगों में संसार को नापते हुए चित्रित किया गया है।

यहाँ पर यह कह देना उचित है कि देश के इतिहास में शैव और वैष्णव धर्म पारस्परिक रूप से एक दूसरे के बहुत निकट थे और एसे बहुत-से लेख मिलते हैं जिनमें एक मत के अनुयायियों ने दूसरे मत के देवता की मूर्ति स्थापित की। भव-

१८. मजुमदार, नं० १, पृ० १।
१९. यही, कम्बुज लेख, नं० २, पृ० २।
२०. यही, नं० ५८, पृ० ७१।
२१. यही, नं० ७७, पृ० १६१।
२२. यही, नं० १०८, पृ० २८२।
२३. यही, नं० १४४, पृ० ३४६।
२४. यही, नं० ८३, पृ० ५७७।

वर्मन् के एक अधिकारी ने जो कदाचित् किसी नगर का रक्षक था, एक शिवलिंग और दुर्गा, शंभु, विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित कीं तथा धन्वीपुर के देवता शिव (धन्वीपुरेशाय) तथा विष्णु त्रैलोक्यसार के निमित्त बहुत-सा दान दिया। दूसरे भाग में भी लक्ष्मी, विष्णु, धन्वीपुर के शिव और विष्णु त्रैलोक्यसार के प्रति दिय गये दानों का उल्लेख है।[२५] शैवों का प्रधान शिवाचार्य वैष्णव कुल में पैदा हुआ था। इन दोनों सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध उत्तर भारत के कुछ लेखों से भी सिद्धि है जिनमें शिवाचार्य की अध्यक्षता में वैष्णव मंदिरों के सौंपने का उल्लेख है। कभी-कभी शिव-विष्णु की सम्मिलित मूर्ति की भी पूजा की जाती थी और कई लेखों में संयुक्त मूर्ति की स्थापना का भी उल्लेख है। ताम्रपुर के एक प्रधान ने शिव-विष्णु की एक मूर्ति स्थापित की।[२६] हर और अच्युत की, जिनको संयुक्त रूप में हरिहर कहा गया है, मूर्ति स्थापना का उल्लेख यशोवर्मन् के समय के एक लेख में[२७] है। एक दूसरे लेख में[२८] उन्हें शंकर-नारायण के नाम से सम्बोधित किया गया है। एक ख्मर लेख में[२९] हरिहर को यज्ञपतीश्वर कहा गया है। भारतीय कला में भी हरि-हर की मूर्तियाँ मिलती हैं।[३०]

अन्य ब्राह्मण देवी-देवता

शिव-विष्णु तथा उनके संयुक्त और पर्यायवाची नामों के अतिरिक्त बहुत-से अन्य भारतीय देवी देवताओं का उल्लेख कम्बुज लेखों में मिलता है, जैसे गणेश,[३१] आदित्य[३२] तथा स्वयम्भु।[३३] ब्रह्मा का भी कई लेखों में उल्लेख है[३४] और इनको चतु-

२५. यही, नं० ११, पृ० १३। २६. कम्बुज लेख, नं० २४, पृ० ३०।

२७. यही, नं० ७२, पृ० १५०।

२८. यही, नं० ४५, पृ० ५३। ५१ पृ० ५६ इत्यादि।

२९. यही, नं० ४३, पृ० ५२।

३०. आरक्यिोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया (आ० स० आ० ई० १९०८-९, पृ० १०४)।

३१. कम्बुज लेख, नं० ६०, पृ० ७४।

३२. यही, नं० ४०, पृ० ५०।

३३. यही, नं० ९४, पृ० १२५। ३४. यही, नं० ८६, ९२ तथा ९७।

मुख लिखा है। एक लेख में शालग्रामस्वामी और आदित्यस्वामी का उल्लेख है तथा लेख के साथ में शालग्राम और सूर्य की प्रतिमाएँ फलक पर अंकित हैं।[३५] देवियों में मुख्यतया दुर्गा,[३६] गंगा,[३७] इन्द्राणी,[३८] वागीश्वरी,[३९] चतुर्भुजा,[४०] गौरी, सरस्वती[४१] का उल्लेख मिलता है। शिव के साथ में उमा तथा पार्वती का उल्लेख पहले ही हो चुका है। ये मूर्तियाँ प्रायः शिव या विष्णु के मन्दिर में ही स्थापित की जाती थीं और कुछ के स्वतंत्र रूप से अपने मन्दिर थे। लेखों से प्रतीत होता है कि भक्ति-मार्ग ने देश के धार्मिक क्षेत्र में अपना दृढ़ स्थान बना लिया था। लोगों को पाप-पुण्य का ज्ञान था और देवी-देवताओं की उपासना में वे अपना कल्याण समझते थे। लेखों में कहीं-कहीं सोने की मूर्तियों की स्थापना का भी उल्लेख मिलता है।

यज्ञ इत्यादि

भक्ति-मार्ग और पौराणिक देवी देवताओं की उपासना से वैदिक यज्ञ तथा तप का लोप नहीं हुआ था। लेखों से प्रतीत होता है कि देश में यज्ञ इत्यादि किये जाते थे। शिवाचार्य सम्राट् ईशानवर्मन् द्वितीय, जयवर्मन्, हर्षवर्मन् तथा राजेन्द्र-वर्मन् का होता (होतृ) था।[४२] सम्राट् श्री उदयादित्य वर्मदेव के समय में भी जयेन्द्र-वर्मन् राजगुरु था और उसने भुवनाध्व तथा ब्रह्मयज्ञ किये और महोत्सव पूजा की, पर यह वृहगुह्य (तंत्रवाद) के अन्तर्गत थी।[४३] याज्ञिक को यजमान की ओर से दक्षिणा भी दी जाती थी। सूर्यवर्मन् द्वितीय ने लक्ष होम और कोटि होम के पश्चात् दिवाकर पंडित को बहुत दक्षिणा दी।[४४] यज्ञ केवल राजवंश तक ही सीमित न थे।

३५. मजुमदार, नं० ४०, पृ० ५०।
३६. यही, नं० ५६, ६०, ९७।
३७. यही, नं० ५६, पृ० ६७।
३८. यही, नं० ९२, पृ० १८५।
३९. यही, कम्बुज लेख।
४०. यही, नं० २७, पृ० ३५।
४१. यही, नं० ७३, पृ० १५१।
४२. यही, नं० १२९, पृ० ३२३।
४३. यही, नं० १५२, पृ० ३६९।
४४. यही, नं० १६८, पृ० ४३१।

एक लेख में मध्यदेश की मालिनी नामक स्त्री द्वारा ब्रह्मयज्ञ करने का उल्लेख है। जिसमें उसने भूमि तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ दान दीं।[४५]

धार्मिक क्षेत्र में तप का भी महत्त्व था। एक लेख में[४६] सम्राट् द्वारा यतियों के अध्यक्ष की नियुक्ति का उल्लेख है। विद्वान् यतियों का सम्राट् द्वारा मान होता था। यशोवर्मन्, हर्षवर्मन् प्रथम और ईशानवर्मन् ने शिखाशिव नामक एक यति का बड़ा सम्मान किया था और उसने एक शिव के मन्दिर का निर्माण किया था तथा कई लिंग-मूर्तियों की स्थापना की थी।[४७] योगी विवाह भी कर सकते थे। एक लेख में महर्षि श्री महीधरवर्मन् के संग्राम नामक व्यक्ति की पुत्री उमा के साथ विवाह का उल्लेख है।[४८] स्त्रियां भी तप करती थीं। जयवर्मन् सप्तम की द्वितीय रानी इन्द्रा देवी बड़ी विदुषी थी और स्वयं तप कर चुकी थी।[४९] कुछ लेखों में तीर्थ-यात्रा का भी उल्लेख है तथा स्थानीय देवताओं की भी उपासना होती थी।[५०]

काल और दूरी ब्राह्मण धर्म, विचार और संस्कृति के कम्बुज देश में पहुँचने तथा विकसित होने में बाधक न सिद्ध हुई। यहां वैदिक यज्ञ से लेकर पौराणिक देवताओं की पूजा तक होती थी। कर्म के सिद्धान्त ने भी यहाँ अपना स्थान बना लिया था। शैव मत राजकीय धर्म था और देवराज के नाम से यह विख्यात था, जिसका विस्तृत रूप से आगे उल्लेख किया जायगा। वैष्णव धर्म भी यहाँ पर प्रचलित था और दोनों की मूर्तियाँ भी एक में सम्मिलित कर संयुक्त मूर्ति के नाम से स्थापित की जाती थीं। ब्राह्मण धर्म के प्रत्येक अंग और प्रतिक्रिया से प्रतीत होता था कि वास्तव में कम्बुज देश धार्मिक दृष्टिकोण से भारत का ही एक अंग था।

देवराज मत

देवराज मत के, जो ख्मेर में 'कम्तेंअङ जगतत राज' के नाम से सम्बोधित किया

४५. मजुमदार, नं० १३१ (अ), पृ० ६०७।
४६. यही, नं० ८७, पृ० १७५।
४७. यही, कम्बुज लेख, नं० ७८, पृ० १६१।
४८. यही, नं० १७५, पृ० ४५८।
४९. यही, नं० १८२, पृ० ५१५।
५०. यही, नं० ९६, पृ० २२१। नं० ६०, पृ० ७५।

गया है, विषय में विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[५१] वोश के मतानुसार यह कम्बुज देश में मध्य जावा से आया था और चम्पा में भी फैला। जावा में दक्षिण भारत के कुंजरकुंज प्रान्त से अगस्त्य मत पहुँचा था और कदाचित् इसका भी उस मत से सम्बन्ध रहा होगा। डा० मजुमदार के मतानुसार इस मत के विषय में निश्चित रूप से कोई धारणा नहीं बनायी जा सकती है। इसके अन्तर्गत राजकीय प्रशासन का मुख्य अंग शिव की मूर्ति को माना गया है जो लिंग के रूप में बहुत ऊँचाई पर, जिससे कैलास का संकेत हो, स्थापित की जाती थी। इसके साथ ही कुछ तांत्रिक क्रियाएँ भी की जाती थीं, जिनका उल्लेख स्डोक काक के लेख में है और उनके शिक्षण के लिए भारत से हिरण्यदाम कम्बुज देश आया था। उक्त लेख के अनुसार कम्बुज पर जावा के प्रभाव को हटाने का उल्लेख है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि उसका उत्कर्ष धार्मिक के अतिरिक्त राजनीतिक भावनाओं के कारण हुआ और धीरे-धीरे इसमें अन्य भावनाओं का भी समावेश हुआ जिनमें सम्राट् को देवत्वस्वरूप प्रदान करना तथा मरने पर उसकी मूर्ति स्थापित करना भी है।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण उदयादित्यवर्मन् का स्डोक काक लेख है।[५२] इसमें सम्राट् परमेश्वर जयवर्मन् द्वारा जावा से लौटने पर एक राजकीय देवता की, जिसे ख्मेर भाषा में 'कम्रतें जगत त राज' और संस्कृत में 'देवराज' कहा गया है, मूर्ति महेन्द्रपर्वत पर स्थापित करने का उल्लेख है। सम्राट् ने हिरण्यदाम

५१. देवराज मत के विषय में विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इसमें शिवलिंग का ऊँचाई के स्थान, जिससे कैलास का संकेत हो, पर स्थापना, तंत्रवाद की क्रियाओं तथा सम्राट् में देवत्वस्वरूप मानकर मरने पर उसकी मूर्ति स्थापित करना, इत्यादि का समावेश है। देखिए, सेलेगेस : सिल्वेन लेवी, पृ० २००-२। वोश : बु० इ० फ्रा० २५, पृ० ३९१। ति वि जी ६४, पृ० २२७ से। सिडो : ए० हि०, पृ० १७७ से। मजुमदार : कम्बुज देश, पृ० ७७, १०८। चटरजी : इ० क० इ०, पृ० ७८ से। बागची : इ० एच० क्यू० ५, पृ० ७५४ से। ६ पृ० ९७। इलियट : हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म भाग ३, पृ० ११७ से। नीलकंठ शास्त्री। टेजेक्सन : आर्कियोलाजिकल सोसायटी दक्षिण भारत।

५२. मजुमदार कम्बुज लेख, नं० १६२, पृ० ३६२ से।

नामक एक ब्राह्मण को जनपद (कदाचित् भारत) से ब्रह्मविनाशिख संस्कार करने के लिए बुलाया था, और उसने इस देवता के निमित्त पूजा करने के लिए वहाँ के राजपुरोहित शिवकैवल्य को 'ब्रह्मविनाशिख', 'नयोत्तर', 'सम्मोह' और 'शिरश्छेद' की शिक्षा दी थी। इस बात का भी प्रण किया गया था कि शिव-कैवल्य और उसके वंशज के अतिरिक्त इस देवता की और कोई पूजा नहीं करेगा। इसी लिए शिव-कैवल्य और उसके वंशज २५० वर्ष तक राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे। लेख से यह भी प्रतीत होता है कि देवता की मूर्ति कम्बुज-सम्राट् द्वारा बराबर विभिन्न राजधानियों में ले जायी गयी। लिंग रूप में देवसम्राट् की इस मूर्ति को स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि कम्बुज जावा पर आधारित न रहे। जब सम्राट् महेन्द्र-पर्वत से हरिहरालय गये तो देवराज की मूर्ति वहाँ ले जायी गयी और यशोवर्मन् के समय में यह नयी राजधानी यशोधरपुर गयी। शिवकैवल्य के भतीजे वामशिव ने सम्राट् के साथ इस लिंग मूर्ति की स्थापना में भाग लिया जो एक मध्य पहाड़ी के मन्दिर में की गयी थी। इसी पुरोहित का एक अन्य लिंग तथा भगवती की मूर्ति स्थापना में भी हाथ था जो भद्रपट्टन में हुई थी। शिवकैवल्य के वशंज ही देवराज के पुजारी थे जिनमें से कुछ आचार्य अथवा आचार्य-होम थे और वे ही यज्ञ भी करा सकते थे। हर्षवर्मन् प्रथम (रुद्रलोक) तथा ईशानवर्मन् द्वितीय (परमरौद्रलोक) के समय में इस वंश के लोग राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे और उनका इस देवता की उपासना में मुख्य हाथ था। जयवर्मन् चतुर्थ (परमशिवपद) यशो-धरपुर से चोक गर्ग्यर (खो खेर) गया और उसी के साथ-साथ राजकीय देवता की मूर्ति भी वहाँ ले जायी गयी। वामशिव का भतीजा ईशानमूर्ति उक्त वंशज होने के नाते उस समय मुख्य आचार्य था। उसने स्टुक रंसि में एक लिंग की स्थापना की। हर्षवर्मन् द्वितीय (ब्रह्मलोक) के समय में ईशानमूर्ति का भतीजा आत्मशिव कुलपति भी था तथा राजकीय देवता और आचार्य होम का अधिष्ठाता भी। राजेन्द्रवर्मन् (शिवलोक) के यशोधरपुर से वापस आने पर राजकीय देवता की मूर्ति भी उसके साथ लौट आयी। आत्मशिव राजपुरोहित और आचार्य होम पद पर रहा। जयवर्मन् पंचम (परमवीरलोक) के समय में आत्मशिव का भतीजा पौत्र राजपुरोहित था। सूर्यवर्मन् प्रथम (निर्वाणपद) ने उन लोगों के विरुद्ध सेना भेजी जिन्होंने भद्रपट्टन और स्टुक रंसि के मन्दिरों को क्षति पहुँचायी थी। उनका जीर्णोद्धार किया गया तथा शंकर, नारायण और पार्वती की मूर्तियों की स्थापना की गयी। उस समय शिवाचार्य का भतीजा सदाशिव राजकीय देवता का

पुरोहित था और उस वंश का कुलपति था। उसने सम्राज्ञी की छोटी बहिन के साथ विवाह किया था और उसे जयेन्द्रपंडित की उपाधि प्रदान की गयी थी। उदयादित्य वर्मन् के समय में जयेन्द्रपंडित राजगुरु था।

इस लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजकीय देवता की मूर्ति भी राजधानी के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान ले जायी जाती थी और इस के साथ ही एक ही कुल के राजपुरोहित अपना स्थान बदलते रहते थे। नयी राजधानियों में भी लिंगमूर्ति की पुनः स्थापना के लिए एक उच्च निर्धारित स्थान चुना जाता था तथा राजपुरोहित को भी अपना पुनर्निवास बनाने के लिए भूमि तथा मुद्राओं का दान मिलता था। ब्वेंग, खो-खेर, फिमानक, वफ्न तथा अंकोरथोम के वेओन का निर्माण इसी हेतु हुआ। खो-खेर में जयवर्मन् चतुर्थ ने एक बहुत ऊँचा पिरामिड बनवाया जो सात मंजिल का था और उस पर राजकीय लिंग की त्रिभुवनेश्वर नाम से शक सं० ८४३ में स्थापना की। लेख में जयवर्मन् द्वारा त्रिभुवनेश्वर के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है।[५३] उन्हीं के प्रसाद से वह सम्राट् हुआ था। पूर्वी गोपुरम् पर अंकित ख्मेर लेख में शिखाबिन्दु और श्री वीरेन्द्रारिमथन द्वारा 'क्म्रतें अङ जगत त राज' (देवराज) की लिंगमूर्ति के प्रति दान का उल्लेख है।

राजेन्द्रवर्मन् के मेबोन लेख में[५४] इस राजकीय मत के विषय में और भी वृतान्त मिलता है। यशोधरपुर के, जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने किया था, बीच में राजेन्द्रवर्मन् ने एक मंदिर का निर्माण कराया। उसकी चारों कोरों पर उसने अपने माता-पिता की शिव और उमा तथा विष्णु और ब्रह्मा के रूप में मूर्तियां स्थापित कीं और बीच में राजेन्द्रशेखर नाम से लिंग स्थापित किया। प्रे रूप के शक सं० ८८३ (९६१ ई०) के लेख में[५५] मंदिर निर्माण का उल्लेख है और उसमें राजभद्रेश्वर नाम से लिंग की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त चार और मंदिरों का निर्माण किया गया जिसमें दो में शिव तथा अन्य दो में उमा और विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। ये कदाचित् चारों कोनों पर बनाये गये थे और बीच में राजकीय देवता का मन्दिर था। उमा की मूर्ति उसकी मौसी जयदेवी (हर्षवर्मन् की माँ) का प्रतीक

५३. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ८०, पृ० १६५।
५४. यही, नं० ९३, पृ० १९३ से।
५५. यही, नं० ९७, पृ० २३४।

थी और ईश्वर राजेन्द्रवर्मेश्वर से उसके मौसेरे भाई हर्षवर्मन् का संकेत था। इस लेख से यह विशेषतया ज्ञात होता है कि राजकीय देवता के साथ साथ पूर्वजों की भी मूर्तियां स्थापित की जाती थीं। इस सम्बन्ध में पूर्वजों की मूर्तियाँ स्थापित करना भी देवराज मत का एक अंग था और यह विचारधारा भारत में पायी भी जाती थी, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। इसी से सम्बन्धित एक अन्य भावना के अन्तर्गत राजाओं को उनकी मृत्यु के पश्चात् दूसरा नाम दिया जाता था, जिससे यह प्रतीत हो कि उन्होंने देवत्व स्वरूप प्राप्त कर लिया है, जैसे परमरुद्रलोक (हर्षवर्मन् प्रथम), परमशिवपद (जयवर्मन् चतुर्थ), ब्रह्मलोक (हर्षवर्मन् द्वितीय), निर्वाणपद (सूर्यवर्मन् प्रथम), महापरमसौगत (जयवर्मन् सप्तम) इत्यादि। बौद्ध नामों से प्रतीत होता है कि बुद्ध का राजकीय देवता से संतुलन हो चुका था।

सम्राट् को देवत्व स्वरूप तथा उसी का रूप मानने की भावना भारत में भी थी और भारतीय कुषाण शासकों को देवपुत्र कहा गया है। डा० टामस के मतानुसार[५६] देवपुत्र की उपाधि चीनी टिएन-जू पर आधारित है जिसका अर्थ 'स्वर्गपुत्र' है और संसार में राजवंश में उत्पन्न होने से पहले वे स्वर्ग में रहते थे। वास्तव में 'देवपुत्र' भारतीय परम्परा पर आधारित है और यह भारतीय नामकरण अथवा उपाधि है जिसे अन्य शासकों ने भी ग्रहण किया। इसका उल्लेख 'सुवर्णप्रभसोत्तम' सूत्र में भी है, जिसमें शासकों को देवपुत्र नाम से सम्बोधित करने के प्रश्न पर विचार किया गया।[५७] राजवंश में पैदा होने से पहले ये नृप देवताओं के लोक में रहते थे और वहाँ के ३३ देवताओं के अंश से बनकर वे पृथ्वी लोक पर आते थे। राजाओं के देवत्व स्वरूप का उल्लेख मनु ने भी किया है।[५८] कम्बुज लेखों में 'देवपुत्र' के स्थान पर 'देवराज' शब्द का प्रयोग किया गया है और कदाचित् ये दोनों पर्यायवाची थे।

५६. वी० सी० ला, वाल्यूम, भाग २।
५७. लेवी, जू० ए०, नं० ३१४ (१९३४), पृ० १ से।
५८. केन मनुष्यसंभूतो राजदेवस् तु प्रोच्यते।
केन च हेतुना राजदेवपुत्रस् तु प्रोच्यते॥
अपि त्वं देवसंभूतो देवपुत्रः स उच्यते।
त्रयस्त्रिंशैर्देवराजेन्द्रैर्भागो दत्तो नृपस्य हि।
पुत्रत्वे सर्वदेवैश्च निर्मितो मनुजेश्वरः॥

लिंग के रूप में यह शिव का प्रतीक है और देवपुत्र शिव का भी नाम है।[५९] भारतीय लेखों में देवराज की उपाधि कई राजाओं को दी गयी, जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय को सांची के आम्रकरदेव के लेख में देवराज कहा गया है।[६०] राजाओं के देवत्व स्वरूप का उल्लेख चम्पा और जावा में भी मिलता है। चम्पा के एक डोंग-डिओंग लेख में[६१] राजाओं को पृथ्वी पर शासन करते देवता माना गया है, चम्पा के इन्द्रवर्मन् प्रथम के योंग तिकुह लेख में[६२] सम्राट् को चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, यम और कुबेर के विग्रह अथवा शरीर का अंश माना गया है। पो-नगर के एक लेख में[६३] सम्राट् के चरणों का ब्राह्मणों द्वारा स्पर्श करने का उल्लेख है और इस प्रकार से सम्राट् का देवत्व स्वरूप मानने की भावना मध्य जावा के चंगल और दिनाय के लेखों से भी प्रतीत होती है। इनमें राजवंश और भद्रेश्वर देवता के बीच सम्बन्ध का संकेत है। मृतक शासकों का इस लोक में राजदेवता प्रतीक माना जाता था और देवता तथा शासकों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिए सदैव से ब्राह्मण पुरोहित रहा है। कम्बुज में हिरण्यदाम के शिष्य शिव-कैवल्य और उसके वंशज २५० वर्ष तक इसी पद पर रहे। चम्पा में भृगु ऋषि और मध्य जावा में अगस्त्य ऋषि देवता और सम्राट् के बीच मध्यस्थ माने जाते थे।

सम्राट् की मूर्ति स्थापित करना भी इस मत का अंग था। ऐसे बहुत-से लेख मिलते हैं जिनमें मंदिरों में पूर्वजों की मूर्ति स्थापित करने का विवरण है। यशोवर्मन् के शक सं० ८१५ के लोले के लेख में[६४] चार मंदिरों के देवी-देवताओं का नाम इन्द्रवर्मेश्वर, इन्द्रदेवी, महीपतीश्वर और राजेन्द्रदेवी लिखा है। प्रथम दो सम्राट् के पिता-माता के नाम पर स्थापित किये गये थे और अंतिम दो उसकी माँ के पिता-माता के नाम पर थे। प्रह आइन कोसी के जयवर्मन् पंचम के शक संवत् ८९० और ८९२ के लेख में[६५] इन्द्रलक्ष्मी द्वारा दिये गये दान तथा उसकी माँ की एक मूर्ति स्थापना

५९. मोनियर विलियम्स, संस्कृत डिक्शनेरी, पृ० ४९३।
६०. भंडारकर, लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शंस, नं० १२८२।
६१. मजुमदार, चम्पा लेख, नं० ३१ (अ), बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ८३।
६२. यही, नं० २३, पद ३।
६३. मजुमदार, चम्पा लेख, नं० ३०।
६४. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ७०, पृ० १३८।
६५. यही, नं० १११, पृ० २८४।

का भी उल्लेख है। नोम-संके-कोन के लेख[६६] में सम्राट् सूर्यवर्मन् ने मृताञ्ल्लोन श्री वीरवर्मन् को कुमार श्री समरवीरवर्मन्, उसकी पत्नी तथा मां जो उस समय कन्लों देवता में मिल चुकी थीं, द्वारा दिये दानों को लिखवाने का आदेश दिया है। यह लेख मृतक व्यक्ति के उसके देवता में सम्मिलित होने का संकेत करता है। जयवर्मन् सप्तम के प्रह्-खन के लेख[६७] में नृत्य करते हुए शिव (नटेश्वर) की दो सोने की मूर्ति तथा उसके पिता की एक मूर्त्ति स्थापित करने का उल्लेख है। इसी लेख में बोधिसत्त्व लोकेश्वर की मूर्ति को उसके स्वर्गीय पिता की मूर्ति कहा है जिसका जयवर्मेश्वर नामकरण हुआ था। वेओन के एक लेख में[६८] देवराज की सोने की मूर्ति के स्थान पर बुद्ध की एक विशाल मूर्ति तथा निर्माता की अपनी मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। यह मूर्ति चतुर्भुजी थी (समन्तमुख), इससे प्रतीत होता है कि शिव के अतिरिक्त बुद्ध को भी देवराज का स्वरूप प्रदान किया गया। इस सम्बन्ध में विष्णु की मूर्ति को भी देवराज का स्थान मिला और दानियों ने अपने नाम पर विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित कीं। प्रसत-कोक के लेख[६९] में विष्णुरव द्वारा उसी की आकृति की विष्णु की मूर्ति स्थापना का विवरण मिलता है। इन लेखों से प्रतीत होता है कि देवराज के मत का सम्बन्ध केवल शिव से ही न था, बुद्ध और विष्णु को भी इसमें स्थान मिला तथा इनके साथ संतुलन हुआ। दानी अपने जीवनकाल में ही अपने नाम पर किसी देवता की मूर्ति स्थापित करते थे तथा मरने के बाद उनके वंशज उनके नाम पर मूर्ति की स्थापना करते थे। धारणा यह थी कि मृतक व्यक्ति की आत्मा उसके इष्ट देवता में ही प्रवेश कर गयी है।

इस दूसरे स्वरूप का, जिसके अन्तर्गत मृतक की मूर्ति स्थापित की जाती है, भारत में भी चलन था। कवि भास के प्रतिमा नाटक[७०] में प्रतिमा-मंडप में दशरथ की मूर्ति को अन्य पूर्वजों की मूर्तियों के पास रखने का उल्लेख है। मथुरा में हुविष्क की देवशाला प्रसिद्ध थी जहाँ कुषाण-सम्राट् की मूर्तियां थीं और जहाँ नष्टन तथा कनिष्क

६६. यही, नं० १३२, पृ० ३४०।
६७. यही, नं० १४९, पृ० ३५९।
६८. सिडो, ए० हि०, पृ० २९५।
६९. यही, नं० १२४, पृ० ३१२।
७०. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० १००।

की भी मूर्तियाँ मिलीं। 'राजतरंगिणी' में सुरा नामक व्यक्ति द्वारा विष्णु के मंदिर के निर्माण का उल्लेख है और उस मूर्ति का नाम सूर्यवर्मस्वामिन् कहा गया हैं।[७१] एक गुर्जरप्रतिहार लेख में[७२] भी अल्ल द्वारा विष्णु-मंदिर में स्थापित विष्णु की मूर्ति को वैल्लभट्टस्वामिन् के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार पृथ्वीश्वर देवता की मूर्ति का नामकरण भी पृथ्वीसेन नामक एक ब्राह्मण के नाम पर हुआ था।[७३] दक्षिण भारत में भी दानियों के नाम पर मंदिरों के देवताओं का नामकरण हुआ।[७४] सम्राट् के अतिरिक्त गुरुजन तथा वीर संजकों की मूर्ति स्थापना का भी विवरण मिलता है। यह उनके जीवनकाल तक या मृत्यूपरान्त की जाती थीं। स्डोक काक लेख में[७५] उदयादित्यवर्मन् द्वितीय द्वारा उसके गुरु जयेन्द्रवर्मन् के जीवनकाल में ही जयेन्द्रवर्मेश्वर नाम से लिंग-स्थापना की गयी। वन्ते-चमर के लेख[७६] में भरतराहु के विद्रोह में जिन संजकों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, उनको यशोवर्मन् ने अंते की उपाधि प्रदान की तथा उनकी मूर्तियाँ मन्दिर के विभिन्न कमरों में स्थापित की गयीं।

इस मत से सम्बन्धित कुछ तांत्रिक संस्कार भी थे जो हिरण्यदाम ने किये थे और तांत्रिक ग्रन्थों का उल्लेख भी स्डोक काक लेख में है। 'व्रह-विनाशिख', 'नयोत्तर' और 'सम्मोह' के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, किन्तु 'शिरच्छेद' से उपासक का प्रत्यक्ष रूप से देवता के सम्मुख अपना शीश अर्पण करने का संकेत है, जैसा कि भारत में भी पत्ताडकल के एक चित्र से विदित है, जिसका उल्लेख फोंगल ने किया है। इसमें देवी के सम्मुख शीश अर्पण किया जा रहा है। इस धार्मिक भावना का उल्लेख शूद्रक और वीरवर की कथाओं में भी मिलता है, जो 'कथासरित्सागर' और 'हितोपदेश' में उल्लिखित हैं।[७७] हीरालाल ने भी कुछ ऐसे सम्प्रदायों का उल्लेख

७१. ५ पद २३।
७२. भंडारकर, लिस्ट नं० ३५।
७३. यही, नं० १२७०।
७४. ई० आई० इ० ३, पृ० १। १४, पृ० २७९।
७५. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १८३, पृ० ५२८।
७६. बुलेटिन स्कूल आफ ओरिंटियल एन्ड अफ्रीकन स्टडीज (बु० स्कु० ओ० अ० स्ट०) ६, पृ० ५३९।
७७. पेंजर, कथासरित्सागर भाग ४, पृ० १७३-१८१।

किया है जो अपना सिर और जीभ काटकर देवी को भेंट कर देते हैं। इसके लिए एक विशेष मंडप बनाया जाता है।[७८] कम्बुज में भी बहुत-सी देवियों की मूर्त्तियाँ स्थापित हुई, जिनमें दुर्गा और बौद्ध देवी प्रज्ञापारमिता विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देवराज मत का शिव-शक्ति की उपासना से सम्बन्ध था, जिसमें पूर्वजों की मूर्तियों की स्थापना और स्थानीय देवताओं की उपासना भी सम्मिलित थी। ख्मेर लेख में 'कम्रतें अङ जगत ब्रह्म' अथवा पहाड़ी पर के देवता की स्थापना का उल्लेख है। इस मत के अन्तर्गत सम्राट् को देवता की शक्ति अथवा सिद्धि का प्रतीक माना गया है, जिससे देश को राजनीतिक सूत्र में बांधा जा सके और विदेशी आक्रमण के समय एकता रहे। इन सम्राटों की मूर्तियां भी स्थापित की गयीं। अंत में पूर्वजों तथा सम्बन्धियों की मूर्तियाँ भी स्थापित की गयीं जो मनोवैज्ञानिक और धार्मिक प्रेरणा का प्रतीक थीं। इलियट के मतानुसार सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में पूर्वजों की उपासना धर्म का एक अंग बन गयी थी। यह भी विश्वास था कि ईश्वर मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेता है और उसी मूर्ति द्वारा देवराज की उपासना की जाती थी। सम्राट् को देवत्व स्वरूप प्रदान कर धर्म और राष्ट्र का एकीकरण किया गया। वेओन का मन्दिर कम्बोडिया का वेस्टमिंस्टर अबे था, जिसमें देवताओं और देश के महान् व्यक्तियों की समाधियाँ बनी हुई थीं। इस समय में कुछ संजकों की मूर्तियां भी स्थापित की गयीं। ये मूर्तियाँ केवल उनके शौर्य की प्रतीक थीं। उपर्युक्त वृत्तान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देवराज मत के अन्तर्गत बहुत-सी धार्मिक भावनाओं का समावेश था जिनका मुख्य ध्येय सम्राट् को ईश्वरीय स्वरूप देना था। इसके साथ पितरों की उपासना भी की जाती थी। यद्यपि देवराज मत का संकेत प्रारम्भ में केवल शिवलिंग की स्थापना से ही था, किन्तु बाद में विष्णु और बुद्ध की मूर्तियाँ भी इसी मत के अन्तर्गत स्थापित होने लगीं। सीलोन के हीनयान मत के प्रादुर्भाव ने शैव और बौद्ध संतुलन को पुनः अलग कर दिया, पर विष्णु का इससे सम्बन्ध बना रहा।

बौद्ध धर्म

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म के महायान मत का पहले प्रवेश हुआ और यह

७८. जर्नल विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी १२, पृ० १४४।

ब्राह्मण धर्म के प्रतिद्वन्द्वी रूप में ही विस्तृत नहीं हुआ, वरन् सहायक सिद्ध हुआ। इसी लिए इसका शैव मत के साथ संतुलन हो सका और बुद्ध को भी त्रिमूर्ति में स्थान मिला। आगे चलकर लंका के हीनयान बौद्ध धर्म के प्रवेश ने इस संतुलन को विभिन्नता में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार यह भारतीय बौद्ध धर्म से भिन्न था जिसका आरम्भ प्राचीन वैदिक धार्मिक परम्परा के विरोध से हुआ था, जिसमें ब्राह्मणों के आधिपत्य तथा यज्ञों का विरोध किया गया। इसके अन्तर्गत अर्हत की अवस्था प्राप्त करना ही ध्येय माना जाता था। कम्बुज देश में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है कि बौद्ध धर्म का ब्राह्मण मत से कभी भी संघर्ष नहीं हुआ। कम्बुज के कुछ शासक बौद्ध होते हुए भी राजकीय देवराज मत का विरोध न कर सके, पर बुद्ध को भी त्रिमूर्ति में स्थान दिया गया तथा देवराज के मन्दिर में उनकी मूर्ति स्थापित हुई। शैव और बौद्ध मत का एकीकरण हो चुका था और एक लेख में पद्मभव (ब्रह्मा), अम्भोजनेत्र (विष्णु) तथा बुद्ध की त्रिमूर्ति का उल्लेख है।[८०] इस सम्बन्ध में कम्बुज के सम्राटों ने भी अपनी उदारता और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय दिया और उनके व्यक्तिगत धर्म ने जनता के धार्मिक विचारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। उन्हीं के प्रभाव से राजकीय पदाधिकारी भी अपने दृष्टिकोण को उदार रख सके। कवीन्द्रारिमथन, जिसने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति स्थापित की थी, ब्राह्मण सम्राट् तथा राजकीय मत का पूर्णतया भक्त था।

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम लेख छठी शताब्दी के अंत या सातवीं शताब्दी के आरम्भ का मिलता है। इसमें प्रज्ञाचन्द्र द्वारा तीन बोधिसत्त्वों—शास्ता, मैत्रेय तथा अवलोकितेश्वर के प्रति दास और दासियों के दान का उल्लेख है। इन बोधिसत्त्वों को 'व्राह कम्रता आञ' की ख्मेर उपाधि से सम्बोधित किया गया है जो ब्राह्मण देवताओं के लिए भी प्रयुक्त की गयी।[८१] अवलोकितेश्वर का उल्लेख किसी और लेख में नहीं है, किन्तु शक संवत् ७१३ के प्रसत-त-कम के लेख में लोकेश्वर की मूर्ति स्थापना का विवरण है।[८२] ईसा की सातवीं शताब्दी से पहले भी

७९. हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म, भाग ३, पृ० ११७।
८०. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १५६, पृ० ३९९।
८१. आमोनिये, कम्बुज, भाग १, पृ० ४४२।
८२. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ५२ (अ), पृ० ५७१।

बौद्ध धर्म के कम्बुज देश में प्रवेश होने का संकेत मिलता है, जैसा कि जयवर्मन् के वत प्राई (ब नोम प्रान्त) के लेख से प्रतीत होता है, जिसका काल शक संवत् ५८७ है।[८३] इस लेख में दो भिक्षुओं, रत्नभानु और रत्नसिंह का उल्लेख है, जिनकी भांजी को धार्मिक सम्पत्ति को प्रयोग में लाने का सम्राट् द्वारा अधिकार दिया गया था। इसमें किसी ब्राह्मण देवता का उल्लेख नहीं है, पर भिक्षुओं से ज्ञात होता है कि वे बौद्ध थे। ख्मेर लेख में इन दोनों भिक्षुओं द्वारा व्राह को दान देने का उल्लेख है, जिसका प्रयोग बुद्ध, ब्राह्मण देवता तथा सम्राट् के लिए भी किया गया है। बौद्ध भिक्षुओं के नाम से इस लेख का बौद्ध धर्म से सम्बन्ध प्रतीत होता है और यही इस धर्म का सबसे प्राचीन लेख है।

लगभग दो शताब्दी तक कोई और बौद्ध लेख नहीं मिला। इसका कारण कदाचित् किसी शासक की इस धर्म के प्रति अवहेलना थी जिससे इसे क्षति पहुँची। इसका उल्लेख इत्सिंग ने किया है।[८४] यह शासक भववर्मन् अथवा ईशानवर्मन् या जयवर्मन् रहा होगा। इस प्रकार की बौद्ध धार्मिक व्यवस्था बहुत समय तक चलती रही। बौद्ध धर्म के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा इसे क्षति पहुँचाने का उल्लेख हमको किसी लेख में नहीं मिलता है, किन्तु बौद्ध धर्म से सम्बन्धित लेखों का अभाव इस धर्म के उस युग में पूर्णतया विकसित होने पर सन्देह प्रकट करता है। कोक-संभ्रो लेख में[८५] पहले संघ, फिर बुद्ध और धर्म (बौद्ध त्रिमूर्ति के अन्य दो अंग) के प्रति उपासना की भावना प्रदर्शित हुई है (नमस् संघाय..... संबुद्धरत्नं प्रणमामि धर्मम्)। यह लेख राजेन्द्रवर्मन् के समय का है जिसकी आगे चलकर इस में प्रशंसा की गयी है। इसी सम्राट् के समय के एक अन्य लेख में[८६] बौद्ध धर्म के योगाचार मत का उल्लेख है।

कम्बुज देश में अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की उपासना और मूर्ति-स्थापना का कई लेखों में वर्णन है। थम-पुओक (वटमवंग) से प्राप्त जयवर्मन् पंचम के शक सं० ९११ (९८८ ई०) के लेख में बुद्ध, प्रज्ञापारमिता, लोकेश्वर, वज्रिन्, मैत्रेय और

८३. मजुमदार, नं० २९, पृ० ३७।
८४. तककुसु, पृ० १२।
८५. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १०० ई, पृ० ५८३।
८६. यही, नं० ९७, पृ० २६४, पद २७५।

इन्द्र की उपासना कही गयी है।[८७] इन छः देवी-देवताओं की मूर्तियों की उपासना पद्मवैरोचन नामक बौद्ध साधु ने की थी और उनमें से कुछ की कल्पना मंदिर के निकट पायी हुई कुछ मूर्तियों से की जा सकती है। शक सं० ९०३ (९८१ ई०) में त्रिभुवनराज द्वारा बुद्ध की माता की एक मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख नोम-बन्ते के लेख में[८८] है तथा लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की आराधना भी कही गयी है।

जयवर्मन् सप्तम के फिमानक लेख में त्रिकाय, बुद्ध और लोकेश्वर की आराधना कही गयी है। सम्राट् की दोनों रानियां बौद्ध थीं। दूसरी प्रथम की बड़ी बहिन थी और बौद्ध साहित्य में पारंगत थी। उसने नगेन्द्रतुंग, तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम के बौद्ध विहारों में बौद्ध भिक्षुणियों को शिक्षा दी थी। उसी ने अपनी छोटी बहिन को भी बौद्ध धर्म में दीक्षा दी थी, जिससे वह अपने पति की अनुपस्थिति में उसकी प्रतिमा देख सके तथा उसकी पूजा कर सके। पति के लौटने पर एक विशाल समाज का आयोजन किया गया और एक नाटक खेला गया जो जातकों पर आधारित था और इसमें भिक्षुणियों ने भाग लिया था। अपनी छोटी बहिन की मृत्यु के पश्चात् सम्राट् ने उससे विवाह किया और उसने बहुत-से बौद्ध विहारों में शिक्षा देने का कार्य प्रचलित रखा। इस लेख से बौद्ध साहित्य तथा धर्म के कम्बुज में प्रचलन तथा राजवंश में उसके पूर्णतया प्रवेश पर प्रकाश पड़ता है।

कम्बुज देश में महायान के बाद हीनयान का प्रवेश हुआ। हीनयान मत सम्बन्धी केवल एक ही लेख सूर्यवर्मन् प्रथम के समय का मिला, जिसकी तिथि शक सं० ९४४-४७ है[८९] और यह स्याम के लोपवुरि से प्राप्त हुआ। इसमें सूर्यवर्मन् के उस आदेश का उल्लेख है जिसके अन्तर्गत पवित्र स्थान, मंदिर, विहार, यति तथा हीनयान मत के स्थविर और महायान मत के भिक्षुओं को सम्राट् के प्रति अपने पुण्य अर्पित करने को कहा गया है। इस लेख के आधार पर उस समय बौद्ध धर्म के दोनों मतों के प्रसरण का संकेत मिलता है। महायान मत सम्बन्धी लेख प्रसत प्रह (अंकोर), प्रसत त कम (सिएम-राप), वत-प्राई (व नोम), कोकसंम्रो (वटमवंग), थम-पुकोक (यही), नोम-वन्ते (अंकोर के दक्षिण) तथा

८७. मजुमदार, नं० ११३, पृ० २९९।
८८. यही, नं० १८२, पृ० ५१५।
८९. यही, कम्बुज लेख, नं० १३९, पृ० ३४३।

फिमानक (अंकोर थोम) क्षेत्र में मिले। इनसे प्रतीत होता है कि महायान मत का प्रवेश उत्तर-पश्चिम से कदाचित् स्थल मार्ग द्वारा हुआ और हीनयान मत भी पहले इसी मार्ग से आया था, किन्तु बाद में सीलोन से आये हुए यात्रियों के साथ समुद्री मार्ग से यहां आया। इसका प्रथम लेख कोक-स्वे-चेक[९०] (पश्चिमी वारे से दो मील दक्षिण) में शक सं० १२३० का श्रीन्द्रवर्मन् वाला है। इसमें सम्राट् द्वारा महाथेर सिरि सिरिन्दमोलि (श्री इन्द्रमौलि) को एक गांव देने का उल्लेख है और १२३१ ई० में एक विहार का निर्माण हुआ जहां एक बौद्ध प्रतिमा स्थापित की गयी। सम्राट् ने इस विहार को चार गांव प्रदान किये। सीलोन के हीनयान का बौद्ध मत से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम लेख है।

चीनी स्रोत से भी कम्बुज-फूनान में बौद्ध मत पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ५०३ ई० में एक मूँगे की बुद्ध की मूर्ति चीनी सम्राट् वू ति को फूनान से भेजी गयी। उस देश के निवासी दिव्य विभूतियों की कांसे की मूर्तियां भी बनाते थे। ल्यू-तो-पा-मो अर्थात् रुद्रवर्मन् ने चंदन की एक बुद्ध की मूर्ति चीनी सम्राट् को भेजी और ५३९ ई० में बुद्ध का १२ फुट लंबा एक केश भी भेजा। संघपाल और मन्द्र नामक फूनान के दो बौद्ध भिक्षु भी चीन गये जहां उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। ६७५ ई० में भारत से जाते समय इ-सिग नामक चीनी यात्री ने पो-नन अथवा फूनान देश का वर्णन किया है। उसका कथन है कि वहां के रहनेवाले पहले देवताओं को पूजते थे, किन्तु बाद में वहां बौद्ध धर्म फैलने लगा। एक दुष्ट राजा ने बौद्ध सम्प्रदाय के लोगों को नष्ट कर दिया और इससे बौद्ध धर्म को बड़ी क्षति पहुंची।[९१] इससे प्रतीत होता है कि वा नोम क्षेत्र में, जो कि हिन्द-चीन के दक्षिण-पूर्वी भाग में था, बौद्ध धर्म प्रचलित था और जैसा कि चीनी स्रोत से प्रतीत होता है, यहां से बौद्ध विज्ञान तथा बुद्ध की मूर्ति चीन भेजी गयी। कदाचित् भववर्मन् या उसके किसी वंशज ने इस धर्म को क्षति पहुंचायी। बौद्ध धर्म यहां १०वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक अपनी उन्नति के शिखर पर था और यहां के राजाओं में सर्वप्रथम सूर्यवर्मन्, जिसने निर्वाण पद प्राप्त किया था, तथा जयवर्मन् सप्तम ने इस धर्म को बहुत प्रोत्साहन दिया। बौद्ध धर्म के

९०. यही, नं० १८८, पृ० ५३३।

९१. इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग ३, पृ० १०६।

अनुयायी होते हुए भी उन्होंने राजकीय मत का अनुसरण किया। यशोवर्मन् ने शैव और वैष्णव आश्रम की भाँति सौगत आश्रम की भी स्थापना की।

बौद्ध धर्म के प्रसरण में कुछ प्रमुख व्यक्तियों का भी हाथ था। सत्यवर्मन् ने फिमानक के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था।[९२] राजेन्द्रवर्मन् के मंत्री कवीन्द्र-मथन ने बुद्ध, वज्रपाणि, प्रज्ञापारमिता तथा लोकेश्वर की मूर्तियां स्थापित कीं। जयवर्मन् पंचम के मंत्री कीर्तिवर्मन् के प्रयास से बौद्ध धर्म रूपी चन्द्र अशान्तिमय वातावरण के घने बादलों से पुनः बाहर निकल आया।[९३] उसके समय में 'महाविभाग' और 'तत्त्वसंग्रह' की टीका बाहर से कम्बुज देश में आयी। तारानाथ के मतानुसार वसुबन्धु के एक शिष्य ने हिन्द-चीन में बौद्ध धर्म फैलाया था।[९४]

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और बुद्ध को ब्राह्मण त्रिमूर्ति में स्थान मिला। उदयार्कवर्मन् के शक सं० ९८९ के प्रसत-प्रह्-क्षेत लेखानुसार[९५] संकर्ष द्वारा पुनः शिवलिंग की स्थापना के साथ ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की मूर्तियां स्थापित की गयीं। इनको चतुर्मूर्ति के नाम से सम्बोधित किया गया। शक सं० ८६९ के प्रह्-पुत-लो के लेख में[९६] तथागत, रुद्र तथा कुछ अन्य मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। इन लेखों से यह प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म से संतुलित हो चुका था और स्पर्धालु के रूप में न था। इसी लिए बुद्ध को त्रिमूर्ति में स्थान मिला।

बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अन्य सार्वजनिक कार्यों का भी उल्लेख लेख में है। अशोक की भाँति जयवर्मन् सप्तम के ता प्रोम[९७] के लेख में सम्राट् द्वारा किये गये सार्वजनिक कार्यों का विवरण है। इनमें बुद्ध, धर्म, संघ, लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की आराधना के बाद सम्राट् की माता तथा गुरु की प्रतिमाओं के स्थापन का उल्लेख है। सम्राट् ने १०१ चिकित्सालय बनवाये जिनके प्रबन्ध का विस्तृत

९२. आमोनिये, भाग १, पृ० २६१,
९३. इलियट, भाग ३ पृ० १२३।
९४. ननजिओ, कैटालाग, १२४४, १२४८।
९५. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १५६ पृ० ३९८।
९६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ९० पृ० १७९।
९७. यही, नं० १७७, पृ० ४५९।

वृत्तान्त एक दूसरे लेख में है जो लाओस में मिला।[९८] इनमें प्रवेश के लिए किसी प्रकार का भेद-भाव न था।

इन लेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कम्बुज में बौद्ध धर्म का प्रवेश स्थल तथा जलमार्ग से हुआ। पहले बौद्ध धर्म को कुछ क्षति पहुंची, किन्तु १०वीं शताब्दी के बाद से महायान मत उन्नति करता गया। इसका ब्राह्मण धर्म के साथ विरोध न था और तथागत को भी ब्राह्मण धर्म में स्थान दिया गया था। ब्राह्मण धर्म को बौद्ध धर्म से भी कोई क्षति नहीं पहुंची। उपर्युक्त वृत्तान्त से यह भलीभाँति विदित हो जायगा कि विस्तृत दृष्टिकोण और उदारता के कारण कम्बुज में बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की तरह भलीभाँति फूलता-फलता रहा और इसने सूर्यवर्मन् प्रथम और जयवर्मन् सप्तम आदि कम्बुज सम्राटों से आदर प्राप्त किया।

९८. इलियट, पू० सं०, पृ० १२४;

अध्याय ११

कला

कम्बुज-कला के विकास में भारतीय स्थापत्य और शिल्प कला का बड़ा हाथ रहा है। वहां के प्राचीन मन्दिरों के सम्मुख दर्शक को गुप्तकालीन किसी प्राचीन मन्दिर अथवा दक्षिण भारत के गोपुरम् की याद आती है। कम्बुज देश में भी कला का विकास भारत की भाँति धर्म को लेकर ही हुआ और इसी के अन्तर्गत मन्दिर तथा विहारों का निर्माण हुआ। इनकी बनावट और सजावट में भारतीय परम्परा को अपनाया गया, पर धीरे-धीरे स्थानीय प्रभाव बढ़ता गया और कला नवीन दिशा की ओर मुड़ी। स्थानीय कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय देकर उसे स्वतंत्र रूप धारण कराने का प्रयास किया, जिसके अन्तर्गत मन्दिरों का निर्माण स्थानीय प्रवृत्ति के आधार पर हुआ। कलाकार ने उत्तरी कम्बुज के प्राचीन लकड़ियों के प्रतीकों से प्रेरणा ली और उसी आधार पर भारतीय धर्म और देवताओं के निमित्त इस युग में भी मन्दिर बने। देवराज मत से संबधित लिंग स्थापना तथा पूर्वजों की मूर्तियां स्थापित करने के लिए मन्दिरों का निर्माण स्थानीय स्थापत्य-कला परिपाटी के अन्तर्गत हुआ। इसके अनुसार शिव का स्थान कैलास पर्वत है, इसी लिए मन्दिर का पर्वत अथवा पर्वत की भांति ऊँचे स्थान पर ही निर्माण करना चाहिए। इसी लिए इन पर्वत-मन्दिरों का निर्माण इस युग की विशेषता है। कम्बुज देश के बौद्ध शासकों ने भी अपना अनुदान दिया और जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमें जयवर्मन् सप्तम का वेयोन का मन्दिर चारों दिशाओं में लोकेश्वर के विशाल मुख के लिए प्रसिद्ध है।

आदि ख्मेर कला

ख्मेर कला के प्राचीन अंग को हिन्द ख्मेर कला भी कहते हैं, क्योंकि इस पर भारतीय प्रभाव सबसे अधिक है। कुछ विद्वानों का विचार है कि दक्षिण भारत के पल्लव और यहां की ख्मेर कला एक ही शैली के समानान्तर रूप हैं। गोसलिए

के मतानुसार कम्बुज की प्राचीन कला को ख्मेर न कहकर यदि भारतीय ही कहा जाय तो ठीक होगा।[1] यह भारतीय कला सुदूरपूर्व में सामुद्रिक मार्ग से पहुंची और फूनान में विभिन्न कलात्मक प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण हुआ, जहाँ के क्षेत्र में प्राचीन ख्मेर कला के अवशेष मिलते हैं। आदि ख्मेर कला का काल ईसा की ६–८वीं शताब्दी निर्धारित किया गया है और इसका मुख्य केन्द्र संभोर तथा प्राई कुक है जो कपोंग के निकट फूनान की प्राचीन राजधानी रही होगी। स्थापत्य कला के अन्तर्गत इस युग के मन्दिरों का निर्माण पूर्णतया भारतीय ढंग से हुआ और उन पर स्थानीय प्रभाव नहीं है। मन्दिर प्रायः ईंटों के बने हैं, पर पत्थर का भी प्रयोग किया गया। ये मन्दिर छोटे तथा गर्भगृह तक ही सीमित हैं। भारत के गुप्तकालीन भूमारा मन्दिर की भाँति बाहर की दीवार और मन्दिर के देवस्थान के बीच में एक छोटी-सी वीथी (गैलरी) है। यह आयताकार है, दीवारें साधारण हैं जिनमें चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) भी हैं तथा ऊपर की छत साधारण रूप से सीधी वेसर परिपाटी की है। छत और दीवारों के मध्य में गोल कानिस या बाहर को निकली हुई कानिस है और बीच में चैत्याकार मेहरावें हैं

१. कुमार स्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन—इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १८१। इस विषय में बहुत-से फ्रांसीसी विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। पार्मांतिये ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकर्षित किया। (बु० इ० फ्रा० २३, पृ० ४१८) अंकोर, पृ० १८। वकोफर के मतानुसार उत्तरी भारत की कला का भी सामुद्रिक मार्ग से सुदूरपूर्व में प्रवेश हुआ और विभिन्न कलात्मक परिपाटियों का मिश्रीकरण फूनान में हुआ (ज० ग्रे० इ० सो० २, पृ० १२२-७)। मेमूस ने भी ख्मेर कला पर भारत-प्रभाव सम्बन्धी लेख में अपने विचार प्रगट किये हैं (इंडियन आर १ ले० ७, पृ० ११० से)। विस्तृत रूप से ग्रसे ने अपने ग्रन्थ इस्ट्राग डु एक्सट्रीम ओरियन्ट (सुदूर-पूर्व का इतिहास) (इ० ए० ओ०) भाग २, पृ० ५७२ में इस पर विचार किया है। भारतीय प्रभाव स्थापत्य तथा शिल्प कला के क्षेत्रों में पड़ा। द्वारों के ऊपर के उभड़े छज्जे (पेडीमेन्ट) भारतीय चैत्याकार मेहराव से लिये गये हैं, जैसा कि लोमश ऋषि, भाज, कार्ले इत्यादि गुफामन्दिरों में मिलता है। सुहावटी (सिन्टल) के दोनों किनारों पर मकर हैं जो बैल को निगलते दिखाये गये हैं, जैसा कि भारतीय मन्दिरों में भी मिलता है। अजन्ता गुफामन्दिर १९। द्रौपदी रथ, महावलिपुरम्।

जिनमें मूर्तियों का शीश है, जैसा कि गुप्त तथा पल्लव कला में भी मिलता है। ईंटों के बने इन मन्दिरों की समानता उत्तरी भारत के सीरपुर तथा मिटरगांव से की जा सकती है और बाहरी भाग में नक्काशी की हुई ईंटों का भी प्रयोग किया गया है। ईंटों के अतिरिक्त पत्थर के मन्दिरों में संभोर के निकट हंचेई तथा कोंपों-थोम के प्राई-कुक के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। हंचेई का मंदिर पत्थर का बना है और इसके प्रवेश द्वार की सुहावटी (लिंटल) पर चतुर्भुज अनन्तशयन की प्रतिमा अंकित है। इसकी छत भी सीधी और साधारण है तथा इसकी समानता आइहोल के लाड्-खान मन्दिर से की गयी है।[२] प्राई कुक का मन्दिर आयताकार पत्थर का गृह है जिसमें ढ्योढी (ओसारा) नहीं है। किनारे पर दीवार में पतले स्तम्भों (पाइलस्टर) पर नक्काशी की हुई है। मन्दिर के नीचे की चौकी (पेडस्टलं) और ऊपर की चारों ओर की कानिस और छत के बीच मेहराबों में देवताओं के शीश दिखाये गये हैं। संभोर की भाँति प्राई कुक क्षेत्र में भी ईंटों के बहुत-से मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनकी दीवारें अलंकृत हैं और द्वार की सुहावटी पर मकर हैं।

वेयोंग का प्राचीन मन्दिर भी प्राचीन परिपाटी के अन्तर्गत ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम वर्षों में बनाया गया। इसमें भी ईंटों का प्रयोग किया गया है। इस आयताकार मन्दिर का नीचे का भाग भूमारा मन्दिर की भाँति है। गर्भगृह और बाहर की दीवार के बीच में प्रदक्षिणा-पथ है। ये मन्दिर तीन मरातिव (मंजिल) ऊंचे हैं और ऊपर के भाग नीचे से छोटे होते जाते हैं। यह मंजिल केवल अलंकरण हेतु है, इसका कोई वास्तविक प्रयोग नहीं था। दीवारों में नकली चैत्य-खिड़कियां बनी हुई हैं। मंजिलों की छत वेसर परिपाटी के अन्तर्गत है, जैसी कि कांचीपुर के कैलास मन्दिर या मामल्लपुरम् के रथों में है।[३]

२. गोसलिए, ग्रोसलिए : रेचसेंज सग ल कम्बोडिएंस (कम्बोडिया पर खोज), अध्याय २४। कुमार स्वामी, पृ० १८१-२। रावलैंड, दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ इंडिया (आ० इ० आ० ई०, पृ० २२५।

३. रावलैंड, आ० इ० आ० ई०, पृ० २२६। चित्र ११३ व, ११७ व। ग्रसे : इ० ए० ओ०, भाग २, पृ० ५७३-४।

स्थापत्य कला के अतिरिक्त इस युग की शिल्पकला पर भी भारतीय प्रभाव पूर्णरूप से प्रतीत होता है। इस काल की मूर्तियाँ भी गुप्तकाल की मूर्तियों से बहुत मिलती-जुलती हैं। उनको देखने से प्रतीत होता है कि वे भारतीय कलाकारों की ही देन हैं। शिल्पी शब्द का प्रयोग यशोधरपुर के मन्दिर से संबंधित लेख में मिलता है।[४] उस समय स्थानीय शैल रूपकारों ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया होगा, पर तकेओ और प्राई-क्रवस से प्राप्त मूर्तियों की वेशभूषा, किरणभेदी चुन्नट (ट्रांसपैरेन्ट ड्रेयरी), ओठों पर मुस्कान, कमानीदार भवें तथा खुली आँखें का होना ही इस बात का असंदिग्ध प्रमाण नहीं प्रतीत होता कि भारतीय कलाकारों ने ही उनका निर्माण किया। प्राकृतिक सौन्दर्य और मूर्ति में स्फूर्ति की भावना तथा गंभीरता विशेषतया उल्लेखनीय है। विशिष्ट मूर्तियों का उल्लेख आगे किया जायगा।

शास्त्रीय युग—कला-विकास

आठवीं शताब्दी के आरम्भ से ख्मेर कला का दूसरा युग आरम्भ होता है जिसे शास्त्रीय युग की कला के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस युग में भी विषय भारतीय ही रहे और कलाकारों ने मन्दिरों, विहारों, प्रासादों तथा ब्राह्मण और बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों का निर्माण किया। पर कलाकार एक नये मोड़ की ओर चल पड़े थे जिसमें उन्हें स्वतंत्रता थी और भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। इसी लिए ख्मेर कलाकारों ने जहां कहीं भी मन्दिर बनाये उसमें कुछ न कुछ नवीनता अवश्य डाल दी। कला के प्रसरण में विशेष रूप से राजकीय हाथ रहा, इसी लिए कुछ विद्वानों ने शासकों के नाम पर कला का नामकरण किया, जैसे इन्द्रवर्मन् की कला,[५] या यशोवर्मन् की कला इत्यादि। रावलैंड के मतानुसार[६] इस शास्त्रीय ख्मेर कला का प्रथम युग ८वीं से १०वीं

४. 'यशोधरपुरे रम्यं मन्दिरं विवुधप्रियः।
शिल्पविद् विश्वकर्मेव यो नरेन्द्रेण कारितः॥' मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० ९६पृ० २३१, पद ९८। ईंटों के बने मन्दिरों का उल्लेख कम्बुज लेखों में भी मिलता है। मजुमदार, यही, नं० २२, पृ० २७। नं० ५८, पृ० ७१।

५. बु० इ० फ्रा० १९१९।

६. आ० ए० आ० ई०, पृ० २२८।

शताब्दी के अन्त तक रखा जा सकता है और कला का दूसरा युग ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के अन्त तक रख सकते हैं। हैलेंड ने सम्पूर्ण ख्मेर कला को विभिन्न केन्द्रों के अन्तर्गत बांटा है।[७] इसमें से प्रथम संभोर कला ईसा की छठी शताब्दी के अन्त से लेकर सातवीं शताब्दी तक संभोर तथा प्राई कुक पर्यंत सीमित रही। इसके बाद प्राइ-ख्मेंग और कों-पोंग-प्रह् की कला थी, जिसके प्रतीक प्राई अन्देल में मिले हैं और यह ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ब भाग से आठवीं के अन्त तक विकसित रही। जयवर्मन् द्वितीय के जावा से लौटकर कम्बुज में राज्य स्थापित करने के समय से शास्त्रीय युग आरम्भ होता है। इसमें देवराज की मूर्ति स्थापित हुई और सम्राट् की बदलती राजधानियों के साथ-साथ इस मूर्ति की स्थापना भी विभिन्न केन्द्रों में हुई। नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध भाग में कुलेन तथा रूलों अथवा प्रह्-खो की कला-परिपाटी के अन्तर्गत ९७९ में प्रह् खो, ८९१ में वकोंग और ८९३ में लोले के मन्दिर स्थापित हुए। अंकोर क्षेत्र में ही राजधानियाँ और मन्दिर बने। यशोवर्मन् प्रथम ने अंकोर राज्य की स्थापना की जिसका केन्द्र नोम वखेंग था, और यहीं पर नवीं शताब्दी के अन्त तथा दसवीं के प्रारम्भ में नोम वखेंग के मन्दिर तथा नोम-क्रोम, नोम-ब्रोक, प्रसत-क्रवो (९२१ ई०) तथा वकसेई-चंक्रो का निर्माण हुआ। खो-खेर के मन्दिर ९२१-९४४ ई० के बीच में अपने ढंग पर बनाये गये। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध भाग में वन्ते श्राई की कला को रखा गया है जिसका निर्माण ९६७ में हुआ था, और इसी समय में मेबोन (९५२ ई०) तथा प्रेरुप (९६१ ई०) के मन्दिर स्थापित किये गये। बौद्ध सम्राट् सूर्यवर्मन् प्रथम के समय (१००२-१०४९ ई०) में ख्मेर कला उत्तर में लाओस तथा पश्चिम में स्याम की ओर भ: बढ़ी। दसवीं शताब्दी के अन्त और ११वीं के आरम्भ के युग की कला 'कलेंग कला' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ता-किओ और फिमानक के मन्दिरों को रखा गया है। १०६८ ई० में बफूओन का मन्दिर अपने ढंग पर बनाया गया। अंकोरवाट के निर्माता सूर्यवर्मन् द्वितीय (१११३-११५०) ने कम्बुज कला के प्रसरण में विशेष रूप से अनुदान दिया। ११वीं शताब्दी के अंत और १२वीं के पूर्वार्ध भाग में फिमाई (१११० ई०) के चमों के आक्रमण तथा अंकोर को जलाने से कला को बड़ी क्षति पहुँची। जयवर्मन् सप्तम ने पुनः राज्य-संगठन

७. आर्ट डु एशिया ओसिएन (प्राचीन एशिया की कला) भाग २, पृ० ४-५।

कर अंकोर थोम नामक नगर की स्थापना की। उसके बौद्ध होने के नाते इस समय महायान मत प्रधान था। बेयोन की स्थापना लगभग १२०० ई० में हुई। इसी समय में ता प्रोम (११८६), प्रह खन, अंकोर-थोम के गोपुरम्, वन्ते-चमर तथा प्रासाद भी बने। यही ख्मेर कला का अन्तिम युग था। स्यामियों के साथ संघर्ष के फलस्वरूप १४वीं शताब्दी में कला का अन्त हो गया।

विशेषताएँ

शास्त्रीय युग की कला में स्थानीय लकड़ी के प्रासादों के आधार पर तथा भारतीय विषय और विशिष्ट कला को लेकर मन्दिरों का निर्माण हुआ। पामांतिये के मतानुसार[८] प्राचीन लकड़ी की इमारतों में लम्बे दालान या वीथियाँ (गैलरी) होती थीं और ऊपर की छत ढालू टाइलों द्वारा पाटी जाती थी। कभी-कभी ऊपर का भाग शुंडाकार (पिरामिडल) रूप भी धारण कर लेता था। इस सम्बन्ध में उत्तरी स्थापत्य परम्परा के, जो चेन ला से आयी थी, अन्तर्गत शिखर तथा सम्मिलित वीथियों का मुख्य स्थान था। दक्षिणी परम्परा में, जो फूनान से ली गयी थी, केवल शिखर का ही प्रधान स्थान था। इन्हीं पर आधारित कम्बुज देश की शास्त्रीय स्थापत्य कला विकसित हुई, जिसके मूल अंग थे ऊँची मेढी या सोपान चढ़कर कैलास की भाँति ऊंचे स्थान पर देवस्थान का निर्माण, शिखर तथा क्रास-आकार रूप में मन्दिरों का एक-दूसरे से मिलाकर बनाना और अन्तर्वीथियों का निर्माण, जिससे दर्शक प्रदक्षिणा कर सके तथा उसमें दीवारों पर शिलपचित्र अंकित किये गये।[९] आगे चलकर मन्दिर के चारों ओर खाई बनायी जाने लगी जिसे पार

८. हिस्ट्री आफ ख्मेर आर्कीटेक्चर, ईस्टर्न आर्ट ३ (१९३१), पृ० १४७ से। उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार इसी प्रकार के पिराभिड कम्बुज, स्याम तथा बर्मा में अब भी पाये जाते हैं।

९. मन्दिरों के निर्माण में दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्रथम उनका निर्माण कैलास की भाँति ऊँची पहाड़ी या बने हुए स्थान पर होना चाहिए, जैसा कि एक लेख में शिवलिंग की स्थापना ८१ फुट की ऊँचाई पर होने का उल्लेख है। मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८५, पृ० १७२। दूसरी आवश्यकता यह थी कि मन्दिरों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में सुगमता के लिए वीथियों का

करने के लिए पुल या बांध बनाये गये तथा खाई के पास नागों की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। इनके अतिरिक्त इस शास्त्रीय युग के मन्दिरों के तीन द्वार, स्तम्भ के रूप में गरुड़ की मूर्ति, मेहराब तथा कमानीनुमा छतें (वाल्टेड रूफ), ऊँचे शिखर, नोकीली कमानीदार तोरण (ओगिव), दिलहे (टिम्पेनम) तथा लम्बी-लम्बी वीथियाँ विशेषताएं हैं। प्रमुख मन्दिरों में केवल कुछ ही का उल्लेख किया जा सकता है।

लोले के मन्दिर

लोले के मन्दिरों का कम्बुज की कला के क्षेत्र में अपना स्थान है। यशोवर्मन् द्वारा बनवाये गये इन मन्दिरों का स्वरूप, शिखर तथा अलंकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये मन्दिर एक ही स्थल (टेरेस) पर ह्रास आकार के क्रम से बनाये गये हैं। बाहरी भाग में प्रवेशद्वार की सुहावटी खुदे हुए चित्रों से अलंकृत है। द्वार के दोनों ओर दीवार में खुदे हुए आले हैं जिनमें द्वारपाल की खड़ी मूर्तियाँ हैं। द्वार के ऊपर चैत्याकार फलक है जिसके किनारों पर मकर बने हैं। छत से कलश तक का शिखर कई भागों में विभाजित है जो क्रमशः नीचे से ऊपर छोटा होता जाता है। इन भागों में भी उसी प्रकार चैत्याकार मेहराबें तथा ईंटों के स्तम्भ (पाइलस्टर) हैं। कई मंजिलों के शिखर दक्षिण भारत के गोपुरम् की याद दिलाते हैं। ऊपर का कलश भी द्रविड़ परिपाटी का प्रतीत होता है। इन मन्दिरों के द्वार तथा आले पत्थर के हैं, पर शिखर ईंटों का बना है। आलों में द्वारपाल की मूर्तियाँ महीन चूने (स्टक्को) की बनी हैं। लोले के मन्दिरों का एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इनका निर्माण शिव-पार्वती की मूर्तियों के स्थापन हेतु हुआ था। ये मन्दिर आदि ख्मेर कला, जो पूर्णतया भारतीय थी और शास्त्रीय कला के मध्य युग के हैं।[१०]

निर्माण किया गया। वास्तव में ख्मेर स्थापत्य कला के केवल तीन ही मुख्य अंग हैं; शुण्डाकार मेढ़ी जिस पर मन्दिर का निर्माण हो, मन्दिर का शिखर और वीथियाँ (गैलरी)। इन्हीं तीनों को लेकर स्थापत्य कला का क्रमरूप से विकास हुआ। वीथियों में चित्र अंकित किये गये।

१०. ग्रूसों ने अपने एक लेख में ९वीं शताब्दी के रूलों के मन्दिरों पर जावानी प्रभाव दिखाने का प्रयास किया है (जू० ए० सितम्बर १९३३, पृ० १९० से)।

वकसेई चम्कों और नोम वखेंग

ख्मेर कला स्थानीय परिपाटी के अन्तर्गत आगे मुड़ रही थी। मन्दिरों के निर्माण में इस बात पर ध्यान दिया जाने लगा कि वे बड़ी ऊँचाई पर हों। एक लेख में एक शिवलिंग की ८१ फुट की ऊँचाई पर स्थापना का उल्लेख है।[११] इसके अतिरिक्त मन्दिरों में सुगमता से यात्रियों के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए मन्दिर के अन्दर वीथियों (गैलरी) का होना आवश्यक था। पर्वत-मन्दिर का साधारण प्रतीक वकसेई चम्कों का मन्दिर है जिसका निर्माण ९४७ ई० में हुआ था। लोले के मन्दिरों की भाँति इसका शिखर भी उसी आकार का है, पर यह समतल भूमि पर नहीं बना है। प्रवेशद्वार तक पहुँचने के लिए चारों ओर सोपान हैं और मन्दिर पाँच मंजिल के शुंडाकार (पिरामिड) स्थल पर है। कदाचित् पहले हर मंजिल की सीढ़ी पर पहुँचने के स्थान पर सिंह बैठे थे। इस मन्दिर में कोई लिंग-मूर्ति नहीं मिली और इसका निर्माण किसी पूर्वज की मूर्ति-स्थापना हेतु हुआ होगा।

नोम वखेंग का मन्दिर अंकोर थोम के निकट एक पहाड़ी पर है, जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने कराया था, जैसा कि यहीं से प्राप्त जयवर्मन् पंचम के शक सं० ८९० के लेख से प्रतीत होता है।[१२] इसमें यशोधरेश्वर नामक शिवलिंग की स्थापना की गयी थी। इसमें एक पहाड़ी को पाँच मंजिल के शुंडाकार में परिणत किया गया है। सबसे ऊपर की मंजिल पर पत्थर के पाँच शिखर हैं और उनके छोटे प्रतीक नीचे सीढ़ियों पर बने हैं। कदाचित् ऊपर के शिखर-मन्दिरों के

उनके मतानुसार जावानी प्रभाव नोम कुलेन (महेन्द्र पर्वत), जो जयवर्मन् द्वितीय की कुछ समय तक राजधानी रहा तथा रूलों (हरिहरालय, अन्तिम राजधानी) के मन्दिरों पर पड़ा। इस सम्बन्ध में गोलोव्यू ने भी बोरोबुदूर के एक तोरण की प्रसत-कोक-पो (८५७) की एक सुहावटी (लिन्टल) से समानता दिखायी है जिसमेंकाल का शीश और मकर भी है। काल-मकर-तोरण का प्रभाव नोंम बखेंग, नोम-वोंक, बन्ते श्राई तथा अंकोर तक पड़ा। दीवारों में बने स्तम्भों (पाइलस्टर) को अलंकृत करने तथा द्वारपाल और अप्सराओं में भी यह प्रभाव प्रतीत होता है।

११. पू० सं०, नं० ८५, पृ० १७२।

१२. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १०६, पृ० २७९।

बीच में एक बड़ा देवस्थान रहा होगा जिसका देवराज मत से सम्बन्ध होगा। प्रत्येक मंजिल में सोपान के दोनों ओर पत्थर के सिंह बैठे दिखाये गये हैं। फिमानक (आकाश-विमान) का निर्माण १०वीं शताब्दी में यशोधरपुर के प्रांगण में हुआ था और कदाचित् यह एक सहायक मन्दिर के रूप में था। तीन मंजिल की ऊँचाई पर वह शुंडाकार मेढी पर स्थित है तथा ऊपर पहुँचने के लिए सोपान हैं जिनके दोनों किनारों पर सिंह बैठे दिखाये गये हैं। नोम-वखेंग की भाँति इसकी मंजिलों पर शिखर नहीं हैं। ऊपरी भाग पर खुली हुई वीथी है जो कदाचित् यात्रियों के ठहरने अथवा दानहेतु धान्य रखने के लिए बनायी गयी थी। ता-किओ के शैव मन्दिर भी, जो अंकोर के पूर्व और ता-प्रोम के उत्तर में हैं, इसी प्रकार शुंडाकार मेढी पर स्थित हैं। ऊपरी भाग पर आठ शिखर बने हुए हैं जिनसे कदाचित् शिव के आठ नामों अथवा स्वरूपों का संकेत रहा होगा। फिमानक की भाँति यहाँ भी वीथियाँ हैं।[13]

अंकोरवाट (नगरमन्दिर)

कम्बुज कला में ऊँचाई और चौड़ाई के संतुलन का सफल प्रयास सूर्यवर्मन् द्वारा बनाये गये अंकोरवाट में मिलता है। इस विशाल मन्दिर को देखते ही कोई भी दर्शक संदिग्ध और विस्मित होकर सोचने लगता है कि यह मनुष्य अथवा देवता द्वारा बनाया गया होगा। ढाई मील के घेरे में स्थित इस विशाल मन्दिर के चारों ओर खाई है और प्रवेश के लिए एक पुल बना है, जिसके कटठघरे (बालुस्टेड) के दोनों ओर नाग हैं जिनके फण सबसे आगे हैं। ३००० फुट चौकोर पत्थर की मेढी पर ऋास आकार ऋम में विशाल मन्दिर बना है। प्रवेशद्वार से अन्दर जाते ही एक लम्बी वीथी (गैलरी) मिलती है जो कोई आधे मील की परिधि में है और इसमें २५०० फुट की लम्बाई तक विष्णु तथा यम से सम्बन्धित कथानक-चित्र अंकित हैं। यह बन्द प्रदक्षिणा-पथ (कलायस्टर्ड आरकेड) मन्दिर की बाहरी परिधि का प्रथम अंग है। मुख्य द्वार से ऊपर चढ़ने के लिए सोपान हैं, जहाँ से ऊपर पहुँचने पर ऋासाकार चार आँगन हैं और उसी प्रकार की वीथी चारों ओर चली गयी है।

१३ वारनेट, दी टेम्पुल आफ अंकोरवाट, ए० वि० इ० आर०१९३२, पृ० ४१ से। रालैंड, दि० आ० इ० आ० इ०, पृ० २३२ से।

किनारों पर शिखर हैं। यहाँ से दूसरे जीने से चढ़ने पर पुनः एक विशाल आँगन में पहुँचते हैं जिसके किनारों पर शिखर हैं। इस मेढी से ऊपर चढ़ने के लिए पुनः सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जहाँ बीच में शुंडाकार मेढी पर मन्दिर बना है। देवस्थान में पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। यह देवस्थान पृथ्वी से २०० फुट की ऊँचाई पर है जहाँ देवराज की मूर्ति स्थापित थी। मन्दिर में बीच का शिखर सबसे ऊँचा है और चार कोनों पर चार और शिखर बने हुए हैं। इन शिखरों की तुलना भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखर से की जा सकती है, पर अंकोरवाट के मन्दिर का शिखर नौ भागों में है और यह प्रतीत होता है कि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मोतियों की माला लपेटी हुई है जो भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखरों में नहीं है। इन शिखरों को एक दूसरे और बीच के देवस्थान से बन्द वीथियों द्वारा मिला दिया गया है और यही प्रयास दूसरी तथा प्रथम मंजिल पर भी किया गया है। इस विशाल मन्दिर के निर्माण में समतल (हारीजान्टल) और क्षितिज (वरटिकल) प्रयोगों का संतुलन किया गया है। मन्दिर के बाहरी भाग की बनावट, घुमाव और गोलाई में ख्मेर कलाकार ने अपनी बुद्धि और स्वतंत्र विचार से काम लिया है, यह भारतीय परम्परा पर आधारित नहीं है। वीथी और शिखरों के गुम्बज कछोटियाकार (कारवेल) सिद्धान्त को लेकर बने हैं जिसके अन्तर्गत अगले बढ़े हुए पत्थर का भार पिछले पत्थर पर रहता है। इस सम्पूर्ण मन्दिर में कहीं पर भी चूने या पलस्तर का प्रयोग नहीं हुआ है। स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक के अतिरिक्त अंकोरवाट अपनी शिल्पकला के लिए भी प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अन्तिम युग

शास्त्रीय परिपाटी के अन्तर्गत कम्बुज में कला का अन्तिम युग विशेष रूप से महत्त्व रखता है। यह सिद्ध करता है कि राजनीतिक परिस्थिति कम्बुज-शासकों की क्रियात्मक प्रवृत्तियों को रोक न सकी। अंकोरवाट के निर्माण के बाद चमों ने कम्बुज देश पर आक्रमण किया और नगरद्वार तक पहुँचकर बड़ी क्षति पहुँचायी। जयवर्मन् सप्तम ने चमों को हराकर अपनी नयी राजधानी अंकोरथोम के चारों ओर दीवार, जिसमें पाँच बड़े द्वार हैं तथा बड़ी खाई बनवायी और बीच में वेओन का विशाल लोकेश्वर का मन्दिर बनवाया, जिसके ५४ शिखरों के प्रत्येक कोने पर लोकेश्वर का मुख पत्थर पर अंकित है। इसके अतिरिक्त सम्राट् ने प्रह-खन, ता-प्रोम, वन्ते-कई के विहारों और निएक-पिएन के छोटे मन्दिर का भी निर्माण किया।

कम्बुज में कला की मणियों में वन्ते-श्राई का गोपुरम् भी है जिसका निर्माण श्री इन्द्रवर्मन् के गुरु द्वारा १३०४ ई० में हुआ था।[१४] इसमें एक पीढ़े (वेसमेंट) पर तीन मन्दिरों का निर्माण हुआ जो शिव की लिंगमूर्ति-हेतु बनाये गये थे। दो और स्थान मन्दिर-पुस्तकालय का काम देते थे। संभोर और लोले की भाँति ये सब एक ही मेढ़ी पर बने हैं और इनके चारों ओर घेरा है जिसमें दक्षिण भारत की भाँति गोपुरम् है। क्रासाकार आधार पर मन्दिरों का निर्माण हुआ और प्रवेशद्वार की भाँति तीन ओर नकली द्वार थे। वन्ते-श्राई के मन्दिरों का महत्त्व शिल्पकला के कारण और भी बढ़ जाता है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अंकोरथोम का निर्माण अंकोरवाट-रचना से एक शताब्दी बाद हुआ। इस प्रासाद-नगर के चारों ओर दीवारें तथा खाई हैं जो प्रत्येक दिशा में कोई ३३०० गज लम्बी हैं। खाई दीवारों से कोई १०० गज की दूरी पर है और अन्दर आने के लिए पाँच पुल हैं जिनके किनारे पर देवता और असुर शेषनाग लिये दिखाये गये हैं। नगर के चारों ओर की दीवारों में पाँच फाटक हैं जिनके ऊपर शिखर हैं जो ७० फुट ऊंचे हैं और इन पर चारों दिशाओं में लोकेश्वर की मूर्ति अंकित है। वेओन का मन्दिर नगर के बीच में है जहाँ से दीवार तक पहुँचने के लिए चारों ओर रास्ते बने हैं। यह मन्दिर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित था[१५] जैसा कि लोकेश्वर की मूर्तियों तथा वहाँ से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति से प्रतीत होता है। इसकी वीथियों की छतें भी

१४. इस मन्दिर का निर्माण एक पुराने मन्दिर के अवशेष पर हुआ था जिसकी तिथि ९६९ है और पहले वर्तमान मन्दिर की यही तिथि निर्धारित की जाती थी। अंकोरथोम से यह कोई २५ किलोमीटर की दूरी पर है (रावलैंड, पृ० २४७, नोट २१)। हैलैंड के मतानुसार इसकी तिथि दसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में रखनी चाहिए।

१५. सिडो के मतानुसार इसका सम्बन्ध पूर्वजों से था (बु० इ० फ्रा० ३३, पृ० ३०३)। कुमार स्वामी का कथन है कि इसमें देवराज लिंग के अतिरिक्त और बहुत-से देवताओं की मूर्तियाँ भी स्थापित की गयीं, यथा ब्राह्मण देवताओं में शिव, विष्णु, देवी तथा इनके अन्य रूप--बुद्ध के अतिरिक्त भैषज्यगुरु वैदूर्य प्रभाराज-भिषक् के रूप में बुद्ध, संरक्षक देवता जिनका कम्बुज देश के मुख्य नगरों में मान था तथा देवता रूप में पूर्वज और उनके प्रतीक जिनका नाम मृत्यूपरान्त शासकों को दिया

कछोटाकार गुम्बज (कारवेल्ड वाल्ट) की हैं, पर बाहरी भाग में अंकोरवाट की तरह टाइलें लगी हुई हैं। शिखरों में किसी प्रकार के चूने का प्रयोग नहीं हुआ है। यद्यपि मन्दिर बौद्ध है, पर इसमें सैनिक चित्रों के अतिरिक्त रामायण के चित्र भी अंकित हैं। इसका निर्माता जयवर्मन् स्वयं बौद्ध था। जयवर्मन् सप्तम ने ११९१ में अपने पिता की मूर्ति लोकेश्वर के रूप में स्थापित करने के लिए प्रह खन का मन्दिर बनवाया जो विशाल घेरे के अन्दर है। इस मन्दिर का केन्द्र प्रथम घेरे का क्रासाकार शिखर-मन्दिर है और इसके साथ में कम्बुज स्थापत्यकला के अन्य अवयव, बन्द वीथियाँ (गैलरी), गर्भगृह, गोपुरम् तथा खाई और प्रवेश के लिए द्वार इत्यादि भी हैं। शिल्पकला का भी सुन्दर चित्रण है। ता-प्रोम का मन्दिर भी इसी सम्राट् का बनवाया हुआ था और इसमें उसकी माँ की मूर्ति स्थापित की गयी।

निएक-पेन

अंकोरथोम के क्षेत्र में १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध भाग का एक अन्य मन्दिर निएक-पेन के नाम से प्रसिद्ध है। कमलाकार सोपानयुक्त मेढी पर यह मन्दिर बना है जिसके चारों ओर दो नागों का घेरा है। बीच का मन्दिर क्रासाकार आकृति पर निर्मित है और मन्दिर के शिखर का आमलक कमल की तरह है। नकली द्वार पर वेओन की भाँति लोकेश्वर की प्रतिमा अंकित है। कम्बुज की स्थापत्यकला का यह सुन्दर प्रतीक है।

कम्बुज देश की स्थापत्यकला में स्थानीय कलाकारों ने पूर्णतया योगदान दिया और मन्दिरों की विशालता, ऊंचाई तथा लम्बाई-चौड़ाई का संतुलन, शिखरों का निर्माण तथा वीथियों का एक दूसरी से मिलाना पूर्ण रूप से इन तीनों क्षेत्रों में कलाकारों की वुद्धि और ज्ञान के विकास का परिचय देता है। वे भारतीय कला-परिपाटी से अनभिज्ञ न थे, उनके सामने पहले के मन्दिर मौजूद थे जो गुप्तकालीन उत्तर भारतीय अथवा दक्षिण भारत के पल्लव मन्दिरों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे। यशोवर्मन् के समय से कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। मन्दिर केवल देवता के गर्भगृह तथा उसके ऊपर के शिखर तक सीमित न थे। उनके स्थान

गया था। इसलिए वेओन सभी प्रकार की धार्मिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण था (हिस्ट्री, इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १८९)।

पर अब पर्वत पर स्थित कैलास-मन्दिर का रूप दिया जाने लगा। पहाड़ी या ऊंचे स्थान तक पहुँचने के लिए सोपान बनाये गये और उन पर विशाल मन्दिर तथा प्रदक्षिणापथ के लिए मन्दिर के चारों ओर वीथियों और किनारे पर शिखरों का निर्माण हुआ। स्थापत्य कला के इन तीनों अवयवों को लेकर कलाकारों ने इसे आगे बढ़ाया। धार्मिक के अतिरिक्त लौकिक स्थापत्य कला के अन्तर्गत नगर के चारों ओर लम्बी दीवारों और उनके आगे बड़ी खाइयों का निर्माण हुआ, जिससे नगर और उसके मन्दिरों की रक्षा की जा सके। अन्त में राजनीतिक परिस्थितियों ने ख्मेर राज्य को केवल क्षति ही नहीं पहुचायी, वरन् इसका अन्त कर दिया और उसके साथ ही कला का भी ह्रास हुआ। प्रकृति ने इन प्राचीन अवशेषों को अपनी हरी चादर से ढक लिया और कई सौ वर्ष तक इन विशाल मन्दिरों के केवल शिखर ही जल में कमल की भाँति जंगलों में इधर-उधर दिखाई पड़ते थे। फ़्रांसीसी विद्वानों तथा पुरातत्त्व-वैज्ञानिकों के सफल प्रयास से इन मन्दिरों के प्राचीन स्वरूप का उद्घाटन किया जा सका। स्थापत्य कला के अतिरिक्त ये मन्दिर शिल्पकला के भी भंडार हैं जिसका अध्ययन किया जा सकता है।

शिल्पकला

कम्बुज देश की शिल्पकला का विकास धार्मिक भावना को लेकर तथा मन्दिरों को अलंकृत करने के लिए हुआ। आदि ख्मेर काल में स्थापत्य की भाँति शिल्प-कला के प्रतीक भी पूर्णतया भारतीय थे और यह प्रतीत होता है कि मानो भारतीय कलाकारों ने ही इनको बनाया होगा। आँखें पूर्णतया खुली हुई हैं, ओठों पर हलकी सी मुसकान है और मूर्तियों के वस्त्रों में वही चुन्नट तथा किरणभेद्यता (ट्रांसपैं-रेन्सी) है जो गुप्तकालीन मूर्तियों में मिलती है। मूर्तिकला पूर्णतया भारतीय रही। शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत मूर्तियों के लक्षण भी वही रहे। धार्मिक भावना के आधार पर ब्राह्मण तथा बौद्ध मूर्तियों का रूप नहीं बदला, पर ख्मेर कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कला का परिचय उन मूर्तियों के भाव और अलंकार प्रदर्शन में दिया। वेशभूषा, अलंकार, प्रदर्शन कला तथा प्रसंग चित्रण में कलाकारों ने नवीनता और विशेषता प्रदान की। शिल्पकारों ने ख्मेर कला में अश्लील विषयों को कहीं भी स्थान नहीं दिया, यद्यपि तंत्रवाद यहां पूर्ण रूप से विकसित था। इसी लिए कला की शुद्धता धार्मिक भावना का प्रतीक बनकर ही रह गयी। अलंकृत चित्रों के लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाओं का ही आश्रय लिया

गया। आगे चलकर मुख्यतया अंकोर थोम वाले बेओन के मन्दिर में बाहरी दीवारों पर सैनिक चित्र तथा कम्बुज जीवन की झांकी भी अंकित की। इसी लिए शिल्पकला की प्रवृत्ति धार्मिक भावना को लेकर मन्दिरों को अलंकृत करने, स्वतंत्र रूप से धार्मिक मूर्तियों के निर्माण तथा मन्दिर के अन्दर वीथियों में पौराणिक चित्र रचना के लिए हुई। इसमें कम्बुज सम्राटों की उनके इष्ट देवता के स्वरूप में मूर्तियों की स्थापना भी की जाती थी। मूर्तियां पत्थर की ही बनीं, पर कम्बुज-शिल्पकला के काँसे के प्रतीक भी मिलते हैं। विद्वानों ने मूर्तियों के निर्माण तथा कला के विकास का अध्ययन स्थान के आधार पर किया है। बोआस-लिए के मतानुसार मूर्तिकला[१६] को नो मदा, संभोर, प्राई कुक, प्राई-क्में तथा कोंपों-प्रह, कुलेन, प्रह खो, वखेन, खो-खेर, वन्ते-श्राई, ब्लाञ्ज, अंकोरवाट, बेओन तथा इसके बाद की कला के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उन्होंने विभिन्नता दिखाने के लिए वेशभूषा, मौलि, कटिसूत्र, मूर्तियों के आकार, विभिन्न भागों के संतुलन, उनके मुखभाव प्रदर्शन इत्यादि का आश्रय लिया है। आदि ख्मेर या प्राचीन काल की मूर्तियाँ और शास्त्रीय युग की मूर्तियाँ ब्राह्मण और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से भिन्नता दिखाती हैं। इसलिए यहाँ पर केवल कालानुसार तथा धार्मिक क्रमानुसार मूर्तियों का परिचय तथा पौराणिक चित्रों का वर्णन और शासकों की मूर्तियों तथा दैनिक जीवन के कुछ चित्रों का वृत्तान्त ही दिया जा सकेगा।

ब्राह्मण मूर्तियां

ब्राह्मण देवी-देवताओं में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश, हरिहर, बलराम, लक्ष्मी, उमा, महेश्वर इत्यादि की मूर्तियां ख्मेर कला में बनायी गयीं और इन देवी-देवताओं से सम्बन्धित बहुत-से कथानक-चित्र भी अंकित किये गये । त्रिमूर्ति में ब्रह्मा का नाम पहले आता है। ब्रह्मा (प्रह प्रोम) को कला में प्रधान रूप नहीं मिला। चतुर्मुखी मूर्ति कम्बुज देश में बनायी गयी और इसके कई प्रतीक मिलते हैं। इनमें खड़ी हुई, हंस पर बैठी तथा केवल शीर्षयुक्त हैं । खड़ी हुई ब्रह्मा की मूर्तियों में

१६. ल स्टेचूऐर ख्मेर ए सो एवोल्यूशन (ख्मेर मूर्तियाँ और उनका विकास) (स्टे० ख्मे०) भाग १, पृ० १६-१७।

फुमत्नोट (वत पो वाल)[१७] से प्राप्त तथा नोम प्रसत राक से प्राप्त मूर्तियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। चतुर्मुख और चार हाथ की मूर्तियों में स्थूलता है, मुख पर गंभीर भाव है, कान लम्बे और छिदे हुए हैं और शीश पर जटाकार मौलि है। नोम वोक वाला ब्रह्मा का शीश भी[१८] कला की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। चौड़े ओठों पर मुसकान है, तिरछी मूँछें हैं, बड़ी आँखें खुली हुई हैं, दोनों भँवें मिली हुई हैं। शीश पर सुन्दर बेल है जिस पर आयताकार मौलि है। सबसे सुन्दर ब्रह्मा की बैठी हुई मूर्ति है जो वसेत से प्राप्त हुई[२०] और म्यूजेगिमे (पेरिस) में है। इसमें ब्रह्मा पद्मासन में बैठे हैं, बाँहें टूटी हैं, मुख पर उसी प्रकार की गंभीरता का भाव है, पर ओठों पर मुसकान है। मौलि भी पूर्ववत् है। वन्ते श्राई में एक फलक पर पुष्पलताओं के बीच में हंस पर सवार ब्रह्मा की मूर्ति अंकित है।

विष्णुमूर्ति तथा वैष्णव चित्र

विष्णु को ख्मेर कला में विशेष स्थान प्रदान किया गया और इनके विभिन्न अवतारों और उनसे सम्बन्धित वृत्तान्तों को चित्रण करने का प्रयास किया गया है। विष्णु की मूर्ति बड़ी अथवा शेषनाग की शय्या पर लेटी दिखायी गयी है। खड़ी मूर्तियों में सबसे सुन्दर और अच्छी दशा में प्रसत डम्रे क्राप[२१] से प्राप्त (इस समय म्यूज़ेफिनों) विष्णु की मूर्ति है जो साधारण होते हुए भी बड़ी आकर्षक है। विष्णु शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। मुख पर प्रसन्नता का भाव है। मे-वोन से प्राप्त विष्णु की एक कांसे की मूर्ति[२२] के, जो पूर्णतया टूटी हुई है, दाहिने अंग के दो हाथों की मुद्राएं, मुख का गंभीर भाव, नेत्रों के ऊपर कमानीदार चौड़ी भँवें जो एक दूसरे से अलग हैं, कंटमाला तथा बाजू के कुंडल इसमें विशेषता प्रदान करते हैं। यह शयनावस्था की मूर्ति है। तुओल-वसेत की सुहावटी (लिन्टल) पर विष्णु

१७. वोसलिये, स्टे० ख्मे० भाग २, चित्र नं० ५३।
१८. यही, नं० ५४ (अ)।
१९. यही, नं० ४०।
२०. वोसलिये, स्टे० ख्मे० भाग २, चित्र नं० ४२ (अ)।
२१. यही, नं० २७।
२२. यही, नं० १०६।

की शेषनाग-शय्या पर शयनमूर्ति सुन्दरता से प्रदर्शित है। उनकी नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा बैठे हैं।[२३] ख्मेर कलाकारों ने विष्णु के कूर्मावतार, नरसिंहावतार तथा वाराह अवतार को चित्रण करने का भी प्रयास किया तथा राम और कृष्ण से सम्बन्धित लीलाएं चित्रित कीं। अंकोर थोम में भी विष्णु से सम्बन्धित बहुत-से चित्र हैं।[२४] रामायण से उद्धृत चित्रों में मारीच का आखेट,[२५] सीता का हरण, बालि-सुग्रीवयुद्ध[२६], अशोकवाटिका में सीता[२७] और हनुमान का प्रवेश, राम और सुग्रीव की मित्रता[२८], रावण का अपने रथ पर आना[२९] तथा राम-रावण युद्ध सुन्दरता से चित्रित हैं। कलाकारों ने कृष्णलीला में गोवर्धन पर्वत उठाना भी दिखाया है।[३०]

शिव

त्रिमूर्ति के तीसरे अंग शिव की बहुत-सी मूर्तियाँ खड़ी तथा बैठी अवस्था में मिली हैं। इनके अतिरिक्त शरीर का अर्द्धभाग, मुख तथा शीश भी कई स्थानों से प्राप्त हुआ है। लिंग की भी उपासना की जाती थी। शिव की मूर्तियों में एक अखंडित मूर्ति म्यूज़े अल्बर्ट सराऊ[३१] में है तथा वहीं पर वकोन से प्राप्त एक और मूर्ति भी है जिसके हाथ टूटे हैं।[३२] मुकुट में बालचन्द्र भी है। शिव की बैठी अवस्था में प्राप्त मूर्तियों में वसाक से प्राप्त मूर्ति (अब म्यूजे अल्बर्ट सराऊ में है)[३३] में उनका बाँया घुटना मुड़ा हुआ है और उसी जाँघ पर बाँया हाथ है। दाहिना हाथ उठे घुटने पर

२३. यही, नं० २५।
२४. यही, नं० १५९ (अ)।
२५. हैकिन एन्ड अदर्स, एशियाटिक माइथालोजी, पृ० २१६, चित्र २४।
२६. यही, पृ० २१७, नं० २५ (३, १)।
२७. यही, पृ० २१८, नं० २७।
२८. हैकिन एंड अदर्स, एशियाटिक माइथालोजी, नं० २६।
२९. यही, पृ० २२१, नं० ३०।
३०. यही, पृ० २२०, नं० २९। वोसलिये, स्टे० ख्मे०, चित्र नं० ३।
३१. वोसलिये, यही, चित्र नं० ३२।
३२. यही, नं० ३३।
३३. यही, नं० ५६।

है। माथे पर तीसरा नेत्र है। मूर्ति साधारण है, पर कलाकार ने घुटने मोड़ने का प्रयास किया है। इस प्रकार से मुड़े हुए घुटने पर उमा या पार्वती बैठी हुई वन्ते-श्राई से प्राप्त एक मूर्ति में दिखायी गयी हैं।[३४] कांसे की एक छोटी-सी मूर्ति जो प्राई-वेन से प्राप्त हुई (अब म्यूजे अल्वर्ट सराऊ में है) उसमें शिव उमा सहित नन्दी पर आसीन हैं।[३५] इस सम्बन्ध में सबसे सुन्दर चित्रण वन्ते-श्राई की सुहावटी (टिम्पेनम) पर रावण द्वारा कैलास उठाने का है।[३६] शिव पार्वती के साथ कैलास पर्वत पर बैठे हैं। उनके साथ में उनके गण तथा जटाधारी यति भी हैं। इस चित्र में गणेश भी हाथ जोड़े बैठे हैं। यति आपस में कुछ परामर्श कर रहे हैं। नीचे दस शीश का रावण कैलास को उठाने का प्रयास कर रहा है। पर्वत की गुफा में बाघ, सिंह, हाथी तथा हिरन डरे और भागते हुए दिखाये गये हैं। शिल्पकार ने लताओं को सुन्दरता से अंकित किया है। इसी प्रकार का चित्रण एलोरा के कैलास मन्दिर में भी है, पर ख्मेर कलाकारों ने नवीनता दिखाने का प्रयास किया है। तांडव नृत्य करते शिव की कोई मूर्ति नहीं मिली है, यद्यपि चम्पा में इस दशा में शिव की मूर्ति बनायी गयी थी। कलाकार इससे अनभिज्ञ न थे। नृत्य करती बहुत सी मूर्तियाँ मिली[३७] हैं, विशेषतया अप्सराओं को नृत्य करते दिखाया गया है। शिव की मूर्ति का केवल मुख भी कई स्थानों में मिला है।[३८] नोम-वोक से प्राप्त शिवमुख में माथे पर त्रिनेत्र और मौलि में बालचन्द्र के अतिरिक्त कलाकार ने नुकीली पतली-सी मूंछ और हलकी-सी दाढ़ी भी दिखायी है जो अन्य मूर्तियों में भी मिलती है।

अन्य ब्राह्मण मूर्तियाँ तथा दृश्य

अन्य ब्राह्मण मूर्तियों में हरिहर (विष्णु और शिव के संतुलित रूप) की कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[३९] राम अथवा बलराम भी मूसल लिये दिखाये गये हैं।[४०] मोर

३४. **वोसलिये, नं० ४९ (अ)।**
३५. **यही, नं० १०३।**
३६. **एश. म.ई. पृ० २२३, चित्र नं० ३१।**
३७. **वोसलिये, चित्र नं० ८२।**
३८. **यही, नं० ३७ अ, ४० अ, ४४ अ।**
३९. **यही, नं० ७, ११, १७, १९, २८।**
४०. **यही, नं० ५, ६।**

पर चढ़े कार्तिकेय और ऐरावत हाथी पर आरूढ इन्द्र को भी कला में स्थान मिला कुछ और देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी मिलें, पर उनकी समानता दिखाना कठिन है।[४१] ख्मेर कला में अप्सराओं तथा यक्षों, यतियों, राक्षसों और असुरों को भी उचित स्थान मिला।[४२] इनके अतिरिक्त द्वारपाल की मूर्तियाँ भी मन्दिरों के रक्षक के रूप में बनायी गयीं। अप्सराओं की मूर्तियाँ सबसे सुन्दर हैं। अंकोरवाट की दीवारों में ये बाहर उभरी हुई तथा विभिन्न मुद्राओं में दिखायी गयीं हैं। महाभारत से लिये गये चित्रों में अकोरवाट में बाणशय्या पर पड़े भीष्म का युधिष्ठिर को उपदेश देना चित्रित किया गया है।[४३] इसके अतिरिक्त सूर्य और चन्द्र का विष्णु के पास राहु के विरुद्ध अमृत चुराने का सन्देश लेकर जाना तथा शेषनाग की रस्सी बनाकर देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन भी दिखाया गया है[४४] तथा शिव द्वारा कामदेव का भस्म करना भी चित्रित है। अंकोरवाट की वीथियों में कृष्ण-लीला और विष्णु से सम्बन्धित कथाएँ चित्रित हैं। कलाकारों ने अभी कम्बुज जीवन की झाँकी के चित्रण का प्रयास नहीं किया था, पर वेओन के मन्दिर में दैनिक जीवन और जयवर्मन् की वीरता सम्बन्धी चित्र भी अंकित हैं। इनमें बाहरी दीवार पर हाथी पर सवार जयवर्मन् धनुष-बाण लिये दिखाया गया है और उसकी सेना आगे बढ़ रही है।[४५] ख्मेर जीवन की झाँकी का चित्रण वेओन में चित्रित है। कुछ व्यक्ति बड़ी नाव में नदी पर भ्रमण कर रहे हैं। चित्र में बड़ी मछलियाँ, मगर तथा उड़नेवाले बड़े पक्षी भी दिखाये गये हैं। विशाल झील में मछलियाँ तथा उनका पकड़ना भी दिखाया गया है। एक चित्र में हाट (बाजार) में बहँगी लिये एक व्यक्ति किसी दूकानदार के सामने आता चित्रित है और वह पीछे मुड़कर कई व्यक्तियों को आपस में मोल-भाव करते देख रहा है। एक अन्य चित्र में मुर्गों को लड़ाई दिखायी गयी है जो कदाचित् कम्बुज देश के निवासियों के मनोरंजन का साधन थी।[४६] वन्ते श्राई में एक स्त्री के लिए दो व्यक्ति लड़ते हुए दिखाये गये हैं।

४१. बोसलिये, नं० ४१ अ, ५७ व, ३९ अ, ६२व, ६४, ६८।
४२. यही, नं० ४५ व, ६८ व, ७८ व।
४३. एश०माई, पृ० २१५, नं० २३। पृ० १९२, नं० ४।
४४. एश० माई०, पृ० २१९, नं० २८।
४५. रावलैंड, १५९ व।
४६. मार्ग ९ (४), पृ० २४, चित्र १७।

वे दोनों उसके हाथ पकड़े हैं और उनके हाथों में मूसल हैं। दोनों ओर दो-दो व्यक्ति उसे देख रहे हैं।[४७]

बुद्ध तथा बौद्ध मूर्तियाँ

कम्बुज-कला में बुद्ध, बोधिसत्त्व, मैत्रेय, अवलोकितेश्वर तथा लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की मूर्तियाँ भी बनीं। बुद्ध की खड़ी मूर्तियों में प्राई-क्रेवास[४८] (म्यूज़े-अल्वर्ट सराऊ), वात-रोमलोक[४९] (इसी संग्रहालय में) तथा तुओल-प्राह यात[५०] से प्राप्त मूर्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम दो मूर्तियों के हाथ टूटे हुए हैं पर तीसरी का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। संघाटी से सम्पूर्ण शरीर ढका हुआ है। केश घुँघराले हैं। निचले भाग और संघाटी से इन मूर्तियों की तुलना सारनाथ से प्राप्त बुद्ध (बोधिसत्त्व) मूर्तियों से की जा सकती है, पर घुँघराले बाल गंधार-कला की बुद्धमूर्तियों के समान हैं। अंकोरवाट की एक बुद्धमूर्ति में वे अभय मुद्रा में दिखाये गये हैं। उनका उष्णीस तथा संघाटी अलंकृत है।[५१] वात-रोमलोक से प्राप्त बुद्ध की पद्मासन मुद्रा की मूर्ति[५२] मथुरा-कला की मूर्तियों से मिलती-जुलती है, पर एक अन्य बुद्धमूर्ति में बुद्ध पैर नीचे किये दिखाये गये हैं जो भारतीय कला में नहीं मिलती है। नाग पर पद्मासन में बैठे बुद्ध की कई मूर्तियां मिली हैं।[५४] उनके ऊपर नाग फण फैलाये खड़ा है। कुषाणकालीन ऐसी बहुत-सी मूर्तियां मथुरा में मिली हैं। नाग-राज मुचिलिन्द उनको ध्यानावस्था में संलग्न रखने के लिए उनके ऊपर अपना फण फैलाये खड़ा है। बोधिसत्त्व लोकेश्वर की, जिसका ख्मेर महायान मत से सम्बन्ध था, चार भुजावाली कई मूर्तियाँ मिली हैं।[५५] दया के यह प्रतीक हैं और इनकी मौलि

४७. बोसलिये, स्टे० ख्मे०, चित्र ५२।
४८. रावलैंड, आ० आ० ई०, चित्र १५३।
४९. बोसलिये, स्टे० ख्मे०, चित्र नं० ८७।
५०. यही, नं० ८८।
५१. यही, नं० १०२।
५२. यही, नं० ८९ अ।
५३. यही, नं० ८९ ब।
५४. यही, नं० ९४, ९३, ९५ अ, ९९, १००।
५५. मार्ग , पू० सं०, पृ० २८। बोसलिये, ४९ ब, ६७, ७७ अ, ८३, १०३।

में ध्यानी बुद्ध की मूर्ति है। इनके चार हाथों में ब्रह्मा की भाँति अमृत की बोतल, पुस्तक, माला और कमल का फूल है। एक मूर्ति में केवल दो ही हाथ हैं। कम्बुज कलाकारों ने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति भी बनायी।[५६] इसके अतिरिक्त हेवज्र की नृत्य करती अवस्था में कांसे की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर है जो बन्तेडाई से प्राप्त हुई और इस समय म्यूजे अल्वर्ट सुराऊ में है।[५७] यह बौद्धधर्म सम्बन्धी शक्ति-देवता था।

कम्बुज देश के कलाकारों ने भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत ब्राह्मण और बौद्ध मूर्तियों का निर्माण किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय दिया, उनकी मूर्तियों के निर्माण अथवा दीवारों पर खुदे चित्रों में स्थानीय प्रभाव पूर्णरूप से विदित होता है। कला में वह उत्तेजना न भी हो, पर चेहरे की मुद्रा आन्तरिक भावना का प्रतीक है। कलाकारों ने शान्ति, गंभीरता, मुसकान और राक्षसों के रौद्र रूप को भली भाँति प्रदर्शित किया है। उष्णीस, मौलि, श्मश्रु (मूंछ) तथा दाढ़ी में स्थानीय प्रभाव है। हो सकता है कि घुंघराले बाल, जिनकी समानता गंधार से मिलती है, वैदेशिक प्रभाव के अन्तर्गत हों, जिसमें रोम से आये व्यापारियों का हाथ हो, पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जावानी प्रभाव भी ख्मेर कला पर पड़ा जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण काल मुख का प्रवेश है। ख्मेर स्थापत्य और शिल्पकला ने क्रमशः स्वतंत्र रूप धारण किया और इसमें इसे सफलता भी मिली, पर इसके प्रसरण में भारतीय विषय और आदि भारतीय कलाकारों का मुख्य हाथ है, जिन्होंने स्थानीय कलाकारों को प्रेरणा दी और उनके सम्मुख उदाहरण रखे, जिनको लेकर यह कला आगे बढ़ी। चीन के साथ कम्बुज का बराबर राजनीतिक सम्बन्ध रहा, पर इस ओर उस क्षेत्र का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

५६. बोसलिये, ८३।
५७. यही, नं० १११ अ, १११ ब।

चतुर्थ भाग—शैलेन्द्र साम्राज्य

अध्याय १

शैलेन्द्र राज्य

ईसा की आठवीं शताब्दी में दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसके शासक शैलेन्द्र-वंशज थे। शैलेन्द्र नाम की व्याख्या तथा इसके उद्‌गम स्थान के विषय में विशेष रूप से पूर्वी विद्वानों में मतभेद रहा है और चीनी, भारतीय, अरवी तथा स्थानीय लेख इस वंश के उत्कर्ष पर प्रकाश डालते हुए भी किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त मुख्य-तया चीनी और अरबी स्रोतों में जिस साम्राज्य का उल्लेख है उसकी समानता श्रीविजय से भी की जा सकती है। वास्तव में शैलेन्द्र वंश का प्रारम्भिक इतिहास केवल चार पांच लेखों पर ही आधारित है और उन्हीं का आश्रय लेकर हम इस वंश के इतिहास की रूपरेखा प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे। इस सम्बन्ध में लेखों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों, चीनी तथा अरबी वृत्तान्त का आश्रय केवल पुष्टि के हेतु ही लिया जायगा।

लेख-सामग्री

लेखों में सर्वप्रथम ७७५ ई० का लिगोर (मलाया) का लेख है।[१] इस लेख के दो भाग हैं—प्रथम भाग (अ) में श्रीविजयेन्द्रराज की प्रशस्ति है तथा श्री-

१. डा० मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २२५, २२७। ज० ग्रे० इ० सो० १, पृ० ११ से। बु० इ० फ्रा० ३३, पृ० १२१ से। सिडो, ज० ग्रे० इ० सो० १, पृ० ६१ से। ए० हि० पृ० १५२ से। प्रिज़ूलिस्की, ज० ग्रे० इ० सो० २, पृ० २५ से। नीलकंठ शास्त्री, तिज-यत-जेन ७५, पृ० ६११। व्रिगंस, ज० अ० ओ० सो० ७०, १९५०, पृ० ८९ से। वेल्स, इ० आ० १, ले० ९, पृ० १ से। स्टूटरहाइम ए जावानी पीरियड इन सुमात्राज हिस्ट्री १९२९। क्रोम, बु० इ० फ्रा० १९ (५), पृ० १२७ से।

विजयेश्वर भूपति द्वारा बौद्ध देवताओं के लिए तीन मन्दिरों के बनवाने का उल्लेख है। राजपुरोहित (राजस्थविर) जयन्त ने सम्राट् के आदेश पर तीन स्तूपों का निर्माण कराया और उसकी मृत्यु के बाद उसके शिष्य और उत्तराधिकारी अधिमुक्ति ने दो चैत्यों का निर्माण करवाया। अन्त में श्रीविजयनृपति द्वारा, जिसकी तुलना देवेन्द्र से की गयी है, शक सं० ६९७ (७७५ ई०) में स्तूपों की स्थापना का उल्लेख है। दूसरे भाग (आ) में केवल एक ही पद अंकित है तथा दूसरे के कुछ अक्षर मिले हैं। इसमें विष्णु नामक शासक की प्रशंसा की गयी है। अन्तिम पंक्ति ठीक से नहीं पढ़ी जा सकी, पर शैलेन्द्र वंश निश्चित है। सिडो के मतानुसार[2] यह शैलेन्द्र वंश प्रभु निगदतः' तथा डा० मजुमदार के मतानुसार द्वितीय संयुक्त शब्द 'निगदितः' है।[3] शासक का नाम श्री महाराज है, पर यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि इसकी समानता विष्णु राजाधिराज से करनी चाहिए अथवा यह कोई अन्य व्यक्ति था।

द्वितीय लेख[4] जावा के जकार्टा प्रान्त में कलसन नामक गाँव में मिला और इसकी तिथि शक सं० ७०० (७७८ ई०) है। इसमें आर्य तारा देवी की उपासना का वर्णन है और इसी का एक मन्दिर शैलेन्द्र शासक के गुरु द्वारा महाराज था पंचपन पनंकरण की सहायता अथवा अनुमति से बनवाने का उल्लेख है। शैलेन्द्र-वंश-तिलक के राज्य में गुरुपूजार्थ तारा का मन्दिर शक सं० ७०० में बना और इसके लिए कलसन गाँव संघ को अर्पित कर दिया गया। मन्दिर के साथ में विनय महायान में पारंगत भिक्षुओं के रहने का भी प्रबन्ध था। इस लेख में शैलेन्द्रराज तथा महाराज पनंकरण का उल्लेख है। वोगेल के मतानुसार[5] ये दो अलग व्यक्ति थे जिनमें शैलेन्द्रराज सुमात्रा का शासक था, जिसके गुरु ने मन्दिर निर्माण में बड़ा भाग लिया था और पनंकरण कोई शैलेन्द्र-वंशज था जो जावा में राज्य कर रहा

२. बु० इ० फ्रा० ३९, पृ० ४४८।

३. ज० ग्रे० इ० सो० १, पृ० १२।

४. टी० वी० जी ३१, पृ० २४०, २६०। ज० वा० ब्रा० रा० ए० सो० १७ (२), पृ० १, १०। टी० वी० जी० ६८ (१९२८), पृ० ५७ से।

५. वी० के० आई० ७५, पृ० ६३४। मजुमदार, ज० ग्रे० इ० सो० १ (१), पृ० १२। चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती, इंडिया एण्ड जावा (भाग २), पृ० ४४।

था, क्योंकि इस दान की रक्षा का भार शैलेन्द्र-वंशज श्रीमान् करियान पनंकरण को सौंपा गया था।

तीसरा लेख केलुरक[६] में मिला जो जकार्टा प्रान्त में स्थित लोरो जोंगरंग मन्दिर के उत्तर में है। यह शक सं० ७०४ (७८२ ई०) का है और इसमें गौड़-निवासी (गौड़ द्वीप-गुरु) कुमार घोष द्वारा मंजुश्री की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस राज-गुरु ने वहां के शासक श्री संग्राम धनंजय का आतिथ्य स्वीकार किया था। लेख में सर्वप्रथम त्रिरत्न बुद्ध, धर्म और संघ की प्रार्थना की गयी है। इसके बाद शैलेन्द्र-वंश-तिलक शासक इन्द्र का उल्लेख है, जिसने सब दिशाओं में राजाओं को जीता था तथा सबसे बलवान् शत्रु को पराजित किया था। गौड़निवासी (गौड़द्वीप-गुरु) राजगुरु कुमार घोष की चरणरज से उसका शरीर पवित्र हो गया। इसके द्वारा स्थापित मंजुश्री की मूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का संतुलन था। भविष्य के शासकों को इस धर्मसेतु की रक्षा का भार सौंपा गया है।

इन तीनों लेखों —एक मलाया और दो जावा से प्राप्त—के अतिरिक्त, नालन्दा से प्राप्त चौथा लेख[७] विशेषतया उल्लेखनीय है और यह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। यह लेख पालसम्राट् देवपाल के ३९वें वर्ष का है और इसमें सुवर्णद्वीप के शासक बालपुत्रदेव (सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्री बालपुत्रदेव) के अनुरोध पर देवपाल द्वारा पांच गांवों के दान का उल्लेख है। बालपुत्र के वंश तथा पूर्वजों का भी उल्लेख इस लेख में है जो विशेष महत्त्व रखता है। शैलेन्द्रवंश-तिलक, यवभूमिपाल नामक शासक पराक्रमी शत्रुओं का मर्दन करने वाला था (**वीर-वैरिमथनानुगताभिधानः**)। उसका संग्रामवीर नामक पुत्र था जो युद्धभूमि में अग्रयोद्धा था। इसकी स्त्री तारा चन्द्रवंशज सम्राट् वर्मसेतु की पुत्री थी और देवीस्वरूप थी। इसके पुत्र का नाम श्री बालपुत्र था जिसने नालन्दा में विहार बनवाया था और उसी के लिए देवपाल से पांच गांव (लगभग ८१५=८५४ ई०) दान में देने के लिए इस सुवर्णभूमि-महाराज ने अनुरोध किया था।

दो शैलेन्द्र शासकों का उल्लेख राजराज प्रथम के उस बड़े लेख में मिलता

६. बोश, टी० बी० जी० (१९२८), पृ० १ से। चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती, यही, पृ० ६०।

७. ई० आई० १८, पृ० ३१०। चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती, यही, पृ० ४९।

है जो इस समय लाइडेन (हालैंड) में है।[८] इसके संस्कृत भाग में '**शैलेन्द्रवंशसम्भूतेन श्रीविषयाधिपतिना कटाहाधिपत्यमातन्वता**' (पंक्ति ८०-८१), **कटाहाधिपति** (पंक्ति ९०, १००) तथा तमिल भाग में **किडारत्त अरैयण** (पंक्ति ६) और **कडारत अरैयण** लिखा है। उपर्युक्त वृत्तान्त के अनुसार शैलेन्द्रवंश का शासक श्रीविषयाधिपति तथा कटाहाधिपति भी था। श्रीविषय की समानता श्रीविजय से की जा सकती है[९] जो सुमात्रा में एक राज्य था और जिसकी राजधानी पलमवंग थी। इस शैलेन्द्र सम्राट् को 'कटाहाधिपति' भी कहा गया है, जैसा कि '**कटाहाधिपत्यमातन्वता**' से प्रतीत होता है । तमिल भाग में कटाह के स्थान पर किडार अथवा कडार है, जिसकी समानता मलाया प्रायद्वीप के केडा से की जाती है। लाइडेन (हालैंड) का यह लेख राजेन्द्र चोल प्रथम के समय का है जिसने १०११ ई० में इसे लिखवाया और इसमें उसके पिता राजराज द्वारा चूड़ामणि विहार के हेतु दान में दिये गये एक गाँव का उल्लेख है। इस लेख में मारविजय त्तुंग वर्मन् को शैलेन्द्रवंशज तथा श्रीविजय और कटाह का सम्राट् कहा है। सिडो के मतानुसार[१०] श्रीविजय (पलमवंग) और कटाह (मलाया प्रायद्वीप के केडा) पर शैलेन्द्र-वंशज मारविजयोत्तुंगवर्मन् का अधिकार था। अरब भौगोलिक वृत्तान्त-कारों ने इस कथन की पुष्टि की है कि जावग के महाराज उस समय श्रीवुज़ और कलह (क) शासक थे।

लाइडेन वाले राजेन्द्र चोल के लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ११वीं शताब्दी में शैलेन्द्र-शासक श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन् का राज्य उत्तर में कटाह (केडा, मलाया) तक फैला था, और दक्षिण-पश्चिम में सुमात्रा के श्रीविजय पर भी इसका अधिकार था। शैलेन्द्र-शासक मूल रूप से श्रीविजय-निवासी न थे अन्यथा श्री मारविजयोत्तुंग को इस लेख में 'श्रीविषयाधिपति' न कहा जाता। उपर्युक्त चोल लेखों से शैलेन्द्रशासक चूड़ामणि तथा श्री मारविजयोत्तुंग के, चोल शासक राजराज तथा राजेन्द्र के साथ सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है और नालन्दा के लेख से बालपुत्र देव का बंगाल के शासक देवपाल के साथ राजनीतिक सम्बन्ध प्रतीत होता

८. ई० आई० २२, पृ० २२९। वर्गेस, आ० स० स० ई०।
९. वेल्स ने इसकी समानता चाया से की है। इ० आ० ले० ९, पृ० ४।
१०. ए० हि०, पृ० २३९।

है। मलाया के लिगोर तथा जावा के कलसन लेख से शैलेन्द्रवंश का सुमात्रा (श्रीविजय) तथा जावा पर अधिकार स्थापित करना पूर्ण रूप से विदित है। ये सब घटनाएं ईसा की ८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग की हैं। ११वीं शताब्दी के चोल लेखों से शैलेन्द्र-चोल सम्पर्क, मित्रता और संघर्ष का पता चलता है। इस वंश के उत्कर्ष, वैभव तथा पतन पर प्रकाश डालने के लिए अरबी तथा चीनी स्रोतों की सहायता लेनी पड़ेगी, जिनमें शैलेन्द्र वंश का नाम नहीं मिलता है, पर कुछ शैलेन्द्र शासकों के नाम अवश्य मिलते हैं। इस वंश का इतिहास जानने से पहले इसकी उत्पत्ति और आदि स्थान पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

वंश-उत्पत्ति और आदि स्थान

डा० मजुमदार के मतानुसार[११] शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति शैल, शैलोद्भव तथा गांग वंशों के साथ हुई, जो उड़ीसा और कलिंग क्षेत्र में ईसा की ६-७वीं शताब्दी में राज्य कर रहे थे। शैलवंश के एक लेख के अनुसार इस वंश की उत्पत्ति हिमालय (शैलेन्द्र) की पुत्री गंगा से हुई और इसके प्रथम शासक ने वही उपाधि धारण की जो जावा और मलाया के शैलेन्द्र शासकों ने धारण की थी। एक स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार गांग वंश का एक राजकुमार दक्षिण ब्रह्मा में जाकर वहाँ का शासक बन बैठा और उसी के नाम से वहाँ के लोग तलिंग अथवा तलैंग कहलाये। इसी राजकुमार के साथ महायान मत और नागरी लिपि का भी ब्रह्मा में प्रवेश हुआ। ७७५ ई० के कुछ बाद उन्होंने श्रीविजय से बंडो जीत लिया, जैसा कि लिगोर के लेख के दूसरे भाग से प्रतीत होता है और फिर सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप को जीतकर वे जावा और सुमात्रा की ओर बढ़े। डा० मजुमदार के मतानुसार इनकी राजधानी लिगोर केडा क्षेत्र में थी जिसे चोल लेखों में 'कटाह' कहा गया है।

सिडो ने शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कम्बुज के कुछ लेखों का उल्लेख किया है[१२] जिनमें फूनान के शासक को 'कुरुंव्न'––'गिरिशासक' या शैलेन्द्र कहा है और एक अप्रकाशित लेख में ईशानवर्मन् को शैलराज कहकर संबोधित किया

११. ज० ग्रे० इ० सो० १ (१), पृ० १ से। सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० १४९ से। बु० इ० फ्रा० ३३, पृ० १२१ से।

१२. ज० ग्रे० इ० सो० १, पृ० ६६, ६७।

गया है (कुक-प्राह-कोत)। इनके मतानुसार ईशानवर्मन् द्वारा फूनान पर अधिकार करने के बाद, फूनान के शासक दक्षिण-पश्चिम फूनान या मलाया अथवा जावा चले गये जहाँ वे ७वीं शताब्दी तक रहे। प्रिजूलस्की ने सिडो के मत का खंडन करते हुए फूनानवंश की जावा के शैलेन्द्र वंश के साथ समानता दिखाने का प्रतिवाद किया है।[१३] उनके विचार में शैलेन्द्र की समानता गिरीश से की जा सकती है और मूल शैलेन्द्रवंश-प्रवर्तक शिव थे, जिनका निवासस्थान भारतीय धार्मिक स्रोत के अनुसार कैलास पर्वत था। जावानी शैलेन्द्र वंश में भारतीय और हिन्दनेशियायी धार्मिक विचारधारा का समन्वय है, जिसके अन्तर्गत शिव और बुद्ध को एक साथ संतुलित किया गया है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने उपर्युक्त विद्वानों के मतों की विवेचना की है[१४] और उनके मतानुसार शैलेन्द्रवंश की उत्पत्ति शिव से अवश्य हुई और जावा में शैव मत का प्रवेश दक्षिण भारत से अगस्त्य की उपासना के साथ हुआ और कदाचित् पांड्य क्षेत्र से ही वहाँ भारतीय गये। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है और इस प्रश्न को इसी रूप में छोड़ देना ठीक होगा।[१५]

१३. यही, २, पृ० २५, ३६।

१४. टी० वी० जी० ७५, पृ० ६११।

१५. इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख ब्रिग्स ने अपने लेख में किया है (ज० अ० ओ० सो० १९५०, पृ० ७० से)। तीस वर्ष पहले श्रीविजय (पलमवंग) को ही शैलेन्द्र राज्य की राजधानी माना जाता था। मोऍस के विचार में भारत से जावा तथा मलय देश जाते समय शैलेन्द्र वहाँ थोड़े समय तक ठहरे थे (जे० आर० ए० स० मलाया ब्रांच, १८, २४१)। वेल्स का कथन है कि शैलेन्द्र भारतीय अवश्य थे, पर उनका निवास स्थान मलाया था। ई० आर० १, ले० ९, १, ३६५। स्टूटरहाइम ने उनका आदि निवासस्थान तथा उत्कर्षक्षेत्र जावा माना है ('ए० जावानी पीरियड इन सुमात्रन हिस्ट्री': टी० वी० जी० ६९ (१९२५, पृ० १५३)। विग्रस ने इस विषय को विवादास्पद माना है। उनके मतानुसार केवल इतना ही निश्चय है कि इसका सर्वप्रथम उल्लेख कलसन के लेख (ई० ७७८) में है और यह वंश चंगल के लेख (७३२ ई०) के समय नहीं था। कलसन और केलूरक लेखों की नागरी लिपि उत्तर भारतीय है जिससे इनके उद्गम स्थान का संकेत मिलता है (पू० सं०)।

उपर्युक्त पाँचों लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं और किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा।

राज्य-विकास

लिगोर के लेख (न ब) से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित है कि मलाया में शैलेन्द्रों का राज्य स्थापित हो चुका था और ७७५ ई० में (नं० अ की तिथि) श्रीविजय से बढ़कर उन्होंने मलाया का वह भाग जीत लिया था। कलसन और केलुरक के लेख जिनकी तिथि क्रमशः ७७८ और ७८२ ई० है, जावा के मध्य भाग पर शैलेन्द्र शासकों के अधिकार का संकेत करते हैं। नालन्दा लेख में उल्लिखित प्रथम शैलेन्द्र शासक का नाम यवभूमिपाल दिया गया है और उसे वीर शत्रुओं को क्लेश देने वाले 'वीरवैरिमथनानुगताभिधान' की उपाधि भी दी गयी है तथा उसे 'शैलवंश-तिलक' भी कहा गया है। केलुरक के लेख में इन्द्रशासक को भी 'शैलेन्द्रवंश-तिलक' की उपाधि दी गयी है तथा उसे भी 'वैरिवरवीरविमर्दन' या 'सशक्त शत्रुओं का नाशकारी' कहा गया है। 'शैलेन्द्रवंशतिलक' की उपाधि कलसन के लेख में भी शैलेन्द्र शासक को दी गयी है। अतः यह प्रश्न उठता है कि क्या श्रीमान् करियानपनंकरण तथा इन्द्र की समानता मान ली जाय और नालन्दा लेख के यव-भूमिपाल को भी इसी वंश में रखा जाय तथा उपर्युक्त शासक अथवा शासकों से समानता दिखायी जाय? उसी से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न बालपुत्र देव के विषय में है जो नालन्दा लेख के यवभूमिपाल का पौत्र था और उसे सुवर्णभूमि का शासक कहा गया है। सुवर्णद्वीप से प्रायः मलाया-सुमात्रा का ही संकेत माना गया है और इसी लिए यह विचार करना होगा कि जावा के शैलेन्द्र शासकों का सुमात्रा पर थोड़े दिनों के लिए अधिकार हो गया था अथवा शैलेन्द्र सुमात्रा के शासक थे और थोड़े काल तक वे जावा पर राज्य करते रहे। सिडो के मतानुसार[१६] जावा के शैलेन्द्रों ने श्रीविजय पर अधिकार कर लिया था और वहीं पर अपने पिता समराग्रवीर की ओर से वह शासन कर रहा था। बालपुत्र से युवक राज-कुमार का संकेत होता है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[१७] बालपुत्र सुमात्रा

१६. ए० हि०, पृ० १६०, १८५, ६।
१७. श्रीविजय, पृ० ५०।

का स्वतंत्र शासक था (सुवर्ण द्वीपाधिप) और नालन्दा के लेख से शैलेन्द्रों के श्रीविजय राज्य (सुमात्रा) पर अधिकार का कहीं भी संकेत नहीं है। हो सकता है कि श्रीविजय के पहले के कुछ शासक शैलेन्द्र रहे हों। जावा और श्रीविजय का बराबर मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध रहा और इन्होंने द्वीपसमूहों तथा हिन्द-चीन पर कई संयुक्त प्रयास किये। इस मत के अनुसार एक शैलेन्द्र वंश जावा में और दूसरा श्रीविजय सुमात्रा में शासन कर रहा था। लिगोर लेख का दूसरा भाग इन्हीं दो वंशों में से किसी एक के शासक ने खुदवाया होगा। डा० मजुमदार के मतानुसार[१८] नालन्दा लेखोक्त सुवर्णद्वीप और यवभूमि अलग-अलग स्थान अथवा राज्य न थे। सुवर्णद्वीप से मलाया प्रायद्वीप तथा सम्पूर्ण जलद्वीपों का संकेत है जिसे अलबेरूनी[१९] तथा अन्य अरब लेखकों ने जावज के नाम से सम्बोधित किया है। वहां के शासक महाराज कहलाते थे और इब्न सैंद के अनुसार श्रीवुज़ (श्रीविजय) इसमें सबसे बड़ा द्वीप था। डा० मजुमदार का कथन है[२०] कि जावा से बढ़कर शैलेन्द्र शासकों ने सम्पूर्ण अथवा अधिकतर भाग पर अधिकार कर लिया और यह ९वीं शताब्दी के मध्य भाग (नालन्दा लेख की तिथि) तक हो चुका था।

अरबी और चीनी स्रोत

लेखों से यह पूर्णतया निश्चित हो जाता है कि नवीं शताब्दी के मध्य भाग तक शैलेन्द्र शासकों का मलाया, सुमात्रा और जावा के कुछ भाग पर अधिकार हो चुका था। उनका राज्य विस्तृत था तथा तत्कालीन सामुद्रिक व्यापार और यातायात के मार्गों पर भी उनका पूर्ण रूप से नियंत्रण था। इनका उल्लेख अरबी और चीनी वृत्तान्तों में मिलता है जो इनकी महत्ता तथा कृत्यों पर प्रकाश डालते हैं। अरब इतिहासकारों तथा यात्रियों ने शैलेन्द्र शासकों को 'महाराज' नाम से सम्बोधित किया है। लिगोर के लेख के द्वितीय भाग (व) में शासक का नाम महाराज दिया हुआ है और इसी लेख में सिडो के मतानुसार 'शैलेन्द्रवंश प्रभुनिगहतः' भी लिखा मिलता है। अतः शैलेन्द्र और महाराज पर्याय प्रतीत होते हैं।

१८. बरोदा लेक्चर्स, पृ० ४२।
१९. सचाओ, अलबेरूनी, भाग १, पृ० २१०। भाग २, पृ० १०६।
२०. पू० सं०।

अरब इतिहासकारों ने महाराज के अतिरिक्त जावग या जावज का भी उल्लेख किया है, जो इस वंश का दूसरा नाम था। इब्न खोरदादवेह (८४४) के अनुसार जावग का शासक, महाराज कहलाता था। उसकी नित्यप्रति की आय दो सौ मन सोना थी जिसका एक चौथाई भाग मुर्गों की लड़ाई से प्राप्त होता था।[२१] सुलेमान (८५१ ई०) ने जावग का वृत्तान्त विस्तृत रूप से दिया है। उसके मतानुसार कालहवर (मलाया प्रायद्वीप में क्रा जलडमरूमध्य के निकट का क्षेत्र) जो भारत के दक्षिण में है, जावग साम्राज्य में है और दोनों का एक ही शासक है।[२२] इसी का उल्लेख इब्न-अल फकिह ने किया है और उसके अनुसार जावग़ के दक्षिण में कोई और देश नहीं है तथा वहाँ का शासक सबसे धनी है।[२३] इब्न-रोस्तेह (९०३ ई०) ने जावग़ के शासक को महाराज (राजाओं का राजा) कहा है। भारतीय राजाओं में वह सबसे बड़ा न था क्योंकि वह द्वीपों का निवासी था। पर वह सबसे धनी और शक्तिशाली शासक था।[२४] विदेशों के साथ जावग के व्यापार का उल्लेख और भी कई अरब लेखकों ने किया है। अब्नु-जैद ने सुलेमान के वृत्तान्त की पुष्टि की है और[२५] उसके अनुसार जावग़ से साम्राज्य तथा राजधानी का संकेत था। वहां का शासक महाराज कहलाता था और साम्राज्य का क्षेत्र ९०० वर्ग परसंग था। शासक का अधिकार अन्य द्वीपों पर १००० परसंग या इससे भी अधिक दूरी तक था। उसके राज्य में श्रीवुज (श्रीविजय) भी था जिसका क्षेत्र ४०० वर्ग परसंग था तथा ८०० वर्ग परसंग क्षेत्र का रामी द्वीप भी था। कलह नामक द्वीप अरब और चीन के बीच में था, इसका वर्ग क्षेत्र ८० परसंग था, कलह नगर प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ से मुसब्बर, कपूर, चन्दन, हाथी-दांत, टीन, आवनूस, मसाले तथा और बहुत-सी चीजें बाहर भेजी जाती थीं। महाराज का इन सब द्वीपों पर अधिकार था और जिस द्वीप में वह रहता था वह बहुत घना बसा हुआ था। जावग से चीन जाने में एक महीना लगता था।

२१. जू० ए०, २-२० (१९२२), पृ० ५२-५३।
२२. यही, पृ० ५३।
२३. यही, पृ० ५४-५५।
२४. जू० ए०, पृ० ५५।
२५. यही, पृ० ५६ से।

मसूदी (९४३ ई०) ने भी जावग का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है[२६] और उसने पूर्वोक्त अरब लेखकों के वृत्तान्तों की पुष्टि की है। उसके मतानुसार जावग का देश महाराज के अधीन था जिसका अधिकार द्वीपों पर भी था। यह भारत की सीमा से मिला था और ख्मेर राज्य यहाँ जाने के मार्ग पर पड़ता था। इस सम्बन्ध में मसूदी ने उस कथानक का भी उल्लेख किया है जिसमें महाराज की सेना के ख्मेर राज्य में प्रवेश तथा वहाँ के शासक के वध का विवरण है। महाराज के धन और विस्तृत साम्राज्य का भी उल्लेख है। असीमित विस्तृत साम्राज्य पर इसका अधिकार था और तेज़ जहाज भी इसका दो वर्ष में चक्कर नहीं लगा सकते थे। यहाँ की मसालों तथा अन्य पदार्थों की उपज से राज्य बड़ा धनी था। श्रीवुज़ (श्रीविजय) द्वीप भी महाराज के साम्राज्य में था। इसके मतानुसार यह महाद्वीप से ४०० परसंग की दूरी पर था, पर अब्बुजैद ने उसका क्षेत्र ४०० वर्ग परसंग की दूरी पर माना है। वसिफशाह (लगभग १००० ई०) ने श्रीवुज़ का क्षेत्रफल ४०० वर्ग परसंग दिया है तथा उसके घने बसे होने का उल्लेख किया है।[२७] उसके मतानुसार विदेशी आक्रमण और घरेलू युद्धों से तंग आकर चीनियों ने सम्पूर्ण द्वीपों और उनके नगरों को लूटा।

अलबेरूनी (लगभग १०३० ई०) ने जावज़ (जावग) की समानता सुवर्ण-द्वीप से की है।[२८] उसके अनुसार समुद्र के पूर्वी द्वीप भारत की अपेक्षा चीन से अधिक निकट हैं। इन्हें हिन्दू सुवर्णद्वीप कहते हैं क्योंकि यहाँ की मिट्टी में धोने पर सोना मिलता है। उपर्युक्त अरबी वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि जावग साम्राज्य बड़ा विस्तृत था और श्रीवुज (श्रीविजय) इसके अधीन था, जैसा कि अब्बुजैद, मसूदी और वसिफशाह ने कहा है। अलबेरूनी ने इस बात का उल्लेख नहीं किया है। जावग का शासक महाराज कहलाता था। इन वृत्तान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस साम्राज्य का उत्कर्ष नवीं शताब्दी के मध्य भाग से लेकर १०वीं शताब्दी के अन्त तक रहा। इसका जावा पर भी अधिकार था और कम्बुज देश पर भी इसने आक्रमण किया था।[२९]

२६. यही, पृ० ९२ से। मजुमदार, ज० ग्रे० इ० सो०। (१।१), पृ० २३।
२७. यही, पृ० ६३-६४।
२८. भाग १, पृ० २१०। २, पृ० १०६।
२९. महाराज और ख्मेर शासक के बीच संघर्ष का उल्लेख अरबी लेखकों ने

चीनी स्रोत

चीनी वृत्तान्तों में सन फोत्सि नामक राज्य का उल्लेख मिलता है, जहाँ से कई राजदूत चीन भेजे गये। ९०४ या ९०५ ई० में राजधानी का शासक भेंट लेकर चीन गया और चीनी सम्राट् ने उसे 'दूर के विदेशी राज्यों को शान्त रखनेवाले सेनापति' की उपाधि प्रदान की।[३०] इससे प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि का राज्य दूर दूर देशों तक फैल गया था। ९६० ई० के ८वें मास में यहाँ के शासक शि लि हू त हिअ लि तन ने लि चे ति को भेंट लेकर चीन भेजा और ९६१ में चे लि वू ये नामक शासक ने भेंट भेजी। उस समय सन-फो-त्सि को सिएन-लिए-ऊ कहा जाता था। ९६२ में चे लि वू ये ने तीन दूतों को भेंट देकर भेजा[३१] और ९७१, ९७२, ९७४, ९७५ में पुनः राजदूत भेजे गये। ९८० और ९८३ ई० में हिअ चे (कदाचित् हजि शासकों की मलय उपाधि) ने भेंट लेकर राजदूत भेजे।

किया है। सुलेमान ने इसका वृतान्त दिया है जिसे अब्बुजैद ने उद्धृत किया। ख्मेर सम्राट् ने जावग के शासक का कटा शीश देखने की इच्छा प्रकट की और यह बात महाराज तक पहुँच गयी। उसने ख्मेर देश पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक का शीश काटकर उसके पुत्र के पास भेजा गया। कम्बुज के प्रसिद्ध स्डोक काक लेख के अनुसार ८०२ ई० में जयवर्मन् द्वितीय ने जावा से कम्बुज लौटने पर एक धार्मिक प्रक्रिया की, जिसका उद्देश्य यह था कि कम्बुज पुनः जावा पर अधिकृत न रहे (बु० इ० फ्रा० १५, २, पृ० ८७)। डा० मजुमदार के मतानुसार शैलेन्द्रों का मलाया और जावा पर अधिकार ७७५ या ७७८ ई० तक हो चुका था और यह सम्भव है कि उन्हें ख्मेर के विरुद्ध लड़ने पर थोड़े काल के लिए सफलता मिली हो। उसी समय में जावा वाले समुद्री बेड़े से चम्पा पर आक्रमण कर कोठार के मन्दिर से मूर्ति उठाकर ले गये। देखिए, सत्यवर्मन् का पो नगर लेख, शक सं० ७०६। मजुमदार, चम्पा, भाग ३, पृ० ४३। चीनी स्रोत के अनुसार ७६७ ई० में को लोन (कुएन लुएन) और डावा (जावा) के सैनिकों ने ७६७ ई० में त्रन-नम पर आक्रमण किया। (ज० ग्रे० इ० सो० १ (१), पृ० १८-१९)

३०. जू० ए० २-२० (१९२२), पृ० १७ नोट। ज० ग्रे० इ० सो० १ (१), पृ० २५।

३१. यही, पृ० १७। मजुमदार, यही।

राजनीतिक सम्पर्क के अतिरिक्त इस राज्य का चीन के साथ व्यापारिक सम्पर्क भी रहा। कैन्टन में अरब, मलय प्रायद्वीप, सन फो त्सि, जावा, बोर्नियो, फिलिपीन तथा चम्पा से व्यापारी आते थे। ९८० ई० में एक व्यापारी माल लेकर स्वताओ में उतरा जहां से वह माल कैन्टन गया।[३२] उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि का चीन के साथ बराबर व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध १०वीं शताब्दी में रहा और यह राज्य मलय तथा जावा से भिन्न था। शुंग-वंश के इतिहास के अनुसार[३३] ९८८ ई० में सन-फो-त्सि से एक राजदूत भेंट लेकर चीन आया। चीनी राजधानी से चलकर ९९० ई० में वह कैन्टन पहुँचा जहाँ उसने अपने देश पर चो-पो (जावा) द्वारा आक्रमण का समाचार सुना। अतः वह एक वर्ष रुक गया। ९९२ ई० में वह चम्पा गया, पर कोई सन्तोषजनक समाचार न मिलने पर वह पुनः चीन वापस आया और उसने सम्राट् से अपने देश को चीन के अधीन रखने की प्रार्थना की। इस संघर्ष का विस्तृत रूप से कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि मध्य जावा के शासक धर्मवंश ने सन फो त्सि के ऊपर आक्रमण कर थोड़े समय के लिए सफलता प्राप्त कर ली हो, पर यह अधिक समय तक नहीं रही, जैसा कि १००३ में सन फो त्सि द्वारा चीन भेजे गये दूत से संकेतित होता है।[३४] १००६ ई० में जावा का राज्य किसी कारणवश नष्ट हो गया, पर शैलेन्द्र राज्य कायम रहा, जैसा कि कुछ तमिल लेखों से पता चलता है जिनमें चोल और शैलेन्द्र के बीच सम्पर्क और संघर्ष का उल्लेख है।

शैलेन्द्र और चोल शासकों के बीच सम्पर्क और संघर्ष

प्रसिद्ध लाइडेन के लेख का वर्णन पहले ही हो चुका है, इसके कुछ भाग संस्कृत और कुछ तमिल में हैं और ये क्रमशः १०४४ ई० और १०४६ ई० के

३२. यही, पृ० १८। यही, सिडो के मतानुसार सन-फो-त्सि की समानता सुमात्रा के श्रीविजय से की जानी चाहिए और ये राजदूत वहीं से भेजे गये थे। (ए० हि० पृ० २२१ से)। इस पर आगे चलकर विस्तृत रूप से विचार किया जायगा।

३३. जू० ए०, २-२० (१९२२), पृ० १८। ए० हि०, पृ० २२३-२४।

३४. जू० ए०, २-२० (१९२२), पृ० १९।

हैं। इनमें राजराज राजकेशरिवर्मन् (राजराज महान्) के राज्यकाल के २१वें वर्ष में मारविजयोत्तुंगवर्मन् ने, जो कटाह और श्रीविजय का शासक और शैलेन्द्र-वंशज था, नागीपट्टन के बौद्ध विहार के लिए एक गांव दान में दिया और इसकी पुष्टि चोल शासक ने की। इस विहार का निर्माण मारविजयोतुंगवर्मन् के पिता चूड़ामणिवर्मन् ने किया था और उसी के नाम पर इसका नाम चूड़ामणि-वर्म-विहार पड़ा। सिडो के मतानुसार[३५] शुंग वंश के इतिहास में इनका नाम मिलता है। १००३ ई० में से लि यु व वु नि फु म ति औ ह्य (श्री चूड़ामणिवर्मदेव) ने दो राजदूत भेंट देकर चीन भेजे और अपने देश में सम्राट् के दीर्घ जीवन की प्रार्थना हेतु एक बौद्ध विहार निर्माण की सूचना दी। १००८ ई० में से रि म ल पि (श्री-मारविजयो-त्तुंगवर्मन्) ने भी तीन राजदूत भेंट देकर भेजे।[३६] भारतीय लेख के अनुसार १००५ में ई० श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन् शासन कर रहा था और चीनी स्रोत के अनुसार १००३ में उसका पिता से लि चु ल वु नि फु म तिऔ ह्य (श्री चूड़ामणि-वर्मनदेव) शासन कर रहा था। अतः इन दोनों तिथियों के बीच में चूड़ामणिवर्म-देव की मृत्यु और उसके पुत्र श्री मारविजयोत्तुंगवर्मदेव का सिंहासनारूढ़ होना निर्धारित किया जा सकता है। राजराज के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि श्री मारविजयोतुंगवर्मन् कटाह और श्रीविषय (श्रीविजय) का शासक था। कटाह, कडार अथवा किडार की तद्रूपता मलाया प्रायद्वीप के केडा से की जा सकती है, अतः यह प्रतीत होता है कि वह मलाया का शासक था और उसका अधिकार श्रीविजय पर भी था। दक्षिण भारत का इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और एक प्राचीन तमिल काव्य में कावेरी नदी के मुहाने पर काविरिप्पुट्टिनम् में कलागम से व्यापारी जहाजों के आने का उल्लेख है।[३७] कलागम की तद्रूपता कडारम से की गयी है।

३५. बु० इ० फ्रा०, १६ (नं० ६), मजुमदार, ज० ग्रे० इ० सो०, नं० १ (२), पृ० ७२।

३६. जू० ए०, २-२० (१९२२), पृ० १९।

३७. ज० इ० हि० २, पृ० ३४७। ज० ग्रे० इ० सो० १ (२), पृ० ७२-३। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० १७०।

इस प्रकार चोल और शैलेन्द्र शासकों के बीच राजनीतिक और व्यापारिक सम्पर्क ११वीं शताब्दी के आरम्भ में जारी था, पर यह अधिक समय तक न चल सका और शीघ्र ही किसी कारणवश दोनों शक्तियों के सम्बन्ध ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया। चोल लेखों में शैलेन्द्र शासक के नाम तथा संघर्ष की तिथि और परिणाम का भी उल्लेख है।

राजराज के २३वें वर्ष (१००७ ई०) के मलुर्पत्न से प्राप्त कई लेखों में कंडलूर सलै में जहाजों के नष्ट होने तथा १२ हजार समुद्री द्वीपों का उल्लेख है।[३८] दस वर्ष बाद राजेन्द्र चोल के राज्यकाल के छठे वर्ष के (१०१७-१०१८) तिरुवलगुंड के लेख में सम्राट् की कटाह-विजय तथा समुद्र पार कर सब राजाओं को अपने अधीन करने का उल्लेख है।[३९] इसका विस्तृत रूप से विवरण मलुर के मन्दिर (बंगलोर) के एक लेख में मिलता है, जो राजेन्द्र चोल के शासन काल के १३वें वर्ष (१०२४-२५ ई०) का है।[४०] यही वृत्तान्त चोल शासक के तंजोर के लेख में भी है[४१] जिसकी तिथि उसके शासक का १९वाँ वर्ष (१०३०-३१) है। इसके अनुसार राजेन्द्र चोल ने बहुत-से जहाज कडारम के शासक संग्रामविजय-तुंगवर्मन् के विरुद्ध भेजे और उसे बन्दी करने पर बहुत-से हाथी, राजकोश तथा विद्याधर-तोरण, मणियों के फाटक आदि अधिकार में आ गये। इन लेखों में उन अधीन राज्यों का भी उल्लेख है जिन पर चोल सम्राट् का अधिकार हो गया था। वे क्रमशः निम्नलिखित थे।[४२] श्रीविजय (पलेमबंग), पन्नई (सुमात्रा) तट पर

३८. इपीग्राफिया करनाटिका ९, पृ० १५९, ६१, नं० १२८, १३०, १३१, १३२।

३९. अ० स० इ० ए० रि० १९०३-४। पृ० २३४-५। सा० इ० ई०, भाग ३ (३), पृ० ३८३ से। मजुमदार, ज० ग्रे० इ० सो० १ (२), पृ० ७४। सुवर्णद्वीप, पृ० १७१।

४०. इ० क० ९, पृ० १४८-५०, नं० ८४।

४१. सा० इ० इ० भाग २, पृ० १०५ से। इ० इ० ९, पृ० २३१-२।

४२. तंजोर लेख में उल्लिखित स्थानों की तद्रूपता दिखाने का प्रयास डा० मजुमदार तथा सिडो ने किया है। देखिए, सुवर्णद्वीप भाग १, पृ० १७५ से। ज० ग्रे० इ० सो० १ (२), पृ० ७८ से। सिडो, ए० हि०, पृ० २४१ से।

पने जो मलाका के सामने है, (मलेयूर) ७वीं शताब्दी का मलायु, जम्बि जाम्बो (मायिरुडिंगम), मलाया प्रायद्वीप का कुछ भाग जिसे चीनियों ने जे लो तिंग कहा है। इलंगाशोगम (लंकासुक), माप्पप्पालम (पप्फाल) जो महावंश के अनुसार पेगू तट पर था। मेविलिंवंगम (क्रा जलडमरूमध्य पर स्थित), कर्मरंग अथवा कामलंग, वलैप्पन्डुरु (कदाचित् पान्डुरंग अथवा चम्पा), तलैत्तक्कोलम् (क्रा जलडमरूमध्य पर स्थित तक्कोला) जिसका उल्लेख तालमी के भूगोल और मिलिन्दपंहो में है। मादमालिंगम (ताम्रलिंग), चीनियों का तन-म-लिंग जिसका केन्द्र लिगोर में था। इलामुरिदेश (अरबों का लामुरि, मारकोपोलो का लम्ब्री जो सुमात्रा के सुदूर दक्षिण में था), मानक्कवारम (निकोवार द्वीप) तथा कडारम (केडा)। यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस क्रम से इन स्थानों का उल्लेख है उसी क्रम से राजेन्द्र चोल की दिग्विजय भी हुई थी। उसने श्रीविजय, पलमवंग पर आक्रमण कर संग्रामविजयतुंगवर्मन् को बन्दी बनाया और फिर सुमात्रा तट के मुख्य केन्द्रों तथा महाराज के मलाया प्रायद्वीप पर स्थित विभिन्न अधिकृत प्रांतों में और अन्त केडा पर अधिकार किया। मलाया स्रोतों के अनुसार तमिल शासक राजचोलन ने डिन्डिग नदी पर स्थित गंगनगर का विध्वंस किया, जोहोर की एक सहायक नदी लेंग्यि पर स्थित गढ़ को जीता और तुमसिक (जिस पर बाद में सिंघापुर बसा) पर अधिकार कर लिया।

राजेन्द्र चोल के आक्रमण का परिणाम शैलेन्द्र राज्य का, जो मलाया तथा सुमात्रा तक फैला था, और उसके शासक संग्रामविजयतुंगवर्मन् का अन्त था। शुंग-वंश के इतिहास के अनुसार चे-लि-तिए-हुआ श्री देव नामक शासक ने एक दूत १०२८ ई० में भेंट देकर चीन भेजा।[४३] इससे प्रतीत होता है कि चोल-विजय स्थायी रूप न धारण कर सकी। तमिल लेखों में राजेन्द्र चोल के वंशजों द्वारा पुनः कडारम पर अधिकार करने का उल्लेख है। वीरराजेन्द्रदेव के ७वें वर्ष (१०६८-६९ ई०) के पेरुम्वेर लेख[४४] में उसके कडारम पर अधिकार तथा वहाँ के शासक को उसका राज्य पुनः वापस कर देने का उल्लेख है। कोलोत्तुंग चोल के २०वें वर्ष (१०८९-

४३. सिडो, ए० हि०, पृ० २४२।

४४. सा० इ० ई० भाग ३ (३), पृ० २०२। मजुमदार, ज० ग्रे० ई० सो० १ (१), पृ० ८४। सुवर्णद्वीप, पृ० १८१।

९० ई०) के लेख में[४५] किडार के शासक के दूत राजविद्याधर सामन्त और अभिमानोत्तुंग सामन्त के अनुरोध पर कोलोत्तुंग ने शैलेन्द्रचूड़ामणि-वर्म-विहार के प्रति दिये गये गाँव को कर से मुक्त कर दिया। पेरुम्बेर लेख से यह प्रतीत होता है कि वीरराजेन्द्रदेव के राज्यकाल से पहले कडारम अथवा केडा के शासक ने पुनः स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी और चोल सम्राट् को उसे फिर से जीतना पड़ा। इस विजय ने धर्मविजय का रूप ग्रहण किया और कडारम (केडा) के शासक को उसका राज्य पुनः वापस मिल गया। शैलेन्द्र और चोल शासकों का युद्ध लगभग ५० वर्ष तक चलता रहा। कदाचित् भौगोलिक परिस्थितियों तथा यातायात की असुविधाओं के कारण चोल अपना अधिकार मलाया पर कायम न रख सके और उनकी सुदूरपूर्व की विजयकांक्षा का अन्त हुआ।

शैलेन्द्र राज्य का पतन

वास्तव में सग्रामविजयतुंगवर्मन् जिसे राजेन्द्र चोल की सेना ने १०२५ ई० में हराया था, अन्तिम शैलेन्द्र शासक था, क्योंकि उसके बाद शैलेन्द्र नाम कहीं नहीं मिलता है। हो सकता है कि संग्रामविजयतुंगवर्मन् के वंशज केवल मलाया में ही राज्य करते रहे हों अथवा किसी दूसरे वंश ने अपना अधिकार जमा लिया हो। कोलोत्तुंग चोल के समय में किडार के जिस शासक ने अपने दूत राजविद्याधर और अभिमानोत्तुंग चोल सम्राट् के पास भेजे थे, उसका शैलेन्द्र-वंशज होना निश्चित नहीं है। चीनी स्रोतों के अनुसार सन फो त्सि नामक राज्य कई शताब्दियों तक कायम रहा और ११५६ में वहाँ के महाराज की ओर से चीन दूत भेजे गये तथा ११७८ में वहाँ से माल लेकर पुनः राजदूत चीन गये।[४६] मा त्वान लिन के अनुसार इन दूतों ने चीनी सम्राट् को बताया कि उनके शासक की मृत्यु ११६९ ई० में हो गयी और उसका पुत्र सिंहासन पर बैठ चुका है।[४७] सम्राट् ने नवीन शासक को

४५. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ साउथ इंडिया ४, पृ० २२६। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० १८२।

४६. ग्रोएनवेल्ट, नोट्स, पृ० ६७। फेरेड, जू० ए० २-२० (१९२२), पृ० २२, ए० हि०, पृ० २८३।

४७. सिडो, ए० हि०, प० २८३।

उपाधि तथा भेंट भेजकर मान्यता प्रदान की। सन-फो-त्सि तथा उसके अधीन राज्यों का वृत्तान्त १२वीं शताब्दी में चाऊ-जू-कुआ ने दिया है जो फुकिएन में विदेशी माल के परीक्षक पद पर नियुक्त था।[४८] अधीन राज्यों की सूची में वंडो खाड़ी के दक्षिण में मलाया के सभी प्रान्त तथा पश्चिमी द्वीपों का उल्लेख है। इसमें श्रीविजय का नाम नहीं है और प लिन फोंग (पलेमवंग) को सन फोत्सि के अधीन रखा गया है। अधिकतर विद्वानों ने सन फो त्सि की तद्रूपता श्रीविजय से की है[४९] जिसका उल्लेख चीनी स्रोतों में सबसे पहले ८०४ ई० में हुआ और १४वीं शताब्दी के अन्त में इस राज्य का वृत्तान्त मिलता है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[५०] सन फो त्सि की तद्रूपता श्रीविजय से करनी चाहिए। चूड़ामणि और उसके पुत्र मारविजयतुंग वर्मन् को लाइडेन के लेख में श्रीविजय-कटाह का शासक कहा गया है और शुंग वंश के इतिहास में उन्हें सन फो त्सि का शासक माना गया है। चाऊ जू कुआ की सूची में उल्लिखित सन फो त्सि के अधीन राज्यों में से बहुतों की तद्रूपता राजेन्द्र चोल के तंजोर-लेख में श्रीविजय-कटाह के अधीन देशों से की जा सकती है। अतः यह प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि (श्रीविजय) पर शैलेन्द्र शासकों का कुछ समय तक अधिकार रहा, पर श्री मारविजयतुंग वर्मन् की चोलों द्वारा पराजय के बाद उस वंश का अधिकार सन फो त्सि से जाता रहा। जावा शैलेन्द्रों के हाथ से पहले ही निकल चुका था। कहा जाता है कि संग्राम-विजयधर्म-प्रसादोत्तुंग देवी ने १०३०-१०४१ के बीच में जावा के सम्राट् ऐरलंग के यहां उच्च पद प्राप्त किया। कदाचित् नाम की समानता से प्रतीत होता है कि वह तो विजयतुंगवर्मन् की कोई विधवा पुत्री रही होगी और संभवतः उसने ऐरलंग के साथ विवाह कर लिया होगा। इससे शैलेन्द्र वंश का अन्त संकेतित होता है। कटाह में श्रीदेव नाम का कोई दूसरा शासक राज्य कर रहा था और श्रीविजय में दूसरा स्वतंत्र राज्य था, जिसका उल्लेख चीनी स्रोतों में मिलता है। उसने कई शताब्दियों तक अपना अस्तित्व कायम रखा तथा उसके अधीन सुमात्रा के अतिरिक्त दक्षिणी मलाया तथा पश्चिमी जावा के राज्य भी थे। शैलेन्द्रों के स्थान पर अब श्रीविजय का उत्कर्ष आरम्भ होता है।

४८. ज० ग्रे० इ० सो० २ (१), पृ० १४।
४९. जू० ए० १९२२। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २७३। ए० हि० २२१।
५०. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २७३।

अध्याय २

श्रीविजय राज्य[1]

आदि श्रीविजय राज्य के प्रारम्भिक इतिहास का उल्लेख पहले किया जा चुका है। फेरंड के मतानुसार[2] रामायण और चीनी स्रोतों में ही इसका उल्लेख मिलता है। रामायण-कथित यवद्वीप से कदाचित् इसी का संकेत है और कालोदक द्वारा ३९२ ई० में 'बुद्ध की बारह अवस्थाओं के सूत्र' के अनुवाद, चे चूल येऊ किंग, में भी इसका संकेत है। ५१६ ई० में 'किंग ल्यू चि सिंग' में उपर्युक्त ग्रन्थ उद्धृत है

१. श्रीविजय राज्य के इतिहास तथा स्थान पर कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों में मुख्यतया प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने अपने विचार विस्तृत रूप से लिखे हैं। देखिए-- सिडो, 'ला गोयाम डु श्रीविजय' (श्रीविजय का राज्य) (बु० इ० फ्रा० १८, ६), लेज़ा इंस्क्रिपसियां मलेज़ें डु श्रीविजय (श्रीविजय का मलय लेख), (बु० इ० फ्रा० ३०, पृ० २९, ८०), फेरंड, जू० ए० अक्टूबर-दिसम्बर १९३२, पृ० २७१, ३२६)। वेल्स, इ० आर० १ ले० ९ (१९३५), पृ० १-३१। सिडो, ज० ग्रे० ए० सो० मलाया १४ (१९३६), पृ० १-९। गेनकेल, ए० ओ० र० १९२४, पृ० २१। मोएंस, 'श्रीविजय याव आन कटाह, तिज, वत, ७७ (१९३७), पृ० ३३३-३३५। प्रो० नीलकंठ शास्त्री, 'श्रीविजय' बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २३९ ३१० तथा इन्हीं के 'श्रीविजय' पर मद्रास यूनिवर्सिटी में दिये गये मायर्स लेक्चर्स। इस अध्याय में दिया गया श्रीविजय सम्बन्धी वृत्तान्त, उपर्युक्त ग्रन्थों, मुख्यतया प्रो० नीलकंठ शास्त्री के 'श्रीविजय' तथा सिडो के ग्रन्थों और प्रकाशित लेखों एवं उनकी पुस्तक 'एंटे हिन्दुआ (हिन्दू राज्य) पर आधारित है। उपर्युक्त लेखों को मूल रूप से भी देख लिया गया है।

२. जू० ए० १९२२, अक्टूबर-दिसम्बर, पृ० २१०। प्रो० शास्त्री, बु० इ० फ्रा० ४० (१९४०), पृ० २४१।

और इसमें समुद्र के २५०० राज्यों का उल्लेख है। स्यू लिनायक राज्य में केवल बौद्ध धर्मानुयायी ही रहते थे। चौथे राज्य चो ये में पि प (लम्बी मिर्च) तथा हू सिओ (मिर्च) का उत्पादन होता था। 'फन फन यू' नामक व्याख्या में चो ये की तद्रूपता 'जय' से की गयी है और फेरंड के मतानुसार यही श्रीविजय था। यदि फेरंड के मत को मान लिया जाय तो श्रीविजय का राज्य चौथी शताब्दी में भी था और यह आगे भी नाम मात्र के लिए अपना अस्तित्व बनाये रहा। कुछ विद्वानों ने इसकी तद्रूपता चीनी स्रोतों के सन-फो-त्सि से भी की है जो पहले कन टो ली कहलाता था, पर सन-फो-त्सि अथवा कन टो ली को मलाया में रखा गया है और श्रीविजय राज्य का केन्द्र सुमात्रा (पलेमवंग) था। इसलिए प्रारम्भिक काल में इन दोनों को अलग मानना चाहिए, पर बाद में इसकी तद्रूपता श्रीविजय से की जाने लगी।[३] चीनी इतिहासकारों ने अपने वृत्तान्तों में इन दोनों की भिन्नता तथा बाद में एकीकरण पर प्रकाश नहीं डाला है। इस राज्य का उत्कर्ष ईसवी सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और इसका क्रमबद्ध इतिहास कुछ लेखों, चीनी स्रोतों तथा अरब इतिहासकारों के विवरण से ज्ञात होता है। चीनी यात्री इत्सिंग यहां कई वर्ष (६८९-९२) ठहरा था और उसने इसका रोचक वृत्तान्त दिया है।[४] बौद्ध धर्म तथा शिक्षा का यह प्रसिद्ध केन्द्र था तथा व्यापारिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस चीनी यात्री के मतानुसार मलयू देश (सुमात्रा में जाम्बि प्रान्त) उस समय श्रीविजय कहलाता था। इस राज्य का इतिहास लिखने के लिए सर्वप्रथम उपर्युक्त साधनों का आकलन करना होगा।

लेख-सामग्री

श्रीविजय राज्य से सम्बन्धित चार वर्ष के अन्तर वाले चार लेख, दक्षिण

३. सिडो, ए० हि०, पृ० २२१। वेल्स के मतानुसार श्रीविजय को वंडो की खाड़ी के ऊपर चाया में रखना चाहिए (इ० आ० १ ले० ९, १९३५, पृ० १-३१)। किन्तु सिडो के मतानुसार यह ठीक नहीं है। ए० हि०, पृ० १४३, नोट १। देखिए, शास्त्री, बु० इ० फ्रा०, पू० सं०, पृ० २४२।

४. तककुसु, इत्सिंग, पृ० ३४ तथा १०।

भारतीय लिपि में मिले हैं। प्रथम लेख पलमवंग के निकट केडुकनबुकित[५] से प्राप्त हुआ है। इसमें लिखा है कि १३ अप्रैल ६८३ में (तिथिगणना के अनुसार) सम्राट् नाव पर बैठकर सिद्धयात्रा के लिए गया और ८ मई को वह २०,००० सैनिक लेकर किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को गया। लेख के अन्त में 'श्रीविजय जय सिद्धयात्रा सुमिक्ष'[६] का उल्लेख है, जिससे श्रीविजय के हित के लिए सफल सिद्धयात्रा का संकेत प्रतीत होता है।

दूसरा लेख पलमवंग से पश्चिम में ५ किलोमीटर की दूरी पर मिला। इसकी तिथि ६०६ शक सं० (६८४ ई०) की चैत्र सुदी द्वितीया है। इसमें श्री जयनाश द्वारा श्रीक्षेत्र उद्यान की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में उसके प्रणिधान का भी उल्लेख है जिसके अन्तर्गत सम्राट् द्वारा दान तथा अन्य कृत्यों का उद्देश्य

५. बु० इ० फ्रा० ३०, पृ० ३४। ४०, पृ० २४३। वेलन, श्रीविजय, तिज, आरड्रिक्स, जेन, ५१, १९३४, पृ० ३६३। सिडो, ए० हि०, पृ० १४३। ऐ० ओ० २, १९२४, पृ० २१।

६. 'सिद्धयात्रा' का उल्लेख कई लेखों में मिलता है...न्हान व्यू (चम्पा) बु० इ० फ्रा०, ११ (१९११), पृ० ३०३। महानाविक बुद्ध गुप्त का लेख (मलाया), जे० ए० एस० बी०, १ (१९३५)। उपर्युक्त के डुकन वुकित लेख, कोटाकपूर (बंका द्वीप) के लेख में जयसिद्धि लिखा है...बु० इ० फ्रा०, ३० (१९३०), पृ० ५९। तेलगवटु (पलमवांग) लेख में 'जयसिद्ध यात्रा सर्व सत्व' लिखा है। 'सिद्ध-यात्रा' से कोई 'मनोजव प्रक्रिया' का संकेत माना जाता है जिससे साधक को कोई गुप्त मंत्र, विद्या प्राप्त हो सके और उसका कार्य सिद्ध हो जाय। इसको प्राप्त करने के लिए निश्चित स्थान में जाना पड़ता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'पंचतंत्र' और 'जातकमाला' में इसका उल्लेख है और इसका सम्बन्ध योगी और उसकी 'सिद्धवर्त्ति' से दिखाया गया है। पुराणों में बहुत-से सिद्ध अथवा सिद्धि-क्षेत्रों का उल्लेख है। मत्स्य, १, १०, १२, वायु ५, १७५, ५, १८२। हो सकता है, इसी प्रकार के सुदूरपूर्व...मलाया, हिन्दनेशिया और हिन्दचीन में भी सिद्ध क्षेत्र हों जहां पर जाकर सिद्धि प्राप्त हो सकती थी। कम्बुज देश में 'देवराज' मत के अन्तर्गत इसी प्रकार से सिद्धि और सफलता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता था। प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने इस विषय पर एक लेख लिखा है। ज० ग्रे० इ० सो०, ४, पृ० १२८-३६।

उसकी सम्पूर्ण जनता का हित था। लेख में उसकी प्रजा द्वारा अच्छे कार्यों, दान, धैर्य तथा महासत्त्व और वज्र शरीर प्राप्त करने की इच्छा भी प्रकट की गयी है जिससे वह जन्म, कर्म और क्लेश पर विजय प्राप्त कर सके और 'अनुत्तराभि सम्यक् सम्बोधि' अवस्था प्राप्त कर ले।[७]

तीसरे और चौथे लेख का विषय एक ही है।[८] तीसरा लेख वटंगहरि (जाम्बी की एक सहायक नदी) पर स्थित करंगब्रहि से प्राप्त हुआ। इसमें तिथि नहीं है, पर यह बंका द्वीप के कोटाकपूर से प्राप्त चौथे लेख की प्रतिलिपि है। इसकी तिथि शक सं० ६०८ (६८६ ई०) की वैशाख शुक्ल द्वितीया है। इसमें श्रीविजय की सेना के जावा के विरुद्ध जाने का उल्लेख है जिसने श्रीविजय को आत्मसमर्पण नहीं किया था। श्रीविजय की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति की गयी है और जनता को चेतावनी दी गयी है कि वह श्रीविजय राज्य के विरुद्ध कोई कार्य न करे, अन्यथा उसको और उसके कुटुम्बियों को कठिन दंड दिया जायगा।

इन लेखों की महत्ता अधिक है। ये प्राचीन मलय भाषा में हैं और इन्हीं के आधार पर श्रीविजय का सातवीं शताब्दी का इतिहास लिखा जा सकता है। इसकी पुष्टि के लिए चीनी और अरबी स्रोतों का आश्रय लेना पड़ेगा। ये चारों लेख कदाचित् एक ही शासक के राज्य काल के हैं। केवल एक लेख में जयनाश (अथवा जयनाग) का नाम मिलता है। लगभग एक शताब्दी बाद के दो लेखों में भी श्रीविजयेन्द्रराज, श्रीविजयेश्वरभूपति और श्री महाराज का उल्लेख है।[९] शासक का नाम नहीं है। हो सकता है इस प्रकार की परम्परा वहां के शासकों में हो जिसके अन्तर्गत उन्हें देश अथवा वंश-शासक के नाम से सम्बोधित किया जाता हो।

७. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २४३...यह लेख हिन्दनेशिया में बौद्ध धर्म के विकास-ज्ञानार्थ महत्त्वपूर्ण है। यह इत्सिंग के वृत्तान्त की पुष्टि करता है कि श्रीविजय महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था। विज्ञानवादी असंग के 'योगाचार्यभूमि-शास्त्र' का यहां अध्ययन होता था। ग्रूसे, फिलास्फी आंडियेन (भारतीय दर्शन), २, पृ० ७-१४९। सिडो, ए० हि०, पृ० १४६।

८. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० सं०।

९. यही, ३०, पृ० ३०, ५१; ४० पृ० २४४-४५।

इन चार लेखों की क्रमबद्ध तिथियों तथा उनमें उल्लिखित वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि ये चारों लेख जयनाश (अथवा जयनाग) नामक शासक के थे और इनमें उसकी विजय तथा धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है।

६८४ ई० में उसने जनता की भलाई तथा नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा करने के लिए श्रीक्षेत्र-उद्यान की स्थापना की थी तथा 'अनुत्तराभि सम्यक् सम्बोधि' अवस्था प्राप्त करने के लिए जनता को आदेश दिया था। बौद्धधर्म के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना है और इससे श्रीविजय में तंत्रवाद के प्रवेश का संकेत मिलता है, जैसा कि सिडो का विचार है।[१०] श्रीविजय राज्य में दक्षिण सुमात्रा (मलयु, पलमवंग) बंका द्वीप तथा पश्चिमी जावा के सम्मिलित होने का संकेत मिलता है। मोएन के मतानुसार जावा से प्राचीन राज्य तारुमा का संकेत मिलता है।[११] वहां से ६६६–६६९ के बाद किसी राजदूत के चीन जाने का उल्लेख नहीं है। कदाचित् ६९५ ई० में चीन भेजा गया राजदूत जयनाश की ओर से ही गया होगा। उसके पहले ६७०-६७३ के समय में कुछ दूत भेजे गये। ७०२, ७१६ और ७२४ में चे-लि-टो-लो-प-मो (श्री इन्द्रवर्मन्) की ओर से चीन को दूत गये और ७२८ तथा ७४२ में भी लियो-तेंग-वाई-कौंग ने अपने दूत चीन भेजे।[१२]

इत्सिंग और श्रीविजय

श्रीविजय उत्तर में मलाका की खाड़ी और दक्षिण में सुंडा की खाड़ी पर अधिकार रखने के कारण पश्चिम से पूर्व की ओर जानेवाले व्यापारिक यातायात मार्गों पर अपना नियंत्रण रखे हुए था। यह बौद्ध धर्म का भी एक शैक्षिक केन्द्र था जहां १००० से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। मध्य देश (भारत) की भाँति वे सभी विषयों का अध्ययन और उन पर अनुसंधान करते थे। भारत आते समय

१०. ए० हि०, पृ० १४६। इसमें शवान, ग्रूसे तथा पुसें के विचार भी इस सम्बन्ध में उद्धृत हैं।

११. मोऐन, तिज० विड० १९३७, पृ० ३६२। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २४६।

१२. सिडो, ए० हि०, पृ० १४५।

इत्सिग यहां ६७१ में छः महीने ठहरा था और कैन्टन से ६८९ में लौटकर भी यहां उसने कुछ समय व्यतीत किया था। व्यापारिक केन्द्र होने के कारण श्रीविजय में विभिन्न देशों के व्यापारी आते थे। इत्सिंग कैन्टन से एक ईरानी व्यापारी के जहाज में रवाना हुआ और फिर श्रीविजय के शासक के जहाजों में वह पूर्वी भारत आया।[13] लंका से वज्रबोधि नामक भिक्षु ३५ ईरानी जहाजों के काफिले के साथ श्रीविजय आया था।[14]

चीनी स्रोत तथा श्रीविजय का आठवीं शताब्दी का इतिहास

आठवीं शताब्दी के श्रीविजय का इतिहास चीनी स्रोतों से ही सूक्ष्मतया उपलब्ध है। चीन के साथ श्रीविजय का राजनीतिक सम्बन्ध पूर्णतया सातवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध भाग में स्थापित हो चुका था। ६९५ ई० में एक चीनी राजकीय घोषणा के अन्तर्गत चेन ला (कम्बुज) और हो लिंग (जावा) की भाँति, चीन में स्थित श्रीक्षेत्र के दूतों को भी पांच मास की भोजन सामग्री देने की व्यवस्था की गयी। फो-चे से ७०२ और ७१६ में दूत चीन गये और ७२४ ई० में कुमार ने सम्राट् को दो बौने, एक जेंगी (नीग्रो) कन्या, गायकों का एक दल और पाँच रंगीन तोते भेंट किये और सम्राट् ने कुमार को उपाधि के अतिरिक्त चीनी मलमल के १०० थान तथा श्रीविजय के शासक ये-लि-टो-लो-प-मो (श्रीन्द्रवर्मन्) को उपाधि प्रदान की। ७४२ ई० में श्रीविजय की ओर से एक और दूत चीन गया और चीनी सम्राट् ने यहां के शासक को एक और उपाधि दी।[15]

चीनी स्रोत के अतिरिक्त लिगोर के ७७५ ई० के अ लेख में भी श्रीविजय का उल्लेख है। प्रथम पद में श्रीविजयेन्द्रराज की प्रशस्ति है। उसकी तुलना देवेन्द्र से की गयी है तथा उसे ब्रह्मा का अवतार भी माना गया है। इस श्रीविजये-श्वर भूपति को अन्य राजाओं का आधिपत्य प्राप्त था और उसने ईंटों के तीन मन्दिरों का निर्माण बौद्ध देवताओं के लिए कराया था। राजस्थविर जयन्त ने

१३. तककुसु, इत्सिंग, पृ० ४०-४१।

१४. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३३६। ४०, पृ० २५०।

१५. जू० ए० अक्टूबर-दिसम्बर १९२२, पृ० २१७-१८। बु० इ० फ्रा० ४, पृ० ३३४-५। ४०, पृ० २५२।

सम्राट् की आज्ञा पर तीन स्तूपों का निर्माण कराया। जयन्त की मृत्यु के बाद उसके शिष्य और उत्तराधिकारी ने मिट्टी की ईंटों के दो चैत्यों का उपर्युक्त मन्दिरों के निकट निर्माण कराया। इस लेख में सम्राट् को श्रीविजय-नृपति, श्रीविजयेश्वर भूपति[१६] तथा विजयेन्द्रराज कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीविजय के इस शासक का अन्य राजाओं (भूपति) पर आधिपत्य था। इस लेख से यह प्रतीत होता है कि श्रीविजय राज्य मलाया तक पहुँच चुका था और वहाँ यह पूर्णतया स्थापित हो चुका था। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[१७] श्रीविजय राज्य मलाका की खाड़ी के दोनों ओर अपना आधिपत्य जमाये हुए था। जावा में शैलेन्द्र शासकों ने संजय और मतराम राज्य स्थापना के मध्य काल में राज्य किया जो ७३२ ई० के बाद की घटना है। शैलेन्द्रों का सुमात्रा के श्रीविजय राज्य से कोई सम्बन्ध न था, पर उनका पारस्परिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहा होगा।[१८] मध्य जावा में शैलेन्द्रों का राज्य था और पश्चिमी जावा श्रीविजय के अधिकार में था। इन दोनों शक्तियों का उस समय सुदूरपूर्व में बोलबाला था और हो सकता है, इन्होंने संयुक्त होकर हिन्द-चीन और अनाम पर आक्रमण किया हो, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। नवीं शताब्दी के आरम्भ में कम्बुज पूर्णतया स्वतंत्र हो गया था और इस शताब्दी के मध्य भाग में एक शैलेन्द्र शासक ने श्रीविजय पर अधिकार कर इसे अपनी राजधानी बनाया था। उसका तथा उसके वंशजों का उल्लेख महाराज के नाम से अरबी लेखकों ने किया है। प्रो० नीलकंठ

१६. इस लेख का सर्वप्रथम संपादन सिडो ने किया। बु० इ० फ्रा० १८।६। पृ० २९-३०। और डा० छावड़ा ने संशोधन किया। जे० ए० एस० बी० १९३५, पृ० २२-२। सिडो ने पुनः इस पर अपने विचार प्रकट किये। बु० इ० फ्रा०, ३५। स्टूटरहाइम के मतानुसार 'श्रीविजयेन्द्रराज' तथा 'श्रीविजयेश्वर भूपति' से यह संकेत मिलता है कि लिगोर लेख का शासक श्रीविजय के शासकों के ऊपर था, पर मूस और बोश ने इसका खंडन किया है। बु० इ० फ्रा० २८, पृ० ५२०-२१। तिवज ६९, पृ० १४४-५।

१७. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २६८।

१८. प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा इनकी शक्ति पर प्रकाश डाला है।

शास्त्री के मतानुसार शैलेन्द्र वंश की एक शाखा ने जावा में थोड़े अधिक समय तक और दूसरे वंश ने सुमात्रा में राज्य किया।[१९] चीनी और अरबी स्रोतों के आधार पर श्रीविजय और शैलेन्द्र राज्यों के सम्बन्ध तथा इनके इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जावग, श्रीबुज़ और सन-फो-त्सि

नवीं शताब्दी के मध्य भाग से अरबी लेखकों ने महाराज नामक शासक का उल्लेख किया है और उसके साथ जावग तथा श्रीबुज़ का नाम भी लिया है। प्रथम से कदाचित् सम्पूर्ण पूर्वी द्वीपों का संकेत है और श्रीबुज़ से श्रीविजय का संकेत है।[२०] ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से चीनी स्रोतों में सन-फो-त्सि का उल्लेख मिलता है, जहाँ से ९०४ ई० में चीन को दूत भेजे गये। १४वीं शताब्दी तक इसका वृत्तान्त मिलता है।[२१] अब शे-लि-फों-चे का उल्लेख नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण अरबी और चीनी स्रोतों से प्राप्त वृत्तान्त का उल्लेख करना आवश्यक होगा और उसके आधार पर इनका इतिहास लिखा जा सकेगा। अरब इतिहासकारों में इब्न खोरदादवेह (८४४-८४८ ई०) ने जावज़ (जावग) के शासक का नाम महाराज दिया है[२२] जिसका श्रीविजय पर अधिकार हो चुका था। अब्वुजैद (९१६) ने सुलेमान (८५१ ई०) के वृत्तान्त की पुष्टि की है। कलाह वार और जावग पर एक ही शासक का अधिकार था। जावग एक नगर और द्वीप का भी नाम था और वहां के महाराज का ४०० राज्यों पर अधिकार था, जिनमें ४०० परसंग का श्रीवुज़ भी था।[२४] मसूदी (९४३) ने भी श्रीवुज़ की इतनी लम्बाई रखी है, उसके एक दूसरे ग्रन्थ (९५५ ई०) में उसने महाराज को जावग़ तथा कलाह और श्रीवुज़ नामक द्वीपों का अधिकारी कहा है। इब्न सैद (१३वीं शताब्दी) ने श्रीवुज़ द्वीप

१९. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २६८।
२०. यही, पृ० २७३।
२१. सिडो, ए० हि०, पृ० २३३।
२२. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २७०।
२३. एक परसंग ६ किलोमीटर के बराबर होता है।
२४ जू० ए० १९२२। अक्टूबर-दिसम्बर, पृ० ५६-६१।

की लम्बाई ४०० मील और चौड़ाई १६० मील रखी है। इनके अतिरिक्त और भी अरबी वृत्तान्तकारों ने अपने विचार इस राज्य के विषय में प्रकट किये हैं। उपर्युक्त वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि जावग और श्रीवुज़ (श्रीविजय) को सभी ने अलग माना है। इब्न सैद ने श्रीवुज़ द्वीप की लम्बाई-चौड़ाई दी है और इसी नाम के नगर को इसकी राजधानी लिखा है। जावग या जावक (चूलवंश के अनुसार) से प्रायः सम्पूर्ण मलय प्रायद्वीप का संकेत था और श्रीवुज या श्रीविजय अलग द्वीप था। यह महाराज के अधीन था, जिससे शैलेन्द्र शासकों का संकेत हो सकता है।

चीनी स्रोतों में लगभग ९०४ ई० से सन-फो-त्सि नामक राज्य का उल्लेख मिलता है और यह विवरण १४वीं शताब्दी (मिंगकाल) तक मिलता जाता है। फेरंग के मतानुसार सन-फो-त्सि की समानता श्रीविजय से करनी चाहिए।[२५] लाइडेन के प्रसिद्ध लेख में चूड़ामणिवर्मन् और उसके पुत्र मारविजयोत्तुंगवर्मन् को श्रीविषय और कटाह का शासक माना गया है।[२६] 'शुंगवंश के इतिहास' में इन्हें सन-फो-त्सि के शासक कहा गया है।[२७] इसलिए श्रीविजय और सन-फो-त्सि की एकता मान ली जानी चाहिए। चाऊ-जू-कुआ द्वारा दी गयी सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों की सूची राजेन्द्रपाल के तंजोर लेख से मिलती-जुलती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार सन-फो-त्सि की समानता श्रीविजय पलमवंग से नहीं करनी चाहिए,[२८] पर इस प्रश्न पर पुनः विचार अनावश्यक है। चाऊ-जू-कुआ के मतानुसार प-लिंग-फोग, सन-फो-त्सि के अधीन राज्य था। उसने इन दोनों को अलग-अलग रखा है। इस सम्बन्ध में प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार श्रीविजय की राजवानी जाम्बी थी और पलमवंग उसके अधीन था।

२५. जू० ए० १९२२, अक्टूबर-दिसम्बर, पृ० १६९-७०।

२६. चटर्जी एन्ड चक्रवर्ती, 'इंडिया एन्ड जावा', भाग २, पृ० ५६ से।
'शैलेन्द्रवंशसम्भूतेन श्रीविषयाधिपतिना कटाहाधिपत्यमातन्वता . . . चूड़ामणिवर्म्मणः पुत्रेण श्रीमारविजयोत्तुंगवर्म्मणा।'

२७. जू० ए० अक्टूबर-दिसम्बर १९२२, पृ० १९। सिडो, ए० हि०, पृ० २३८।

२८. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २१८।

इसी लिए चाऊ-जू-कुआ ने जाम्बी का अलग से उल्लेख नहीं किया है।[२९] सन-फो-त्सि वास्तव में श्रीविजय ही है। इस पर कुछ समय के लिए शैलेन्द्र शासकों का राज्य हो गया था। इसी लिए सुलेमान ने कलावार (कटाह, मलाया) और जावग (सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप) को एक ही शासक के अधीन रखा है और उसने श्रीवुज (श्रीविजय) द्वीप को भी जावग के महाराज के अधीन रखा है। शैलेन्द्रों का श्रीविजय पर अधिकार नवीं शताब्दी के बाद से रहा और सन-फो-त्सि का इतिहास इस युग में वास्तव में शैलेन्द्र शासकों के अधिकार की कहानी है। सन-फो-त्सि से प्रथम राजदूत ९०४ ई० में चीन गया।[३०] यह कहना कठिन है कि शे-ले-फो-चे-से का सन-फो-त्सि नाम में परिवर्तन होना शैलेन्द्र शासकों के श्रीविजय पर अधिकार के फलस्वरूप हुआ, अथवा इसका कुछ और कारण था। अगली दो शताब्दियों का श्रीविजय-इतिहास वास्तव में शैलेन्द्र शासकों की कहानी है, जिसका मुख्य वृत्तान्त उनका पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत के शासकों के साथ संबंध और संघर्ष है। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। लाइडेन के लेख तथा अरब इतिहासकारों के वृत्तान्त के आधार पर यह निश्चित है कि केडा (कलाह) और श्रीविजय (श्रीवुज़) एक ही शासक के अधीन थे और राजेन्द्र चोल के सामुद्रिक आक्रमण के समय में भी यही परिस्थिति थी। ११वीं शताब्दी में श्रीविजय बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था और इसका उल्लेख १०वीं शताब्दी के अन्त अथवा ११वीं के आरम्भिक काल में मिलता है। इसमें 'सुवण्णपुरे श्रीविजयपुरे लोकनाथः' लिखा है।[३१] प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) ने लगभग १२ वर्ष (१०११-१०२३) यहाँ बिताये थे और उसने धर्मकीर्ति से, जो सुवर्णद्वीप के बौद्ध संघ का अध्यक्ष था, शिक्षा प्राप्त की थी।[३२]

११वीं शताब्दी से श्री विजय का इतिहास

११वीं शताब्दी से श्रीविजय का महत्त्वपूर्ण इतिहास मिलता है। राजनीति,

२९. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २७३।
३०. जू० ए० पू० सं०, पृ० १४, १७।
३१. जू० ए०, पृ० ४३। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २८४।
३२. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २८५।

व्यापार और धर्म ने श्रीविजय का प्राचीन पूर्वी द्वीपसमूह, भारत तथा चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। १०१७ में यहाँ के शासक ह-चि-सु-व-य-पु (हजि सुमंत्रभूमि) ने सुवर्ण अक्षरों में लिखित एक पत्र दूत के हाथ अन्य भेंटों सहित जिनमें संस्कृत ग्रन्थ भी थे, चीनी सम्राट् के पास भेजा। १०२८ ई० में एक दूसरा दूत भी चीन भेजा गया। इस बीच में संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् की चोल शासक राजेन्द्र द्वारा पराजय हो चुकी थी, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। श्रीविजय की राजनीतिक परिस्थिति बदल चुकी थी। शैलेन्द्रों का इस पर से अधिकार उठ चुका था, क्योंकि संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् के किसी उत्तराधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रीविजय अब अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर चुका था। श्री संग्रामविजयधर्मप्रसादोत्तुंगदेवी जो पूर्व शैलेन्द्र शासक की पत्नी रही थी, अब जावा सम्राट् ऐरलंग के यहाँ चली गयी थी और वहाँ पर उसने आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था। क्रोम के मतानुसार यह ऐरलंग की पुत्री थी।[३३] हो सकता है कि पूर्व सम्राट् की इस विधवा रानी ने ऐरलंग के साथ विवाह कर जावा और पूर्व शैलेन्द्र वंश के प्रति मित्रता स्थापित कर ली हो।[३४] १०३०–१०६४ तक के समय का श्रीविजय का वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता है। १०६४ में धर्मवीर नामक एक व्यक्ति का नाम जाम्बी से पश्चिम में सोलोक नामक स्थान से प्राप्त एक मकर-मूर्ति पर अंकित मिलता है, जिस पर जावा का प्रभाव प्रतीत होता है।[३५] 'शुंगवंश के इतिहास' के अनुसार १०६७ ई० में सन-फो-त्सि से टि-हुआ-कि-लो (दिवाकर अथवा देवकुल) नामक व्यक्ति चीन आया। १०७८-१०८५ के बीच काल में सन-फो-त्सि (श्रीविजय) से कई राजदूत चीन

३३. हि० जा० ग्रे०, पृ० २४५। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २८८।

३४. श्रीविजय और शैलेन्द्र के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। श्रीविजय को चोलों की ओर से भय था, अतः जावा के साथ सम्पर्क स्थापित रखना ही उसके लिए हितकर था। जावा में ऐरलंग (१०१९-४२) ने भी मित्रतापूर्ण नीति अपनायी। ऐरलंग ने १०३५ में श्रीविजयाश्रम नामक एक विहार का निर्माण किया, जिससे प्रतीत होता है कि श्रीविजय और जावा के बीच अब मित्रता स्थापित हो गयी थी। (बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २८८)

३५. सिडो, ए० हि०, पृ० २५०।

भेजे गये। १०८२ और १०८३ में तीन दूत भेंट लेकर चीन पहुँचे और उन्हें उपाधियाँ प्रदान की गयीं। १०९४-१०९७ के बीच में भी कई राजदूत श्रीविजय से चीन गये। ११वीं और १२वीं शताब्दी में सन-फो-त्सि का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध बना रहा। ११५६ ई० में सन-फो-त्सि के शासक श्री महाराज ने भेंट देकर राजदूत चीन भेजा।[३६] यहीं से ११७२ ई० में भी एक दूत चीन भेजा गया, जिसका उद्देश्य चीन से तांवा खरीदना तथा चीनी कारीगर प्राप्त करना था। ११७८ में अन्तिम बार श्रीविजय से दूत भेजा गया। मा-त्वान-लिन के अनुसार सन-फो-त्सि (श्रीविजय) के शासक ने यह भी समाचार भेजा कि ११६९ में अपने पिता की मृत्यु के बाद वह गद्दी पर वैठा है। सम्राट् ने शासक को उन सब उपाधियों से विभूषित किया जो उसके पिता को प्राप्त थीं। इसी वर्ष चाऊ-कू-फाई द्वारा लिखित लिग-वै-त-त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसने सन-फो-त्सि के विषय में लिखा है कि व्यापारिक दृष्टिकोण से त-शि (अरब देश), शो-पो (जावा) के बाद सन-फो-त्सि का स्थान था। अरब व्यापारी यहीं से बड़े जहाजों में बैठकर चीन जाते हैं।[३७] चाऊ-कू-फ ई का वृत्तान्त ५० वर्ष बाद लिखा गया। इस ग्रन्थ में व्यापारिक क्षेत्र के देशों और बिक्री की चीजों का उल्लेख है तथा सन-फो-त्सि का विस्तृत रूप से वृत्तान्त मिलता है।[३८] इसने सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों की सूची भी प्रस्तुत की है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। चाऊ-जू-कुआ ने प-लिंग-फोंग को सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों में रखा है। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों अलग-अलग राज्य थे, पर वास्तव में श्रीविजय की राजधानी उस समय में पलमवंग से उठकर अब जाम्बी चली गयी थी; जिसका उल्लेख एक राज्य के रूप में पहले हो चुका है, पर चाऊ-जू-कुआ ने उसका अलग से उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में ग्राहि से प्राप्त बुद्ध-मूर्ति की पीठ पर अंकित एक लेख से महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इसकी तिथि शक सं० ११०५ (११८३ ई०) है[३९] और इसकी लिपि प्राचीन जावानी की तरह है, पर भाषा प्राचीन ख्मेर लेखों जैसी है।

३६. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९१।
३७. यही, पृ० २९२।
३८. यही, पृ० २९३।
३९. सिडो, ए० हि०, पृ० ३०१। ज० ग्रे० इ० सो० ८, १९४१, पृ० ६१।

इस लेख में कम्रते अज महाराज श्रीमत् त्रैलोक्यराजमौलिभूषणवर्मदेव के आदेश पर महासेनापति गलानि द्वारा उस मूर्ति के निर्माण का उल्लेख है। इस शासक का नाम कम्बुज देश के किसी भी शासक से नहीं मिलता है। सिडो के प्रथम मत[४०] और प्रो० नीलकंठ शास्त्री[४१] के मतानुसार उपर्युक्त व्यक्ति श्रीविजय का शासक था।

श्रीविजय राज्य का अन्त

श्रीविजय राज्य के अन्त के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ रही हैं। सिडो के वर्तमान मत के अनुसार ग्राहि के लेख से यह प्रतीत होता है कि उस समय श्रीविजय राज्य का पतन आरम्भ हो चुका था और ११वीं शताब्दी के अंत तक कम्बे और मलयु स्वतंत्र हो गये थे। १२३० में मलाया प्रायद्वीप में चन्द्रभानु ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।[४२] चाया के लेख में उल्लिखित चन्द्रभानु की अभिन्नता महावंश के जावकराज चन्द्रभानु से की गयी है,[४३] जो पराक्रम-

४०. बु० इ० फ्रा० १८ (६) पृ० ३५-६।

४१. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९६।

४२. ए० हि०, पृ० ३१०।

४३. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९७। ए० हि० ३१०। सिंहली महावंश में चन्द्रभानु को जावक का शासक कहा गया है और पांड्य तथा दक्षिण भारत के अन्य लेखों में उसे शावकन की उपाधि दी गयी है। जिनकालमालिनी तथा उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि १२४७ ई० में एक शिष्ट-मंडल लंका गया जिसका उद्देश्य बुद्ध की एक मूर्ति और उनकी राख-हड्डियां प्राप्त करना था। उसने संघर्ष करके लंका में जावकों का एक उपनिवेश स्थापित कर लिया। पांड्यों को १२५८, १२६३ में यहां प्रवेश करने पर दो सिंहली और एक जावक कुमार के साथ संघर्ष करना पड़ा। यह जावक कुमार कदाचित् चन्द्रभानु का पुत्र था और उसने पांड्य शासक जयवर्मन् वीर का आधिपत्य स्वीकार किया। १२७० में चन्द्रभानु की ओर से उसी उद्देश्य से पुनः सुसज्जित सेना भेजी गयी, पर वह हार गयी। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखिए--शास्त्री, 'श्रीविजय, चन्द्रभानु और वीर पांड्य', तिजक वत ७७, १९३७, पृ० २५१।

बाहु द्वितीय का समकालीन था और शावकन के नाम से उसका उल्लेख पाण्ड्य लेखों में भी मिलता है। इसे ताम्ब्रलिंगेश्वर भी कहा गया है जिससे उसका ताम्ब्रलिंग के स्वतंत्र शासक होने का संकेत मिलता है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[४४] तन-म-लिंग (ताम्ब्रलिंग) और सन-फो-त्सि (श्रीविजय) के बीच संघर्ष का संकेत चाऊ-जू-कुआ ने नहीं किया है और पांड्य लेखों से, जिनमें चन्द्रभानु को शावकन कहा है, भी यह संकेत नहीं मिलता है कि कडाराम श्रीविजय के हाथ से निकल चुका था। चन्द्रभानु के सीलोन पर आक्रमण और उसकी हार से श्रीविजय पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर श्रीविजय की घटती शक्ति का संकेत अवश्य मिलता है। सिडो का कथन है कि ताम्ब्रलिंग की स्वतंत्रता वास्तव में ताम्ब्रलिंग और सुखोदय के हीनयान और श्रीविजय के महायान मत के बीच संघर्ष, चन्द्रभानु द्वारा लंका से बुद्ध की मूर्ति अथवा राख-हड्डी प्राप्त करने के प्रयास और अन्त में ताम्ब्रलिंग के सुखोदय राज्य में मिल जाने की कहानी है।[४५] १२८६ ई० के एक लेख में, जो जाम्बी नदी के ऊपरी तट से मिला, अमोघपाश की मूर्ति को उसके १३ शिष्यों के साथ जावा से सुवर्णभूमि लाने का उल्लेख है।[४६] यह महाराजाधिराज श्रीकृतनगर विक्रमधर्मोत्तुंग देव के आदेश पर चार पदाधिकारियों द्वारा लायी गयी थी। इससे मलायु के सभी वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तथा महाराज श्रीमत् त्रिभुवन-राज्य-मौलिवर्मदेव को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह मूर्ति धर्माश्रम में स्थापित की गयी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह लेख महत्त्वपूर्ण है और इससे सुमात्रा का जावा के अधीन होने का संकेत मिलता है। जावा के शासक श्रीकृतनगर की पदवी महाराजाधिराज है और सुमात्रा का शासक केवल महाराज कहा गया है। 'नागरकृतागम' और पररतों में भी जावा द्वारा सुमात्रा के विरुद्ध आक्रमण तथा उस पर अधिकार का संकेत मिलता है। पररतों के अनुसार शक सं० ११९७ (१२७५ ई०) में जावानी सेना मलायु के विरुद्ध गयी थी, जहां से वह दो राजकुमारियों को लेकर

४४. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९८।

४५. यही, पृ० २९८।

४६. क्रोम, हि० जा० गे०, पृ० ३३५-६। शास्त्री, बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९९।

लौटी, जिसमें से एक ने कृतराजस के साथ विवाह कर लिया और दूसरी का विवाह देव से हुआ, जिसका पुत्र मलायु का एक शासक था। 'नागरकृतागम' के अनुसार कृतनगर के अधीन पहंग, मलायु, गुरुन और वकुलपुर थे।[४७] श्रीविजय (सन-फो-त्सि) का उल्लेख अब नहीं मिलता है। मलायु से १२८१ में दो मुसलमान व्यापारी चीन गये। जिस समय मार्कोपोलो उत्तरी सुमात्रा आया, उसने वहां बहुत से छोटे-छोटे राज्य पाये।[४८] कुछ राज्यों के शासक इस्लाम धर्म ग्रहण कर चुके थे। इन राज्यों में श्रीविजय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। स्याम के सुखोदय की बढ़ती हुई शक्ति ने मलाया में श्रीविजय राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया था और दक्षिण में जावा के शासकों ने उग्र नीति से काम लेकर इस राज्य को बड़ी ठेस पहुँचायी। कृतनगर (१२६८–९२), कृतराजस जयवर्धन (१२९३–१३००) तथा उसके उत्तराधिकारियों ने श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य राज्यों को अपने अधिकार में करना चाहा। आगे जावा का इस पर अधिकार हो गया और जैसा की चीनी स्रोतों से प्रतीत होता है, सन-फो-त्सि जो कि समृद्धिशाली राजधानी थी, जावा से अधिकृत होने पर उजाड़ हो गयी थी। वहां केवल कुछ व्यापारी ही जाते थे।[४९]

४७. बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० २९९।
४८. क्रोम, हि० जा० गे०, पृ० ३३६। बु० इ० फ्रा० ४०, पृ० ३००।
४९. यही, पृ० ३०४।

अध्याय ३

जावा के हिन्दू राज्य (८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक)

आठवीं शताब्दी ईसवी से मध्य जावा के इतिहास पर कुछ लेख प्रकाश डालते हैं। इनके आधार पर केवल इतिहास की रूपरेखा ही खींची जा सकती है। लेखों में राजाओं का नाम मिलता है और उन पर तिथि भी दी हुई है, पर इनके अतिरिक्त विस्तृत रूप से किसी भी शासक के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। कुछ समय के लिए जावा पर शैलेन्द्र राजाओं का अधिकार हो गया था, तब स्थानीय शासकों ने मध्य जावा छोड़कर पूर्वी जावा में शरण ली थी। सम्पूर्ण जावा के इस इतिहास में मतराम के संजय और उसके वंशज, पूर्वी जावा के ऐरलंग और उसके वंशज तथा कडिरि और सिंहसारि राज्य पर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे। आगे चलकर जावा के स्वतंत्र राज्यों का एक सूत्र में बँधकर साम्राज्य का रूप प्राप्त करना दूसरी घटना है और इस पर विस्तृत एवं स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा।

मतराम राज्य

चंगल के लेख में[1] शक सं० ६५४ (७३२ ई०) में सन्नाह के पुत्र संजय द्वारा

१. यह लेख केडू प्रान्त की वुकुर पहाड़ी पर चंगल में १८८४ में मिला। विशेष परिचय के लिए देखिए—कर्न, व्री० जी० भाग ७, पृ० ११७ से। छावड़ा, जे० ए० एस० बी० एल० भाग १, पृ० ३४ से। बु० इ० फ्रा० भाग ४६१, पृ० २१, नं० १। चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा भाग २, पृ० २९। ल्यो-डमें ने हिन्दनेशिया के लेखों का अध्ययन करके अपने लेख में कहा है कि 'संजय का पिता भारत से नहीं आया। वह उसी स्थान का निवासी था। उसके पुत्र संजय की अभिन्नता मन्त्यसिह प्रथम के शक सं० ८२९ के लेख के रकाई मतराम संगरतु संजय से की गयी है। बु० इ० फ्रा० भाग ४६, पृ० २०, नं० ३।

शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में शिव, ब्रह्मा और विष्णु की प्रार्थना के बाद जावा देश की प्रशंसा की गयी है, जो धनधान्य से भरपूर था और जहाँ सोने की खानें थीं।[२] सम्राट् संजय का नाम सोलो लेख[३] के अन्तर्गत (९०७ ई०) भी है, जिसमें श्री महाराज वतुकुर द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है। इस लेख में एक वंशावली दी गयी है जो इस प्रकार है—रकाई मतराम संग रतु संजय, श्री महाराज रकाई पनंगकरन, श्री महाराज रकाई पनुन्गलन, श्री महाराज रकाई वरक, श्री महाराज रकाई गरुंग, श्री महाराज रकाई पिकतन, श्री महाराज रकाई क्युवंगि, श्री महाराज रकाई वतुहमलंग और श्री महाराज रकाई वतुकुर। संजय के आगे 'रकाई मतराम' उपाधि दी गयी है जिससे प्रतीत होता है कि इसका मतराम स्थान से सम्बन्ध था, जहाँ पर १६वीं शताब्दी के बाद से मुसलमान सुलतानों ने राज्य किया और यह प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राचीन परम्परा को कायम रखा। मजपहित के कुछ राजवंशजों ने भी अपना मतराम से सम्बन्ध दिखाया।[४] डा० स्टुटरहाइम के मतानुसार[५] इस राज्य की राजधानी पहले डंग में थी जिसकी अभिन्नता एक स्थानीय किंवदन्ती के आधार पर मेंडंगकमुलन (सेमरंग में ग्रोवोगन) से मानी जा सकती है। क्रोम ने इसे प्राभवनम के निकट रखा है और पास ही लरो जोंग्रन्ग, प्लाओसन और सजिवन के प्राचीन मन्दिर भी इसकी पुष्टि करते हैं।[६] संजय के पिता का सन्न अथवा सन्नाह

२. जावा का इसी प्रकार का वृत्तान्त वाल्मीकि रामायण में भी मिलता है—

'यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।।
यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति शृंगेन देवदानवसेवितः।।' (रामायण, बम्बई ४, ४०, ३०)

३. सिडो, ए० हि०, पृ० १५३।

४. क्रोम, इन्डो जावानीच गेशिष्ट (इ० ज० गे०), पृ० १६९। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० १६९।

५. सुमात्रा इतिहास में जावानी युग, टी० वी० जी० १९२०, पृ० ४१७ से। मजुमदार, पृ० २३५।

६. इ० ज० गे०, पृ० १७०। 'सुमात्रा इतिहास में जावानी युग।'

नाम कोई स्थानीय संस्कृत नाम होगा। लेख में कुंजरकुंज नामक स्थान का भी उल्लेख है जहाँ के वंश ने शिव के मन्दिर की स्थापना में अंशदान दिया था (**श्रीमत्कुंजरकुंजदेश निहितं वंशादितीवावृतं...पद ७**)। इस लेख पर कई विद्वानों ने टिप्पणी की है। कर्न के मतानुसार कुंजरकुंज के वंश ने यहाँ पर मूर्ति लाकर स्थापित की थी। पर क्रोम का कथन है कि यह शिव का मन्दिर कुंजरकुंज के मन्दिर की ही भाँति था, इससे कुंजरकुंज के किसी वंश द्वारा लायी हुई मूर्ति का संकेत नहीं होता है।[7] सिडो के मतानुसार कुंजरकुंज उस स्थान का नाम है जहाँ पर शिव के मन्दिर की स्थापना की गयी और जो केडू में स्थित था।[8] सन्न का इसके अतिरिक्त और कुछ वृत्तान्त नहीं मिलता है कि 'सन्न ने इस द्वीप में शत्रुओं को परास्त कर मनु की भाँति वहुंत समय तक न्यायपूर्ण राज्य किया और पुत्रवत् अपनी प्रजा की रक्षा की (**शास्तां सर्वप्रजानां जनक इव-शिशो...पद ८**)। इसके वाद इसका पुत्र संजय सिंहासन पर बैठा।

संजय

चंगल लेख में संजय के गुणों और शौर्य की प्रशंसा की गयी है। विद्वानों में उसका वड़ा मान था तथा वह शास्त्रों के मर्म को जानता था (**श्रीमान् यो माननीयो बुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी...पद ९**)। अपनी शूरता के कारण रघु के समान उसने बहुत-से सामन्तों को जीता था, सूर्य के समान उसका तेज था, उसकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी और उस समय वह न्यायपूर्ण राज्य कर रहा था (**राजा शौर्य्यादिगुण्यो रघुरिव विजितानेक सामन्तचक्रः, राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दिग्विदिक्ख्यात लक्ष्मी स्सूनुस्सन्नाहनाम्नस्स्वसुर (न्या) यतश्शास्ति राज्यम्। पद ११**)। संजय की विजय-प्रशक्ति का उल्लेख एक अन्य ग्रन्थ 'चरितपरह्यान्गन्' में भी मिलता है।[9] इस ग्रन्थ के अनुसार जावा और बालि

७. चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा, पृ० २९। हरिवंश के मतानुसार कुंजरकुंज दक्षिण की एक पहाड़ी थी जहां पर अगस्त्य का स्थान था। ब्रह्म-संहिता में इसे कच और ताम्रपर्णी के बीच में रखा है।

८. सिडो, ए० हि०, पृ० १८३।

९. टी० वी० जी० १९२०, पृ० ४१७ से। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १, पृ० २३०।

पर विजय करने के पश्चात् संजय मलयु गया, वह केमिर (ख्मेरों) से लड़ा, रह्म गन को हराया, फिर वह केलिंग से लड़ा, संग श्रीविजय को हराया। वह वरुस से लडा, रतुजयदान को हराया। वह चीन से लडा, श्री कलदर्म को हराया। तब संजय समुद्र पार देशों की यात्रा से गलुह लौटा। इस वृत्तान्त की ऐतिहासिक सत्यता की परख करना कठिन है। स्टुटरहाइम के मतानुसार उपर्युक्त वृत्तान्त को पूर्णतया सत्य मानना चाहिए। उनके मतानुसार संजय ने शैलेन्द्र वंश की नींव डाली थी और 'चरित परह्यन्गन्' में उल्लिखित समुद्र पार विजयों से चम्पा और कम्बुज के विरुद्ध ८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग में शैलेन्द्रों की दिग्विजय का संकेत है।[१०] क्रोम महोदय स्टुटरहाइम के मत से सहमत नहीं हैं और उनके विचार में 'चरित परह्यन्गन्' ग्रन्थ से संजय द्वारा समुद्र पार कुछ देशों की ओर प्रस्थान का संकेत मिलता है।[११]

स्टुटरहाइम ने संजय को केवल शैलेन्द्र-वंशज ही नहीं माना है, उसने केडु लेखों में उल्लिखित राजाओं में से कई एक की समानता कलसन तथा अन्य लेखों में उल्लिखित शैलेन्द्र राजाओं से मानी है। सर्वप्रथम द्वितीय राजा श्रीमहाराज रकाई पनंगकरन् की समानता कलसन लेख के करियान पणभकरण से की गयी है। इसके अतिरिक्त उसने संजय की समानता वातपुत्रदेव के पितामह वीर वैरिमथन आनुगतआभिधान से की है, जिसका उल्लेख नालन्दा के लेख में है। पणभकरण की, जिसने कलसन लेख के अनुसार तारा का मन्दिर स्थापित किया था, समानता समराग्रवीर से की गयी है, जिसने नालन्दा के लेख के अनुसार तारा से

१०. पूर्व उल्लिखित, मजुमदार, सुवर्णद्वीप भाग १, पृ० २३१। 'जावग और ख्मेर के बीच संघर्ष का उल्लेख सुलेमान, अब्बुजैद तथा मसूदी ने भी किया है। (फेरेन्ड जू० ए० २, २० (१९२२), पृ० ५८ से)। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० १५६। प्रसिद्ध स्डोक-काक लेख में सम्राट् जयवर्मन् द्वितीय का जावा से कम्बुज आना और एक धार्मिक संस्कार करना, जिससे भविष्य में कम्बुज जावा पर किसी प्रकार आधारित न रहे, ख्मेर राज्य के आठवीं शताब्दी में जावा के अधीन अथवा प्रभाव में होने का संकेत करता है। (बु० इ० फ्रा० भाग १५ (२), पृ० ८७)। मजुमदार, कम्बुज लेख, नं० १५२।

११. पूर्व उल्लिखित, पृ० १२६। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३०।

विवाह किया। तारा के पिता धर्मपाल की समानता धर्मसेतु से की गयी।[१२] स्टुटर-हाइम के मत से सहमत होना कठिन है क्योंकि ये समानताएं निराधार प्रतीत होती हैं। केवल केडुलेख के द्वितीय शासक पनंगकरन् की समानता कलसन लेख के शैलेन्द्र शासक पणभकरण से की जा सकती है, पर नाम की समानता वंश की समानता का संकेत नहीं कर सकती है।[१३] अतः केडु लेख के शासकों को शैलेन्द्र मानना कठिन है। वोश के मतानुसार[१४] केडु लेख के सभी शासकों को एक ही वंश का नहीं माना जा सकता है। उक्त सूची में तो केवल मतराम में रकाई वतुकुर से पहले के शासकों के नाम का ही उल्लेख है। चंगल के लेख की तिथि शक सं० ६५४ (७३२ ई०) है और यदि द्वितीय सम्राट् रकाई पनंगकरन् की समानता कलसन लेख के करियान पणभकरन् से मान ली जाय, तो इस लेख की तिथि शक सं० ७०० (७७८ ई०) में मध्य जावा के वर्तमान जकार्ता प्रान्त पर शैलेन्द्र वंश का अधिकार हो चुका था। संजय के वंशज मध्य जावा को छोड़कर पूर्वी क्षेत्र की ओर चले गये।

संजय के वंशज

'टंग वंश के नवीन इतिहास' में संजय-वंशजों द्वारा पूर्वी जावा में जाकर अपनी राजधानी स्थापित करने का उल्लेख है। इसके अनुसार उस समय शासक छो-पो (जावा) में रहता था। उसके पूर्वज किएन ने पूर्व की ओर पो-लु-किअ-स्स्यु में अपनी नयी राजधानी बनायी थी।[१५] दो अन्य चीनी वृत्तान्तों के आधार पर यह घटना ७४२–७५५ ई० में हुई थी। जावा की नयी राजधानी पुरानी राजधानी से ८ दिन की यात्रा की दूरी पर थी।[१६] चीनी वृत्तान्त से इस बात की पुष्टि होती

१२. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३२।

१३. भारतीय इतिहास में भी शुंगवंश तथा पंचाल के स्थानीय राजाओं के एकीकरण का प्रयास किया गया है, जो निराधार प्रतीत होता है। देखिए, 'इंडिया इन दि टाइम आफ़ पतंजलि।'

१४. टी० वी० जी० भाग ६९ (१९२९), पृ० १३६, मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३३।

१५. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० भाग ४, पृ० २२४-२५।

१६. पिलिओ, 'ड्यू इटेरेनरी' पृ० २२५ । फेरेंड, लुएन जू० ए० १९१९

है कि शैलेन्द्र राजाओं द्वारा मध्य जावा के जकार्ता प्रान्त पर अधिकार करने से संजय के वंशज पूर्वी जावा की ओर चले गये थे। चीनी कि-एन की समानता दिनाय के शक सं० ६८२ (७६० ई०) के लेख में उल्लिखित गजयान से मानी जा सकती है,[१] जिसने अगस्त्य की मूर्ति स्थापित की थी और वह ब्राह्मणों का भक्त था (**भक्तो द्विजातिहितकृद् गजयाननामा. . पद ४**)। इसका पिता देवसिंह था जो पुतिकेश्वर लिंग का रक्षक था। विद्वानों का विचार है कि यह संजय-वंशज था और यह ठीक प्रतीत होता है। 'पुतिकेश्वर' चम्पा के लेखों के भद्रेश्वर की भाँति शिवलिंग का नाम प्रतीत होता है और सिडो के मतानुसार[१८] इसमें शिवलिंग की उपासना और राजकीय भावना के उसके साथ सम्मिश्रण का संकेत मिलता है, जैसा कम्बुज में देवराज मत में था। टंग वंश के इतिहास में दी गयी मध्य जावा की राजनीतिक इतिहास सम्बन्धी सूचना नवीं शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग की है। आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में जब कि मध्य जावा पर शैलेन्द्रों का राज्य हो गया था और संजय-वंशजों को अपनी राजधानी पूर्वी जावा में १००–१५० मील की दूरी पर ले जानी पड़ी, तब से ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब राजधानी पुनः मध्य जावा के प्राचीन स्थान पर वापस आ गयी, इस बीच का काल शैलेन्द्र राजाओं के उत्कर्ष का युग था। संजय-वंशज राजाओं के इतिहास पर कुछ लेख प्रकाश डालते हैं और यह प्रतीत होता है कि केडु लेख में उल्लिखित शासक मध्य जावा के बाकी भाग तथा पूर्वी क्षेत्र पर राज्य कर रहे थे (शक सं० ७४१)।[१९] कुछ विद्वानों के अनु-

मार्च-अप्रैल, पृ० ३०४, नोट ३। फेरेंड ने पो लु कि स्स्यु की समानता जावानी वरुह ग्रेसिक से की है जिसका अर्थ 'बालू का किनारा है' और यह ग्रिसे नाम से सुरावाया का एक बन्दरगाह है। मोएसे ने इसकी समानता वरुस से की है जो केडा के दक्षिण पूर्व में प्राचीन राजधानी थी। सिडो, पृ० १५६, नोट ३।

१७. वोश, टी० वी० जी० ५७, १९१६, पृ० ४१०-४४। चटर्जी और चक्रवर्ती, 'भारत और जावा' पृ० ३५ से। कर्न के मतानुसार कि-एन की समानता जावानी उपाधि ऋयन से की जा सकती है, पर क्रोस का कथन है कि उसके लिए चीनी स्रोतों में लो कि एन का प्रयोग हुआ है। सिडो, ए० हि०, पृ० १५७, नोट ३।

१८. सिडो, ए० हि०, पृ० १५७।

१९. ओ० वी० १९२०, पृ० १३६।

सार शक संवत् ७४१ (८१९ ई०) के सुरकर्त्ता के पेंग्गिग नामक स्थान से प्राप्त लेख में रकरयान ई गरुंग का उल्लेख है, जिसकी समानता केडु-लेख में दी गयी सूची के पाँचवें शासक से की जा सकती है। यद्यपि इस लेख में महाराज उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है पर 'आज्ञा' शब्द से शासक के स्वतंत्र अस्तित्व का पता चलता है। इसके बाद शक सं० ७४६ (कुछ विद्वानों के अनुसार ७१९ वा ७६९) (८४७ ई०) का लेख[२०] क्युमवुन्गान करन्गतेंन्गह (केडु) से प्राप्त हुआ है जिसमें समरोत्तुंग का उल्लेख है। इसकी समानता शैलेन्द्र शासक समराग्रवीर से भी की गयी है, पर यह मान्य नहीं है, क्योंकि केवल नाम के आधार पर समानता दिखाना ठीक नहीं है। बाद के जावा के शासकों में भी इसी नाम के कई राजा थे। गोरिस ने इसकी समानता रकाई पन्नुग्गलन से की है और इसकी तिथि उन्होंने ७९७ ई० रखी है।[२१]

केडु-लेख की सूची में उल्लिखित ४-६ शासक...श्री महाराज रकाई वरक, श्री महाराज रकाई गरुंग और श्री महाराज रकाई पिकतन के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।[२२] सप्तम शासक श्री महाराज रकाई क्युवंगि का नाम तीनों लेखों में मिलता है जो मगेलंग के निकट न्गाविएन में मिलते हैं। इनकी तिथि ८७९, ८८० तथा ८८२ ई० है।[२३] अन्तिम लेख से पता चलता है कि शासक का राजकीय नाम सज्जनोत्सवतुंग था। डिएंग के निकट एक स्थान था जिसका उल्लेख

२०. बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), नं० ७, पृ० २६, २७ और नोट।

२१. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० २३८।

२२. रकाई पिकतन का उल्लेख ८६४ ई० के अर्गपुर के लेख में मिलता है, इसे कोई राजकीय उपाधि नहीं दी गयी है। इसका नाम मंकू भी उसी लेख में है जिसका उल्लेख पेरोत के ८५३ के लेख में भी है और उसे रकाई पतपान कहा गया है। इन दोनों की समानता दिखाना कठिन है। (मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३८)।

२३. क्रोम, हि० ज० गे०, पृ० १७९ (मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३८)। डमे, जावानी लेखों का अध्ययन नं० ५३, ५४, ५८, बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), पृ० ४२-४३। ८८७ ई० के एक लेख में श्री महाराज रके गुरुनंवंगि का उल्लेख है जो कदाचित् कचुवंगि का दूसरा नाम रहा होगा। नं० ६१, बु० इ० फ्रा०, पृ० ४३।

८६६ ई० के एक लेख में है।[२४] इसलिए 'सज्जनोत्सवतुंग' से 'स्वामि क्युवंगी' का संकेत होता है। इस शासक का नाम शुक्र था जिसका उल्लेख ८६१ ई०[२५] के एक और लेख में भी मिलता है। संजय के नाम के बाद यह दूसरा संस्कृत नाम मिलता है। ८८० ई० के लेख में सलिंगसिंगन के भटार पर एक चाँदी का छत्र चढ़ाने का उल्लेख है। यह संस्कार कदाचित् मृतक शासक को देवत्व स्वरूप प्रदान करने के लिए किया जाता था।

आठवाँ शासक रकाई वतुहमलंग था जिसका उल्लेख ८८६ ई० के एक लेख में मिलता है (डमे के अनुसार ८९६ ई०)।[२६] उपर्युक्त शासकों के लेख प्रायः केडु और प्रभव नामक घाटी में मिले, इसलिए यह शासक वर्तमान जकार्ता (योग्य-कर्त्ता) क्षेत्र में मतराम के पूर्व और मध्य भाग में राज्य कर रहे थे। उपर्युक्त केडु की सूची में उल्लिखित नामों के अतिरिक्त कुछ और शासकों के नाम भी मिले हैं जिनके लेख इसी क्षेत्र में पाये गये। इनमें लिमुस द्यः देवेन्द्र जो शक सं० ८१२ (८९० ई०) में[२७] कदाचित् पूर्वी क्षेत्र में राज्य कर रहा था। ८वीं–९वीं शताब्दी के अन्त तक मध्य जावा क्षेत्र राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व का मुख्य केन्द्र रहा। पर इसके बाद से पूर्वी जावा राजनीति का क्षेत्र बन गया।

वतकुर-वलितुंग

केडु सूची के अन्तिम शासक वतकुर के बहुत-से लेख[२८] मिले हैं जो क्रमशः

२४. मजुमदार, पृ० २३९। कई अन्य लेखों में भी इसका उल्लेख है, जैसे रतु रकरयान् कचुवंगि, पुलोकपाल (नं० २७ तथा २८, बु० इ० फ्रा० ४६, पृ० ३५)। एक अन्य लेख (यही, नं० ३८) में रकरयान इ सिरिकन पु रकप का उल्लेख है तथा शासक श्री महाराज रकाई कयुवंगि का भी नाम है।

२५. ओ० जे० ओ०, नं० ७। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २३९।

२६. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २४०। सिडो, बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (अ) सिडो, जेटे पृ० २१५।

२७. बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (अ) नं० ६२, पृ० ४३। मजुमदार और सिडो के अनुसार इस लेख की तिथि ८१४ है। सुवर्णद्वीप, पृ० २४०। ए० हि०, पृ० २१५।

२८, क्रोम पृ० १८२। सिडो, पृ० २१५। मजुमदार, पृ० २४०।

८९८ ई० से ९१० ई० तक के हैं और मध्य तथा पूर्वी जावा में पाये गये हैं। इनमें सम्राट् को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। वतकुर के अतिरिक्त उसे वलितुंग तथा संस्कृत नाम उत्तुंगदेव, ईश्वरकेशोत्सवतुंग, ईश्वरकेशव समरोत्तुंग और धर्मोदय महाशंभु नाम भी दिये गये हैं। सम्राट् को द्य: व्लितुंग और द्य: गरुडमुख नामक नाम तथा रकेवतुकुर और रकेगलु (अथवा हलु) उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं।[२९] इसके एक पदाधिकारी रक्रयान ई वतुहतिहंग श्री संग्राम-धुरंधर का उल्लेख तजी (पानरंग), पूर्वी जावा के एक लेख[३०] में मिला। उसी वर्ष में उसका उल्लेख मतराम के पश्चिम में वगेलेन के बरतेनगह के लेख में भी मिलता है तथा ९०२ और ९०६ ई० के मध्य जावा के लेखों में भी इसका उल्लेख है।[३१] कहा जाता है कि वलितुंग ने मतराम वंश में विवाह करके मध्य जावा का भाग भी प्राप्त कर लिया था और उसका राज्य मध्य तथा पूर्वी जावा तक फैला था। मन्त्यसिह (केडु) का ९०७ ई० का लेख विशेष रूप से महत्त्व रखता है। मध्य जावा पर अपना वैधानिक अधिकार दिखाने के लिए इस लेख की वंशावली प्रथम मतराम शासक संजय से दी गयी है।[३२]

२९. रके वतुकुर द्यः वलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं० ८२० (८९८), बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (अ), नं० ६५। श्री महाराज रके वतुकुर द्यः वलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं० ८२२ (९०१ ई०) बु० इ० फ्रा० भाग ४६, नं० ६७। श्री महाराज रके वतुकुर द्यः बलितुंग। शक सं० ८२३, नं० ६८। महाराज रके वतुकुर द्यः बलितुंग श्री ईश्वर केशवोत्सव तुंगव। शक सं० ८२४ (९०२ ई०) वही नं० ७१। श्री महाराज रके वतुकुर द्यः बलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं० ८२५ (९०४ ई०) यही नं० ७४, शक सं० ८२९ नं० ८२, ८३, ८४ शक सं० ८३१ (९०९ ई०)। श्री महाराज रके वतुकुर द्यः बलितुंग श्री ईश्वरकेशव समरोत्तुंग ८२९। (९०७ ई० नं० ८७)। श्री महाराज कके गलुह द्यः श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं० ८३२ (९१० ई०) नं० ८९।

३०. बु० इ० फ्रा० ४६, नं० ६८।

३१. ओ० जे० ओ०, नं० २२। ओ० वी० १९२५, पृ० ४१-९। ओ० जे० ओ०, नं० २५। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २४२।

३२. सिडो, ए० हि०, पृ० २१६।

दक्षोत्तम

वतुकुर बलितुंग धर्मोदय महाशंभु के बाद लगभग ९०३ ई० में दक्ष अथवा दक्षोत्तम सिंहासन पर बैठा। ९०६ ई० (९०१ सिडो के अनुसार) के एक लेख में उसे एक उच्च पदाधिकारी 'रक्रयान रि हिनो तथा मपतिह इ हिनो' की उपाधि दी गयी है[३३] तथा उसका पूरा नाम 'दक्षोत्तम बाहुबज्र प्रतिपक्षक्षय' भी दिया गया है। बलितुंग की भाँति इसका अधिकार भी मध्य और पूर्वी जावा तक विस्तृत था और यह जकार्ता-क्षेत्र में रहता था। कुछ विद्वानों का मत है[३४] कि लोरो जोंगरंग (प्रभबनन) का प्रसिद्ध मन्दिर उसी ने बनवाया था, क्योंकि इसकी बनावट पूर्वी जावा के मन्दिरों की भाँति है। यह मन्दिर भी मृतक पूर्वज की स्मृति के लिए बनाया गया था। दक्षोत्तम का राज्यकाल थोड़े ही समय तक रहा। इस शासक के चार लेख मिले हैं जो सिंगसारि और प्रभवनन क्षेत्र से ही प्राप्त हुए हैं। तिंबनन वुंगकल (गतक) से प्राप्त लेख[३५] में श्री महाराज दक्षोत्तम बाहुबज्र प्रतिपक्षक्षय श्री मान्गविजय का उल्लेख है। दमें के मतानुसार इसकी तिथि ९१३ ई० है। दक्षोत्तम ने कुछ ही वर्षों तक राज्य किया और उसके बाद तुलोडोंग ९१९ ई० के निकट सिंहासन पर बैठा।

तुलोडोंग

इस शासक के दो लेख शक सं० ८४१ (९१९ ई०)[३६] और शक सं० ८४३[३७]

३३. बु० इ० फ्रा० भाग (४६), नं० ८०, पृ० ४६-७।

३४. सिडो, ए० हि०, पृ० २४५।

३५. बु० इ० फ्रा० भाग ४६, नं० ९२, पृ० ५२-५३। इस संवत् का एक और लेख तजि में मिला (ओ० जे० ओ०, नं० ३६)। इन तिथियों को पहले ६९३ और ६९४ पढ़ा गया। दक्षोत्तम ९१० (धर्मोदय महाशंभु बलोत्तुंग का अन्तिम लेख) और ९१९ (तुलोडोंग का प्रथम लेख) के बीच काल में मध्य जावा और पूर्वी जावा में राज्य कर रहा था। इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए देखें (बु० इ० फ्रा० ४५, पृ० ४२, ६३)।

३६. बु० इ० फ्रा० भाग ४६, नं० ९७, पृ० ५३-३।

३७. यही, नं० ९९, पृ० ५४-५।

(९२१ ई०) के मिले हैं। प्रथम लेख लिन्तकन में मिला और इसमें उसे श्री महाराज रकइलयंग द्यः तुलोडोंग श्री सज्जन सन्मतानुरगतुंगदेव और दूसरे लेख में श्री महाराज रके लयंग द्यः तुलोडोंग कहा गया है। यद्यपि ये दोनों लेख पूर्वी जावा में प्राप्त हुए हैं, पर इस शासक का अधिकार मध्य जावा पर भी था।[३८] इसके बाद ववा सिंहासन पर बैठा। क्रोम के मतानुसार उसकी समानता रक्यंन् मपतिह हिनो, महामंत्री श्री केतुधर से की जा सकती है, जिसका उल्लेख ९८९ ई० के एक लेख में है[३९] और वह दक्ष तथा तुलोडोंग के शासन काल में एक उच्च पदाधिकारी था। इसके समय के चार लेख मिले हैं।[४०] प्रथम लेख मलंग के उत्तर पश्चिम में न्गेनदन्न में मिला और इसकी तिथि ९२४ ई० है। इसमें इसे श्री महाराज रकइ पंकज द्यः ववा श्री विजयलोकनामोत्तुंग नाम से सम्बोधित किया गया है। दूसरा लेख वेखेक (केडिरी) के निकट मिला और इसकी तिथि ९२७ ई० है। तीसरे की तिथि कदाचित् ९२६ ई० है। इन तीनों लेखों में उच्च पदाधिकारी रकरयन मपतिह इ हिनोध्यः सिन्डोक श्री ईशानवर्मा का उल्लेख है जो ववा

३८. डमे, बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), पृ० ५४ नोट १। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २४६, नोट १।

३९. बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (अ), नं० ९८, पृ० ५५। रकर्यान् मततिह इ हिनो पु केतुविजय। इस लेख में केतुधर द्वारा एक दान की पुष्टि का उल्लेख है जो पहले दक्षोत्तम ने किया था और उसमें मध्य जावा के कुछ स्थानों का उल्लेख है। इसकी तिथि ९१९ ई० का कार्त्तिक मास है जब कि तुलोडोंग शासक हो चुका है। श्रावण ९१९ ई० में केतुधर ने दक्षोत्तम तथा तुलोडोंग के राज्य-काल में किसी उच्च पद को सुशोभित किया और इसके बाद वह पूर्वी जावा में शासक बन बैठा। (देखिए, मजुमदार, सुवर्णद्वीप भाग १, पृ० २४९, नोट २)।

४०. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २४७। ओ० जे० ओ०, नं० ३१। नं० ३२, नं० ३३, वी० जी० भाग ७, पृ० १७९ से। डमे की सूची में बवा के तीन लेख ९२८ ई० के हैं (नं० १०४, १०५, १०६)। एक लेख (नं० १०५) में रके सुम्ब का भी उल्लेख है और दूसरे (नं० १०६) में श्री महाराज के पंकज द्यः वबा श्री विजय-लोकनामोत्तुंग नाम मिलता है। सुंव और पंकज वबा के दो नाम थे अथवा वे अलग अलग व्यक्ति थे, कहना कठिन है।

का उत्तराधिकारी हुआ। चौथे लेख में ववा को श्री महाराज रके सुम्वद्यः ववा कहा है। ववा के सब लेख पूर्वी जावा में मिले हैं अतः उसका मध्य जावा से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। डा० मजुमदार के मतानुसार[४१] ववा के ९२७ ई० के लेख में अन्तिम बार मतराम का उल्लेख है, जहाँ मेडंग में सम्राट् के प्रासाद (क्रतों) की रक्षा की प्रार्थना की गयी है, और इसलिए यह मतराम का अन्तिम शासक था। सिंडोक के ९२९ के लेख में मतराम का नाम नहीं है और केवल मेडंग की मृतक आत्माओं के प्रासादों (क्रतों) का उल्लेख है। ९२७ में ववा ने वागीश्वर नाम धारण कर लिया था और सिडो के मतानुसार[४२] ९२९ तक वह नाम-मात्र के लिए शासक रहा, क्योंकि उसके उत्तराधिकारी सिंडोक का प्रथम लेख ९२९ ई० का है।

मध्य जावा के अन्य राज्य

लगभग दो शताब्दी (७३२–९२७ ई०) तक के लम्बे काल में मध्य जावा में मतराम के शासक अपना आधिपत्य स्थापित किये हुए थे। कुछ समय के लिए उन्हें पूर्वी जावा जाना पड़ा, पर वे पुनः वापस आ गये। मतराम के अतिरिक्त मध्य जावा में कुछ अन्य राज्य भी थे जिनका उल्लेख हमें मिलता है। दिनाय के लेख में[४३] जो मलंग के उत्तर में मिला है, देवसिंह और उसके पुत्र गजयान का, जिसे लिंवमी कहा गया है, उल्लेख है। गजयान की पुत्री उत्तेजना का विवाह प्रद पुत्र के साथ हुआ था और उसके पुत्र ने अगस्त्य के मन्दिर का निर्माण कराते समय यह लेख लिखवाया था। इस शासक का नाम मिटा हुआ है, पर इसने अगस्त्य की एक पत्थर की मूर्ति भी बनवायी,[४४] जो उसके पूर्वजों द्वारा स्थापित की गयी थी। इस मूर्ति का अभिषेक

४१. सुवर्णद्वीप, पृ० २४८।

४२. ए० हि०, पृ० २१७।

४३. बु० इ० फ्रा० भाग ४६, नं० ३, पृ० २२-२३। वोश ने उस लेख को सम्पादित तथा संशोधित किया। टी० वी० जी० भाग ५७, पृ० ४१०, ४४। भाग ६४ (१९२०), पृ० २२७, २९१। चटर्जी और चक्रवर्ती।

४४. अगस्त्य ऋषि का उल्लेख मध्य जावा के शक सं० ७८५ के परेग के लेख में भी मिलता है। इसी लेख में अगस्त्य द्वारा भद्रलोक के मन्दिर निर्माण का भी

७६० ई० में वैदिक पंडितों द्वारा हुआ था। दिनाय के लेख से मध्य जावा में आठवीं शताब्दी के संजय और शैलेन्द्र वंशों के अतिरिक्त एक अन्य राजवंश का भी संकेत होता है। 'तंगवंश के इतिहास' के अनुसार उस काल में हों लिंग से ६ बार राजदूत जो क्रमशः ६४८, ६६६, ७६७, ७६८, ८१३ और ८१८ ई० चीन भेजे गये। दो राजदूत ८२० और ८३१ ई० में छो पो से गये।[४५] तंगवंश के नवीन इतिहास में ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ८६० और ८७३ ई० के बीच में जावा की ओर से भेजे गये एक राजदूत का उल्लेख है। उस समय जावा में २८ छोटे-छोटे राज्य थे। जावा की राजधानी भी जावा थी, किन्तु उसकी वर्तमान तद्रूपता बताना कठिन है। शुंग वंश के इतिहास में इसके विषय में दिशाओं का संकेत है। राजधानी से पूर्व में समुद्र एक मास की यात्रा की दूरी पर था, पर पश्चिम में ४५ दिन की यात्रा की दूरी पर, तथा दक्षिण में वहाँ से समुद्र तीन दिन की दूरी पर था और उत्तर में समुद्र तक पहुँचने के लिए पाँच दिन लगते थे।[४६] इस संकेत से जावा राजधानी की तद्रूपता वर्तमान सुकारता से की गयी है, जहाँ पर बहुत-से लेख भी मिले हैं। मतराम जावा का मुख्य राज्य था और उससे प्राचीन कई अन्य राज्य थे। ९२७ ई० से जावा के इतिहास में पूर्वी जावा का स्थान प्रधान हो जाता है और सिंडुक ने ९२७ ई० में दोनों क्षेत्रों में अपना राज्य स्थापित किया।

उल्लेख है और लेख की अन्तिम पंक्तियों में कदाचित् अगस्त्य के वंशजों के प्रति शुभकामनाएँ प्रकट की गयी हैं। वोश के मतानुसार जिस प्रकार कम्बुज में जयवर्मन् द्वितीय और हिरण्यदाम द्वारा देवराज मत चलाया गया, चम्पा में राजकीय शैव मत उरोज द्वारा चलाया गया, उसी प्रकार जावा में अगस्त्य के विषय में किवदन्तियां हैं। कदाचित् इन सब का स्रोत एक ही था और यह स्कन्द पुराण के देवदोरु माहात्म्य में मिलता है। चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा भाग २, पृ० ३६।

४५. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २५१।

४६. यही, पृ० २५३। बु० इ० फ्रा० भाग ४, पृ० २५३।

अध्याय ४

पूर्वी जावा का उत्कर्ष

मध्य जावा-राज्य का पतन और पूर्वी जावा का उत्कर्ष सिंडोक से आरम्भ होता है, जो ववा के समय में सर्वोच्च पदाधिकारी था और उसका नाम श्री ईशान-विक्रम था। उसके समय के लेख ९२८ ई० से लेकर ९४८ ई० तक के मिले हैं।[1] मध्य जावा की राजनीतिक अवनति तथा पूर्वी जावा का उत्कर्ष एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके विषय में विद्वानों के विचारों में मतभेद रहा है। एक विचारधारा[2] के अन्तर्गत पूर्वी जावा के सामन्त ने मध्य जावा के शासक के प्रति विद्रोह किया और इस संघर्ष के कारण मध्य जावा की राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्ति क्षीण हो गयी एवं यही उसके पतन का कारण बनी। इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक शक्ति भले ही क्षीण हो जाय, पर मध्य जावा का सांस्कृतिक स्तर वैसा ही रहा और वहां के मन्दिरों से अवनति का संकेत नहीं मिलता है। मध्य जावा के बहुत से उच्च पदाधिकारी पूर्वी जावा में काम करते रहे और मतराम

१. देखिए--दमें, 'हिन्दनेशी लेखों का अध्ययन' नं० १०७, १२८। इन लेखों में इसे 'श्री ईशानविक्रमधर्मोत्तुंगदेव' नाम से संबोधित किया गया है। दो लेखों में इसकी सम्राज्ञी रक्रयन विनिहजि श्री परमेश्वरी दयः केवि (श्री वर्धनी पुक्वी) का भी उल्लेख है (नं० ११३, ११८, पृ० ५८-५९)। उपर्युक्त उपाधि के अतिरिक्त इसे 'विक्रमधर्मोत्साह', 'विजयधर्मोत्तुंग' तथा 'मतंगदेव (नं० १२५) भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त इसे रके हलु (नं० १०७) तथा रके हिनो (नं० १०९, ११०, १११, ११२ आदि) उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं।

२. वेथ, जावा भाग १ (१८९६), पृ० ४५। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २५५। इस सम्बन्ध में कम्बुज द्वारा फूनान राज्य पर पूर्णतया अधिकार करने का उदाहरण दिया जा सकता है।

के देवताओं का सिंहसरि में आवाहन होता रहा। मध्य जावा के लेख किसी भी असाधारण परिस्थिति का संकेत नहीं करते हैं। यह कहना और भी कठिन है कि भूचाल अथवा महामारी के प्रकोप से मध्य जावा से लोगों ने पूर्वी क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया हो। क्रोम के मतानुसार[३] जावा के शासकों को सुमात्रा के शैलेन्द्र राजाओं की ओर से भय था, क्योंकि वे वहां राज्य भी कर चुके थे और उनके लिए उस पर पुनः अधिकार करना कठिन न था। अतः मध्य जावा के शासक या तो राजनीतिक अथवा प्राकृतिक परिस्थिति-वश मध्य जावा को छोड़कर पूर्वी जावा की ओर चले गये। ९२९ ई० के बाद का मध्य जावा में कोई लेख नहीं मिलता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी धीरे-धीरे मध्य जावा ने पीछे हटना आरम्भ किया और पूर्वी क्षेत्र राजनीतिक उत्कर्ष के साथ-साथ लगभग पांच सौ वर्ष तक भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मुख्य केन्द्र रहा।

सिंडोक, शेंडोक

तुलोडोंग के ९१९ ई० के लेख में सिंडोक का नाम पहली बार मिलता है।[४] सिडो के मतानुसार[४] कदाचित् यह दक्ष का पौत्र था। श्री ईशान विक्रमधर्मोत्तुंगदेव के नाम से पूर्वी जावा में इसने अपना शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इसका नाम १३वीं शताब्दी के आरम्भ तक चलता रहा।[५] इसकी वंशावली के विषय

३. इ० ज० गे०, पृ० २०८, ओ० वी० १९२८, पृ० ६४। सिडो, ए० हि०, पृ० २१७-८। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २५६। इजेरमन के मतानुसार महामारी का प्रकोप मध्य जावा पर आ चुका था और इसलिए वहां के निवासियों को उधर से पूर्व की ओर भागना पड़ा (ए० हि०, पृ० २१७)।

४. ए० हि०, पृ० २१७।

५. पूर्वी जावा के इतिहास में सिंडोक का नाम बहुत काल तक चलता रहा। ऐरलंग ने अपनी प्रशस्ति में उसका उल्लेख किया है तथा अपने को उसका वंशज माना है (वी० जी० ७, पृ० ८५ से)। चटर्जी और चक्रवर्ती, 'भारत और जावा', पृ० ६४। १२वीं शताब्दी के 'स्मरदहनकाल' के रचयिता के अनुसार तत्कालीन कामेश्वर ने श्री ईशानधर्म अथवा सिंडोक द्वारा अपना जीवन प्राप्त किया। टी० वी० जी० ५८ (१९१९), पृ० ४७२। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप, पृ० २५८।

में कई विचारधाराएं रही हैं। एक मत के अनुसार इसने ववा की पुत्री से विवाह किया था और उसके बाद यह सिंहासन पर बैठा। इसके विपक्ष में स्टुटरहाइम का मत है कि यह दक्ष का पौत्र था। तुलोडोंग और ववा श्री परमेश्वरी द्यः केवली एंव दक्ष के पुत्र थे और उनके बाद सिंडोक सिंहासन पर बैठा।[६] इसके लगभग २० लेख (९१९ ई० से ९४७ ई० तक के) मिले हैं जिनके आधार पर इसका राज्य व्रन्तस नदी की घाटी, वेलहन, गुनुंग, गेगसिर, सुरावाया के दक्षिणी भाग, केदिरी के उत्तरी भाग तथा सम्पूर्ण मलंग प्रदेश तक विलिस और स्मेरु के बीच में फैला हुआ था।[७]

ताम्रपत्रों में सम्राट् द्वारा दिये गये दानों का ही उल्लेख मिलता है जिनका शैव मत से सम्बन्ध है। उस समय में जावा में शैव मत और इससे मिश्रित वैष्णव मत ही प्रधान थे। बौद्ध धर्म का उल्लेख किसी भी लेख में नहीं है, पर इस मत के तंत्रवाद संबंधी, श्री सम्भरसूर्यावरण द्वारा लिखित अथवा सम्पादित ग्रन्थ 'संग ह्यं कमहायानिकन्' की रचना इसी के समय में हुई। रचयिता का सम्बन्ध सिंडोक से था और उसने 'सुभूतितंत्र' का सम्पादन भी किया था। सम्राट् सिंडोक के समय में अथवा थोड़े समय बाद जावानी रामायण की भी रचना हुई।[८]

श्री ईशानतुंगविजया, लोकपाल तथा श्री मकुटवंश-वर्धन

सिंडोक के वाद उसकी पुत्री श्री ईशानतुंगविजया सिंहासन पर बैठी जिसका विवाह लोकपाल से हुआ था। पेंनग गुंगेन से प्राप्त ऐरलंगदेव की प्रशस्ति में[९] श्री

६. टी० वी० जी० १९३०, पृ० १८२-३। १९३२, पृ० ६१८-६२५। मजुमदार, सुवर्णद्वीप। तुलोडोंग के शासनकाल में इसका उल्लेख रके हलु श्री सिंडोक के नाम से मिलता है और बवा के समय में 'रक्रयन मपतिहि हिनो द्यः सिन्डोक श्री ईशान-विक्रम' सब से उच्च पदाधिकारी था। बवा के बाद उसका सम्राट् होना स्वाभाविक था। ओ० जे० ओ० नं२१, ३३। मजुमदार, पृ० २५८।

७. सिडो, जेंटे, पृ० २१८।

८. यही।

९. तस्यात्मजाऽकलुषमानसवासरम्या, हंसी यथा सुगतपक्षसहाभवद् या।
सा राजहंससमुदेव विवर्द्धयन्ती श्रीशानतुंगविजयेति रराज राज्ञी।।
५-६ भारत और जावा, पृ० ६६

ईशानतुंगविजया की उपमा मानस झील की राजहंसी से दी गयी है और उसके बौद्ध होने का उल्लेख है। उसका विवाह श्री लोकनाथ नामक नृप से हुआ था जो क्षीरसमुद्र की भाँति था।[१०] लोकनाथ के कई लेख[११] मिले हैं, पर यह कहना कठिन है कि इनमें से किसी भी लेख का उपर्युक्त लोकनाथ से सम्बन्ध है जो सिंडोक का जामाता था। हो सकता है कि ईशानतुंगविजया तथा लोकपाल ने मिलकर राज्य किया हो। ऐरलंग की प्रशस्ति में ईशानतुंगा और लोकपाल के पुत्र श्री मकुर-वर्धन के सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख है। उसकी तुलना विष्णु से की गयी है और सूर्य की भाँति वह अपने शत्रुओं के नाश के लिए सदैव तैयार रहता था, जिनके हाथियों के मस्तक उसके लिए मिट्टी के घड़े के समान थे। शासकों का वह अधिपति था, अपने शौर्य के कारण वह श्री ईशानवंश का सूर्य था।[१२] मकुटवंशवर्धन के विषय में और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। उपर्युक्त लेख में उसकी कन्या महेन्द्रदत्ता अथवा गुणप्रियधर्मपत्नी का उल्लेख है, जिसका विवाह उदयन से हुआ जो शुद्ध राजवंशीय था। महेन्द्रदत्ता को यवराजलक्ष्मी भी कहा गया है और उसके गुणों की कीर्ति अन्य द्वीपों में भी फैली थी।[१३] इन दोनों के राज्य करने का उल्लेख इस लेख में नहीं है, पर बालि में मिले कुछ लेखों में 'गुणप्रियधर्म-

१०. मन्दाकिनीमिव तदात्मसमों समृद्ध्या, क्षीरार्णवप्रथितशुद्धगुणान्तरात्मा।
ताञ्चाकरोत्प्रणयिनीन्नयनाभिनन्दी, श्रीलोकपालनृपतिर्नरनाथनागः।।

११. क्रोम के मतानुसार यह लेख शक सं० ८७२ का है। (गेशे, पृ० २१५)। देखिए, सिडो, जेटे, पृ० २१९। इस लेख में इसे 'श्री भुवनेश्वर विष्णुसकलात्मक दिग्विजयपराक्रमोत्तुंगदेव' कहा गया है। अन्य दो लेख शक सं० ८०२ अथवा ८१२ (८८० अथवा ८९० ई०) तथा ७७८ शक सं० (८५६ ई०) के हैं, जिनके आधार पर इस लोकपाल ने ८५६ से ८९० तक राज्य किया होगा और उसका मतराम वंश के राजाओं से सम्बन्ध रहा होगा। अतः अन्य दो लेख किसी और लोकपाल के होंगे।

१२. 'शत्रूणामिभकुम्भकुम्भदलने पुत्रः प्रभुर्भूभुजाम्।'
श्रीमकुटवंशवर्द्धन इति प्रतीतो नृणामनुपमेंद्रः।
श्रीशानवंशतपनस्तताप शुभ्रप्प्रतापेन।।

१३. द्वीपान्तरेऽपि सुभगेन बभूवपित्रा, नाम्ना कृता खलु गुणप्रियधर्मपत्नी।

पत्नी' और उसके पति धर्मोदयनवर्मदेव का उल्लेख है। डा० मजुमदार के विचार में[१४] गुणप्रियधर्मपत्नी का नाम पहले मिलना यह संकेत करता है कि बालि में वह अपने पिता की ओर से शासन कर रही थी और उदयन भी वहीं उसके साथ रहता था। इनके संयुक्त लेख ९८९ और १००१ ई० के बीच काल के मिलते हैं और उसके बाद १०२२ ई० तक केवल धर्मोदयन के ही लेख मिलते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि १००१ ई० में महेन्द्रदत्ता की मृत्यु के पश्चात् केवल उदयन ने ही बालि में शासन किया।[१५]

धर्मवंश-ऐरलंग

ऐरलंग की प्रशस्ति के अनुसार महेन्द्रदत्ता अथवा गुणप्रियधर्मपत्नी और उदयन की सन्तान ऐरलंग था, जिसका विवाह पूर्वी जावा के शासक धर्मवंश की कन्या से हुआ था। धर्मवंश कदाचित् मकुटवंशवर्द्धन का उत्तराधिकारी था। क्रोम के मतानुसार[१६] उसने मकुटवंशवर्द्धन की ज्येष्ठ कन्या के साथ विवाह किया था और इसी अधिकार से वह मकुटवंशवर्द्धन के बाद सिंहासन पर बैठा। ऐरलंग ने इसकी कन्या से विवाह कर जावा तथा बालि के राजवंशों का एकीकरण किया

१४. सुवर्णद्वीप, पृ० २६४।

१५. उदयन का नाम शक सं० ८९९ (९७७ ई०) के जलतुण्ड की समाधि पेनंग्गुंगन के पश्चिम ओर स्थित लेख में भी है। पर यह उदयन महेन्द्रदत्तापति उदयन से भिन्न है। क्रोम के मतानुसार दोनों एक ही थे और यह समाधि उदयन के जीवन-काल में ही बनी (इ० ज० ग्रे०, पृ० २३४-५)। स्टुटरहाइम ने उदयन को बालि-निवासी माना है (मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २६३, नोट १)। आठवीं और नवीं शताब्दी में बालि द्वीप राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जावा से स्वतंत्र होकर अपना अस्तित्व बनाये हुए था। जावा अथवा सुमात्रा का भारतीय प्रभाव यहां के बौद्ध धर्म पर मिलता है। सिंडोक के समय से बालि के राजनीतिक इतिहास का भी पता चलता है। उग्रसेन नामक कुमार ने ९१५–९४२ तक सिंहमनदेव अथवा सिंह-द्वालपुर में राज्य किया। उसने जावा से स्वतंत्र हिन्दू ब लिनी समाज का निर्माण किया तथा शैव और बौद्ध मत को प्रोत्साहन दिया। सिडो, ए० हि०, पृ० २१९।

१६. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २६२।

इसलिए उसे ब्राह्मणों द्वारा जावा पर राज्य करने का आमंत्रण मिला। धर्मवंश के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। प्रशस्ति से केवल इतना प्रतीत होता है कि वह जावा के पूर्वी भाग का शासक था। शक सं० ९९६ के दो लेखों[१७] में श्री धर्मवंशत्गुह्: का उल्लेख है। हो सकता है कि इसकी समानता धर्मवंश से की जाय। धर्मवंश को 'शिवशासन' और 'महाभारत' के पुरानी जावानी भाषा में अनुवाद कराने का भी श्रेय दिया गया है। इनके आधार पर इसका पूरा नाम श्री धर्मवंशतेगुह: अनन्तविक्रमोत्तुंगदेव था। ८९१ ई० के एक लेख में[१८] 'शिवशासन' ग्रन्थ का उल्लेख है। उस समय धर्मवंश राज्य कर रहा होगा। दूसरे वर्ष जावा से एक राजदूत चीन गया।[१९] उसने बताया कि उसके देश का सन-फो-त्सि के साथ संघर्ष जारी था। ९९० ई० में जावा ने उस पर आक्रमण किया था और उसे सफलता भी मिली थी। सन-फो-त्सि के साथ जावा का संघर्ष उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। १००३ ई० में शैलेन्द्र शासक ने जावा के आक्रमणकारियों को पीछे हटने के लिए बाध्य किया और १००६ ई० में जावा के ऊपर आक्रमण कर उसने उनकी राजधानी को जला दिया, जिसका उल्लेख ऐरलंग की प्रशस्ति में है।[२०] वहां के सम्राट् की मृत्यु १००७ में हो गयी।

१७. डमे, एट्र नं० १३१, १३२। बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), पृ० ६२-६३।

१८. ओ० जे० ओ०, नं० ५७। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २६४।

१९. यही, पृ० २६५।

२०. अथ भस्मसादगमदाशु तत्पुरम्पुरुहूतराष्ट्रमिव चोद्यतं चिरम्। चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा, पृ० ६७, पद १४।

क्रोम के मतानुसार पूर्वी जावा पर आक्रमण करने में शैलेन्द्रों का हाथ भले ही रहा हो, पर उन्होंने एक तीसरी शक्ति को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया। किन्तु शैलेन्द्र ९९० ई० में धर्मवंश के समय में किये गये आक्रमण को भूल नहीं सके थे। अतः उन्होंने स्वतः आक्रमण किया और कुछ काल तक वे जावा पर अधिकार भी बनाये रहे। १०२५ ई० में चोल द्वारा राजधानी पर आक्रमण होने के कारण उन्हें जावा छोड़ना पड़ा। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है (मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २६७-८)। सिडो के मतानुसार मुख्य आक्रमणकारी बुखारी का राजकुमार था जो मलाया का रहनेवाला था (ए० हि०, पृ० २४४)।

ऐरलंग का राज्यकाल

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि विवाह के पश्चात् ऐरलंग अपने श्वशुर के साथ पूर्वी जावा में रहता था और जब १००६ ई० में देश पर आक्रमण हुआ तो उसे भी भागना पड़ा। प्रशस्ति के अनुसार शक सं० ९३२ के माघ मास की त्रयोदशी चंद्रवार के दिन मुख्य ब्राह्मण और प्रजा प्रतिनिधि ऐरलंग के पास आये और उससे राज्य करने का अनुरोध किया।[२१] उस समय जावा की राजनीतिक परिस्थिति ठीक न थी और बहुत-से स्थानीय शासक स्वतंत्र बने हुए थे (**भूयांसो यवभूभृजो बुभुजिरे पृथ्वीम्बिपक्षार्थिनः**, पद १७)। ऐरलंग ने उनको दबाया। कवि की वाणी में सिंहासन पर बैठने पर उसके चरण सामन्तों के शीश पर रखे गये थे (**भूभृन्मस्तक-सक्तपादयुगलस्सिंहासने संस्थितः**, पद १८)। इससे प्रतीत होता है कि पूर्वी जावा के शासन की बागडोर लेने और सम्राट् बनकर अभिषेक कराने में कुछ समय लगा होगा और इस काल में उसने विपक्षी शक्तियों को दबाया। उसका अभिषेक १०१९ ई० में हुआ और तब उसने रके हलु श्री लोकेश्वर धर्मवंश ऐरलंग अनन्त-विक्रमोत्तुंगदेव नाम और उपाधि धारण की। उस समय उसका राज्य उत्तरी किनारे के सुरावाया और पसुरुहन के बीच में ही था।[२२] दस वर्ष तक उसे अपनी दिग्विजय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी और उसी समय १०२५ ई० में श्रीविजय पर चोलों का आक्रमण हुआ, जिससे उसे अपना राज्य विस्तृत करने का अवकाश मिला। स्टुटरहाइम के मतानुसार[२३] जावा पर आयी हुई १००६ ई० की प्रलय का बालि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, पर यह निश्चय नहीं है। उसके अनुसार १०२२ में ऐरलंग अपने पिता की मृत्यु के बाद बालि का भी शासक हो गया, किन्तु १०२२

२१. शाकेन्द्रेऽथ विलोचनाग्निवदने याते महावत्सरे
माघे मासि सितत्रयोदशतिथौ वारे शशिन्युत्सुकैः।
आगत्य प्रणतैर्जनैर्द्विजवरैस्साश्वासमभ्यर्थितः
श्रीलोकेश्वरनीरलंगनृपतिः पाहीत्युदन्ताङ्क्षितिम् ॥१५॥

२२. ऐरलंग का सबसे प्रथम लेख शक सं० ९४३ (१०२१ ई०) का (चने) सुरावाया में मिला है। इमें, बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), नं० १३५, पृ० ६२-३। १०२३ के लेख में भी सुरावाया के किनारे के स्थानों का ही उल्लेख है (नं० १३७)।

२३. विज, ९२, १९३४, पृ० २००-२०१। सिडो, ए० हि०, पृ० २४५।

और १०२५ ई० के बीच के धर्मवंश वर्धन् मरकट पंकज स्थानोत्तुंगदेव का उल्लेख वहां के कई लेखों में मिलता है जो ऐरलंग से भिन्न था। हो सकता है, यह उसकी ओर से बालि में शासन कर रहा हो।

दिग्विजय[२४]

१०२८ ई० तक ऐरलंग अपना राज्य विस्तृत करने के लिए पूर्णतया शक्तिशाली हो गया। कुछ शासकों ने उसके अधीन रहना स्वीकार कर लिया। १०२९ ई० में उसने भीष्मप्रभाव को बुरतन में हराया। १०३० ई० में वेंकेर के कुमार विजय की शक्ति को थोड़े समय के लिए नष्ट कर दिया। १०३१ ई० में अधमापनुद के ऊपर पूर्णतया विजय प्राप्त कर उसकी राजधानी तथा अन्य नगरों को जला दिया (**नरपतिस्तदीयनगरान्यदन्दह्यत**, पद २५)। १०३२ ई०में दक्षिण की एक शक्तिशाली सम्राज्ञी को हराया जो राक्षसीस्वरूप थी (**अभवदपि भुवि स्त्री राक्षसीवोग्रवीर्या**)। उसी वर्ष उसका वुरवरि के शासक के साथ संघर्ष हुआ जो जावा के विध्वंस का कारण बना था। वुरवरि का शासक पूर्णतया परास्त हुआ। यह स्थान जावा में ही रहा होगा। वैंकेर के शासक की ओर से ऐरलंग को अब भी भय था क्योंकि वह बड़ा शक्तिशाली था और उसकी शक्ति नष्ट नहीं हो सकी थी। १०३५ ई० में उसने वैंकेर के विरुद्ध एक बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया और उसे पूर्णतया हरा दिया। दो मास बाद विजय को उसी की सेना ने बंदी बना लिया

२४. पेनंग-गुगेन (सुरावाया) से प्राप्त शक सं० ९६३ (१०४१ ई०) का ऐरलंग का लेख जो इस समय कलकत्ते के संग्रहालय में है, उपर्युक्त शासक की दिग्विजय तथा पूर्वी जावा के इस वंश के इतिहास के लिए विशेषतया महत्वपूर्ण है। लेख संस्कृत तथा प्राचीन जावानी कविभाषा में है। संस्कृत लेख चटर्जी और चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थ 'भारत और जावा' में छपाया है (पृ० ६३-७४)। इस लेख तथा कवि लेख के आधार पर विद्वानों ने इसकी दिग्विजय का विवरण दिया है। उपर्युक्त वर्णन मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' तथा सिडो के ग्रन्थ 'हिन्द चीन और हिन्दनेशिया के हिन्दू राष्ट्र' (फ्रांसीसी में) के आधार पर है (पृ० क्रमशः २६९ से तथा २४५ से)। तिथियों के विषय में मूल रूप से संस्कृत लेख तथा डमे के 'हिन्दनेशिया के लेखों का अध्ययन' बु० इ० फ्रा० भाग ४६ (१), नं० १३५-१४१ का आश्रय लिया गया है।

और फिर उसका वध कर दिया। यह ऐरलंग की कूटनीति से हुआ था जो उसने विष्णुगुप्त (चाणक्य) की पुस्तक से सीखी थी।[२५] ऐरलंग के सम्मुख अब कोई विरोधी नहीं रहा और उसका मार्ग पूर्णतया साफ हो गया। वह जावा का सम्राट् बन गया। अपने विस्तृत राज्य के सुचारु रूप से शासन के लिए ऐरलंग ने अपनी राजधानी पूर्व में कहुरिपन में रखी जिसकी पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है। उसकी प्रशस्ति में उसकी शासनव्यवस्था का भी संकेत मिलता है। मंत्रियों द्वारा परामर्श प्रत्येक दिन होता था और वे राजकार्य में व्यस्त तथा तटस्थ रहते थे (**मन्त्रालोचनतत्परैरहरहस्सम्भाषितो मन्त्रिभिः**, पद १८)। केलगन लेख से पता चलता है कि व्रन्तस नदी ने वरिंगिन सप्त (वर्तमान वुंगिनपितु) के पास बड़ी क्षति पहुचायी थी और सम्राट् ने उसके बहाव को रोकने के लिए एक बड़ा बांध बनवाया था।[२६]

वैदेशिक सम्बन्ध

जावा की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थिति सुगठित होने के कारण, उसका विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना स्वाभाविक था। ट्रनेंग के एक लेख में[२७] 'परद्वीप परमंडल' के उल्लेख से कुछ विद्वानों के विचार में ऐरलंग के विदेशों में जाकर संघर्ष करने का संकेत मिलता है, पर इसकी किसी अन्य स्रोत से पुष्टि नहीं होती है। उसके लेखों में[२८] उन विदेशियों का अवश्य उल्लेख है जो व्यापार अथवा किसी अन्य कार्य के लिए जावा आते थे। जैसे विंलग (भारतीय कलिंग निवासी),

२५. निजबलनिगृहीतो वैष्णुगुप्तैरुपायैस्सपदि विजयनामा पार्थिवो द्यामगच्छत्। 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ का रचयिता चाणक्य, विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य (कौटल्य) नाम से विख्यात था। ग्रन्थ के अन्त में उसके रचयिता का नाम विष्णुगुप्त दिया गया है। (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५८)।

२६. ओ० जे० ओ० नं० ६१ सुवर्णद्वीप, पृ० २७२। इस बांध के निर्माण से विदेशी व्यापारियों को भी बड़ी सुविधाएँ हो गयी थीं।

२७. ओ० जे० ओ०, नं० ६४।

२८. ओ० जे० ओ० नं० ५८, ५९ और ६४। सिडो, ए० हि०, पृ० २४७। मजुमदार, 'स्वर्णद्वीप,' पृ० २७१।

आर्य (भारतीय अद्राविड), गोल (बंगाल के गौड़), सिंघल (लंका निवासी), कर्णाटक निवासी, चोलिक (कारोमंडल के चोल), मलयल (मलाबार निवासी), पन्डिकिर (पान्डर और चेर), द्रविड़ (तामिल) चम्पा के चम, रेमेन मों अथवा रामनी के मल तथा विमर ख्मेर जो ब्रन्तस नदी के मुहाने पर तुवन के निकट उत्तर में व्यापार के लिए आते हैं।

ऐरलंग के प्रारम्भिक लेखों में रकरयान महामंत्री हिनो श्री संग्रामविजय धर्मप्रसादोत्तुंगमहादेवी का भी उल्लेख है, जिसने १०३७ ई० तक उच्च पदों को सुशोभित किया और उसे ऐरलंग की कन्या माना जाता है।[२९] इसी वर्ष के एक दूसरे लेख में उसी पद पर एक दूसरे व्यक्ति के नाम का उल्लेख है।[३०] कदाचित् उसकी मृत्यु के उपरान्त १०४१ में उसने पुचन्गन में एक विहार का निर्माण कराया जहां उसने अपना अज्ञातवास काल व्यतीत किया था। जावा की एक किंवदन्ती के अनुसार कट्टुरिपन वंश की किलि सुचि नामक एक भिक्षुणी के लिए इस विहार का निर्माण हुआ और इसे ऐरलंग की कन्या मान जाता है। सिडो के मतानुसार[३१] इस विहार का निर्माण उस कन्या की मृत्यु के बाद हुआ जिसका उल्लेख १०३०-४१ के बीच के लेखों में मिलता है और वह उच्च पदों पर शोभायमान रह चुकी थी।

धार्मिक प्रवृत्ति

ऐरलंग एक कुशल और योग्य शासक था। उसके समय में सभी धर्मों ने उन्नति की। लेखों में शैव, सौगत (बौद्ध) तथा ऋषियों (यतियों) का उल्लेख है। शैव मत ने उस समय में हिन्द-चीन तथा हिन्दनेशिया में प्रधान स्थान प्राप्त कर लिया था। ऐरलंग को भी स्वयं विष्णु का अवतार माना गया है। गरुड़ पर आसीन विष्णु और उनके दोनों ओर लक्ष्मी की मूर्ति से सम्राट् और उसकी दो रानियों को संकेतित किया गया है।[३२] एक किंवदन्ती के अनुसार वृद्धावस्था में गेन्ट्यु ऋषि के नाम से सम्राट् यति हो गया था। १०४२ ई० के बाद का इसका

२९. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २७२। सिडो, ए० हि०, पृ० २४६।
३०. ओ० वि० १९१५, पृ० ७०। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २७२।
३१. ए० हि०, पृ० २४६।
३२. यही, पृ० २४८।

कोई लेख नहीं मिला है और १०४९ ई० में इसकी मृत्यु हुई। सात वर्ष तक सम्राट् ने अपना समय धार्मिक कृत्यों में व्यतीत किया और सुचारु रूप से शासन किया। ऐरलंग का शासन-काल साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। जावा में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ तथा उनके आधार पर ग्रन्थ लिखे गये। 'शिवशासन' प्राचीन स्मृतियों पर आधारित जावानी ग्रन्थ है। महाभारत के आदि, विराट और भीष्म पर्व का भी जावानी भाषा में अनुवाद हुआ तथा कन्व द्वारा १०३५ में 'अर्जुन-विवाह' लिखा गया, जिसमें वास्तव में ऐरलंग के, सुमात्रा की जनकुमारी के साथ विवाह का उल्लेख है।[३३]

मृत्यु से पहले ऐरलंग ने अपने साम्राज्य को दो भागों में विभाजित कर दिया था, जिससे मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष न हो। जंगल और पंजलु नामक दो राज्यों के बीच की सीमाएं बड़ी दीवार बनवाकर निर्धारित कर दी गयीं[३४]। उसके अंश व्रन्तस नदी के किनारे कवी पहाड़ और द्वीप के समुद्री किनारे पर मिलते हैं। जंगल की राजधानी कुहुरिपन थी जो ऐरलंग की भी राजधानी थी और इसमें मलंग का प्रान्त, व्रन्तस नदी का मुहाना तथा सुरावाया रेमवंग और पसुरुहन के बन्दरगाह भी थे। पश्चिम राज्य पंजलु की जो केडिरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, राजधानी दह (वास्तव में केडिरी) थी। इसमें केडिरी तथा मदिचुन थे और सुरावाया की खाड़ी से समुद्र में प्रवेश का मार्ग था। जंगल का राज्य बहुत समय तक स्थापित न रह सका। इसका कुछ भाग पंजलु अथवा केडिरी के राज्य में मिला लिया गया और कुछ भाग में कहीं-कहीं पर स्वतंत्र या सामन्त शासन करने लगे। बालि के (१०४९-१०७७ ई० के) लेखों से ज्ञात होता है कि वहां ऐरलंग का सहोदर राज्य कर रहा था।[३५]

जावा के इतिहास में ऐरलंग का स्थान विशेष महत्त्व का है। इसने देश को वैदेशिक शक्ति से छुड़ाकर एकता प्रदान की और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित

३३. विशेष अध्ययन के लिए हिमांशुभूषण सरकार का 'जावा और बालि का साहित्य पर प्रभाव' (अंग्रेजी) ग्रन्थ देखिए। सिडो, ए० हि०, पृ० २४८, नोट ७।

३४. ओ० वी० १९१६, पृ० १०६। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २७८।

३५. सिडो, ए० हि०, पृ० २४९।

किया। कुशल शासक के रूप में उसने देश का शासन सुचारु रूप से किया तथा उसके विकास में योगदान दिया। इसी लिए उसके यहां विदेशों से भी व्यापारी आते थे, जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी थी जिसके फलस्वरूप उसके शासन में शिथिलता आ गयी और उसे अपने पुत्रों के लिए अपने राज्य को दो भागों में विभाजित करना पड़ा, जो जावा के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। जावा का आगे का इतिहास कडिरी राज्य से ही संबंधित रह जाता है।

अध्याय ५

कडिरी और सिंहसारि के राज्य (११५०–१२९२)

कडिरी का राज्य (११५०–१२२२ ई०)

सम्राट् ऐरलंग ने अपने जीवनकाल में ही विस्तृत साम्राज्य का विभाजन कर दिया था जिससे उसकी सन्तानों में संघर्ष की सम्भावना न हो। 'नागर-कृतागम'[1] के अनुसार उसका यह कृत्य प्रेमवश ही हुआ था और यह कार्य तांत्रिक भराड़ को सौंपा गया था। पंजलु और जंगल के नाम से दो राज्य बने जिनकी सीमाएं निर्धारित हो चुकी थीं। जंगल राज्य का वृत्तान्त बहुत कम मिलता है। १०५३ ई० के एक ताम्रपत्र[2] में भपन्जि अलड़ जुंग अहुये का उल्लेख है, पर इसकी सत्यता सन्देहजनक है। सुरावाया के एक लेख में[3] 'रके हलु पु जुरो' श्री समरोत्साह कर्णकेशन धर्मवंश कीर्तिसिंधु जयान्तक तुंगदेव का उल्लेख है, जो उपाधियों तथा ऐरलंग की गरुड़मुख मुद्रा का चिह्न अपनाने के कारण इसी सम्राट् का वंशज प्रतीत होता है। डा० मजुमदार के मतानुसार इस लेख की तिथि ९८२(१०६० ई०) माननी चाहिए। डमें के अनुसार इसकी तिथि शक सं० ९८१ (१०५९ ई०) है। उपर्युक्त प्रमाण के अतिरिक्त जंगल राज्य का इतिहास अथवा वहां के शासकों का कहीं उल्लेख नहीं है।[4] हो सकता है कि जावा के दोनों राज्य

१. ६८.१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २७६। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

२. अप्रकाशित, क्रोम इ० ज० गे०, पृ० २८२। ओ० वी० १९२८, पृ० ६४, ७०। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २७९।

३. यही, पृ० २७९। 'हिन्देनेशी लेखों का अध्ययन' बु० इ० फ्रा० भाग ४५ (१), नं० १५२, पृ० ६६-६७।

४. ११०९ ई० में जावा द्वारा चीन भेजे गये राजदूत, वहां के सम्राट् के द्वारा

पुनः एक में मिला लिये गये हों अथवा कुछ भाग पर सामन्त या स्वतंत्र शासक राज्य कर रहे हों। १२वीं शताब्दी के कडिरी सम्राट् कामेश्वर प्रथम की एक रानी जंगल की थी, पर उसके पिता या वहां के शासक का उल्लेख नहीं है। १२वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मलेग के निकट तुमपेल में एक नवीन राज्य की स्थापना हुई और इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय तक अथवा उससे पहले ऐरलंग द्वारा स्थापित जंगल राज्य नष्ट हो चुका था। कडिरी का राज्य प्रधान था क्योंकि १२वीं शताब्दी के बहुत-से लेख वर्तमान कडिरी में मिले हैं जिनसे उस समय की जावा की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का पता चलता है।

कडिरी के शासक

कडिरी के प्रथम शासक श्री जयवर्ष दिग्जय का उल्लेख ११०४ ई० के एक लेख में मिलता है।[५] इसमें इसे शास्त्रप्रभु और जयप्रभु की उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं और कदाचित् इसी की संरक्षकता में कवि त्रिगुण ने प्रसिद्ध जावानी काव्य 'कृष्णायन' की रचना की[६] जिसमें कृष्ण की लीला का वर्णन है और उसका चित्रण चंडीजगो तथा पनतरन में भी मिलता है।[७] यह कहना कठिन है कि इसने किस समय से कब तक राज्य किया। ११७६ ई० से कडिरी में बहुत-से लेख मिलते हैं जिनमें से ११३० ई० के कदाचित् एक ही शासक के हैं यद्यपि शासकों का नाम भिन्न है। इनको वामेश्वर, परमेश्वर तथा कामेश्वर पढ़ा गया है। डमें के

११२९-११३२ ई० के बीच में जावा के शासक का सम्मान प्राप्त करना और अनमी वृत्तान्तों में १०वीं शताब्दी में जावा के साथ व्यापार का उल्लेख, मुख्यतया कडिरी राज्य से सम्बन्धित है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जंगल राज्य उस समय नष्ट हो चुका था अथवा उपर्युक्त वृत्तान्तों में से किसी का भी जंगल राज्य से संकेत न था। मासपेरो, चम्पा राज्य, पृ० १९७। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २८०।

५. सिडो, ए० हि०, पृ० २६८। क्रोम, इ० जा० ग्रे०, पृ० २८८।

६. सरकार, 'जावा के साहित्य पर भारतीय प्रभाव' (अंग्रेजी), पृ० ३२२-२३

७. ब्रन्डस, चण्डी जगो, पृ० ७७। कल्लेन फील्स-तिज ६४,१९२५, पृ० १९६। सिडो जेटे, पृ० २६८।

मतानुसार[८] १११७, ११२०, ११२८, ११२९ तथा ११३० के लेख श्री महाराज रके सिरिकन श्री वामेश्वर सकलभुवन तुष्टिकारषानिवार्यवीर्य पराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेव के हैं। सिडो[९] ने इसे कामेश्वर पढ़ा है और आगे चलकर भी इस नाम के कई लेख मिले हैं जिसे कामेश्वर द्वितीय मान सकते हैं। प्राचीन जावानी काव्य 'स्मरदहन' में, जिसे धर्मज ने लिखा था, सम्राट् कामेश्वर का उल्लेख है। कवि ने जावा को 'यव मध्यदेश' कहा है जिसके चारों ओर समुद्र था। उसने सम्राट् को काम का अवतार माना है और उसका निवासस्थान दहन कहा गया है। श्री ईशानवर्म को इस वंश का संस्थापक कहा गया है। ऐरलंग की भाँति कडिरी के शासक भी अपने को सिंडोक-वंशज मानते थे। कामेश्वर की रानी श्री किरण-वज्रदेव की कन्या थी और जंगल की सबसे श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्री थी। यह नहीं कहा जा सकता कि जंगल का उस समय स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व था अथवा वह कडिरी के अधीन हो चुका था। इस दम्पति को लेकर वहुत-सी दन्तकथाएं घटित हुईं जो कि थाई और कम्बुज देश तक पहुंचीं।[१०] कामेश्वर ने लगभग ११३५ ई० तक राज्य किया।

जयमय

धर्मेश्वर या जयमय कामेश्वर का कदाचित् पुत्र था जिसने ११३५-११५७ ई० तक राज्य किया। इसके ११३५, ११३६, ११४४ के लेख मिले हैं।[११] इसे श्री महाराज संग मपन्जि जयमय श्री वर्म्मेश्वर मधुसूदनावतारानन्दित सुहृ-र्खिंतिंसहपराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेव नाम से सम्बोधित किया गया है। सम्राट् का नाम भी एक स्थान पर संग मपन्जि जयमय और दूसरे स्थान पर जयमयलन्जन दिया

८. बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १४५-१४९, पृ० ६६-६७।

९. ए० हि०, पृ० २८३।

१०. जावा में इन्हें पंजि कथाएं कहा गया है और इनाओं अथवा जावानी हिनों नाम से ये प्रसिद्ध रही हैं। इसी आधार पर एक नाटक १९वीं शताब्दी के आरम्भ में थाई सम्राट् प्र-पुत्थ-लोंत-ल द्वारा लिखा गया। सिडो, ए० हि०, पृ० २८४, नोट २, ३।

११. डमे, बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १५१-१५४, पृ० ६६-६७।

गया है। सेडह द्वारा शक सं० १०७९ (११५७ ई०) में लिखित 'भारतयुद्ध'[१२] नामक ग्रन्थ में, जिसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है, सम्राट् को विष्णु का अवतार माना है तथा उसे जावा का निःशंक शासक कहा है। उसके सम्मुख सभी राजा शीश झुकाते थे जिनमें 'हेमभूपति' (कदाचित् सुवर्णभूमि) का भी शासक था। कवि के इस प्रकार के वाक्य को किसी प्रकार का ऐतिहासिक महत्त्व देना ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ को पनुलुह नामक व्यक्ति ने समाप्त किया और उसने एक और ग्रन्थ[१३] 'हरिवंश' (विष्णु की अवतार सम्बन्धी कथाएं) भी लिखा, जिसमें जयमय को श्री धर्मेश्वर दिग्विजय नाम से सम्बोधित किया गया है जो लेखों में भी मिलता है। उसके तीसरे ग्रन्थ 'छटोत्कयाश्रय' में श्री जयाकृत का उल्लेख है जो जयमय का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है, पर लेखों के अनुसार ११५९ ई० में सर्वेश्वर राज्य कर रहा था।

सर्वेश्वर से कामेश्वर द्वितीय तक

११५९ तथा ११६१ ई० के दो लेखों में[१४] 'श्री महाराज रकै सिरिकन श्री सर्वेश्वर जनार्दनावतार विजयाग्रजसमसिंहनादानिवार्य्यवीर्य पराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेवनाम' शासक का उल्लेख है। यह कहना कठिन है कि इसने कब तक राज्य किया। ११६९ और १७७१ के दो लेखों में[१५] श्री महाराज रकै हिनो श्री आर्य्येश्वर मधुसूदनावताराररिजय मुख...सकल...भुवन...विवर्य्य पराक्रमोत्तुंग देवनाम के राजा के शासन करने का उल्लेख है। इसके बाद ११८१ ई० के लेख[१६] में श्री महाराज श्री क्रोच्चार्यदीप हन्डभुवनपालक पराक्रमानिन्दित दिग्जयोत्तुंगदेव नामक शासक का नाम मिलता है। इस लेख में सेनापति सर्वजल अथवा जलसेनापति का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि कडिरी राज्य की रक्षा

१२. कर्निंग द्वारा सम्पादित, १९०३। देखिए, सरकार, 'जावा और बालि के साहित्य पर भारतीय प्रभाव', पृ० २६१।

१३. सरकार, यही।

१४. डमे, 'हिन्देनेशी लेखों का अध्ययन' (फ्रांसीसी में) बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १५५, १५६, पृ० ६८-६९।

१५. यही, नं० १५७, १५८, पृ० ६८-६९।

१६. यही, नं० १५९, पृ० ६८-६९।

के लिए सामुद्रिक बेड़ा भी रहा होगा।[१७] ११८५ ई० के लेख में पादुक श्री महाराज श्री कामेश्वर त्रिविक्रमावतार अनिवार्य्यवीर्य्य पराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेव नाम शासक का उल्लेख है। क्रोम के मतानुसार[१८] धर्मय के 'स्मरदहन' में जिस जावाशासक कामेश्वर का उल्लेख है, वह वास्तव में यही था और इसके बाद ही तनकुंग ने अपने ग्रन्थ 'वृत्तसंचय' की रचना की जो कडिरी के १२२२ ई० के पतन के थोड़े ही समय पहले लिखा गया था। सिडो[१९] क्रोम के मत से सहमत नहीं है। 'वृत्तसंचय'[२०] की रचना इसी कामेश्वर द्वितीय के समय में हुई। कामेश्वर के बाद के लेखों में शृंग का नाम आता है जिसके पांच लेख मिले हैं।[२१] इनमें इसे श्री सर्वेश्वर त्रिविक्रमावतारानिन्दित शृंग लंचण दिग्विजयोत्तुंग देव नाम से सम्बोधित किया गया है। ११९० ई० के सपु के लेख में[२२] कृतजय नाम भी मिलता है और १२०२ के लेख में भी शृंग के नाम के साथ इसका नाम आता है। डमें के मतानुसार[२३] यह दोनों एक ही व्यक्ति थे। पर डा० मजुमदार के अनुसार[२४] इसकी समानता अन्तिम शासक कृतजय से की जानी चाहिए और ११९० के लेख के समय वह केवल राजकुमार था। इनके अतिरिक्त ग्रन्थों में दो और नाम मिलते हैं, पर यह कहना कठिन है कि वे कडिरी के शासक थे। सम्राट् कामेश्वर (द्वितीय) के समय के एक ग्रन्थ में श्री गर्मेश्वरराज पादुक मटार जयनगर कतवंग इंग जगत का नाम मिलता है तथा बालि से प्राप्त 'ब्रह्माण्डपुराण' पर आधारित 'पृथ्वीविजय' में प्रकृतिवीर्या का उल्लेख है, पर इन दोनों के न तो कोई लेख ही मिले हैं और न अन्य किसी स्रोत से

१७. यही, नं० १६१, पृ० ६८-६९।

१८. इ० जा० गे०, पृ० २९८-९। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २८६, नोट।

१९. ए० हि०, पृ० ३०२।

२०. फ्राइडेरिख द्वारा संपादित, देखिए सरकार, 'जावा साहित्य पर भारतीय प्रभाव', पृ० ११५-११७।

२१. डमे, बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १६३, १६४, १६६, १६७, १७०, पृ० ७०-७१। ७२-७३।

२२. यही, नं० १६२, पृ० ७०-७१।

२३. यही, पृ० ७०, नोट ३।

२४. 'सुवर्णद्वीप', पृ० २८७।

इनके विषय में जानकारी प्राप्त है। अतः इन्हें कडिरी का शासक नहीं माना जा सकता है। कृतजय यहां का अन्तिम शासक था। वतेस कुलोन का १२०५ ई० का लेख[२५] जिसमें शृंग का नाम भी है, इसी का माना जाता है, पर इसका १२१६ ई० का भी एक लेख है[२६] जिसमें नागरी अक्षर में सम्राट् का नाम है और उसकी गरुड़मुख मुद्रा भी है। इसके विषय में 'नागरकृतागम' तथा 'पररतों' में भी उल्लेख मिलता है।[२७] प्रथम में उसे दर्शन और धार्मिक ग्रन्थों में पारंगत कहा गया है। दूसरे ग्रन्थ में शासक का नाम डंग डंग गोडिस कहा गया है। भिक्षुओं का अनादर उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। तुम्पेल के शासक के यहां उसने शरण ली। १२२२ ई० में उसने कडिरी पर आक्रमण कर दिया और कृतंजय ने भागकर एक विहार में शरण ली तथा कडिरी का राज्य समाप्त हो गया।

चीनी वृत्तान्त

'शुंगवंश का इतिहास' तथा 'चाऊ-जु-कुआ' ने जावा के लगभग ११७५-१२२५ ई० के बीच काल के इतिहास पर प्रकाश डाला है।[२८] उस समय जावा में तीन राजनीतिक शक्तियां थीं . . .शो-पो और शिन-तो जो सन-फो-त्सि के अधीन थीं, और शुकितन जो शो-पो की एक शाखा थी, पर वहां का शासक दूसरा था और वहां के लोगों की चालढाल शो-पो के निवासियों से कुछ भिन्न थी। शो-पो की समानता कडिरी से मान ली गयी है और शुकितन से जावा के ऐरलंग द्वारा स्थापित दूसरे राज्य जंगल का संकेत है। सन-फो-त्सि के विषय में लिखते हुए

२५. डमे, बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १७०, पृ० ७२-३।

२६. ओ० वी० १९२९, पृ० २७९। मजुमदार, पृ० २८७।

२७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० २८७।

२८. चाऊ जु कुआ फुकएन में वैदेशिक व्यापार का निरीक्षक था। १२वीं और १३वीं शताब्दी के व्यापार का उल्लेख उसने अपने शाऊ फन ये नामक ग्रन्थ में लिखा है। हर्थ और राकहिल ने उसका अनुवाद किया। उनके मतानुसार उसकी रचना १२४२-५८ के बीच में हुई थी, पर पिलिओं ने उसकी तिथि १२२५ रखी है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १९२-३। सिडो के मतानुसार यह वृत्तान्त लिंग वे तै त नामक १७७८ ई० में लिखित ग्रन्थ पर आधारित है (ए० हि०, पृ० ३००)।

चीनी लेखक का कहना है कि इसके अधीन शिन-तो अथवा शुण्ड था, पर पूर्व में इसकी सीमा जंगल से मिलती थी। उस समय जंगल केवल स्वतंत्र ही न था, वरन् उसमें कडिरी का राज्य भी मिल चुका था।[२९] चाऊ-जु-कुआ का जावा सम्बन्धी अन्य वृत्तान्त सांस्कृतिक है जिसका आगे चलकर उल्लेख किया जायगा। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि अब कडिरी के स्थान पर दूसरे राज्य की प्रधानता होती है और जावा एक शक्तिशाली राष्ट्र का रूप धारण कर लेता है।

सिंहसारि का राज्य (१२२२ से १२६८ तक)

तुमपेल राज्य की स्थापना का श्रेय अंग्रोक नामक एक अज्ञात व्यक्ति को था जिसका जावा के किसी भी राजवंश से सम्बन्ध न था। प्रपंच के 'नागर-कृतागम'[३०] (१३६५) और १५वीं शताब्दी में लिखे 'पररतों'[३१] नामक जावा के शासकों की जीवनियों में इस शासक का वृत्तान्त मिलता है। यह व्यक्ति पंगकुर के एक कृषक परिवार में जन्मा था और इसका प्रारम्भिक जीवन लूट-मार में बीता था। तुम-पेल के प्रान्तीय शासक तुंगुल अमेतुंग के यहां इसने नौकरी की और फिर समय पाकर अपने स्वामी का वध कर डाला। सम्राट् की विधवा रानी डेडेस से विवाह कर वह कवि पहाड़ के पूर्वी भाग का शासक हो गया। इस के पश्चिम में कडिरी का राज्य था और दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। कृतजय द्वारा भिक्षुओं का अपमान इसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। भिक्षुओं ने अंग्रोक के यहां जाकर सहायता मांगी। उन्होंने उसे राजस के नाम से सम्राट् घोषित किया, और उसने कडिरी के शासक कृतजय के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। १२२२ ई० में गन्तेर

२९. सिडो, ए० हि०, पृ० ३१३।

३०. ब्रन्डेस द्वारा संपादित और कर्न द्वारा अनूदित। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्त्व पर क्रोम ने प्रकाश डाला है। सरकार, भारतीय जावानी इतिहास, क्रोम के डच भाषा में लिखित ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद, ज० ग्रे० इ० सो० भाग १३, १९४६, पृ० १८ से। नागरकृतागम में इसे गिरीन्द्र-पुत्र श्री रंगह राजस कहा है। गिरीन्द्र भी शैलेन्द्र की भांति है। सिडो, पृ० १३४।

३१. ब्रन्डेस द्वारा सम्पादित और क्रोम द्वारा पुनः संपादित, सरकार, पृ० २२ से।

में कृतजय की सेना परास्त हुई तथा शासक ने एक विहार में जाकर शरण ली। कडिरी की लड़ाई में बची हुई सेना पुनः हारी और वहां का राज्य अशोक के हाथ में आ गया। दोनों राज्य एक में मिल गये और कदाचित् सम्राट् की ओर से वहां जयसम सामन्त के रूप में शासन करने लगा। राजस ने अपने नवीन राज्य का नाम तुमपेल रखा, पर आगे चलकर यह सिंहसारि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजस ने देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की और इसके समय से जावा के सांस्कृतिक जीवन में एक नयी स्फूर्ति का प्रवेश हुआ।

'पररतों' के अनुसार अंग्रोक का वध उसके सौतेले पुत्र . . . सम्राज्ञी डेडेस और तुंगुल अमेतुंग के पुत्र . . . अनेंगह अथवा अनूपपति के आदेश से हुआ, जिसने अपने पिता के वध का बदला उससे चुका लिया। इस वध में पेगलसन नामक एक उच्च पदाधिकारी का हाथ था। इसकी तिथि 'नागरकृतागम' के अनुसार[३२] ११२७ और 'पररतों' के अनुसार १२४७ ई० है। अनूपपति अथवा अनूषनाथ उसके वाद सिंहासन पर बैठा और उसने १२४८ ई० तक राज्य किया। उस समय उसका सम्पूर्ण जावा राज्य पर अधिकार था। पररतों के अनुसार उसके सौतेले भाई तोहजय ने उसका वध कर डाला, पर वह स्वयं भी कुछ ही मास तक राज्य कर सका। उसका मृत्यु-स्मारक चन्डीकदल है जो मलंग के दक्षिण-पूर्व में है।[३३] उसके दो भतीजों, रंग वुनि जो अनुषनाथ का पुत्र था, तथा महीष चम्पक (राजस के पौत्र) ने क्रमशः विष्णुवर्धन और नरसिंहमूर्ति के नाम से राज्य किया।[३४] विष्णुवर्धन ने १२४८-१२६८ तक राज्य किया और उसके समय की मुख्य घटना लिंगपति द्वारा विद्रोह था जो दबा दिया गया।[३५] इसका स्थान महिवित था जो बाद के नगर मजपहित से थोड़ी दूरी पर वर्तमान वतेटुंग के निकट था। १२५४ ई० में उसने अपने पुत्र और उत्तराधिकारी कृतनगर का अभिषेक किया और उसी समय से कुटराज राजधानी का नया नाम सिंहसारि पड़ा।[३६] विष्णुवर्धन की मृत्यु

३२. पररतों, पृ० ६४-६५, सिडो, पृ० ३१५।

३३. क्रोम : इ० जा० गे० भाग २, पृ० ५५।

३४. इन दोनों के एक साथ शासन का उल्लेख मिलता है। वास्तव में विष्णुवर्द्धन शासक था और नरसिंहमूर्ति उपशासक था।

३५. नागर कृत०, ४१-२ पर, पृ० ७७। सिडो, पृ० ३१५।

३६. सिंहसारि में प्राचीन अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। व्रन्डेस, चण्डी सिंहसारि

१२६८ ई० में हो गयी। वलेरि (व्लितर के निकट मलेरि) में उसे शिव का रूप दिया गया और अमोघषाश (बोधिसत्व) अवलोकितेश्वर के एक रूप के नाम से वह जजघु (चन्डी जगो) में पूजा जाने लगा। जयविष्णुवर्द्धन के समय के दो लेख शक सं० ११८६ और ११८८ (१२६४ ई० और १२६७ ई०) के मिले हैं। प्रथम लेख में[३७] इसे 'श्री सकलकलंकुल मधुमर्दन कमलेक्षण नामाभिषेक श्री जयविष्णुवर्द्धन' कहा है। दूसरे लेख में[३८] श्री महाराज श्री लोकविजय प्रशास्ता जगदीश्वरानिन्दित पराक्रमानिवार्य्यवीर्यालंघनीय कृतनगर नामाराजाभिषेक का उल्लेख उसके पिता श्री सकल राजाश्रय श्री विष्णुवर्द्धन नाम देवाभिषेक के साथ मिलता है। विष्णुवर्द्धन के साथ 'देवाभिषेक' के प्रयोग से प्रतीत होता है कि उसकी सांसारिक व्यक्तियों से परे देवताओं की श्रेणी में गिनती होने लगी थी।[३९]

कृतनगर

जावानी सम्राट् कृतनगर जिसे आगे चलकर शिवबुद्ध नाम से भी सम्बोधित किया गया है, जावा के संयुक्त राज्य जंगल और पंजलु का शासक था। उसके लगभग ४० वर्ष के राज्यकाल में जावा की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि उसका अधिकार मलाया, सुमात्रा तथा बालि तक हो गया और उसने मंगोलों की शक्ति को भी तुच्छ समझा। उसका आचरण तथा नीच व्यक्तियों को बढ़ावा देना उसके पतन का कारण बना। 'नागरकृतागम' के अनुसार उसका अधिकार पहंग,

१९०९, क्रोम, इनडाइडिग, पृ० ६८-९३। ब्लोम, सिंहसारि के अवशेष १९३९, सिडो, पृ० ३१५, नोट ७।

३७. दमे, हिन्दनेशी लेखों का अध्ययन। बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १७१, पृ० ७२-७३।

३८. यही, नं० १०२, पृ० ७२-३३।

३९. यही नोट ४। नागरकृतागम के अनुसार (४१-४) विष्णुवर्द्धन की मृत्यु १२६८ में हुई थी। पररतों के अनुसार यह १२७२ में हुई थी। १२६९ ई० के एक लेख में केवल कृतनगर का ही नाम मिलता है। बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १७३, पृ० ७२-७३।

मलयु, गुरुन, वकुलपुर, सुंड और मदुरा तक सीमित था।[४०] विदेशों में सेना भेजने से पहले उसे अपने देश में मय राजके विद्रोह को १२७० ई० में दबाना पड़ा। फिर दस वर्ष बाद एक दूसरा विद्रोही महीष रंग कह् खड़ा हो गया, पर इसे भी कृतनगर ने दबा दिया। १२७५ में श्रीविजय की क्षीण होती शक्ति से कृतनगर ने लाभ उठाना चाहा और उसने एक सेना पश्चिम में भेजी, जिसने जावानी आधिपत्य मलयु, तथा सुंड, मदुरा तथा मलाया द्वीप के एक भाग पर स्थापित किया। 'नागर कृतागम' के अनुसार पहंग कृतनगर के अधीन था।[४१] सुमात्रा के ऊपर इस प्रकार अपना अधिकार जमाने के वाद कृतनगर बालि की ओर मुड़ा और वहां के शासक को बन्दी वना लिया। सुमात्रा पर जावा के अधिकार का प्रमाण एक लेख में भी मिलता है[४२] जो जाम्बी में सुंगई के निकट पदंग रोको में मिला। इसके अनुसार १२८६ में अमोघपाश की एक मूर्ति उसके ३० अनुयायियों सहित जावा भूमि (जावा) से सुवर्ण भूमि लायी गयी और सम्राट् महाराजाधिराज श्री कृतनगर विक्रम धर्मतुंगदेव के आदेश पर चार उच्च पदाधिकारियों द्वारा वहां स्थापित की गयी। इस मूर्ति की उपासना मलयु की समस्त प्रजा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वहां के शासक श्रीमत् त्रिभुवनराज मूलवर्मदेव द्वारा होती थी। सुमात्रा में कृतनगर ने अपनी सेना छोड़ रखी थी।

'नागर कृतागम' के आधार पर कृतनगर ने मलाया के कुछ भाग को भी जीता जिसका संकेत लेख में उल्लिखित पहंग से होता है।[४३] वकुलपुर से बोर्नियो के दक्षिण-पश्चिमी भाग को संकेतित किया गया है। गुरुन से पूर्वी क्षेत्र का उद्देश्य है।[४४] 'नागर कृतागम' के वृत्तान्त के अनुसार कृतजय की विजयपताका मलाया के पहंग से बोर्नियो के दक्षिणी भाग तक फहरायी, जिसके अन्तर्गत सुमात्रा और

४०. ४१,४, पृ० १७ सिडो, पृ० ३३२।

४१. पृ० १७ सिडो, यही। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २९८।

४२. मजुमदार, पृ० २९९।

४३. पहंग (प हो अंग अथवा पो हू आंग) का उल्लेख नन शि तथा 'प्रथम शुंग-वंश का इतिहास' में मिलता है। (सुवर्णद्वीप, पृ० ७७)। मजपहित काल में भी पहंग नाम से मलाया में जावा-अधिकृत प्रदेशों का संकेत किया गया है। यही, पृ० २९९।

४४. यही।

बोर्नियो का कुछ भाग, सुंड, बालि तथा मदुरा द्वीप भी संमिलित थे। सम्पूर्ण जावा पर उसका अधिकार हो ही चुका था और इसी लिए स्थानीय विद्रोह शीघ्रता से दबाये जा सके। इसी समय में चम्पा के एक लेख के अनुसार जावा की एक राजकुमारी तपसी का विवाह वहां के शासक जयसिंहवर्मन् चतुर्थ के साथ हुआ था।[४५] यह वैवाहिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कदाचित् मंगोलों के विरुद्ध मैत्री स्थापित करने के लिए हुआ था। मंगोल शासक कुबलेखन ने जावा के शासक को कई बार चीन बुलाया, पर इसने वहां जाना अपनी मानप्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। १२८९ ई० में उसने जावा के विरुद्ध एक सैनिक बेड़ा भेजा, पर जावा में उस समय राजनीतिक विद्रोह उठ खड़ा हुआ था और कृतनगर का शासन समाप्त हो चुका था।[४६] कृतनगर ने १२७० तथा १२८० ई० में मयराज और महीष रंगकह् के विद्रोहों को दबा दिया था, पर कडिरी के प्रान्तीय शासक ने उसके राज्य का अन्त कर दिया। सम्राट् ने अरागनी और वीरराज नामक दो व्यक्तियों को बढ़ावा देकर अपने शासन में ढील डाल दी। अरागनी मंत्री का कार्य केवल सम्राट् को अच्छा भोजन और मदिरा पान कराना ही था। आर्य वीरराज एक नीच जाति का व्यक्ति था और उसे पहले राज्यसभा में उच्च पद मिला और फिर वह सुंगेनेव (पूर्वी मदुरा) का प्रान्तीय शासक नियुक्त हुआ। 'पररतों' के अनुसार इन दोनों ने[४७] कुटिल नीति को अपनाया। अरागनी ने जावा की सेना का बड़ा भाग मलयु भिजवा दिया और वीरराज कडिरी के प्रान्तीय शासक जयकत्वंग से मिल गया। उत्तर से एक सेना राजधानी की ओर बढ़ी जिसे सम्राट् की सेना ने, जो उसके जामाता विजय के सेनापतित्व में थी, बढ़कर हरा दिया, पर दूसरी सेना दक्षिण में बढ़कर सिंहसारि पहुंच गयी और उसने राजधानी पर अधिकार कर लिया। कृतनगर और उसके मंत्री का वध कर दिया गया।

'पररतों' में कृतनगर के चरित्र को कलुषित रूप दिया गया है, पर 'नागर

४५. मजुमदार, चम्पा लेख नं० ११०, पृ० २२०।

४६. इस युग के जावा और मंगोलों के सम्बन्ध पर देखिए...राकहिल, चीन के सम्बन्ध और व्यापार पर टिप्पणियां (अंग्रेजी), टूंगपाओ १५. १९१४, पृ० ४४४-४४५।

४७. पृ० ७९। सिडो, पृ० ३३४।

कृतागम' के अनुसार[४८] वह षड् राजनीतियों में पारंगत था तथा ज्ञान के सभी क्षेत्रों में कुशल था और उसके आचार-विचार भी पवित्र थे। उसे 'राजपतिगुण्डल' नामक ग्रन्थ का लेखक भी माना जाता है। उसका बौद्ध धर्म के प्रति अति अनुराग था और वह बौद्ध ग्रन्थों तथा तर्क और व्याकरण शास्त्र का विशेष ज्ञाता था। उसने 'सुभूतितंत्र ग्रन्थ' का अच्छी तरह से अध्ययन किया था। उसकी 'योग और समाधि' में भी रुचि थी तथा उसने बहुत-से धार्मिक दान दिये थे। उसने ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की मूर्ति स्थापित करके बौद्ध धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की।[४९] वह बौद्ध धर्म में 'कालचक्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बंगाल में पालवंश के अन्तिम काल में इसके मत की वृद्धि हुई थी तथा यह नेपाल, तिब्बत और सुदूर पूर्व के द्वीपों तक पहुंचा। शिव-भैरव की उपासना शिव-बुद्ध के रूप में होने लगी।[५०]

४८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३०३।

४९. देखिए, सिपंग (सुरावाया) में 'महाक्षोभ्य' की मूर्ति पर अंकित लेख (चटर्जी) और चक्रवर्ती, 'भारत एण्ड जावा' (पृ० ७५ से)। यह लेख शक सं० १२२१ (१२८९ ई०) का है। इसमें कृतनगर को श्री ज्ञान शिववज्र नाम से सम्बोधित किया गया है। महाक्षोभ्य की मूर्ति की स्थापना नदज्ञ नामक धार्मिक विषयों के सचिव ने की थी। 'नागर कृतागम' के अनुसार कृतनगर तंत्रवादी था और इस लेख के अनुसार उसने अपने जीवनकाल में धार्मिक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त कर लिया था। देखिए—

अशेषतत्त्व सम्पूर्णो धर्मशास्त्रविदां वरः।
जीर्णोद्धारक्रियोद्युक्तो धर्म्मशासनदेशकः ॥११॥
श्रीज्ञानशिव-त्र (ज्राख्य) श्चितरत्नविभूषणः
प्रज्ञारश्मिविशुद्धांगस्सम्बोधिज्ञान पारगः ॥१२॥

५०. शिव-बुद्ध की संतुलित रूप में उपासना का उल्लेख जावा के बहुत-से प्राचीन लेखों में मिलता है। सबसे पहले ऐरलंग के ९५६ शक सं० (१०३४ ई०) के सिपंग के लेख में इसका उल्लेख है। १२-१४वीं शताब्दी के कुंजरकरण नामक ग्रन्थ में शिव और बुद्ध के एकीकरण का विवरण है। बुद्धपद को महादेव का निवासस्थान कहा गया है और सुगत या पांच ध्यानी बुद्धों की समानता शैव कुशिकों से की गयी है। 'पररतों' में कृतनगर को शिव-बुद्ध कहा है और 'नागर कृतागम' के

'नागर कृतागम' के अनुसार इसका संस्कार शिव बुद्ध मन्दिर में हुआ[५१] और शिव-बुद्ध की मूर्ति की उपासना होने लगी। कृतनगर में शौर्य, वीरता, धर्मनिष्ठता तथा विद्वत्ता का सम्मिश्रण था। 'पररतों' ने उसकी कमजोरियों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। कुछ भी हो, उसने अपने ४० वर्ष के राज्यकाल में जावा को शान्ति और सुव्यवस्था प्रदान की और उसकी शक्ति जावा के बाहर मलय, सुमात्रा और बोर्नियो तक प्रदर्शित हुई। आत्मसम्मान के कारण उसे मंगोलों की ओर से भय हो गया, पर देश की आन्तरिक परिस्थिति उसके मंत्रियों की कुटिलता से बिगड़ गयी, जिन्होंने जावा के साम्राज्य को धक्का पहुंचाया। सिंहसारि राज्य नष्ट हो गया और उसके स्थान पर मजपहित राज्य स्थापित हुआ।

अनुसार मृत्यूपरान्त वह शिव-बुद्ध लोक में गया। देखिए, सरकार कृत 'प्राचीन जावानी' लेखों में शिव-बुद्ध (अंग्रेजी में), इंडियन कलचर भाग १, पृ० २८४ से। कर्न, जावा, बालि और सुमात्रा में बौद्धधर्म (अंग्रेजी), इंसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स', भाग ७, पृ० ४७५ से।

५१. इस मन्दिर की समानता चण्डी-जावा से की जाती है। सिडो, पृ० ३३३। क्रोम, इ० जा० ग्रे० (पृ० ३२८-३२९)। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३०७।

अध्याय ६

मजपहित की स्थापना और विशाल जावा साम्राज्य

कृतनगर की मृत्यु, कडिरी की सेना का सिंहसारि में प्रवेश और उसका राज्य-प्रासाद पर अधिकार कर लेना जावा के इतिहास में एक विशेष घटना है। कडिरी के जयकत्वंग ने (अल्पकाल के लिए) अपने प्राचीन राजवंश के गौरव को पुनः स्थायी रूप देने का प्रयास किया, पर वह विफल रहा और १२९४ ई० में कृतनगर के जामाता विजय ने चीनी सेना की सहायता से कडिरी की सेना को हराकर अपना राज्य स्थापित किया, पर राजकीय केन्द्र अब सिंहसारि के स्थान पर मजपहित[1] हो गया। विजय का लेख[2] शक सं० १२१६ (१२९४ ई०) का मिला है जिसमें इसे 'श्री महावीरतमेश्वरानिन्दित पराक्रमोत्तुंगदेव...कृतराजसजयवर्द्धन नाम राजा-

१. ८४० ई० के एक लेख में 'मजपहित में लिखा गया' वाक्य संकेत करता है कि मजपहित की स्थापना पहले हो चुकी थी। १०वीं शताब्दी के एक अरबी ग्रन्थ का भी जावग में 'मजफाविद' नामक एक नगर का उल्लेख मिलता है। प्ररवास्त्व का लेख १३वीं शताब्दी का है और फेरण्ड के मतानुसार अरबी ग्रन्थ में नगर का नाम मरकावन्द था (जू० ए० २.१३ (१९१९), पृ० ३०३)। अतः १२९२ ई० से पहले इस नगर की स्थापना नहीं हुई थी। 'पररतो' के अनुसार इसकी स्थापना विजय ने की थी जिसका पूरा नाम 'नराय संग्रामविजय' था, (पृ० ९८) सिडो, ए० हि०, पृ० ३३४। इस नगर के अवशेषों का उल्लेख डच पुरातत्त्व वैज्ञानिकों ने किया है और यह वर्तमान त्रवुलन में, जो मजकेतो के दक्षिण-पश्चिम में है, केन्द्रित था। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३१२, नोट १।

२. डमे, 'हिन्दनेशी लेखों का अध्ययन', नं० १७७। बु० इ० फ्रा० ४५ (१), पृ० ७४-७५।

भिषेक' कहा है। कृतनगर का अन्तिम लेख[३] शक सं० १२१४ (१२९२ ई०) का सिंहसारि में मिला। इससे प्रतीत होता है कि इन दो वर्षों में कृतनगर की मृत्यु, कडिरी के शासक जयकत्वंग का सिंहसारि पर अधिकार, विजय का जावा से भाग कर बाहर शरण लेना तथा पुनः प्रवेश कर राज्य प्राप्त करना इत्यादि घटनाएं हुईं। विजय के लेख में इन घटनाओं का उल्लेख है तथा 'नागर कृतागम' और 'पररतों' में भी इनका विवरण मिलता है।[४] इन स्रोतों के आधार पर उन दो वर्षों की घटनाओं पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। इनके अतिरिक्त हमें चीनी सूत्रों से भी बहुत कुछ वृत्तान्त मिलता है क्योंकि इस काल में जावा से कई राजदूत चीन भी गये थे।

विजय के लेख के अनुसार जब कडिरी की सेना जसुनवुंकल पहुंची तो विजय और अर्धराज अपनी सेनाओं सहित सिंहसारि से लोहा लेने बढ़े। केडुंगप्लुक के युद्ध में कडिरी की सेना हारी और विजय ने उसका पीछा किया तथा पेनन्ग्गुंगन की पहाड़ी के नीचे कपुलुन्गान के निकट तथा उसके उत्तर-पूर्व में स्वूतकरत के निकट दो बार फिर बची सेना को हराया। इधर अर्द्धराज के राजपक्ष को त्याग कर विजय से अलग होने, एक दूसरी कडिरी सेना के दक्षिण की ओर से सिंहसारि पहुंचकर उस पर अधिकार कर लेने और कृतनगर के वध ने विजय की जीत को पराजय में परिणत कर दिया। ६०० सैनिकों सहित वह ब्रन्तस नदी के पार उत्तर की ओर भागा। कडिरी की सेना ने उसका पीछा किया। उसे सुरावाया नदी पार करनी पड़ी और कुडलु नामक गांव में वहां के ग्रामिक के यहां उसे शरण मिली। 'पररतों' और 'पंजिविजयक्रम'[५] में विजय की हार तथा भागने का उल्लेख दूसरे ढंग से हुआ है। यह मानना पड़ेगा कि विजय उत्तर की ओर भागा और उसे मदुरा द्वीप में शरण लेनी पड़ी, जिसका उल्लेख इन दोनों ग्रन्थों में है। मदुरा के शासक वीरराज से, जो पहले जयकत्वंग से मिल चुका था, विजय ने सम्पूर्ण जावा राज्य को आपस में बांटने का समझौता किया। १२९३ ई० में विजय ने उत्तरी भाग पर अपना

३. यही, नं० १७६।

४. 'नागर कृतागम' ४४ (१) ४। पररतों, पृ० ९० से। पंजिविजयक्रम ७, १, १७। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३१३।

५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३१०।

छोटा-सा राज्य मजपहित में स्थापित कर लिया था। उसी समय जावा के विरुद्ध कुवलईखन का बेड़ा शे-पि, चि-को-मु-सु तथा काऊ-शिंग की अध्यक्षता में जावा पहुंच चुका था।[६] विजय ने अपने प्रधान मंत्री को १४ अन्य अधिकारियों सहित चीनी सेना से मिलने के लिए भेजा। सुरावाया नदी के मुहाने पर चीनी बेड़े को जावा के विरुद्ध पहली सफलता मिली और विजय की सहायता के लिए चीनी सेना जयकत्वंग के विरुद्ध बढ़ी। कुछ दिन के संघर्ष के पश्चात् कडिरी की सेना भाग खड़ी हुई और वहां का सम्राट् अपने प्रासाद में आत्म-समर्पण के लिए रह गया। चीनी सेनापति उसे सकुटुम्ब अपने साथ ले गये। चीनी वृत्तान्त के अनुसार सम्राट् और उसके पुत्र का वध कर दिया गया, पर 'पररतों' के अनुसार चीनियों के जावा से जाने के बाद भी वह जीवित रहा और उसने 'वुकिरपोलमन' नामक पद्य-रचना की।[७] इधर विजय चीनियों से मुक्त होना चाहता था। दो सौ चीनी सैनिकों और दो अंगरक्षकों सहित वह मजपहित लौटा और फिर एक बड़ी सेना एकत्रित कर उसने अपने रक्षकों तथा चीनी सेनानियों का वध कर डाला और कडिरी से लौटती हुई विजयी चीनी सेना पर आक्रमण कर दिया। इसमें ३००० चीनी सैनिक मारे गये और वाकी बचे चीनी अपने देश लौट गये। चीनी सेना के जावा पर आक्रमण का

६. 'युवनवंश के इतिहास' में इस सम्पूर्ण घटना का उल्लेख है और इस प्रकार इन तीन सेनापतियों की जीवनी से भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इन सबके आधार पर विस्तृत रूप से चीनी बेड़े का प्रस्थान, जावा में प्रवेश, कडिरी के शासक के विरुद्ध युद्ध तथा·विजय, मजपहित के शासक विजय की कूटनीति और उसकी सफलता तथा चीनियों का जावा से लौटने का सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा गया है। इसका अनुवाद ग्रोएनेवेल्ट ने किया। देखिए, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३१३। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार १२९२ ई० के अन्तिम मास में चीनी बेड़ा शुवान-चाओ से चला और पूर्वी जावा के उत्तरी किनारे के बन्दरगाह तुवन पहुंचा जहां सेना दो भागों में विभाजित की गयी। एक समुद्रतट के किनारे किनारे स्थल पर चली और दूसरी शे-पि की अध्यक्षता में सुगलु (सोलों) नदी के मुहाने पर सामुद्रिक मार्ग से पहुँची और वहाँ से प-शिए-कन (सुरावाया) नदी की ओर बढ़ी। सूचकों द्वारा प्राप्त जावा की राजनीतिक स्थिति का वृत्तान्त भी इन स्रोतों में मिलता है।

७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३१८।

फल केवल यह हुआ कि कडिरी के शासक जयकत्वंग के, जिसने सिंहसारि पर अनधिकृत रूप से अधिकार कर लिया था, स्थान पर विजय जावा का शासक हो गया और एक विस्तृत जावा साम्राज्य के निर्माण का बीज बो दिया गया।

विजय का शासन काल

कृतराजस जयवर्द्धन के नाम से विजय मजपहित में सिंहासन पर बैठा और अपने को 'समस्तयवद्वीपेश्वर' घोषित किया। अपने श्वशुर कृतनगर के सिंहसारि राज्य पर इसका अधिकार पहुंचता था। 'नागर कृतागम' के अनुसार[८] कृतनगर के चार कन्याएं थीं और ये चारों कृतराजस की रानियां थीं। इनमें से चौथी गायत्री राजपत्नी थी और उससे दो कन्याएं हुईं। कृतराजस से एक मलयकुमारी भी ब्याही थी जिससे उसका एक पुत्र हुआ जिसका नाम जयनगर था और वही उसका उत्तराधिकारी था। विजय का जीवन संघर्ष में ही बीता था और जावा का सम्राट् होने के बाद भी उसका शासन-काल शान्ति से नहीं बीता। 'पररतों' के अनुसार रंगलवे द्वारा तुवंग क्षेत्र में एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। उसके बाद बुद्ध वीरराज ने लुमजंग में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया[९] जो मदुरा द्वीप के निकट दक्षिण में जावा का भाग था। १२९८ और १३०० ई० के बीच का समय सौरा नामक एक विद्रोही सैनिक को दबाने में लगा। इसके बाद १३०२ ई० में वीरराज के पुत्र नम्बि ने लेम्वह् भागकर वहां गढ़ बनाया जिससे वह अपनी रक्षा कर सके। १३०२ ई० में सौरा के एक साथी जेरुदेभुंग ने विद्रोह खड़ा कर दिया। कृतराजस ने सभी विद्रोहियों को दबाकर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की।[१०] जैसा कि सम्राट्

८. ४५ : २.४७। मजुमदार, यही, पृ० ३१९।

९. पृ० १२५। सिडो, ए० हि०, पृ० ३८७।

१०. सम्राट् के १२९६ ई० के लेख में इसे श्री महाराज श्री यवभुवन परमेश्वर रकयान् मंत्री संग्रामविजय श्री कृतराजस जयवर्द्धन नाम राज्याभिषेक कहा गया है। (बु० इ० फ्रा० ४५ (१) नं० १७८, पृ० ७४-७५) १०३५ ई० के लेख में श्री महाराज नरार्य्य संग्रामविजय श्री कृतराजस जयवर्द्धन अनन्तविक्रमोत्तुंग लिखा है (यही, नं० १७९), 'यवभुवनपरमेश्वर' उपाधि का अभाव उसके राज्य-विस्तार की कमी का संकेत नहीं करता है।

के शक सं० १२२७(१३०५ ई०) के लेख से प्रतीत होता है। कृतराजस की मृत्यु १३०९ में हो गयी। सिंपिंग में उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हुई और वहाँ निर्मित शैव मन्दिर से प्राप्त हरिहर की एक सुन्दर मूर्ति जो इस समय नटाविया के संग्रहालय में है, सम्राट् की आकृति का प्रतीक है। रिम्बी के मन्दिर से मिली पार्वती की मूर्ति जो कला की दृष्टि से हरिहर की मूर्ति से मिलती-जुलती है, सम्राट् की एक पत्नी की मूर्ति प्रतीत होती है।[११]

जयनगर

जयनगर श्री सुन्दर पांड्यदेवाधीश्वर[१२] विक्रमोत्तुंगदेव के नाम से अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठा। इसकी अवस्था उस समय अधिक न थी। अतः राज्य में अशान्ति का वातावरण होना स्वाभाविक था। कृतनगर को भी कई विद्रोहियों को दबाना पड़ा था तथा वृद्ध वीरराज अब भी युवक सम्राट् को कष्ट देने के लिए जीवित था। सोरा तथा उसके सहायक भी मौजूद थे। पुएरवत-जरक के मतानुसार[१३] रंगलवे का विद्रोह भी इसी शासक के समय में हुआ था, पर इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। सिंहासन पर बैठने के दो वर्ष बाद वृद्ध वीरराज, जिसने राज्य को बड़ा क्लेश पहुंचाया था, मर गया। १३१२ ई० में उसने अपने नाना कृतनगर की मृत्यु के २० वर्ष बाद मृतक-समाधि पूर्व पतपन् में बन-वायी। इसके बाद के कई वर्ष विद्रोहियों को दबाने में लगे। १३१४ ई० में सोरा के साथी गजह वीरू ने उपद्रव खड़ा कर दिया था। १३१६ ई० में वीरराज के पुत्र नम्बि की मृत्यु के बाद लुमजंग प्रदेश ने आत्मसमर्पण कर शान्ति स्थापित करा दी।[१४]

११. सिडो, ए० हि०, पृ० ३८७।

१२. सुन्दर पाण्ड्यदेवाधीश्वर से जावा सम्राट् के वंश के दक्षिण भारत के साथ प्राचीन सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। जावा के कुछ लेखों के संजय संवत् इसकी पुष्टि करते हैं। शास्त्री, 'अगस्त्य' 'तिन' ७६.१३६, पृ० ५०२। सिडो, ए० हि०, पृ० ३८७। सम्राट् की राजकीय मोहर में मीनद्वय. . .दो मछलियां थीं, जो पांड्य देश के प्रथानुसार थीं। देखिए, ए० ओ० भाग १३ (२), पृ० १३३।

१३. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३२२।

१४. पररतों, पृ० १२६-१२७। नागरकृतागम (कर्न), पृ० ३४। सिडो. ए० हि०, पृ० ३८८।

१३१९ ई० में कुटि ने विद्रोह कर दिया और 'पररतों' के अनुसार गजहमद तथा २५ रक्षकों के साथ जयनगर को राजधानी छोड़नी पड़ी,[१५] पर कुटि के वध के बाद पुनः शान्ति हो गयी। सम्राट् राजधानी लौट आया। १३२१ ई० में औडोरिक डि पोर्डिनोन नामक एक यात्री जावा आया और उसने इसका वृत्तान्त लिखा है।[१६] उसके कथनानुसार जावा के सम्राट् का आधिपत्य अन्य राजा स्वीकार करते थे, यहां की भूमि बड़ी उपजाऊ थी तथा मसाले पैदा होते थे। सम्राट् का प्रासाद सुवर्ण, चांदी तथा बहुमूल्य मणियों से आभूषित था। १३२३ ई० के लेख में[१७] जावा के अधीन राज्यों में मदुरा तथा तंजुगपुर (बोर्नियो) भी थे। जावा का चीन के साथ भी राजनीतिक सम्पर्क था और १३२२, १३२५, १३२६ तथा १३२७ ई० में यहां से राजदूत चीन भेजे गये। १३२८ ई० में वहां से चीन के सम्राट् की ओर से भेंट लेकर अन्तिम दूत लौटा। जावानी सम्राट् का नाम य-य-न-को-ने मिलता है जिसकी समानता जयनगर से की जा सकती है।

'पररतों' के अनुसार सम्राट् के शासन-काल के अन्तिम वर्ष कष्ट से बीते। तंत्र नामक राजवैद्य द्वारा उसका वध कर दिया गया और गजमद ने उसे भी मार डाला।[१८] इस शासक के समय में पनतरम के कई मन्दिर बनवाये गये।[१९]

जयनगर के उत्तराधिकारी

जयनगर के कोई पुत्र न था, इसलिए उसके बाद कृतनगर (१२६८-१२९२) की पुत्री और कृतराजस जयवर्द्धन की प्रथम पत्नी गायत्री को मजपहित का शासक

१५. पृ० १२७-८।

१६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३२५।

१७. बु० इ० फ्रा०, भाग ४५ (१), नं० १८०, पृ० ७४-७५।

१८. सम्राट् के वध के सम्बन्ध में कई कथाएं प्रचलित हैं। यह कहा जाता है कि वह अपनी सौतेली बहिन के साथ विवाह करना चाहता था जिससे राज्यसभा में असन्तोष था। बालि की एक किंवदन्ती के अनुसार इस वध में गजमद का हाथ था। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३२६।

१९. क्रोम, हि० जा० कु० २, पृ० २४५-२८४। सिडो, ए० हि०, पृ० ३८२।

घोषित किया गया। 'नागरकृतागम' के अनुसार[२०] वह पहले ही भिक्षुणी हो गयी थी, इसलिए उसकी पुत्री त्रिभुवना अपनी मां की ओर से त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्द्धनी के नाम से राज्य करने लगी।[२१] १३२९-३० में उसने चक्रधर नामक एक कुलीन व्यक्ति से विवाह कर लिया[२२] जिसे कृतवर्द्धन का नाम तथा सिंहसारि के कुमार की पदवी मिली। १३३४ ई० में उनके ध्यमवुरुक नामक पुत्र हुआ जो १३५० में अपनी नानी गायत्री की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा।[२३] त्रिभुवना की संरक्षकता के काल में गजमद नामक व्यक्ति 'मजपहित का पति' अथवा मुख्य मंत्री था।[२४] इसने पहले भी जयनगर के समय में विद्रोह को दबाया था। १३३१ में सडेंग और केट के विद्रोहों को भी इसने दबाया। 'पररतों' के अनुसार[२५] इसने गुरुन, सेरन, तजुंगपुर, हरु, पहंग, दोम्बो, बालि, सुन्द, पलेमवंग और तुमसिक को जीता था। इनमें से गुरुन, तंजुगपुर तथा पहंग कृतनगर के समय में ही उसके साम्राज्य के अंग थे। कुछ अन्य स्थानों को गजमद ने जीता होगा। 'नागरकृतागम'[२६] के अनुसार १३४३ में एक सेना बालि भेजी गयी, जहां १२८४ ई० में कृतनगर के समय में भी आक्रमण हुआ था। इस समय से जावा का बालि पर पूर्णतया अधिकार हो गया और स्थानीय राजवंश का अन्त हो गया।

'यवन वंश के इतिहास' में १३३२ ई० में जावा से एक राजदूत के चीन जाने का उल्लेख है जिसका नाम सेंग किअ लो था। १३५० ई० में वंग-त-च्वन ने चाओ-व (जावा) को एक समृद्ध देश लिखा है जिसकी आबादी घनी

२०. पृ० २५७। सिडो, ए० हि०, पृ० ३८९।

२१. क्रोम, हि० जा० गे०, पृ० ३८३। नागरकृत०, यही। सिडो, यही। १३२९ और १३३० के दो लेखों में इसे श्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवी लिखा गया है। बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), नं० १८१, १८२, पृ० ७४-७५। प्रथम लेख में इसे श्री महाराज परमेश्वर श्री सकलयवमण्डल मदुरादि भी लिखा है।

२२. पररतों, पृ० १२९। सिडो, यही।

२३. यही, पृ० १३९।

२४. क्रोम, हि० जा० गे०, पृ० ३८७।

२५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३२७।

२६. पृ० ३७। क्रोम, पृ० ३९१। सिडो, पृ० ३८९।

थी।[२७] १३५० में राजपत्नी गायत्री की मृत्यु के पश्चात् उसका दौहित्र ध्यमवुरुक राजस-नगर[२८] के नाम से सिंहासन पर बैठा।

राजसनगर (१३५०–१३८९ ई०)

इस सम्राट् का राज्यकाल जावा के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मजपहित के राज्य ने एक विस्तृत साम्राज्य का रूप धारण कर लिया था जिसके अन्तर्गत हिन्दनेशिया के सभी द्वीप (सेलिवीज के उत्तरी भाग को छोड़कर) तथा मलाया का अधिक भाग उसके अधीन हो गया था। जिस समय यह राज्यसिंहासन पर बैठा उसकी उम्र केवल १६ वर्ष की थी, पर गजमद और उसके पिता कृतवर्द्धन ने राज्य-शासन में शिथिलता नहीं आने दी। इस सम्राट् के राज्यकाल की प्रथम घटना १३५७ ई० में सुंड के शासन के साथ वादविवाद के रूप में हुई। इसका कारण सुंड महाराज का अपनी पुत्री को लेकर राजसनगर के साथ विवाह करने के लिए आना था। सुंड का शासक, जो १३३३ ई० के एक लेख के अनुसार[२९] पजजरन नामक सुंड राज्य का स्थापक था, अपने को मजपहित सम्राट् के समान समझता था, पर गजमद उसे मजपहित के अधीन समझते थे। वादविवाद का परिणाम सुंड-शासक और उसके रक्षकों का नाश तथा कुमारी की मृत्यु हुआ। सम्राट् ने वेंगकेर परमेश्वरी (नागरकृतागम के अनुसार सुषुमादेवी) के साथ विवाह कर लिया। सुंड शासक के साथ संघर्ष के बाद से मजपहित राज्य ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। 'नागरकृतागम'[३०] में सम्राट् के अधीन राज्यों का उल्लेख है

२७. राकहिल, टूंग-पाओ १५ (१९१४), २३६-२३७।

२८. 'नागरकृतागम' के अनुसार इसके अन्य नाम भी थे...भटारप्रभु, रदेनतेतेप, शिवैत म्पु जनेश्वर तथा संघयंग वेकस। चीनी स्रोतों में भटारप्रभु का नाम श्री पह-त-ल-पो और प-त-न-म-न-वु मिलता है। मजुमदार, पृ० ३२८। सम्राट् के १३५८ और १३६७ ई० के दो लेखों में 'पादुक श्री तिक्तविल्वनग्रेश्वर श्री राजसनगर...नामाराजाभिषेक...गर्भोत्पत्तिनम द्यः श्री हयामवुरुक' मिलता है। बु० इ० फ्रा० ४५ (१), नं० १८८, १९१, पृ० ७६-७७।

२९. सिडो : ए० हि०, पृ० ३९८, नोट २।

३०. पृ० २४०(२) २७८-२७९ (कर्न)।

और इससे यह प्रतीत होगा कि सेलिवीज़ के उत्तरी भाग को छोड़कर सम्पूर्ण हिन्दनेशिया के द्वीपों और मलाया प्रायद्वीप के अधिक भाग पर उसका अधिकार था। 'नागरकृतागम' की रचना इसी शासक के समय में हुई थी और इसमें अधीन राज्यों को मलयु, तंजुगनगर (बोर्नियो), पहँग (मलाया) तथा पूर्वी द्वीपों की श्रेणियों में रखा गया है। नागरकृतागम में उल्लिखित[३१] सूची को चाहे बढ़ा-चढ़ा कर लिखा भी माना जाय, पर अन्य स्रोतों से विस्तृत मजपहित साम्राज्य और उसके अधीन राज्यों का संकेत मिलता है। बालि के विषय में १३४८ का वतुर का लेख तथा सम्राट् के मामा श्री विजय राजस का १३८४[३२] का लेख उल्लेखनीय है। १३९८[३३] के एक अन्य लेख में इसी वेंगेरकुमार की विष्णुभवन में मृत्यु का उल्लेख है। इसी विजय राजस की पुत्री परमेश्वरी का विवाह राजसनगर के साथ हुआ था और कदाचित् वह मजपहित सम्राट् की ओर से वहां शासन कर रहा था। संभव है कि वह स्वतंत्र भी रहा हो, किन्तु बालि पर जावा का अधिकार निस्सन्देह रूप से था। चीनी स्रोतों के अनुसार[३४] जावा का पु-नि (बोर्नियो...

३१. सम्पूर्ण सूची के लिए देखिए, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३३० से।

३२. बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), नं० ६५, पृ० ९६-९७।

इस लेख में शासक का नाम 'पादुक श्री महाराज राजपरमेश्वर श्री सकल-प्रजानन्दकरण...पादुक परमेश्वर श्री विजय राजस नामदेवाभिषेक संग अपंजि वानि ध्युन गर्भोदयनाम चंचु कुदमृत...इनदिष्ठन सिरे नगरे वेंगकेर' लिखा है। दमे के मतानुसार रदेन कुदमृत (पररतों २३७) जावा में वेंगकेर के लिए सहायता प्राप्त करने आया था और इस लेख के अनुसार वह बालि का शासक महाराज था। लेख की लिपि जावानी है और इसी लिए यह जावानी प्रतीत होता है। बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), पृ० ९७, नोट ५।

३३. बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), नं० ६६, पृ० ९६-९७। इसमें 'पादुक भट्टार श्री परमेश्वर सिरसंग भोक्त रिंग विष्णु भवन' नाम मिलता है जो रदेन कुदमेरत का मृतक नाम था। (नोट ६, देखिए जावानी लेख नं० १९६, यही, पृ० ७८-७९)। यह लेख शक सं० १३१३ का है और इसमें शासक का नाम पादुक भटार श्री परमे-श्वर सिर संग भोक्त रिंग विष्णु भवन है।

३४. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३३४।

नागरकृतागम के तंजुगनगर) पर भी अधिकार था। १३७० ई० में जावा का इस पर अधिकार था। इसी प्रकार सन-फो-त्सि (श्रीविजय) पर भी जावा का अधिकार था और चीनी आधिपत्य का प्रयास विफल रहा।[३५] इसके अतिरिक्त सुम्वावा द्वीप में मिले एक जावानी लेख में[३६] मजपहित का पूर्वी द्वीपों तक अधिकार विदित है। यह लेख कवि लिपि में है। इसी प्रकार सिंगापुर से प्राप्त एक लेख[३७] भी इसी लिपि में है। इन दोनों से जावा का इन द्वीपों पर अधिकार होना संकेतित होता है। इन स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि १३६५ ई० तक जब 'नागरकृतागम' की रचना हुई, जावा साम्राज्य राजनीतिक पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था, और उसका मलाया प्रायद्वीप तथा हिन्दनेशिया के द्वीपों पर अधिकार था। 'नागर-कृतागम'[३८] के अनुसार जावा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अन्य देशों के साथ मित्रता बनाये हुए था। जिन देशों का मजपहित के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार था वे स्यंग कायोध्यपुर (स्याम तथा अयुथ्या), धर्मनगरी (लिगौर), मरुत्म (मर्तवन्), राजपुर (सिंहनगरी), चम्पा, कम्बोज तथा यवन (अनम) थे।

'मिंग का इतिहास'[३९] में राजसनगर के चीन के साथ सम्पर्क का उल्लेख है। उसके अनुसार प-त-न-प-न-वू भटार प्रभु की ओर से १३७०-१३८१ के वीच में कई राजदूत चीन भेजे गये। वे पश्चिमी और पूर्वी जावा से भेजे गये। पश्चिमी जावा के शासक का नाम वू लाओ पो वू कदाचित् भरत अथवा भ्रप्रभु था और दूसरे का नाम वू च्वन लाओ वंग किए था।[४०] सिडो के मतानुसार दूसरा म्रे वेंगवें अथवा विजयराजस था जिसका १३८४-१३८६ ई० के बालि के लेखों में उल्लेख है। यदि मिंग-वंश के इतिहास के जावा सम्बन्धी वृत्तान्त को ठीक मानें तो जावा साम्राज्य

३५. जू० ए० २-१२ (१९२२), पृ. २५-२६।
३६. सिडो, ए० हि०, पृ० ३९९। मजुमदार, पृ० ३३५।
३७. मजुमदार, यही।
३८. १५.(१) कर्न, पृ० २७९।
३९. सिडो, ए० हि., पृ० ३९९।
४०. इन दोनों नामों की समानता किसी भी शासक से नहीं की जा सकती है। फेरेड के मतानुसार वंग की से वेंकेर का संकेत है और यह वीरराजस था। सिडो, पृ० ४००।

के पूर्वी भाग पर सम्राट् की ओर से विजय राजस और बाकी भाग पर राजसनगर राज्य कर रहे थे।

राजसनगर का राज्यकाल जावा के इतिहास में सुव्यवस्था तथा साहित्यिक प्रगति का युग था। प्रपंच ने इसी समय में 'नागरकृतागम' नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की।[४१] इससे शासन व्यवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। केन्द्र में सम्राट् की सहायता के लिए उसका पिता कृतवर्द्धन और मामा विजय राजस था। उच्च कुलीन मंत्रियों की एक परामर्श-समिति थी जिसका महापति वृद्ध गजमद था जिसने ५० वर्ष तक जावा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।[४२] १३६४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। 'नागरकृतागम' के अतिरिक्त कवि तंतुलर ने 'अर्जुन विवाह' तथा 'पुरुषादशान्त' (अथवा सुतसोम) ग्रन्थ लिखे।[४३] दूसरा ग्रन्थ शैव बौद्ध धार्मिक संतुलन के ज्ञान के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस शासक के समय में बहुत-से धार्मिक दान दिये गये। पनतरन का प्रसिद्ध मन्दिर, जिसमें रामायण और कृष्णायन के सुन्दर दृश्य चित्रित हैं, जिसकी नींव १३४७ ई० से रखी गयी थी, पूर्णतया बनकर तैयार हो गया था।[४४] राजनीतिक दृष्टिकोण से राजसनगर का शासनकाल विशेषतया महत्त्वपूर्ण है, पर साहित्यिक और कला के क्षेत्रों में भी इस युग का बड़ा अंशदान रहा।

विक्रमवर्द्धन

राजसनगर का उत्तराधिकारी उसका भांजा तथा जामाता विक्रमवर्द्धन (ह्यंग विशेष) १३८९ ई० में मजपहित के सिंहासन पर बैठा। इसके समय से साम्राज्य अवनति की ओर अग्रसर होता है। यह अवनति उसके उत्तराधिकारियों के

४१. कर्न द्वारा सम्पादित तथा अनूदित। सरकार ने भी जावा के साहित्य पर भारतीय प्रभाव दिखाते हुए इसका उल्लेख किया है (पृ० ३८५)। सरकार ने क्रोम की डच भाषा में लिखे 'भारतीय जावा के इतिहास' के अनुवाद में भी इसका उल्लेख किया है। ज० ग्रे० इ० सो १२ (१९४६), पृ० १६।

४२. क्रोम, हि० जा० ग्रे०, पृ० १९६। सिडो, ए० हि०, पृ० ४००।

४३. सरकार, पृ० २३०, ३१८-३२२। सिडो, यही।

४४. पररतों, पृ० १२८-१२९। सिडो, पृ० ४०१।

समय में बड़ी तेजी के साथ हीने लगी। इसका मुख्य कारण मलाका का व्यापारिक क्षेत्र में प्रधानता स्थापित करना तथा इस्लाम का अब सामुद्रिक किनारे द्वीप के अन्दर बढ़ना था। १४१९ ई० का ग्रेसिक में मलिक इब्राहिम के मकबरे का लेख[४५] इस्लाम के जावा के आन्तरिक भाग में प्रवेश का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त सिंहासन प्राप्ति के लिए विक्रमवर्द्धन और राजनगर की दूसरी रानी के पुत्र वीरभूमि के साथ संघर्ष भी अवनति का एक कारण था।[४६] वीरभूमि ने विजयराजस की भाँति पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था। संघर्ष १४०१ से १४०६ ई० तक चलता रहा और इसका अन्त वीरभूमि की मृत्यु से ही हुआ। जावा में पुनः राजनीतिक एकता स्थापित हो गयी, पर उसका द्वीपों तथा मलाया पर से अधिकार जाता रहा और उसके स्थान पर चीन का आधिपत्य स्थापित हो गया। १५वीं शताब्दी के आरम्भ से जावा का हिन्दू राज्य गिरने लगा। 'पररतों' में इस युग का राजनीतिक इतिहास असम्वद्ध रूप में मिलता है। इसमें सम्राट् विक्रमवर्द्धन की पुत्री देवी सुहिता को 'प्रभु स्त्री' कहा गया है (अध्याय १०) और उसके बाद भट्टार स्त्री प्रभु अथवा स्त्री शासक का उल्लेख है (१२), इसके बाद में विक्रमवर्द्धन की मृत्यु तथा १४२९ ई० में प्रभु स्त्री की मृत्यु का उल्लेख है (१२), १४३७ ई० में म्रे दह के शासक होने का उल्लेख है। प्रभु स्त्री की मृत्यु का पुनः उल्लेख मिलता है,

४५. सिडो, पृ० ४०१।

४६. 'मिंगवंश का इतिहास' के अनुसार १४०३ ई० में साम्राज्य के दो भाग हो गये थे। पश्चिम में तू-म-पन तुमपेल शासक था और पूर्व में पू-लिंग त-ह, म्रेंग (अथवा पुत्रेंग) दह था। चेंग-हुओ नामक क्लीव पूर्वी भाग के शासक की ओर से चीन सम्राट् के पास गया था। सिडो, स० हि०, पृ० ४०२, नोट १।

डा० मजुमदार के मतानुसार राजसनगर ने वृद्धावस्था में अपनी पुत्री कुसुमवर्द्धनी का जो सम्राज्ञी परमेश्वरी की सन्तान थी, विवाह अपनी बहिन पजंग के पुत्र विक्रमवर्द्धन से कर दिया था तथा उसकी बहिन नागरवर्द्धनी का विवाह अपनी दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र वीरभूमि से कर दिया तथा उसे पूर्वी भाग का शासक नियुक्त कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वह मजपहित के अधीन न था। भविष्य में गृह-युद्ध का बीज राजसनगर ने ही बोया था (सुवर्णद्वीप, पृ० ३३९)।

पर यह घटना १४४७ ई० में रखी गयी है।[४७] यह वृत्तान्त भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। क्रोम के मतानुसार[४८] विक्रमवर्द्धन ने १४२९ ई० तक शासन किया और उसके बाद उसकी दुहिता सुहिता ने १४४७ ई० तक राज्य किया। सिडो भी इस मत से सहमत है।[४९] विक्रमवर्द्धन की पुत्री सुहिता ने १४४७ ई० तक राज्य किया, पर इसके समय का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता।

मजपहित के अन्तिम शासक

सुहिता के बाद उसके भाई भ्रेतुमपेल ने कृतविजय के नाम से ४ वर्ष (१४४७-१४५१) तक राज्य किया। इसके समय का एक लेख[५०] मिला है, जिसमें इसे 'पादुक श्री महाराज श्री सकल यव-राजाधिराज परमेश्वर श्री भट्टार प्रभु . . . विजय पराक्रमवर्द्धन नाम राजाभिषेक गर्व्वप्रसुतिनाम द्यः कृतविजय' के नाम तथा उपाधियों सहित सम्बोधित किया गया है। 'पररतों' में इसे भ्रेतुमपेल तृतीय कहा गया है। इस युग में इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू धर्म के साथ स्थानीय धार्मिक विचार-धाराओं का अधिक संतुलन हो गया था। जिन धार्मिक स्मारकों का इस युग में निर्माण हुआ, उनमें पेनन्गुनान (१४३४-४२), विलिस (१४४९), मेरबबु (१४३८) और १४४९ तथा लेवु (१४३७-१४५७) के अवशेष उल्लेखनीय हैं।[५१] अन्तिम शासकों में राजसवर्द्धन, (१४५१-१४५३), पूर्वविशेष (१४५६-१४६६) तथा सिंहविक्रमवर्द्धन (१४६६-१४७८) का नाम 'पररतों' में मिलता है। पर न तो इनके विषय में और कुछ वृत्तान्त उपलब्ध है और न ठीक से वंशावली

४७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३४०।

४८. हि० जा० गे०, पृ० ४२८ से।

४९. ए० हि०, पृ० ४०३। मिंगवंश के इतिहास के अनुसार जावा के शासक ने १४१५ ई० में येग-वि-सि-स-नाम धारण किया, और एक स्रोत के अनुसार वह १४३६ तक शासन करता रहा। इस नवीन नाम की समानता ह्यंग विशेष से की जा सकती है जो विक्रमवर्द्धन का दूसरा नाम था। (टूंग पाओ १९३४, पृ० ३०१-२) मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ३४१-२।

५०. बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), नं० २०७, पृ० ८०-८१।

५१. सिडो, ए० हि०, पृ० ४०३। क्रोम, हि० जा० कु० २, पृ० ३२५।

का ही पता चलता है। १४७३ और १४७६ ई० के दो लेखों में सुरप्रभाव और रणविजय का नाम मिलता है,[५२] पर इनके विषय में अन्य ज्ञान नहीं प्राप्त है।

१४७८ ई० में मजपहित पर एक आक्रमण हुआ, पर यह पता नहीं है कि आक्रमणकारी कौन था। १४८६ ई० में गिरीन्द्रवर्द्धन वंश का शासक राज्य कर रहा था। इस्लाम जावा में बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। १५३३-१५३८ ई० के बीच में मजपहित के हिन्दू राज्य का सदा के लिए अन्त हो गया। हिन्दू संस्कृति पूर्वीय प्रान्त तथा बालि द्वीप तक ही सीमित रह गयी। बालिद्वीप हिन्दू संस्कृति का आज भी प्रतीक बना हुआ है और भारतीय साहित्य तथा धर्म को यहां सुरक्षित रखा जा सका है।

५२. प्रथम लेख में शासक का पूरा नाम 'पादुक श्री महाराज राजाधिराज प्रजैकनाथ श्रीमच्छ्री भट्टार प्रभु गर्म्भप्रसुतिनाम द्यः सुरप्रभाव श्री सिंह विक्रमवर्द्धन नाम देवाभिषेक' मिलता है। 'श्री महाराज राजाधिराज' की उपाधि से प्रतीत होता है कि जावा के अधीन अब भी कई सामन्त या शासक रहे होंगे (बु० इ० फ्रा०, ४५ (१), नं० २०९, पृ० ८०-८१)। दूसरा लेख श्री भटारप्रभु गिरीन्द्रवर्द्धन गर्म्मोपतिनाम द्यः रणविजय है। (यही नं० २१०, पृ० ८०-८१)। इस लेख से प्रतीत होता है कि उस समय गिरीन्द्र वंश का शासक राज्य कर रहा था।

अध्याय ७

शासन, संस्कृति और साहित्य

अन्य क्षेत्रों की भाँति हिन्दनेशिया में भी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ने अपनी छाप पूर्णतया डाल दी थी। भारतीय शासन-पद्धति को भी शैलेन्द्र तथा जावा के अन्य शासकों ने अपनाया, पर लेखों में तो केवल कुछ पदों का नाम ही मिलता है जिनके आधार पर शासन प्रणाली का केवल खाका ही खींचा जा सकता है। इन लेखों, साहित्य और कला के आधार पर सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। अतः इन स्रोतों के आधार पर हिन्दनेशिया के सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक अवयव को चित्रित किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में इस्लाम धर्म का प्रवेश और प्रवाह भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की शिक्षा को उखाड़ने में असफल रहा और आज भी वहां के जीवन में प्राचीन परम्परा का आभास मिलता है। बालि अभी भी हिन्दू सभ्यता और धर्म का केन्द्र है, अन्य द्वीपों में इस्लाम धर्म ही प्रधान है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्राष्ट्रीय वाङ्मय के अन्तर्गत सुदूरपूर्व में हिन्दनेशिया अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाता है। वोरोवुदूर का प्रसिद्ध स्तूप, पनन्तरन का विशाल मन्दिर तथा वहां से प्राप्त ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियां, रामायण, महाभारत तथा अन्य भारतीय साहित्य और वयांग नामक प्राचीन परम्परा पर आधारित सामूहिक नृत्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। अतः उस संस्कृति के प्रत्येक अवयव का सूक्ष्म रूप से अध्ययन आवश्यक है। इस समय धर्म को छोड़कर अन्य विषयों पर विचार किया जायगा।

शासन-प्रणाली

जावा में भारतीय शासन-सिद्धान्त का ज्ञान कामन्दक, इन्द्र लोक तथा नीति-प्रभ नामक ग्रन्थों से प्राप्त होता था।[1] इन तीनों की प्रतिलिपियां प्राचीन जावा गद्य

१. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग १, पृ० ४२९।

साहित्य में मिलती हैं। ऐरलंग के प्रसिद्ध लेख में विष्णुगुप्त (चाणक्य) के उपायों का उल्लेख है 'वैष्णुगुप्तैरुपायैः)।[२] सम्राट् ही राष्ट्र का प्रतीक था और राजकीय शासन-व्यवस्था ही प्रचलित थी तथा शासक के अनियंत्रित अधिकार थे। अन्य देशों की भाँति जावा में भी शासक को देवस्वरूप माना जाता था[३] और मृत्यूपरान्त उसकी देवताओं के रूप में मूर्तियां स्थापित की गयीं। जैसे, ऐरलंग की विष्णु की मूर्ति बनी। राज्य को विभिन्न भागों में बांटा जाता था और कभी-कभी तो राज्य को शासक के पुत्रों में बराबर विभाजित कर दिया जाता था जिससे बाद में पारस्परिक कलह न हो। मध्य जावा में पंजलु और जंगल के राज्य इसी प्रकार बने थे। शासक के अधीन सामन्त थे। चंगल के प्रसिद्ध लेख में संजय के पुत्र सन्नाह के विषय में लिखा है कि उसका विद्वानों की सभा में आदर होता था, उसे शास्त्रों का मर्म ज्ञात था। (**माननीयो बुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी**)[४] और रघु की भाँति उसने अनेक सामन्तों को जीता था (**शौर्य्यादि गुण्यो रघुरिव विजितानेकसामन्तचक्रः**)। उच्च पदाधिकारी आदेश शास्त्रेन् कहलाते थे। दिनाय के लेख[५] में वेदों के ज्ञाता पुरोहितों (**ऋत्विग्भिः वेदविद्भिः**) तथा मन्त्रिमुख्य का उल्लेख है। ऐरलंग के लेख में मंत्रियों के सम्राट् से परामर्श लेने का उल्लेख है और वे मंत्री राज्य कार्य में संलग्न रहते थे (**मंत्रालोचनतत्परैः रहस्यम्भाषितो मन्त्रिभिः**)।[६] शासन के अधिकारी रक् (रक्यान्) कहलाते थे और इस उपाधि का प्रयोग शासक के लिए भी होता था। पूर्वी जावा के लेखों में मंत्री के अतिरिक्त सेनापति तथा सेनापति सर्वजल का उल्लेख है।[७] सम्राट् की सहायता के लिए मात्रीहिनो, मंत्रीसिरिकन और मगी-डुलु होते थे और उनके नीचे रकर्यान् मपतिः, रकर्यान् देमुंग और रकर्यान् कन्डरुहन् थे, पर

२. चटर्जी और चक्रवर्ती, 'इंडिया एण्ड जावा', पृ० ७०, पद २९।

३. कृतनगर को धर्म का अवतार और जयनगर को विष्णु का अवतार माना गया है। (ज० ग्रे० इं० सो० भाग पृ० ५५, १४५)। मृत्यूपरान्त देवता के रूप में उनकी मूर्ति भी स्थापित की जाती थी।

४. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ० ३२, पद ११।

५. यही, पृ० ४०, पद ७, ८।

६. यही, पृ० ६८, पद १७।

७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ४३३।

इनके अधिकारों तथा कर्तव्यों का कहीं उल्लेख नहीं है। आगे चलकर दो और अधिकारी इसी वर्ग में बढ़ा दिये गये। गजमद का नाम पूर्वी जावा के इतिहास में विशेष स्थान रखता है और वह बड़ा शक्तिशाली था, जिसकी १३६४ में मृत्यु के वाद एक प्रधान व्यक्ति के स्थान पर चार-छः व्यक्तियों की नियुक्ति हुई। कदाचित् इसी ने 'कूटारमानव' नामक राजनीतिक ग्रन्थ लिखा।[८] धार्मिक स्थानों की रक्षा और प्रबन्ध के लिए धर्माध्यक्षों की नियुक्ति की जाती थी। शुंगवंश के इतिहास के अनुसार (९६०-१२७९) शासक का भार सम्राट् के पुत्रों के अतिरिक्त लो-कि-लिएन (रकर्यन्) पर था और उनके नीचे कोई ३०० अधिकारी थे। 'नागरकृतागम' के अनुसार सम्राट् के ही हाथ में राज्य-शासन की बागडोर थी।[९]

सामाजिक जीवन

भारतीय परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम धर्म ही समाज की पृष्ठिभूमि रहा है। हिन्दनेशिया के लेखों में भी चतुर्वर्ण का उल्लेख मिलता है।[१०] साहित्य और लेखों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का बराबर उल्लेख मिलता है। ऐरलंग के पेनंग गुंगेन लेख में श्रेष्ठ ब्राह्मणों और मूर्तियों के बीच में सम्राट् की कीर्ति का उल्लेख है (**द्विजपतिमुनिमध्ये कीर्तिमेवाहरत्सः**)।[११] भारतीय जाति आज भी बालि में पायी जाती है और यह पुरानी परम्परा का द्योतक है। जावानी साहित्य और इतिहास में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का उल्लेख है। 'तत्व निंग व्यवहार' नामक प्राचीन जावानी ग्रन्थ में जाति सम्बन्धी कुछ नियम दिये हुए हैं। वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मस्तक, बाहु, जाँघ और पैरों से हुई। इसमें विभिन्न जातियों के लिए वर्जित भोजन का भी उल्लेख है, जैसे कुत्ते, चूहे, बन्दर, सांप का मांस खाना

८. यही, पृ० ४३४।

९. यही, पृ० ४३५।

१०. यही भाग २, पृ० ४०। चतुर्वर्ण का उल्लेख पूर्वी जावा के वोअन पसर लेख ८७३ ई० (ओ० जे० ओ० भाग ९), सिडोकर लेख १३२३ ई० (ज. ग्रे० इ० सो० भाग २, पृ. १३१) तथा कृतनगर के सुमात्रा से प्राप्त पडंग-सेसो लेख में है।

११. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ० ६९, पद २७।

सु०—२८

वर्जित है।[१२] चतुर्वर्ण के व्यवसायों का उल्लेख भी किसी-किसी ग्रन्थ में मिलता है। चीनी स्रोतों के अनुसार मलयेशिया समाज में दो वर्ग के व्यक्ति थे. . . राजकीय जिन्हें उच्च स्थान प्राप्त था और साधारण। प्रथम वर्ग वाले दूसरे वर्गों से श्रेष्ठ थे और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे। चाऊ-जू-कुआ के अनुसार सम्राट् के मरने पर प्रजा शोक से अपना सिर मुंड़वा देती थी और कुछ लोग आग में कूद कर अपने प्राण देते थे।[१३] विवाह का आदर्श भी भारत की भाँति एक संस्कार की पूर्ति होना था। प्रायः विवाह एक ही जाति में होते थे, पर उच्च वर्ग वाले अपने से नीचे वर्ग की स्त्री के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे, जैसा कि आज भी बालि में है। जावा में सम्राटों का ब्राह्मण वर्ग की कन्या के साथ विवाह नहीं हो सकता था, जैसा कि कम्बुज और चम्पा में था। अन्तर्देशीय विवाह भी होते थे और जावा का मलाया तथा सुमात्रा के राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का उल्लेख हमें लेखों में मिलता है।[१४] विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा था, इसी लिए सतीप्रथा भी प्रचलित थी।[१५] साथ ही साथ विधवाओं के विवाह का भी चलन था। केन-अंग्रोक अथवा शासक राजस ने तुम्पेल के शासक तुंगूल की विधवा से विवाह कर लिया था। ऐरलंग के लेखों से पता चलता है कि श्री संग्रामविजय-धर्म प्रसादोत्तुंगदेवी का शासक के ऊपर बड़ा अधिकार था और उसे 'रकयन महामंत्रिहिनो' की पदवी प्राप्त थी।[१६] कदाचित् यह शैलेन्द्र शासक संग्रामविजय-तुंग की पत्नी थी और उसने ऐरलंग से पुनः विवाह किया था। स्त्रियों को समाज और राजनीतिक क्षेत्र में भी उचित तथा उच्च स्थान प्राप्त था। परदा प्रथा न थी। ऐरलंग के पेनंगगुंगेन लेख में सम्राट् का अपनी रानियों के साथ राजसभा में बैठने

१२. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग २, पृ० ४५। पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में 'पंच पंचनख' पशुओं के मांस खाने की अनुमति दी है। अन्य पशुओं का मांस वर्जित था (अन्योऽभक्ष्यः), देखिए (१.१.१, पृ० ५, पंक्ति १६)।

१३. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ४७।

१४. नालन्दा लेख के शैलेन्द्रवंशज वाल पुत्रदेव की मां तारा श्रीवर्मसेतु की पुत्री थी (पू० सं०)।

१५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ४४।

१६. यही।

का उल्लेख है (**भास्वद्भिर्ललनान्वित:**)।[१७] जयनगर के बाद राजपत्नी सिंहासन पर बैठी और उसकी ज्येष्ठ पुत्री ने उसके स्थान पर शासन किया। इसी प्रकार विष्णुवर्धन के बाद उसकी दुहिता सुहिता सिंहासन पर बैठी। स्त्रियों को स्वतंत्रता प्राप्त थी और वे अपना पति भी चुन सकती थीं। म्रेगे कहुरिपन ने अपना स्वयंबर किया था।[१८] अजि जयनगर ने अपनी सौतेली बहिन के साथ विवाह किया था, जिससे प्रतीत होता है कि कदाचित् यह वर्जित न था। विवाहोत्सव का भी वर्णन मिलता है। बराती तीन दिन तक वधू के घर ठहरकर, ढोल बजाते हुए वर के घर लौटते थे और कई दिनों तक उत्सव होते रहते थे। उनके पारस्परिक प्रेम का ऊंचा आदर्श था।

वेश-भूषा, अलंकार, मनोरंजन इत्यादि

कलाकृतियों तथा अन्य स्रोतों से जावा और मलाया के निवासियों की वेश-भूषा तथा अलंकारों का भी पता चलता है। 'शुंगवंश का इतिहास' के अनुसार जावा का शासक लम्बे बालों का जूड़ा बांधता था, कौशेय वस्त्र का लम्बा चोगा तथा चमड़े के जूते पहनता था।[१९] पुरुष तथा स्त्रियों के शरीर का केवल निचला भाग घुटनों तथा इससे नीचे तक ढका रहता था, जैसा कि अंकित चित्रों से प्रतीत होता है। बुद्ध की मूर्ति संघाटी अथवा उत्तरासंग से ढकी हुई दिखायी गयी है। सिर पर मुकुट अथवा मौलि रखने की भी प्रथा थी। अलंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था। करण्डमुकुट के अतिरिक्त, हार, अनन्त, कटिमेखला तथा नूपुर पहने जाते थे। चित्रों में पुरुष तथा स्त्रियों को आभूषण पहने दिखाया गया है। यहां के निवासियों का मुख्य भोजन चावल था जिसके लिए जावा प्रसिद्ध था (**आसीद्द्वीपवरं यवाख्यमतुलन्धान्या०**)।[२०] वे मदिरा का भी प्रयोग करते थे और पान भी खाते थे।[२१] आमोद-प्रमोद के साधनों की भी कमी नहीं थी। वाद्यवादन,

१७. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ० ६८, पद १८।
१८. मजुमदार, पृ० ४५।
१९. यही, पृ० ४८।
२०. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ० ३१, पद ७।
२१. मजुमदार, पृ० ५०।

नृत्य तथा मुर्गों की लड़ाई वहां के निवासियों के प्रमोद के साधन थी। वीणा, मृदंग तथा सितार और बांसुरी चित्रों में भी दिखायी गयी हैं। नृत्य करती स्त्रियों के चित्र जावानी सांस्कृतिक जीवन का आभास प्रदान करते हैं और आज भी वयांग नामक नृत्य सामूहिक रूप से उनके जीवन का अंग बन गया है। गमेलन, जिसमें बहुत-से वादन-यंत्रों का प्रयोग होता है, और वयांग प्राचीन परम्परा के स्मृतिचिन्ह हैं। 'सुई वंश का इतिहास' में भी बांसुरी, मृदंग तथा लकड़ी के वादन यंत्रों का उल्लेख है और नृत्य का भी विवरण है। सन फो-त्सि के निवासी प कुई या शतरंज खेलते थे और मुर्गों की लड़ाई पर दाव लगाते थे। इनके अतिरिक्त लोग सैर के लिए पहाड़ या नदी किनारे भी जाते थे।[22] नाटक भी खेले जाते थे और पात्र बड़े चेहरों को अपने मुख पर लगाते थे। कठपुतलियों का नाच भी मनोरंजन का साधन था।

वोरोवुदूर तथा जावा के अन्य मन्दिरों में अंकित चित्रों में गृहस्थी के भाजन, मकानों का रूप, तथा अस्त्र इत्यादि भी दिखाये गये हैं। ऊंचे प्रासाद, मंडप, गवाक्ष, तोरण तथा आकार का स्वरूप चित्रों में मिलता है। वर्ष के ६ महीनों तक वर्षा होने के कारण मकानों की छत ढालू तथा निकली हुई बरसाती बनायी जाती थी। गृहस्थी के भाजनों में 'शृंगर' या पानी रखने का घड़ा, थाली तथा कटोरा और यतियों का कमंडलु विशेषतया उल्लेखनीय है। पूर्ण कलश कई चित्रों में दिखाया गया है।

आर्थिक व्यवस्था

मलाया से प्राप्त महानाविक बुद्धगुप्त के लेख[23] से पता चलता है कि मलाया तथा हिन्दनेशिया सदा से ही व्यापार के केन्द्र रहे हैं। फाहियान ही समुद्री मार्ग से व्यापारियों के बड़े जहाज में भारत आया था और उसी प्रकार वह यहां से वापस भी गया। समुद्र यात्रा की असुविधाएं व्यापारियों के उत्साह को न तोड़ सकीं। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी अपनी तथा ३० अन्य चीनी यात्रियों की भारतयात्रा का उल्लेख किया है। पारसी व्यापारियों के जहाज में बीस दिन की यात्रा के बाद वह श्रीविजय पहुँचा था और वहां से वह राजकीय जहाज में मलयु (जाम्बी) तथा

२२. यही तथा पृ० ५३।
२३. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ० ७।

कच (केडा) होता हुआ पूर्वी भारत के बन्दरगाह ताम्रलिप्ति पहुंचा।[२४] श्रीविजय व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। व्यापार और सामुद्रिक मार्ग का उल्लेख किअ तन (७८५-८०५ ई०) के वृत्तान्त में भी मिलता है। मलाया में भी कलह प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। अरब लेखकों ने भी इन व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख किया है। जावग के महाराज के अधिकृत क्षेत्रों में कलह का नगर व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था जहां अरब और चीन से व्यापारी जाते थे। चाऊ-जू-कुआ ने अपने वृत्तान्त में व्यापारिक पदार्थों का भी उल्लेख किया है. . .इनमें घोंघे, कपूर, अगुरु, इलायची, मसाले, मोती, हाथीदांत, बिल्लौर, अम्बर, मूंगा, गुलाबजल, कपड़ा इत्यादि रहता था।[२५] इन स्थानीय पदार्थों के बदले में व्यापारी सोना, चांदी, लोहा, शक्कर, रेशम इत्यादि देते थे। किसी नियमित मुद्रा का चलन न था, चांदी के टुकड़े काट कर दे दिये जाते थे। सन-फो-त्सि के व्यापार का उल्लेख ताओ-चि-लिओ ने भी किया है, पर उसके समय में इस का व्यापारिक गौरव कम हो गया था।[२६] व्यापारिक दृष्टिकोण से समुद्र नामक एक छोटा राज्य महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहां पर सोना, चांदी और रेशम बहुतायत से होता था और यहां के कारीगर भी कुशल थे। १७वीं शताब्दी तक इसकी महत्ता रही। यहां केवल चावल की उपज होती थी, पर गेहूं या जो नहीं पैदा होता था। मिर्च, गन्धक के अतिरिक्त यहां रेशम के कीड़े भी पाले जाते थे। ति-न-र अथवा दिनार नामक मुद्रा का यहां प्रयोग होता था। चीनी यात्रियों ने सुमात्रा के बहुत-से अन्य क्षेत्रों का भी उल्लेख किया है।

जावा (शो-पो) का वृत्तान्त चाऊ-जू-कुआ ने लिखा है।[२७] मुख्य रूप से यहां खेती होती थी और चावल, पटसन, गन्ना, बीन और जुआर पैदा की जाती थी। यहां सोना, चांदी, हांथी-दांत, बारहसिंगा, मोती, कपूर, कछुए की पीठ की हड्डी, चन्दन, इलायची इत्यादि भी पैदा होती थीं। रेशम के कीड़े भी पाले जाते थे। इनके बदले में व्यापारी सोना, चांदी, रेशम के पदार्थ, सिन्दूर, फिटकरी

२४. मेमायर, पृ० ५३, ५७, ६०, ६४ इत्यादि। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० २७।

२५. पिलिओ, बु० इ० फ्रा० ४, पृ० १३१ से। मजुमदार, पृ० २९।

२६. मजुमदार, पृ० ३२।

२७. यही, पृ० ३४।

तथा हरी और सफेद चीनी मिट्टी के बरतन इत्यादि देते थे। चाऊ-जू-कुआ ने मिर्च के व्यापार का विशेष रूप से उल्लेख किया है और चीनी व्यापारी इससे विशेष लाभ उठाते थे। जावा में चावल की उपज इतनी अधिक होती थी कि वह बाहर भी भेजा जाता था।[२८] जावा के तोते भी प्रसिद्ध थे जिनका उल्लेख फाई-हिसिन (१४३६ ई०) ने किया है। यहां व्यापारिक सुविधा के लिए तांबे, चांदी तथा टीन के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था जो काटकर बनाये जाते थे। लिंग-वाई-ताई-त के अनुसार (११७८ ई०) मिले हुए तांबे, चांदी, सफेद तांबा और टीन के सिक्के काटकर बनाये जाते थे। ६० सिक्कों का मूल्य एक तोले सोने के बराबर होता था। चाऊ-जु-कुआ के अनुसार इन पर फन-कुअन या व्यापार निरीक्षक की मोहर रहती थी। इस प्रकार के चांदी और तांबे के बहुत-से सिक्के जावा में मिले हैं जिनसे उपर्युक्त वृत्तान्त की पुष्टि होती है।

शिक्षा और साहित्य

जावा में भारतीय शिक्षा और साहित्य का प्रवेश ईसवा की पांचवीं शताब्दी में ही हो चुका था, जैसा कि पूर्णवर्मन् के लेखों से प्रतीत होता है जिनके रचयिताओं को भाषा तथा व्याकरण का अच्छा ज्ञान था।[२९] चंगल के लेख के संजय के विषय में लिखा है कि सन्नाह के पुत्र का पंडितों द्वारा आदर होता था और उसे ग्रन्थों का मर्म ज्ञात था (**श्रीमान् यो माननीयो बुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी**)[३०] दिनाय के लेख में अगस्त्य की मूर्ति स्थापना के सम्बन्ध में वेदों के पारंगत पुरोहितों, यति, स्थापक इत्यादि का उल्लेख मिलता है (**ऋत्विग्भिर्वेदविद्भिर्यति**)।[३१] सुमात्रा के अमोघपाश की मूर्ति पर अंकित शक सं० १२६९ के लेख में आदित्य-वर्मन् का उल्लेख है जो शास्त्रों का ज्ञाता था (शास्त्रप्रवृद्धि)[३२] चम्पा और कम्बुज के लेखों की भाँति यहां के लेखों से शिक्षा विषय, परिपाटी तथा अन्य ज्ञान सम्बन्धी

२८. यही, पृ० ३७।
२९. चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती, पृ० २३।
३०. यही, पृ० ३२, पद ११।
३१. यही, पृ० ३७, पद ६।
३२. यही, पृ० ८१, पद २।

विषयों पर प्रकाश नहीं पड़ता है। हां, प्राचीन जावानी साहित्य में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ तथा मूल रूप से इन्हीं विषयों को लेकर ग्रन्थ लिखे गये। इसीलिए कहीं-कहीं पर ये ग्रन्थ भारतीय ग्रन्थों से कुछ भिन्न हो गये, पर इनका उद्गम एक ही था। मध्य जावा के इतिहास में 'अमरमाला' नामक ग्रन्थ सर्वप्रथम लिखा गया जो अमरकोश पर आधारित था और शैलेन्द्र शासक जितेन्द्र की संरक्षकता में लिखा गया। महायान ग्रन्थ 'कमहायनिकन' भी इसी काल में लिखा गया। हिन्द-जावानी साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ 'रामायण' की रचना भी लगभग इसी काल में हुई, किन्तु इसमें अग्नि-परीक्षा के बाद राम-सीता का पुर्नमिलन होता है। सीता के त्याग की कथा नहीं है और अन्तिम दो सर्ग वाल्मीकि-रामायण से नहीं मिलते हैं। विद्वानों में इस ग्रन्थ के रचयिता के संस्कृत तथा श्रोत्र-ज्ञान के एवं तिथि के विषय में मतभेद है। महाभारत का भी अनुवाद गद्य में धर्मवंश के समय में हुआ।[३३] आदि पर्व, विराट पर्व और भीष्मपर्व निश्चयरूप से इसी सम्राट् के समय में लिखे गये, किन्तु आश्रम पर्व, मौशल पर्व, प्रास्थानिक पर्व और स्वर्गारोहण पर्व बाद के समय के हैं। उद्योग पर्व की रचना अशुद्ध संस्कृत में है और विराट पर्व धर्मवंश तथा उसके साम्राज्य के नष्ट होने से १० वर्ष पहले ९९६ ई० में लिखा गया। महाभारत की कथा के आधार पर जावा में अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये जो उच्च कोटि के हैं। इनमें अर्जुन-विवाह नामक ग्रन्थ ऐरलंग (१०१९-१०४२) की संरक्षकता में म्पुकण्व द्वारा लिखा गया। कडिरी राज्य काल में त्रिगुण द्वारा 'कृष्णायन' की रचना हुई जिसमें कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण तथा जरासन्ध के साथ युद्ध का उल्लेख है। पन्तरम के मन्दिर में इसी विषय को लेकर कई चित्र भी अंकित हैं। दूसरा ग्रन्थ 'सुमनसान्तक' दशरथ के पिता अज की रानी इन्दुमती की पुष्प द्वारा मृत्यु पर आधारित है जिसका उल्लेख कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में किया है। इस ग्रन्थ की रचना म्पु मोनगुण ने की थी और इसमें श्री वर्षजय का उल्लेख है। क्रोम के मतानुसार इन दोनों ग्रन्थों की रचना १२वीं शताब्दी में हुई थी।[३४]

३३. जावा में 'रामायण' और 'महाभारत' के सम्बन्ध में डा० चटर्जी के दो लेख उनके 'भारत एण्ड जावा' ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। पृ० २९ से रामायण सम्बन्धी लेख स्टूटरहाइम के लेख पर आधारित है।

३४. शिक्षा सम्बन्धी वृत्तान्त डा० मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' भाग २, अध्याय

महाभारत के उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्वों पर आधारित भारत-युद्ध[३५] नामक ग्रन्थ की रचना जयमय (११३५-११५७ ई०) के समय में हुई थी। इसका लेखक म्पु सेदह था। इस ग्रन्थ में बहुत-सी स्थानीय कथाओं का मिश्रण भी है और इसको म्मु पनुलुह ने किया था। इसी लेखक ने हरिवंश तथा घटोत्कचाश्रय भी उसी समय लिखा। प्रथम ग्रन्थ में रुक्मिणीहरण और जरासन्ध-युद्ध का उल्लेख है और दूसरे में क्षितिसुन्दरी के लिए घटोत्कच की सहायता से अभिमन्यु द्वारा लक्ष्मणकुमार के साथ युद्ध करने का उल्लेख है। इसी कथा पर आधारित वयांग नृत्य की कई कथाएं भी प्रचलित हैं।

कामेश्वर द्वितीय (११८५ ई०) के समय 'स्मरदहन' की रचना हुई, जिसका आधार कालिदास का 'कुमारसम्भव' था। रामायण के रचयिता योगीश्वर के कदाचित् धर्मत्र और तनकुंग नामक दो पुत्र थे, जिनमें से प्रथम 'लुब्धक' और 'व्रतसंचय' नामक पद्य काव्यों का रचयिता था। प्रथम ग्रन्थ शिवरात्रि पर आधारित है और दूसरा संस्कृत छन्दःशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। कामेश्वर द्वितीय के समय में 'मोमकाव्य' की भी रचना हुई। इसमें पृथ्वीपुत्र[३६] मोच अथवा नरक द्वारा इन्द्र तथा अन्य देवताओं की पराजय और अन्त में कृष्ण के हाथ से उसकी मृत्यु का उल्लेख है। १३वीं शताब्दी के ग्रन्थों में 'ककविन कृष्णान्तक' भी है जिसमें कृष्णवंश के अन्त की कथा है।

१४वीं शताब्दी में मजपहित राज्य का उदीयमान युग था और इसमें प्रपंच द्वारा 'नागरकृतागम' की रचना १३६५ ई० में हुई। यह मजपहित शासक हयम वुरुक की जीवनघटनाओं पर आधारित है। प्रपंच ने अपने समकालीनों में बौद्ध लेखक म्पुतन्वुलर का भी उल्लेख किया है। इसने 'अर्जुन सहस्रबाहु' तथा 'सुतसोम'

४ पर आधारित है। इसलिए संकेतचिह्नों का देना आवश्यक नहीं है। पुष्टि के लिए सिडो के 'एंटे हिन्दुआ' का आश्रय लिया गया है। इस सम्बन्ध में हिमांशु भूषण सरकार का ग्रन्थ 'इंडियन इन्फ्लूएंस आन दि लिट्रेचर आफ जावा' विशेषतया उल्लेखनीय है।

३५. ए० हि०, पृ० २८४।

३६. सिडो के मतानुसार इसकी रचना कामेश्वर प्रथम (१११५-११३० ई०) के समय में हुई। ए० हि०, पृ० २८३।

अथवा 'पुरुषादशन्त' काव्यों की रचना की। दूसरे काव्य में सुतसोम और पुरुषाद राक्षस के बीच युद्ध का उल्लेख है और शैव तथा बौद्ध[३७] धर्मों के बीच कुछ भी अन्तर नहीं रखा गया है। उपर्युक्त काव्य प्रायः भारतीय विषयों को लेकर लिखे गये। इनके अतिरिक्त और काव्य जिनकी तिथि नहीं निर्धारित की जा सकती है, निम्नलिखित थे—'इन्द्रविजय' जिसमें वृत्र की विजय तथा मृत्यु और नहुष का थोड़े समय के लिए इन्द्र होना वर्णित है, 'पार्थयज्ञ' जिसमें अर्जुन के तप द्वारा शिव से अस्त्र प्राप्त करने का उल्लेख है, विघ्नोत्सव, व्रतश्रय, हरिविजय, जिसमें मन्दर पर्वत की मथानी से समुद्र मन्थन का विवरण है, 'कालयवनान्तक' जिसमें कंस के वध का बदला लेने के लिए कालयवन का द्वारका पर आक्रमण, मुचुकुन्द द्वारा उसका भस्म होना और अर्जुन द्वारा सुभद्रा के हरण की कथा है तथा राम-विजय, रत्नविजय, पार्थविजय इत्यादि काव्य ग्रन्थ हैं।[३८]

इन पौराणिक तथा धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'धर्मशून्य' 'धर्मसंवित', 'चण्ड-किरन', 'व्रतसंचय' तथा 'वृत्तायन' और 'नीतिशास्त्र'—कविनपहित काल की रचनाएं हैं। नीतिशास्त्र कविन् में नीतिसार, पंचतंत्र, चाणक्यशतक इत्यादि के श्लोकों का संकलन है। अनुशासनपर्व पर आधारित 'सर्वसमुच्चय' में धर्मा-नुशासनों का संग्रह है। बालि के ग्रन्थ 'नवरुचि' में भीम के पराक्रम की कथाओं का उल्लेख हैं। पुराणों में 'ब्रह्माण्ड पुराण' सबसे प्रमुख है और भारतीय ग्रन्थ की भाँति है। अगस्त्यपर्व में ऋषि द्वारा अपने पुत्र दृद्दस्य को संसार की रचना का वृत्तान्त सुनाया गया है।[३९]

मध्य जावा का साहित्य भी विस्तृत है, वहाँ इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थ गद्य तथा पद्य में लिखे गये। पद्यों में किडुंग नामक छंद का प्रयोग किया गया। ऐतिहासिक ग्रन्थों में 'पररतों' सबसे प्रसिद्ध है जिसमें जावा के सिंहसारि और मजपहित कालों का इतिहास दिया गया है। इसकी रचना १६१३ ई० में हुई। 'उसनजव' नामक ग्रन्थ में बालि के इतिहास से सम्बन्धित किंवदन्तियां हैं। पद्य रचनाओं में 'पंजि' से सम्बन्धित बहुत-सी रचनाएं हैं। 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र'

३७. ए० हि०, पृ० ३०२।
३८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० ७२ से।
३९. यही।

पर आधारित बहुत-सी कथाएं भी जावा के सेत्रि साहित्य में मिलती हैं। इस प्रकार का साहित्य जावा के अतिरिक्त बालि, स्याम और लाओस की भाषाओं में भी है। किडुंग छन्द वाले 'संग सत्यवान' में सावित्री के जीवन की प्रसिद्ध घटना का विवरण है।

धार्मिक जावानी साहित्य के अन्तर्गत भारत से आयी मूल रचनाओं, उनके अनुवाद तथा स्वतंत्र रूप से जावानी धार्मिक ग्रन्थों को रखा जा सकता है। चतुर्वेद से 'नारायणाथर्वशीर्षोपनिषद' का संकेत है जो बालि में प्रचलित है। 'वेद परिक्रम सार संहिता किरण' में दैनिक उपासना सम्बन्धी मंत्रों का संकलन है। 'स्तोत्रों' में शिव, विष्णु, बुद्ध, सूर्य, वायु, वरुण तथा यम की प्रार्थना की गयी है। बुद्धवेद में बुद्ध के याचना-सम्बन्धी मंत्र हैं। आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए बहुत-से मंत्रों का संकलन भी किया गया है।

मूल धार्मिक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद में 'भुवनकोश', 'भुवन-संक्षेप', 'तत्त्व-संग', 'हयंज महाज्ञान' एक दार्शनिक ग्रन्थ, 'बृहस्पति तत्त्व' जिसमें बहुत-से धर्मों का उल्लेख है, इत्यादि हैं। ये ग्रन्थ मूल संस्कृत से अनुवाद किये हुए हैं। स्वतंत्र रूप से लिखित जावानी ग्रन्थों में सप्तभुवन, ऋषिशासन, देवशासन हैं।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि जावा का प्राचीन साहित्य भारतीय ग्रन्थों के मूल रूप, उनके अनुवाद तथा स्वतंत्र रचनाओं से ओतप्रोत है। यह साहित्य धार्मिक, लौकिक, न्याय तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित है। मलाया में मुसलमान काल से पहले की रचनाओं का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, पर बाद के समय में भी भारतीय साहित्य पर आधारित रचनाएं हुईं, जिनमें महाभारत तथा रामायण की कथाएं ली गयी हैं।

जावा तथा मलाया के प्राचीन शासन, संस्कृति तथा शैक्षिक क्षेत्रों में भारतीय अंशदान पूर्णरूप से मिला और इसकी छाप हिन्दुओं के राज्यकाल तक ही सीमित न रही। इस्लामी व्यापारियों ने देश को अपने धर्म में रंगा, पर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को वें यहां के निवासियों के जीवन से अलग करने में सफल न हुए। यह परम्परा धार्मिक क्षेत्र में भी कायम रही, जिसका उल्लेख विस्तृत रूप से अगले अध्याय में किया जायगा।

अध्याय ८

धार्मिक जीवन

सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति के प्रवाह में धर्म ने पूर्ण रूप से अपना योगदान दिया। ब्राह्मण धर्म जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तक ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में फैल चुका था और इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। फाहियान के समय में ब्राह्मण धर्म ही प्रधान था और बौद्ध धर्म बहुत गौण था। सातवीं शताब्दी के बाद के युग में भी ब्राह्मण धर्म ही प्रधान रहा जिसका मुख्य अंग शैव मत था। पर बौद्ध धर्म ने भी उन्नति की, यह स्पर्द्धालु रूप में नहीं रहा, बुद्ध को भी शैव मत में स्थान दिया गया। इस समय में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता की भावना ने दोनों ही मतों को पूर्णतया विकसित होने का अवकाश दिया और वे दोनों एक दूसरे के निकट होते गये। बंगाल से महायान मत ने प्रवेश किया, जैसा कि केलुरक के लेख से पता चलता है, जिसमें कुमार घोष द्वारा मञ्जुश्री की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है।[1] यह राजगुरु गौड़ निवासी था और इसने वहां के शैलेन्द्र शासक का आतिथ्य स्वीकार किया था। जावा का प्रसिद्ध वोरोवुदूर मंदिर बौद्ध धर्म का प्रतीक है। मन्दिरों के फलकों पर खुदे, धार्मिक और पौराणिक कथाओं से उद्धृत चित्र, ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां और साहित्य भारतीय धर्मों—ब्राह्मण तथा बौद्ध--के हिन्दनेशिया और मलाया में पूर्णतया विकसित होने का प्रमाण हैं। इस अध्याय में वहां के ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के विभिन्न अंगों के परिचय देने का प्रयास किया जायगा।

ब्राह्मण धर्म

ब्राह्मण धर्म के वैदिक स्वरूप का, जिसके अन्तर्गत यज्ञ और यूपों की स्थापना

१. गौड द्वीप-गुरु-क्रमाम्बुज-रजः. . .कुमारघोषः स्थापितवान् मन्जुघोषे इमम्। वेलुर लेख, पद ५. . .११।

बोर्नियो में की गयी, उल्लेख पहले ही हो चुका है। आठवीं शताब्दी से पौराणिक ब्राह्मण विचारधारा जावा तथा अन्य द्वीपों में प्रवाहित होने लगी। सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा, रक्षक विष्णु और नाशक शिव व्यक्ति रूप से तथा सामूहिक रूप से पूजे जाने लगे और इनके साथ में अन्य छोटे देवी-देवताओं को भी मान्यता प्राप्त हुई। शैव मत ही ब्राह्मण धर्म का प्रधान अंग रहा और शिव की लिंग तथा पार्थिव रूप में बहुत-सी मूर्तियां भी बनीं, जिनका विस्तृत रूप से उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा। लेखों से प्राप्त सामग्री के आधार पर चंगल के लेखानुसार[२] श्री संजय द्वारा शिव-लिंग की स्थापना एक पहाड़ी पर की गयी थी। शिव की उपासना विस्तृत रूप से की जाती थी। कवि गंगावतरण से भी परिचित था, जैसा कि लेख से प्रतीत होता है। लेख में ब्रह्मा की भी आराधना कही गयी है और उन्हें धर्म, अर्थ और काम का स्रोत माना गया है। विष्णु की स्तुति शेष-नाग की शय्या पर लेटे लक्ष्मीसहित स्वरूप में की गयी है। शिव को प्रधान स्थान दिया गया है और यही भावना हिन्दनेशिया में शताब्दियों बाद तक जागृत रही, जैसा कि ऐरलंग के लेख से भी प्रतीत होता है, जिसमें शैव (माहेश्वर), सौगत (बौद्ध) और ऋषि (महा-ब्राह्मण, ब्रह्मा से सम्बन्धित) सम्प्रदायों का उल्लेख है।[३] 'अमरमाला', 'अमरकोश' पर आधारित ग्रन्थामें भी शिव को गुरु और ईश्वर कहकर सम्बोधित किया गया है और इसकी पुष्टि चंडि लोरो जोग्रंग के मन्दिरों से भी होती है, जिनमें प्रधान मन्दिर शिव का है और दोनों ओर विष्णु एवं ब्रह्मा तथा सामने नन्दी का मन्दिर है। चंगल के लेख में शिव को संसार का नाशक माना है, किन्तु उनके करुण और कोमल स्वरूप से भी, जिसमें वे प्रसन्न होकर भक्त को वरदान देते हैं, जावानी अपरिचित न थे। महादेव और महाकाल के नामों से उनकी उपासना की जाती थी। महादेव की मूर्तियों में प्रायः स्वतंत्र रूप से एक मुखवाली भी मिली जिसमें माथे पर त्रिनेत्र, मौलि में चन्द्र और कपाल तथा उपवीत के स्थान पर सर्प और चार हाथ दिखाये गये हैं, जिनमें पुस्तक, कमल, कमंडलु और त्रिशूल हैं। दो हाथों वाली मूर्तियों में चामर और अक्षमाला है।[४] गेमरुह से प्राप्त शिव-पार्वती की मूर्ति दक्षिण

२. वी० जी० ७, पृ० ११५। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग २, पृ० १००।
३. यही, पृ० १०१।
४. केम्पर, 'अर्ली इंडोनेशियन आर्ट', नं० १५७।

भारत की काँसे की मूर्तियों से मिलती-जुलती है। भैरव या महाकाल रूप में शिव की मूर्ति भी जावा में मिली है और इसमें उनके मुख पर रौद्र भाव प्रदर्शित है। इसका सबसे सुन्दर प्रतीक सिंगसारि के निकट एक मन्दिर की मूर्ति है।[५] लेख में इस देवता का नाम चक्र दिया हुआ है। देवता कुत्ते पर बैठे हैं और नग्नावस्था में हैं। उनके हाथों में खंड, कपाल, त्रिशूल और डमरू हैं। मौलि में कपाल बँधे हुए हैं तथा वे रुंड-मुंड की माला पहने हुए हैं।

शान्त तथा सौम्य स्वरूप में शिव के अन्य रूप महादेव और भैरव की शक्तियों की मूर्तियां भी जावा में मिलीं, जिनसे ज्ञात होता है कि वहां के निवासी इनसे अनभिज्ञ न थे। महादेव की शक्ति देवी, महादेवी, पार्वती अथवा उमा नाम से प्रसिद्ध थी। इन शक्तियों में महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति विशेषतथा उल्लेखनीय है, जो ६, ८, १० अथवा १२ हाथ वाली दिखायी गयी है और बैल के रूप वाले असुर को मार रही है।[६] महाकाली के रूप में भैरव की शक्ति भैरवी मृतक के शरीर पर बैठी दिखायी गयी हैं और मनुष्य के कपाल ही उनका शृंगार हेतु अलंकरण हैं। उनके एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे में रक्त रखने के लिए पात्र है। इन दोनों के अतिरिक्त अर्द्धनारीश्वर के रूप में भी शिव और दुर्गा की संयुक्त मूर्तियां मिली हैं। दाहिना भाग शिव का है और वायाँ दुर्गा का है।

शिव और पार्वती तथा दुर्गा के अतिरिक्त उनके पुत्र गणेश और कार्तिकेय को भी जावा में देवत्व-स्थान प्राप्त हुआ और उनकी मूर्तियां मिली हैं। गजमुखी गणेश को विघ्ननाशक के रूप में जावा में पूजा जाता था और प्रतिमा-लक्षण के अनुसार उनके चार हाथ हैं। चंडी वनोन के गणेश की मूर्ति सबसे सुन्दर है।[७] रणदेवता कार्तिकेय की मूर्ति भी जावा में मिली और वह मोर पर सवार हैं।[८]

जावा में लिंग रूप में भी शिव की उपासना की जाती थी। स्टुटरहाइम के मतानुसार इसका पूर्वजों की उपासना से सम्बन्ध रहा है, जो भारतीयों के आगमन

५. यही, नं० १४२।
६. हलाड, आर्टस् डु एशिया आंसिएन, भाग २, चित्र नं० २०९।
७. केम्पर, चित्र नं० ३९।
८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग २, पृ० १०३।

से पहले भी जावा में प्रचलित थी,[९] पर वास्तव में लिंग-स्थापना का सम्बन्ध शैव मत से ही हो सकता है और इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त शिव की उपासना भट्टारगुरु के रूप में भी की जाती थी जिसका सम्बन्ध अगस्त्य ऋषि से था। चंडी-सारि से प्राप्त अगस्त्य की मूर्ति[१०] इसी भावना का सबसे बड़ा प्रतीक है।

शिव के अतिरिक्त विष्णु और ब्रह्मा की भी उपासना यहां की जाती थी, जैसा कि यहां से प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है। विष्णु का स्थान शिव के बाद था और उनकी चतुर्बाहु की मूर्ति शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए मिली है। उनकी शक्ति श्री या लक्ष्मी भी कमल, चमर, माला लिये दिखायी गयी है। 'अनन्त-शयन' अवस्था में भी विष्णु को शेषनाग की शय्या पर लेटे दिखाया गया है, जिसका विवरण चंगल-लेख में मिलता है। कृष्ण, राम, मत्स्य, वराह और नृसिंहावतार रूप में उनकी मूर्तियां बनायी गयीं, जिससे प्रतीत होता है कि जावानिवासियों को पौराणिक कथाओं के आधार पर उनके विभिन्न अवतारों का ज्ञान था। सम्राट् ऐरलंग की वराहावतार के रूप में मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है।[११] विष्णु की मूर्ति के साथ-साथ दो अन्य छोटी मूर्तियां भी हैं जो लक्ष्मी तथा सत्यभामा प्रतीत होती हैं।[१२] यद्यपि वैष्णव मत और इसको माननेवालों की जावा में कमी नहीं थी, पर शैव मत, उसके देवताओं और अनुयायियों के जैसा इसका प्रसार न था। जिस विचारधारा के अन्तर्गत शिव और बुद्ध को एक दूसरे के निकट लाया गया, जिसमें शिव की ही प्रधानता रही, उसी के अनुसार विष्णु का भी स्थान शिव के बाद ही रहा। साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में शिव की ही प्रधानता रही।

ब्रह्मा की उपासना की जाती थी। चतुरानन के रूप में हंस पर आरूढ़, माला, चमर, कमल और कमंडलु लिये उनकी कई मूर्तियां मिली हैं।[१३] उनकी शक्ति सरस्वती भी मोर पर बैठी हुई दिखायी गयी हैं। व्यक्तिगत मूर्तियों के अतिरिक्त

९. टी० वी० जी० ६४ (१९२०), पृ० २१७ से। मजुमदार, यही।
१०. केम्पर, नं० २३८।
११. यही, नं० २०२।
१२. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', (२), पृ० १०४।
१३. हलाड, नं० २४७।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश की संयुक्त त्रिमूर्ति भी जावा में मिली। बीच में शिव का मुख है और अन्य दो ओर ब्रह्मा और विष्णु हैं। इनके अतिरिक्त जावा में अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं का भी ज्ञान था जिनकी मूर्तियां मिली हैं। जैसे यम, वरुण, अग्नि, इन्द्र, कुबेर और सूर्य को उसी अवस्था में दिखाया गया है, जैसे कि भारतीय ब्राह्मण और बौद्ध कला में निकली हुई तोंद तथा धन के थैले के साथ उनको चित्रित किया गया है।[१४] उनकी स्त्री हारीती से भी जावानी अनभिज्ञ न थे। सात घोड़ों द्वारा खींचे हुए रथ पर सूर्य तथा ध्वज लिये हुए चन्द्र और मकर-आरूढ, धनुप-बाण लिये कामदेव की मूर्तियां भी जावानी कलाकारों ने धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत बनायीं। मूर्तियां पत्थर या कांसे की बनी, पर उनके निर्माण में वह धार्मिक प्रेरणा थी जिसने साहित्यिक क्षेत्र में भी अपना अंशदान दिया। धार्मिक साहित्य में पुराणों की भाँति 'तन्तु' नामक साहित्य है जिसमें देवी-देवताओं का नाम, उनसे सम्बन्धित कथाएं तथा विश्व-भूगोल इत्यादि का उल्लेख है। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार से भारतीय पौराणिक विचारधारा ने जावा में प्रवेश कर अपना स्थान बना लिया था।

अन्य द्वीपों में ब्राह्मणधर्म

जावा के अतिरिक्त सुमात्रा, बालि तथा मलाया प्रायद्वीप में भी हिन्दू धर्म ने अपना स्थान बना लिया था। इसका प्रमाण वहां से प्राप्त ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां तथा बालि में हिन्दू संस्कारों का आज भी प्रचलन है। सुमात्रा के श्रीविजय क्षेत्र में बौद्धधर्म के प्रवेश से पहले ब्राह्मण धर्म का ही मुख्य स्थान था, जैसा कि चीनी यात्री इत्सिंग का कथन है। पलमवंग-जाम्बी क्षेत्र से शिव, गणेश, नन्दी, ब्रह्मा अथवा त्रिमूर्ति की पत्थर की मूर्तियां तथा गणेश और कुबेर की कांसे की मूर्तियां मिलीं।[१५] इनके अतिरिक्त सुमात्रा के कई अन्य स्थानों में भी कहीं-कहीं कुछ ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं। मलाया के पाया क्षेत्र तथा नखोन श्री थमरट में ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं।

१४. मजुमदार, पू० सं०, पृ० १०५। कुबेर की मूर्ति के लिए देखिए—हलाड चित्र नं० २४३। विस्तृत रूप से इन ब्राह्मण मूर्तियों का उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा।

१५. मजुमदार, पू० सं०, पृ० १४५।

लाजांकिए के मतानुसार बंडो की खाड़ी के उत्तर में एक मन्दिर के अवशेष मिले जिसकी मुख्य देवमूर्ति शिव अथवा विष्णु की रही होगी, जैसा कि वहां के अलंकृत दृश्यों से प्रतीत होता है। वहां पर १२-१३वीं शताब्दी की दो बुद्धमूर्तियां मिलीं और ५० मील दक्षिण में विष्णु की मूर्ति मिली।[१६] नखोन श्री थमरट में भी कई ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं जिनमें नटराज शिव की मूर्ति सबसे सुन्दर है। बोर्नियो में भी ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं जिनमें नन्दी, गणेश, लिंग, दुर्गा की मूर्तियां प्रमुख हैं। सेलिवीज में शिव की एक सोने की मूर्ति मिली और वहां ब्राह्मण धर्म का प्रवेश पूर्णतया प्रमाणित होता है।[१७] बालि तो अब तक हिन्दू धर्म और संस्कृति का सुदूरपूर्व में गढ़ है, जिस पर जावानी प्रभाव मजपहित साम्राज्य के पतन के वाद जावानी शरणार्थियों ने जाकर डाला।

बौद्ध धर्म

ईसा की सातवीं शताब्दी तक सुदूरपूर्व में बौद्ध धर्म ने पूर्ण रूप से अपना स्थान वना लिया था। गुणवर्मन् की कथा से ज्ञात होता है कि पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म ने जावा में प्रवेश कर लिया था। वह मूल सर्वास्तिवादी था और उसने धर्मगुप्त सम्प्रदाय सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का अनुवाद किया था।[१८] चीनी यात्री इत्सिंग के वृत्तान्त का उल्लेख पहले ही हो चुका है। उसके मतानुसार बौद्ध धर्म हिन्दनेशिया के द्वीपों में दूर दूर तक फैल चुका था और १० से अधिक देशों में मूलसर्वास्तिवाद मत मान्य था, पर कहीं कहीं पर महायान मत के अनुयायी भी थे।[१९] इनमें से श्रीविजय भी एक स्थान था। आठवीं शताब्दी से बौद्ध धार्मिक क्षेत्र में महायान मत की प्रधानता हो गयी और यह मलाया के अतिरिक्त सुमात्रा और जावा में भी बड़े वेग से प्रसारित हुआ, जिसमें शैलेन्द्र शासकों का बड़ा हाथ था। इसके अन्तर्गत जावा के प्रसिद्ध वोरोबुदूर विहार का निर्माण हुआ तथा पूर्वी जावा में चंडी-जगो तथा अन्य बौद्ध मन्दिर बने। जावा-सुमात्रा को बौद्ध धर्म के कारण

१६. बु० इ० फ्रा० ३१, पृ० ३७३ से।
१७. मजुमदार, पू० सं०, पृ० १५२।
१८. जू० ए २-८ (१९१६), पृ० ४६, मजुमदार, पृ० १४१।
१९. तककुसु, पृ० ६१।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त हुई। कोर्ची से ईसा की ७वीं शताब्दी में धर्मपाल गया था[२०] और ११वीं शताब्दी में अतिश दीपंकर नामक बौद्ध विद्वान् सुवर्ण-द्वीप गया।[२१] केलुरक के लेख में कुमार घोष नामक बौद्ध विद्वान् के जावा जाने का उल्लेख है। उसने मंजुश्री की मूर्ति का अभिषेक किया था। बौद्ध-ब्राह्मण मत के सम्मिश्रण का उल्लेख आगे किया जायगा। बौद्ध साहित्य और कला के आधार पर बौद्ध धर्म के प्रसरण और इसके मुख्य अंगों पर भी पूर्णतया विचार हो सकेगा। आदि बुद्ध, प्रज्ञापारमिता, ध्यानी बुद्ध, मानुषी बुद्ध, बोधिसत्व और तारा की प्रतिमाएं और उनके नामकरण जावा में भी मिलते हैं। बोधिसत्वों में मैत्रेय तथा मंजुश्री की प्रतिमाएं अधिकतर मिली हैं।[२२]

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त महायान मत के अन्तिम अस्तित्व का प्रतिबिम्ब भी जावा में मिलता है, जिसके अन्तर्गत हिन्दू देवताओं को बौद्ध मत में स्थान मिला, छोटे-छोटे बहुत-से नये देवताओं का प्रवेश हुआ और इस मत में तंत्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने महायान और ब्राह्मण मत के बीच की खाई को बिल्कुल पाट दिया। प्रथम दो भावनाओं को लेकर ब्रह्मा, शिव, गणेश और इन्द्र को स्थान दिया गया। नवीन देवताओं में त्रैलोक्यविजय, हेवज्र, भृकुटी, हेरुक, माराची, हयग्रीव तथा कुबेर थे। इनमें से कुछ का रूप व्याघ्र जैसा और डरावना है, यथा हयग्रीव और हेरुक का।[२३] इस प्रकार के देवताओं का प्रवेश जावा में तंत्रवाद के गिरे हुए स्तर का सूचक है जो ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म में प्रवेश कर चुका था। इसके अन्तर्गत पंचतत्व या पंच-मकारों—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन-पूजा तथा चक्र का पालन करना आवश्यक था। कर्न के मतानुसार[२४] ब्राह्मण तंत्रवाद का ध्येय धन, सांसारिक सुख तथा मुक्ति प्राप्त करना था, जो शिव की शक्ति दुर्गा की उपासना तथा महायान मत की प्रज्ञा की मंत्रणा, समाधि इत्यादि से हो सकता था। जावा

२०. कर्न, मैनुअल आफ बुद्धिज्म, पृ० १३०।

२१. मजुमदार, पू० सं०, पृ० ११७।

२२. बौद्ध मूर्तियों का विस्तृत रूप से उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा।

२३. पू० सं०, पृ० १२०।

२४. पू० सं०, पृ० १३३।

और सुमात्रा में काल-चक्र नामक तंत्र भी प्रचलित था, जिसका सम्बन्ध कृतनगर मत से था।[२५] तारानाथ के मतानुसार पूर्वी भारत में पाल-काल में तंत्रवाद फैला और वहीं से यह सुदूर पूर्व में भी गया।[२६] कला और साहित्य ने भी इसके प्रसरण में पूर्ण रूप से योगदान दिया। बौद्ध ग्रन्थ 'संग ह्यंग कमहायानिकन' में तंत्रवाद के सिद्धान्त और क्रियाओं का उल्लेख है और इसकी रचना शैलेन्द्र काल में हुई थी तथा संशोधन सम्भरसूर्यावरण ने सिंडोक के समय में किया था।[२७] इसी लेखक ने 'सुभूतितंत्र' की भी रचना की, जिसका कृतनगर मुख्य रूप से अध्ययन करता था। ११वीं और १२वीं शताब्दी में ऐरलंग और जयभय के समय में तंत्रवादियों ने जावा के धार्मिक क्षेत्र में प्रमुख भाग लिया। १३वीं शताब्दी में इसके दो प्रमुख शासक अनुयायी थे—जावा के कृतनगर और सुमात्रा के आदित्यवर्मन्। कृतनगर के विषय में कहा जाता है कि वह 'पंच-मकार' और 'साधन चक्र' क्रियाएं करता था और मृत्यु के उपरान्त उसे भैरव की मूर्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया, जो इस समय लाइडेन के संग्रहालय में है। इसमें शासक को बीभत्स रूप में दिखाया गया है। सुमात्रा का आदित्यवर्मन् भी भैरव मत का अनुयायी था और कापालिक क्रियाएँ किया करता था।

संयुक्त मूर्तियाँ

तंत्रयान के अतिरिक्त, महायान मत में हिन्दू और बौद्ध देवताओं को एक रूप में संतुलित करने की भावना ने भी जोर पकड़ा। जिस प्रकार से शिव-विष्णु की हरिहर के नाम से संयुक्त मूर्ति बनायी गयी और इन दोनों देवताओं का एकीकरण किया गया, उसी प्रकार से शिव और बुद्ध को भी एक दूसरे के अति निकट लाने की भावना ने जोर पकड़ा। उनके साथ विष्णु को भी रखा गया। तंत्रवादी कृतनगर अपने को नरसिंह-मूर्ति भी कहता था और मरने के बाद उसकी शिव-बुद्ध के संतुलित रूप में मूर्ति बनी। उसके पिता विष्णुवर्द्धन की भी शिव और

२५. सिडो, ए० हि०, पृ० ३३३।
२६. देखिए, बी० आर० चटर्जी, माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३०, पृ० १४६ से
२७. मजुमदार, पू० सं०, पृ० १२२ से।

बुद्ध की प्रतिमाएं बनीं।[२८] कृतराजस की हरिहर की मूर्ति बनी।[२९] इन ब्राह्मण देवताओं को बौद्ध धर्म में स्थान ही नहीं दिया गया, वरन् बुद्ध के साथ इनकी संतुलित मूर्तियां भी बनीं। तंत्रवादी साहित्य में तीनों देवताओं को भैरव के रूप में माना गया है। 'तारतंत्र' के अनुसार जनार्दन बुद्ध के रूप में देव हैं और वही कालभैरव कहलाते हैं। भैरव की मूर्तियां भी जावा और सुमात्रा में मिलीं और इनमें इन तीनों देवताओं का सम्मिश्रण माना गया है। कला के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में भी यही भावना मिलती है। 'संग हंग कम हायानन मन्त्रनय' और 'संग ह्यंग कम हायानिकन' नामक दो महायान ग्रन्थों में सबसे पहले यह भावना मिलती है। इन बौद्ध ग्रन्थों को शैव स्वरूप दिया गया। मन्त्रनय अथवा मन्त्रयान बौद्ध धर्म के योगसिद्धान्त-गुह्य पर आधारित था, जिसमें गुह्य मंत्रों की मुक्ति दी गयी है और इसके अनुसार काम, वित्त और वाक् के गुह्य ज्ञान से ही बुद्धावस्था प्राप्त हो सकती है।

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय

ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के अन्तर्गत विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख भी कुछ धार्मिक ग्रन्थों में मिलता है, जिनकी तालिका बनाने का प्रयास कुछ विद्वानों ने किया।[३०] ये निम्नलिखित थे—शैव अथवा सिद्धान्त या सिद्धान्त शैव, शैव सिद्धान्त, पाशुपत, भैरव, वैष्णव, बौद्ध अथवा सौगत, ब्राह्मण और ऋषि, अलेपक्

२८. शिव-बुद्ध के एकीकरण पर कई विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सिडो, ए० हि०, पृ० ३३३। सरकार ने अपने एक लेख में शिव-बुद्ध सम्प्रदाय के अस्तित्व पर प्रकाश डाला है। इसका उल्लेख कई लेखों में मिलता है और जावा में शासकों की मूर्तियां भी मिली हैं जो अर्द्धशैव और अर्द्धबौद्ध हैं। 'पररतों' में कृतनगर को शिव-बुद्ध कहा है, 'नागर कृतागम' में मृत्यूपरान्त उसकी 'शिव बुद्धलोक' प्राप्ति का उल्लेख है। जावा में तो शिव-बुद्ध मत था ही, बंगाल में भी इसी प्रकार के सम्प्रदाय होने में सन्देह नहीं है। इंडियन कल्चर १, पृ० २८५। इसीलिए यह धारणा है कि जावा में इसका प्रवेश बंगाल से ही हुआ था।

२९. मजुमदार, पू० सं०, पृ० १२४।

३०. गोरिस, पृ० १०१-४। मजुमदार, यही, पृ० १३२।

या लेपक। एक शैव सम्प्रदाय में योगिन् थे। वेन्दोसारि लेख में भैरव, सोर और बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख है। सोर से सिद्धान्त अथवा सौर (सूर्य-उपासकों) का संकेत प्रतीत होता है। 'तंतु पंग्गेलरन' में बहुत-से विकु (भिक्षु) मंडलों का उल्लेख है जो विभिन्न पक्षों के थे। इनमें शैव, सौगत (बौद्ध) और भैरव सम्प्रदायों का विवरण है। भैरव को मानने-वाले बहुतायत से थे और यह बौद्ध, शैव और वैष्णव मतों के एकीकरण का प्रयास था। तंत्रवाद की भावना ने विभिन्न धार्मिक मतों के भेद को दूर कर एक नये मार्ग को प्रदर्शित किया, जिसमें अमानुषिक क्रियाओं का समावेश हो चुका था। 'चतुष्पक्षोपदेश' नामक ग्रन्थ में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनकी आचरित क्रियाओं की तुलना मणियों से की गयी है। 'प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी धार्मिक मणि को सबसे सुन्दर समझता है। लोभ और द्वेष से उनकी वास्तविक मणियां खो गयीं और वे केवल उन मणियों के ढक्कन से ही सन्तोष करते हैं। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का भेद केवल ऊपरी संस्कारों और कृतियों से ही प्रतीत होता है।' 'कौरवाश्रम' नामक ग्रन्थ में श्रीदन्त, ब्राह्मण और बौद्ध सम्प्रदायों की अलग-अलग रीतियों का उल्लेख है। इसी प्रकार से धार्मिक कृतियों तथा रीतियों का प्रचार बालि में भी था, जहां कुछ गृहयज्ञ इत्यादि किये जाते थे और सूर्यसेवन के नाम से सूर्य के रूप में शिव की उपासना होती थी।[३१]

हिन्दनेशिया के धार्मिक इतिहास में शैलेन्द्र शासक तथा मध्य जावा और पूर्वी जावा के शासकों का पूर्णतया अंशदान रहा। यद्यपि ब्राह्मण धर्म मुख्यतया शैव मत-प्रधान था, पर विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं की उपासना भी धर्म का अंग बन गयी थी। पौराणिक गाथाओं ने कला के क्षेत्र में स्थान पा लिया था। इसीलिए बहुत-से अवतारों, राम और कृष्ण की लीलाओं ने कलाकार को अपनी धार्मिक भावनाओं को चिरस्मरणीय रखने के लिए पत्थर पर अंकित करने के लिए प्रेरित किया। साहित्यिक क्षेत्र में भी धर्म का प्रमुख स्थान था। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म की तंत्रवाद विचारधारा ने सम्पूर्ण जावा सुमात्रा को अपने रंग में रँग लिया। बंगाल से महायान धर्म के शिष्टमंडल जावा गये और सुमात्रा में श्रीविजय इसका प्रमुख केन्द्र था। तंत्रवाद ने ब्राह्मण और बौद्ध

३१. मजुमदार, यही, पृ० १४०।

धर्मों को एक दूसरे के निकट ला दिया। देवताओं का एकीकरण केवल ब्राह्मण देवताओं तक ही सीमित न था। शिव और बुद्ध का संमिश्रण हुआ और उनकी एक साथ मूर्ति बनी। यह ठीक है कि तंत्रवाद के प्रसरण से कुत्सित रीतियों का धर्म के क्षेत्र में प्रवेश हुआ और भैरव सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'पंच मकार' और 'साधन चक्र' क्रियाओं का पालन अनिवार्य हो गया, पर सुदूर पूर्व के अन्य क्षेत्रों की भाँति मलाया और हिन्दनेशिया में भी उदारता तथा विशालता की भावना धार्मिक क्षेत्र में बराबर ही रही। आज वहां वालि को छोड़कर अन्य द्वीपों में हिन्दू धर्म तथा बौद्ध मत लुप्त हो चुका है, पर विरोध का आभास नहीं है। प्राचीन धार्मिक परम्परा की स्मृतियाँ हिन्दनेशिया के धार्मिक और सामाजिक जीवन में अब भी पायी जाती हैं।

अध्याय ९

कला

कला के दृष्टिकोण से हिन्दनेशिया में जावा द्वीप ही प्रधान क्षेत्र है। सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय (पलगवंग) रही और यह स्वाभाविक है कि यहां भी अंकोरवाट अथवा वोरोवुदूर की भाँति विशाल मन्दिरों अथवा स्तूपों के भग्नावशेष मिलते, पर खेद का विषय है कि सुमात्रा की प्राचीन कला के भग्नावशेष उपलब्ध नहीं हैं। जावा द्वीप में भी केवल मध्य और पूर्वी जावा ही कला के मुख्य केन्द्र रहे जहां वोरोवुदूर का बौद्ध स्तूप और महाभारत के पात्रों के नाम पर वहुत-से मन्दिर (चंडि) आज भी अपनी प्राचीन कीर्ति और कला का प्रतीक बनकर खड़े हैं। जावा में भारतीय अग्रगामी दल ईसा की पहली शताब्दी में पहुंच चुका था और पूर्णवर्मन् के पल्लवलिपि में लेख से वहां भारतीय हिन्दू उपनिवेश की स्थापना का पता चलता है, पर सातवीं शताब्दी के पहले किसी मन्दिर की स्थापना का उल्लेख नहीं है। केडु के चंगल नामक स्थान से प्राप्त ७३२ ई० के प्रसिद्ध लेख में कुंजरकुंज से लाये गये लिंगम् का उल्लेख है जिसकी स्थापना की गयी थी, और ७६० ई० के दिनाय के लेख में 'पूतिकेश्वर' का उल्लेख है जिसका सम्बन्ध वोश तथा कुमारस्वामी के मतानुसार[1] कम्बुज और चम्पा के देवराज मत से था। मुख्य रूप से जावा में शैव मत प्रधान था और उसी देवता के सम्बन्धी मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस काल के मन्दिरों में भारतीय प्रभाव ही मुख्य है और स्थानीय प्रभाव के आने में बड़ी देर थी। जावा के मन्दिरों को स्थान तथा परिपाटी के अन्तर्गत केवल दो अथवा तीन भागों में बांटा जा सकता है। मध्य जावा के मन्दिर ८-१०वीं शताब्दी के अन्दर बनाये गये और इसके बाद कला का प्रवाह पूर्वी जावा की ओर हुआ और भारतीय प्रभाव का स्रोत सूखने लगा। १५वीं शताब्दी में इस्लाम ने जावा पर अधिकार कर लिया और कला इस द्वीप को छोड़-

१. हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० २०१।

कर बालि चली गयी। जावानी स्थापत्य और शिल्प कला का अध्ययन विभिन्न कलाकेन्द्रों में स्थित मन्दिरों तथा वहां पर खुदे चित्र और प्राप्त मूर्तियों से ही हो सकता है।

डिएंग के मन्दिर

जावा की प्रारम्भिक स्थापत्य और शिल्प कला का केन्द्र डिएंग क्षेत्र है, जो किसी समय में तीर्थयात्रा का स्थान था। यहां पर केवल ८ मन्दिर हैं जिनमें चंडि, अर्जुन, श्रीकंडी, पुन्तदेव[२], सेमभद्र और चंडि घटोत्कच एक स्थापत्य कला की परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये। ये मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की भाँति छोटे और स्वतंत्र तथा घनाकार आकृति के हैं जिनमें समतल (हारीजान्टल) और खड़ेबल (वर्टीकल) विभाजन स्पष्टता से दिखाया गया है। गर्भगृह में केवल एक ओर से प्रवेशद्वार है, और अन्य तीन ओर प्रत्येक दीवार में तीन पाइलस्टर (चौकोर खम्भे) बने हैं जिनके बीच में आले हैं। मन्दिर के ऊपर की छत चौरस है जो मेढ़ी के आकार की है और ऊपर छोटी होती जाती है। यह कारवेल्ड परिपाटी से ऊपर पहुंचकर केवल एक बड़े पत्थर से ढकी जा सकती थी। द्वार और आलों के ऊपर कीर्तिमुख (काल मकर) प्रमुख हैं जो जावा के मन्दिरों की प्रधानता है[३] और कम्बुज तथा चम्पा में भी इनका प्रवेश मिलता है। अलंकृति हेतु मकर भी जावा के मन्दिरों में मिलता है। पूर्वोक्त चार मन्दिर एक तरह के हैं। चंडि भीम इनसे कुछ भिन्न है।[४] दक्षिणी भाग अन्य मन्दिरों की भाँति है, पर ऊपरी भाग शुण्डाकार (पिरामिडल) है जिसके समतल भाग ऊपर बढ़ते हुए छोटे होते जाते हैं। छत का प्रथम चौरस भाग मेढी की तरह है और उसके ऊपर चैत्याकार आले हैं। दूसरी और तीसरी पंक्ति में तीन-तीन आले हैं जिनमें कीर्तिमुख हैं। चौथी और छठी पंक्ति के किनारों पर आमलक है और सबसे ऊपर भी यह पूर्ण

२. यही, चित्र नं० ३४५। प्रस्तुत चित्र नं० १५ जावा के मन्दिरों के नाम के आगे चंडि शब्द जुड़ा रहता है।

३. हलाड, आर्टस् डु एशिया आंसिएन २, नं० २३६, २५४, २५८, २६०। वेओन के फलक में नं० ३०१। प्रसत क्रवन ३२०।

४. कुमारस्वामी, पृ० २०२।

रूप से दिखाया गया है। कुमारस्वामी ने इसकी समानता भुवनेश्वर मन्दिरों के आमलक से की है।[५]

डिएंग पहाड़ी के पूर्व और दक्षिण की ओर इसी प्रकार के छोटे अलंकृत मन्दिर हैं जिनमें शैव चंडि प्रिंगपुस (लगभग ८५० ई०) और सुविंग पहाड़ के निकट चंडि सेलग्रिय विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त गेडोग-संग नामक मन्दिर जिसके अन्तर्गत ९ छोटे-छोटे मन्दिर हैं, उन्गरन पहाड़ पर अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये दोनों पहाड़ी के दो ओर हैं और यह कहना कठिन है कि ये सब एक की वर्ग और काल के हैं अथवा अलग-अलग समय में बनाये गये। इनकी बनावट एक ही परिपाटी के अनुसार हुई। इनमें से कुछ शैव और कुछ वैष्णव मन्दिर हैं।

डिएंग पहाड़ी पर स्थित मन्दिरों में अथवा उनके निकट कई मूर्तियां मिलीं जिनमें शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां हैं। त्रिमूर्तियों के वाहन भी दिखाये गये हैं, पर मुख को छोड़कर उनका मानुषिक स्वरूप है। गेडोग-संग के एक मंदिर से प्राप्त मूर्तियों में दुर्गा की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। वह बैल पर बैठी है और असुर की गर्दन पकड़े है। इन मूर्तियों और इनसे सम्बन्धित मन्दिरों से प्रतीत होता है कि यह सब ब्राह्मण मत के थे। डिएंग जावा के शासकों की राजधानी न थी। यह एक तीर्थ केन्द्र था और इसीलिए यहां के मन्दिर ब्राह्मण मत के थे। मध्य जावा में उस समय बौद्ध धर्म भी प्रगति कर रहा था जिसका श्रेय उन शैलेन्द्र शासकों को है जिन्होंने महायान मत फैलाया।

बौद्ध कलाप्रतीक

७७८ ई० के चोड़ी कलसन से प्राप्त लेख में शैलेन्द्र शासक पनमकरण द्वारा मन्दिर में तारा की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। उस मूर्ति का पता नहीं है, पर लेख मन्दिर के निकट मिला और मन्दिर भी महायान बौद्ध मत के मध्य जावा का

५. यही, पृ० २०३। इसके विपक्ष में डा० मजुमदार ने अपना मत प्रकट किया है। 'सुवर्णद्वीप', भाग २, पृ० १७५।

६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १७८। केम्प रस, एन्सिएंट इंडोनेशियन आर्ट, चित्र नं० २३७।

प्राचीन प्रतीक है।[७] उस मूर्ति के लिए बनाया गया सिंहासन यह संकेत करता है कि तारा की मूर्ति भी बड़ी विशाल रही होगी। यह मन्दिर समकोण है तथा उसी मेढी पर बना है। इसके चारों ओर १५ फुट खुला स्थान प्रदक्षिणा के लिए छोड़ दिया गया है। क्रासनुमा आकृति के इस मन्दिर के चारों ओर बाहर निकले भाग प्रार्थना करने के लिए बनाये गये थे और भूमि से मेढी तक का एक सोपान और दूसरा मेढ़ी से प्रवेश द्वार तक बनाया गया था। केवल पूर्वी भाग में प्रार्थना स्थान से गर्भगृह तक प्रवेश मार्ग है, अन्य तीन स्वतंत्र रूप से बने हैं। प्रवेश द्वार के ऊपर काल मुख अपना व्याघ्र स्वरूप प्रदर्शित कर रहा है। मन्दिर के ऊपरी भाग में कानिस के ऊपर छोटे-बड़े आले बने हैं जिनमें चार ध्यानी बुद्ध की मूर्तियां हैं जो क्रमशः अक्षोम्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघसिद्ध हैं। तीसरी पंक्ति के मध्य से एक घंटाकार स्तूप आरम्भ होता है।

चंडि सारि मेणु तथा सेवु

चंडि कलसन से कोई आध मील उत्तर में तत्कालीन चंडि सारि का मन्दिर है। दो मंजिल की इस इमारत की लम्बाई १९ गज (उत्तर से दक्षिण) और चौड़ाई ११ गज है। ऊंची मेढी पर यह बनी है तथा पूर्वी ओर का प्रवेश द्वार काल-मकर से अलंकृत है। नीचे का भाग मन्दिर था और कदाचित् ऊपरी भाग रहने के लिए था। यह मन्दिर तथा विहार का काम देता होगा। इसके पूर्व में ईसा की ९वीं शताब्दी का चंडि सेवु है जो बोरोबुदूर के बाद सबसे विशाल मन्दिर है। २०० गज लम्बे और १८० गज चौड़े क्षेत्र में २५० मन्दिर हैं। बीच में मुख्य मंदिर है जो कलसन के मन्दिर से मिलता-जुलता है, पर किनारे के प्रार्थना गृह खुले हुए हैं और इनके आले मूर्तियों से अलंकृत हैं। मुख्य मंदिर में कदाचित् बुद्ध की बैठी हुई अवस्था में मूर्ति रही होगी। यह अनुमान किया जाता है कि इतने मन्दिरों का एक ही क्षेत्र में एक साथ निर्माण कराने का उद्देश्य भूमंडल के समस्त देवताओं को एक ही स्थान पर बैठाना रहा होगा। चंडि सेवु की बनावट और घंटीनुमा स्तूपशिखर द्रविड परिपाटी के अन्तर्गत माना जाता है,[८] पर सम्पूर्ण मंदिरों

७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १७८। मार्ग भाग ९ (४), पृ० ५५।
८. रावलैंड, आर्ट आफ इंडिया, पृ० २५९।

का क्रासनुमा रूप में निर्माण पहाड़पुर के पाल मन्दिर से मिलता-जुलता है। बंगाल के तंत्रवाद का जावा में भी प्रवेश हुआ है जिस पर विशेष रूप से आगे विचार किया जायेगा। वज्रयान मत के अन्तर्गत जावा के अन्य मन्दिरों का भी निर्माण हुआ जिनमें वोरोवुदूर अपनी विशालता तथा सुन्दरता के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है।

वोरोवुदूर

केडु में वोरोवुदूर का मन्दिर एक पहाड़ी को काटकर बनाया गया है और स्थापत्य कला के क्षेत्र में यह अद्वितीय है।[९] जैसा ही इसका नाम रहस्यमय है वैसा ही यह मन्दिर भी है। पाल मुस ने इसे 'गुप्त विहार' कहा है। इसकी खोज १८८५ में सर टामस रैफेलन ने की थी। एक समकोण चतुर्भुज मेढ़ी पर पांच दीवारों से घिरी वीथियां क्रमशः दर्शक को ऊपर ले जाती हैं। ऊपर पहुंचने पर तीन गोल पंक्तियों में चबूतरे बने हैं जिन पर ७२ स्तूप हैं। सबसे ऊपर मध्य भाग में एक स्तूप है जिसकी मेढ़ी छिपी हुई है। यह स्तूप नवीं मंजिल पर बनाया गया। स्थापत्य कला के दृष्टिकोण से यह किसी परिपाटी के अन्तर्गत नहीं बनाया गया और कुछ विद्वानों का विचार है कि वास्तव में यह एक समय में ही नहीं बना। ऊपर के प्रमुख स्तूप की रक्षा के लिए ही नीचे तीन गोल चबूतरे और उन पर स्तूपों की पंक्तियां बनायीं गयीं। सबसे नीचे दीवारों से घिरी वीथियों में 'ललितविस्तर', 'दिव्यावदान', आर्यसूर की 'जातकमाला' तथा 'गन्डव्यूह' से उद्धृत बुद्ध की जीवनी पत्थरों पर उत्कीर्ण की गयी है जिसका विस्तृत रूप से उल्लेख किया जायगा। चारों दिशाओं के बीच में ऊपर चढ़ने के लिए सोपान हैं। वोरोवुदूर के स्तूप के विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। सबसे ऊपर के भाग में स्तूप ही केन्द्र में है और अन्य तीन पंक्तियों में भी स्तूप हैं, किन्तु बनावट और आकार इनके केवल स्तूप होने में संदेह प्रकट करते हैं।[१०] स्टुटरहाइम के मतानुसार इसकी नौ मंजिलें ध्यान की नौ अवस्थाएं हैं। वास्तव में नीचे का भाग मन्दिर के आकार का है और ऊपरी भाग बौद्ध स्तूप हैं। यह भी कहा जाता है कि इन स्तूपों का निर्माण 'महापरिनिव्वान सुत्त और दिव्यावदान' के अनुसार ही हुआ। चौकोर मेढी पर बर्मा

९. कुमारस्वामी, पृ० २०४,
१०. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप', पृ० १९६।

के स्तूपों की भाँति यह मूल रूप से बना। बाद में भूचाल अथवा अन्य किसी प्राकृतिक भय की शंका से नीचे की पत्थर की दीवारों की पांच वीथियां बनायी गयीं जिससे मूल स्तूप सुरक्षित रह सके और इन वीथियों में बुद्ध की धर्मचक्रप्रवर्तन अवस्था तक के जीवन-सम्बन्धी चित्र अंकित किये गये। आलों में ध्यानी बुद्ध की मूर्तियां बैठायी गयीं।[११] प्रत्येक वीथी के द्वार को काल मकर से अलंकृत किया गया है। ऊपर की तीन मंजिलें नीचे की छः मंजिलों से पूर्णतया भिन्न हैं। ये खुली हुई हैं तथा इनमें किसी प्रकार की शिल्प कला का चित्रण नहीं किया गया है। गोल मेढी पर तीनों पंक्तियों में क्रमशः ३२, २४ और १६ स्तूप बने हैं। प्रत्येक स्तूप में ध्यानी बुद्ध की मूर्ति है जो कदाचित् वज्रसत्त्व है। मुख्य स्तूप सबसे ऊपर दोहरी कमलाकार मेढी पर है जो नीचे चौकोर है और ऊपर अष्ट भुजाकार है। स्तूप की ऊंचाई २३ फुट है। वोरोवुदूर के निर्माण की तिथि लगभग ८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग निर्धारित की जाती है।[१२] यहां का शिल्पकला का विवरण आगे दिया जायगा।

चंडि मेन्दूत

वोरोवुदूर से निकट और सम्बन्धित चंडि मेन्दूत है[१३] जो मध्य जावा के अन्य मन्दिरों की भाँति ऊंची मेढी पर बना हुआ है और ऊपर चढ़ने के लिए पूर्व ओर से सोपान हैं। ३० गज लम्बी और २६ गज चौड़ी तथा १२ फुट ऊंची मेढी पर यह मन्दिर १५ गज चौकोर घेरे में स्थित है। मन्दिर की दीवारें खड़े बल के निकले हिस्से द्वारा तीन भागों में विभाजित हैं जिनमें बीच वाला बड़ा है और यह भाग शिल्पकला के सुन्दर प्रतीकों से अलंकृत है। वोधिसत्त्वों में सर्वनिवरण विस्वकामी मैत्रेय, समन्तभद्र, क्षितिगर्भ, वज्रपाणि, मंजुश्री, पद्मयोनि और खगर्भ की मूर्तियां दीवारों में बनी हैं। मन्दिर का प्रवेशद्वार बहुत बड़ा है और इसके दोनों ओर कल्पद्रुम तथा कुबेर और हरीती हैं। चंडि मेन्दूत के निकट और भी बहुत-से मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।

११. चित्र नं० १६
१२. कुमारस्वामी, पृ० २०५।
१३. चित्र नं० १७। केम्परस, चित्र नं० ४६-६१।

चंडि लोरो जोंग्रग

शैलेन्द्रकालीन अन्य मन्दिरों में चंडि वनोन का शिवमन्दिर, जहां अगस्त्य की तथा विष्णु की मूर्तियां मिलीं, उल्लेखनीय है। मध्य जावा में तांबें तथा सोने की छोटी बौद्ध और तंत्रवादी मूर्तियां भी मिलीं। लगभग ८६० ई० में पूर्वी जावा से जावा के शासक प्रामवाम में आ गये और उन्होंने बौद्ध तथा शैव मन्दिर स्थापित किये। इनमें चंडिलोरो जोंग्रग[१४] वोरोवुदूर तथा चंडि सव की भाँति बड़ा विशाल है। इसके अन्तर्गत आठ मन्दिर हैं जो एक मेढी पर हैं और वे छोटे प्रार्थना-गृहों तथा दो बड़ी दीवारों से घिरे हैं। तीन बड़े मन्दिर ब्रह्मा, विष्णु और शिव के निमित्त बनाये गये हैं। शिव का मन्दिर सबसे बड़ा और केन्द्र में स्थित है। इसके चारों ओर कोई १५० प्रार्थना-स्थान हैं। अलंकृत शुण्डाकार मेढी पर यह बना है और ऊपर पहुंचने के लिए चारों ओर सोपान हैं। अन्य मन्दिरों की भाँति यह भी क्रासनुमा है और इसके चारों भाग बाहर निकले हुए हैं। ख्मेर पर्वत-मन्दिर की भाँति यह भी पर्वत-मन्दिर है। ऊपर के भाग में दीवारों पर रामायण-कथा से सम्बंधित चित्र अंकित हैं जो कि ब्रह्मा के मन्दिर में भी पाये जाते हैं। विष्णु के मंदिर में कृष्ण-लीला सम्बन्धी चित्र खुदे हुए हैं। ये मन्दिर निर्माण होने के थोड़े ही समय बाद छोड़ दिये गये और ९५१ ई० में किसी प्राकृतिक दुर्घटना के फलस्वरूप मध्य जावा त्याग दिया गया और अब कला भी पूर्वी जावा के क्षेत्र में विकसित हुई।

पूर्वी जावा की स्थापत्य कला

पूर्वी जावा की स्थापत्य कला पर भी मध्य जावा की कला का प्रभाव पड़ा। गुवेंग गंसिर (९७७ ई०), वेलहन के तोरण, चंडि सुम्बेर ननस तथा चंडि संगरिति मध्य-जावानी परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये।[१५] प्रसिद्ध सम्राट् ऐरलंग द्वारा निर्मापित चंडि ललतुण्ड तथा उसमें ऐरलंग को विष्णु के रूप में गरुड़ पर आसीन दिखाना जावानी कला के प्रतीक हैं जो भारतीय परम्परा से भिन्न हैं। ऐरलंग के समय के स्थापत्य कला के कोई प्रतीक नहीं मिले हैं, पर १२वीं शताब्दी

१४. चित्र नं० १८। यही, नं० १३९-६०।
१५. कुमारस्वामी, पृ० २०७।

से पूर्वी जावा की स्थापत्य कला ने प्रगति की। १३वीं शताब्दी में सिंहसारि और मजपहित के शासकों ने जावानी कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया और यह पूर्णतया देशीय थी जिससे भारतीय परम्परा लुप्त हो गयी। सिंहसारि के प्रसिद्ध मन्दिरों में चंडि किडल, चंडि जगो, चंडि जवी, चंडि सिंहसारि उल्लेखनीय हैं। शैव और बौद्ध धर्म का संतुलन भी इस काल की मुख्य घटना है और इसका प्रमाण मन्दिरों से प्राप्त मूर्तियां हैं। चंडि किडल शैव है जिसकी समतल पृष्ठभूमि कई भागों में बँटी हुई है और ऊपर शुंडाकार छत है। चंडि जगो के बौद्ध मन्दिर में कृष्णायन चित्रित है और चंडि जवी में शिव की प्रतिमा के ऊपर बुद्ध भी हैं। चंडि सिंहसारि में दुर्गा महिषासुरमर्दिनी और गणेश की मूर्तियां मिलीं। इनका उल्लेख आगे किया जायगा।

चंडि जावुंग[१६] गोलाकार है और बहुत ऊंचा रहा होगा। इसकी मेढी भी बहुत ऊंची है और ऊपर चढ़ने के लिए सोपान है। वर्गाकार मेढी का गोल शिखर में परिणत होना विशेषता रखता है। ऊपरी भाग में बाहर निकले आले हैं जिनके ऊपर काल मकर अलंकृत है। मन्दिर की ऊंचाई लगभग ५२½ फुट है। आलों के बीच में बड़ी अलंकृत ईंटों के फलक छोड़ दिये गये हैं।

पनतरन के शिवमन्दिर

पूर्वी जावा की कला का अन्तिम प्रतीक पनतरन का शिवमन्दिर है जो कला की दृष्टि से अद्भुत है। इसके साथ कई असम्बन्धित स्थान भी हैं जिनमें कदाचित् मृतक शासकों की राख और हड्डियां रखी जाती थीं। ये स्थान १४-१५वीं शताब्दियों में बनाये गये। मन्दिर का क्षेत्र १९६ गज लम्बा और ६५ गज चौड़ा है और इसका प्रवेशद्वार पश्चिम में है। मुख्य मन्दिर की अब केवल मेढी ही बची है और यह पिछले भाग में है। सामने की ओर एक छोटा मन्दिर (१३६९ ई०) पूर्वी जावानी देशीय कला का सुन्दर प्रतीक है। समकोण मेढी पर यह सीधा बना है। एक ओर द्वार है और अन्य तीन ओर आले हैं। इसकी पुरानी छत अब नहीं है। पनतरन के प्राचीन मन्दिर के निचले भाग में (जो अब बचा है) रामायण तथा कृष्णायन के चित्र अंकित किये गये हैं।[१७]

१६. चित्र नं० १९। केम्परस, चित्र नं० २६१।
१७. केम्परस, चित्र नं० २७१–२८५।

जावानी स्थापत्य कला के अन्तर्गत १५वीं शताब्दी में पहाड़ियों पर शिव के मन्दिर बनाये गये, पर उनके साथ में स्थानीय धार्मिक विचारधारा भी संतुलित हो गयी थी। इससे सम्बन्धित जो मन्दिर बने उनके सेल केलिर, पेनमपिकन, सुकुल तथा लेवु उल्लेखनीय स्थान हैं। जावानी स्थापत्य कला पूर्णतया स्वतंत्र हो चुकी थी। इस कला के सम्पूर्ण इतिहास में यह विशेषता है कि इसमें न तो स्तम्भ और न चूने के पलस्तर का ही कहीं पर प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह कला भारतीय होते हुए भी, अपना स्वतंत्र स्वरूप बनाने में सफल हुई। ऊंची मेढी, सोपान, गर्भगृह, क्रासनुमा स्वरूप, कारवेल्ड छत तथा शिखर भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत बने, पर जावानी कलाकारों ने धीरे-धीरे अपना स्वतंत्र मार्ग अपनाया। पनतरन के मन्दिर से यह प्रतीत होता है कि आगे चलकर उन्होंने मन्दिरों को नियमित रूप न देकर इच्छानुसार बनाना आरम्भ किया। चम्पा और कम्बुज की भाँति जावानी स्थापत्य कला क्षेत्रों के अनुसार अपना स्वरूप जल्दी नहीं बदल सकी। जावानी कलाकार प्रगतिवादी थे, पर उनमें रूढिवादिता का भी आभास था। इसीलिए उनकी स्थापत्य कला केवल दो मुख्य भागों—हिन्द जावानी तथा पूर्णतया जावानी—में ही बाँटी जा सकती है।

शिल्पकला

जावा की शिल्पकला भी भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत फूली-फली। भारतीय विषयों—जातक कथाओं अथवा रामायण और महाभारत की कथाओं—को लेकर कलाकारों ने मन्दिरों की दीवारों पर चित्र अंकित किये। स्वतंत्र रूप से ब्राह्मण देवी-देवताओं तथा बुद्ध और बोधिसत्त्व एवं तारा और प्रज्ञापारमिता की मूर्तियां पत्थर तथा धातुओं की बनीं। कलाकारों ने इनके निर्माण में अपनी प्रतिभा तथा कुशलता का परिचय दिया। कथाओं के चित्रण में कहीं-कहीं स्थानीय ग्रन्थों के आधार पर उद्धृत चित्रों के कारण भेद भी आ गया है, पर उनका मूल स्रोत भारत ही था। इस अंश में दक्षिण की अमरावती, पल्लव तथा चालुक्य और उत्तर-भारत की गुप्त एवं पाल शिल्पकला का प्रभाव पूर्वकालीन कलाकृतियों में मिलता है, पर आगे चलकर कला पूर्णतया जावानी ही रह गयी। जावा की शिल्पकला का अध्ययन क्रमानुसार ब्राह्मण मूर्तियों, तथा पत्थर पर अंकित चित्रों, और बौद्ध मूर्तियों को लेकर ही किया जा सकता है। वहां पशु-पक्षी तथा अन्य प्राकृतिक विभूतियों को भी कला-प्रदर्शन में स्थान दिया गया था।

ब्राह्मण-मूर्तियां

मध्य जावा की शिल्परचना अलंकृति-हेतु (मोटिव) मालाओं, कमल की पंक्तियों इत्यादि को लेकर खुदी हुई मूर्तियों तथा स्वतंत्र रूप से निर्मापित मूर्तियों को लेकर हुई। यह प्राय: सभी कालों में प्रस्तुत की गयी। काल मकर का चित्रण सम्पूर्ण जावा कला में मिलता है। ब्राह्मण-मूर्तियों में मध्य जावा से शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां प्राप्त हुईं। अपने वाहनों सहित ये मूर्तियां निर्मित हैं। दुर्गा की मूर्ति महिषासुर को मारते हुए दिखायी गयी है। इसमें यह बैठे हुए बैल पर खड़ी है। अष्टभुजा मूर्ति में देवी महिषासुर का बाल पकड़े उस पर अस्त्र उठाये दिखायी गयी है।[१८] चंडि भीम के आलों में बैठी मूर्तियां न तो बुद्ध और न भीम का ही संकेत करती हैं, वे केवल अलंकृति हेतु बैठायी गयी थीं।[१९] इन मूर्तियों के निर्माण और भाव-प्रदर्शन में कलाकार ने अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय दिया है। केडु के मैदान में चंडि बनोन के मन्दिर से भी शिव, ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां मिली हैं। ब्रह्मा की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। चतुर्मुखी ब्रह्मा के मुख पर गम्भीरता और उनका वेश पूर्णतया भारतीय है।[२०] मुकुट ऊंचा है। सिंहसारि (अब लाइडेन के संग्रहालय) से प्राप्त ब्रह्मा की मूर्ति किसी शैव मन्दिर से सम्बन्धित है। चतुर्मुख तथा चतुर्भुज मूर्ति बड़ी विशाल है। उदर के सामने दोनों हाथों में कमल हैं। दोनों ओर हाथों में कमंडलु लटक रहा है और चमर है। श्मश्रु (दाढ़ी) और ऊंचा मुकुट विशेषतया उल्लेखनीय हैं और मुख पर गम्भीरता का भाव है। वे कवच, कुंडल, मेखला तथा जनेऊ पहने दिखाये गये हैं।

जावा से शिव की भी कई मूर्तियां मिलीं। एक कांसे की मूर्ति में वे पार्वती के साथ भी हैं। डिएंग से प्राप्त शिव की मूर्ति पद्मासन में है।[२१] गेमेरुह से प्राप्त शिव और पार्वती की मूर्ति[२२] दक्षिण भारतीय कला की कांसे की मूर्तियों से मिलती-

१८. हलाड, चित्र नं० २४९।
१९. फोगेल, जे० आर० ए० एस० १९१७, पृ० ३७१।
२०. हलाड, पू० सं० चित्र नं० २४७।
२१. केम्परस, चित्र नं० २८।
२२. यही, नं० ३३।

जुलती है। दोनों शिव-मूर्तियों में त्रिनेत्र दिखाया गया है। लोरा जोन रग के मन्दिर की खड़ी चतुर्भुजी शिव-मूर्ति में[२३] पिछले हाथों में माला और चमर है। वह सर्प का जनेऊ भी पहने हैं और माथे पर त्रिनेत्र तथा मौलि में कपालमाला दिखायी गयी है। आभूषणों से मूर्ति अलंकृत है और मुख पर शान्ति और सौम्यता का भाव प्रदर्शित है। इसी प्रकार की एक और मूर्ति कदाचित् चंडि किडल से प्राप्त हुई है। इसमें मूर्ति के निचले भाग के दोनों ओर से दो कमल निकलते दिखाये गये हैं। ये दोनों मूर्तियां बलितुंग तथा सिंहसारि के अश्वपति की मृत्यु के पश्चात् शिव में लीन होने तथा उन्हीं का स्वरूप प्राप्त करने के हेतु बनायी गयीं। सिंहसारि के निकट एक मन्दिर से शिव की रौद्र रूप में एक मूर्ति मिली।[२४] इस देवता का नाम चक्रचक्र दिया हुआ है। कुत्ते पर देवता बैठे हैं और अलंकारों को छोड़कर वे पूर्णतया नग्न हैं। नीचे कपालों के ऊपर वे पैर रखे हैं। उनके हाथों में खंड, कपाल, त्रिशूल और डमरू हैं। मौलि में भी कपाल बँधे हैं तथा गले में मुंडों की माला भी है। इस मूर्ति को भैरव भी कहा गया है। भट्टार गुरु के नाम से शिव[२६] की एक मूर्ति चंडि बनोन (ज़कार्ता संग्रहालय) से मिली है। इनको अगस्त्य नाम से भी सम्बोन्धित किया गया है जिन्होंने दक्षिण भारत से जाकर हिन्दनेशिया में भारतीय संस्कृति फैलायी। इनकी नोंकीली दाढ़ी और निकली तोंद विशेषतया उल्लेखनीय है। चंडि सारि से अगस्त्य की एक अन्य मूर्ति मिली,[२७] पर कला की दृष्टि से प्रथम मूर्ति अधिक सुन्दर है।

जावा में वैष्णव मत प्रधान नहीं रहा और इसी लिए विष्णु के बहुत-से मन्दिर नहीं मिले।[२८] कृष्णलीला (कृष्णायन) से सम्बन्धित कई चित्र मिले हैं। चंडि पन-तरम् में रुक्मिणीहरण चित्रित है।[२९] चंडि बनोन से गरुड़ के साथ विष्णु की मूर्ति

२३. यही, नं० १५७।
२४. यही, नं० २१६-७।
२५. यही, नं० १४२, चित्र नं० ।
२६. यही, नं० ४१, चित्र नं० ।
२७. यही, नं० २३८।
२८. देखिए, केम्परस, चित्र नं० १५९।
२९. यही, नं० २८३।

मिली।[30] इसके हाथ टूटे हैं, पर आभूषणों से आयुक्त सुन्दर मौलि से अलंकृत यह सौम्य मूर्ति कला की दृष्टि से सुन्दर है। दूसरी मूर्ति बेल्हन से प्राप्त हुई और यह विष्णु के रूप में प्रसिद्ध सम्राट् ऐरलंग की मूर्ति है।[31] विष्णु गरुड़ पर आसीन हैं, गरुड़ दो सर्पों को अपने पंजे में पकड़े हैं। विष्णु ध्यानमुद्रा में हैं और ऊपर के हाथों में चक्र और शंख है। गरुड़ का मुख बहुत बड़ा और खुला है।

जावा की शिल्पकला में गणेश और कुबेर को भी प्रधान स्थान मिला और उनकी मूर्तियां बनायी गयीं। चंडि बनोन के गणेश[32] की मूर्ति साधारण, पर सुन्दर है। वह पालथी मारे बैठे हैं। ऊपर के हाथों में माला और चमर है, नीचे के दाहिने हाथ में दाहिने दांत का टुकड़ा है और बायें हाथ में मोदक है जिसे वे अपनी सूंड़ से उठाने का प्रयास कर रहे हैं। मुख पर शान्ति का भाव है। वार से प्राप्त गणेश की मूर्ति शक सं०[33] ११६१ (१२३९ ई०) की है। विघ्ननाशक गणेश कपाल की मेढी पर उसी अवस्था में बैठे हैं और उनके पिछले भाग में विशाल काल-मुख स्वयं उनकी विघ्नों से रक्षा के लिए हैं। सिंहसारि के गणेश (लाइडन के संग्रहालय में) भी कपालों की मेढी पर बैठे हैं। ऊपर के हाथों में फरसा और माला है और निचले बांये हाथ वाले लड्डू के प्याले में वे अपनी सूंड़ डाले हैं। धन-देवता कुबेर की कांसे की मूर्ति जावा में मिली जो इस समय पेरिस के म्यूजेगिमे में है।[34] हाथी और सिंह के ऊंचे सिंहासन पर यह बैठे हैं। हाथ में धन का थैला और नीबू है और यह थैला दाहिने पैर के नीचे भी है।

रामायण और महाभारत के चित्र

स्वतंत्र रूप से निर्मित मूर्तियों के अतिरिक्त जावानी कलाकारों ने रामायण तथा महाभारत से उद्धृत चित्र भी मन्दिरों के फलकों और चौकोर खम्भों (पाइल-स्टर) के बीच के भाग में अंकित किये। लोरा जोन रंग के मन्दिर में रामायण

३०. यही, नं० ४२।
३१. यही, नं० २०२, चित्र नं०।
३२. यही, नं० ३९।
३३. यही, नं० २१२।
३४. यही, नं० १६७।

की कथा लंका में वानरसेना के प्रवेश तक चित्रित की गयी। वाली और सुग्रीव का युद्ध, राम द्वारा ताड़का का वध, कुंभकरण का उसकी गाढ़ी नींद से उठाना, हनुमान का लंका में प्रवेश, इन्द्रजित से युद्ध, रावण को संदेश इत्यादि चित्रित हैं।[३५] इनके अतिरिक्त महाभारत व कृष्णायन से उद्धृत चित्र भी जावा के कलाकारों ने अंकित किये हैं। स्थानीय प्रभाव तथा साहित्य के अन्तर्गत वे भारतीय कथाओं से कहीं-कहीं पर भिन्न भी हों, पर उनका स्रोत एक ही है। वर्तमान वयांग नृत्य भी इसी से उद्‌भूत है और प्राचीन परम्परा का द्योतक है।

बौद्ध मूर्तियां

जावा की बौद्ध शिल्पकला भी बौद्ध मन्दिरों के फलकों पर अंकित जातक-कथाओं, बुद्ध की जीवनी तथा स्वतंत्र रूप से बुद्ध और बोधिसत्व, तारा, प्रज्ञा-पारमिता, पंचक और हरीती इत्यादि मूर्तियों के रूप में विकसित हुई। जावा में महायान मत का प्रवेश बंगाल से हुआ था और यहां वज्रयान-तंत्रवाद का भी प्रसरण हुआ, पर अश्लील चित्र कहीं नहीं मिलते हैं। बुद्ध की मूर्तियों में सबसे प्राचीन मूर्ति पश्चिमी सेलिवीज द्वीप से प्राप्त हुई। यह काँसे की है और इस समय जकार्टा (जकार्ता) के संग्रहालय में है। उत्तरासंग की चुन्नट, मुख का भाव तथा उष्णीष अमरावती परिपाटी से मिलते-जुलते हैं।[३६] इसी प्रकार की पत्थर की एक बुद्धमूर्ति बुकित—गुनतग (पलमवंग) से प्राप्त हुई।[३७] चंडि मेन्दूत के

३५. देखिए, केम्परस, चित्र नं० ६१, १५३, १५४, १६०, २७८, २७९, २८० इत्यादि तथा पुस्तक चित्र नं०।

३६. केम्परस, चित्र नं० २४।

३७. यही, नं० ३१। पलमवंग से प्राप्त बुद्धमूर्तियों के आधार पर डच विद्वान् क्रोम तथा भारतीय विद्वानों में देवप्रसाद घोष और डा० मजुमदार ने श्रीविजय की कला पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। पलमवंग और उसके निकट से केवल चार मूर्तियां मिली हैं। एक बुद्ध का धड़, कांसे की बुद्ध की मूर्ति, बुद्ध का कांसे का शीश और पत्थर की अवलोकितेश्वर की मूर्ति। यह सब मानते हैं कि यह जावानी कला से भिन्न हैं। घोष के मतानुसार इन पर पल्लव कला का प्रभाव है, पर डा० मजुमदार इन्हें गुप्तकला का प्रतीक मानते हैं। इनकी तिथि ४-७ शताब्दी के बीच कालमें

मन्दिर के अन्दर की बुद्ध की मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन अवस्था में है और इसमें वे पीढ़े पर पैर रखे दिखाये गये हैं।[३८] इसी आसन में बुद्ध की कांसे की मूर्ति जो इस समय लाइडन के संग्रहालय में है, हिन्दू-जावानी कला का सुन्दर उदाहरण है।[३९] वोरो-वुदूर में भी बुद्ध की पद्मासन में बैठे धर्मचक्र प्रवर्त्तन मुद्रा की मूर्ति सुन्दर, सौम्य और शान्तिमय अवस्था का प्रतीक है।[४०] अभयमुद्रा में बुद्ध की एक बड़ी मूर्ति बोर्नियों के कोटाबन्गून से प्राप्त हुई[४१] जिसमें सेलिवीज से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति की भाँति उत्तरासंग में चुन्नत नहीं है। यह साधारण है और चेहरे पर प्रसन्नता का भाव है। चंडि सेबु की बुद्ध की मूर्ति[४२] भी धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा और पद्मासन में है, पर इसमें ओढ़ने का वस्त्र दिखाया गया है। दोनों के ऊष्णीष एक ही प्रकार के हैं।

बोधिसत्त्व

बुद्ध के अतिरिक्त बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर, लोकेश्वर अथवा लोकनाथ[४५] की भी मूर्तियां बनायी गयीं। अवलोकितेश्वर की दस बाहुओं वाली कांसे की मूर्ति इस समय म्यूज़ेगिमें में है। इन मूर्तियों के कमल और उष्णीष में अमिताभ उपर्युक्त बोधिसत्त्व का संकेत करते हैं। सेमरांग से प्राप्त बोधिसत्त्व मंजुश्री की एक चांदी की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर है[४६] और जावानी कला का श्रेष्ठ नमूना है। बोधिसत्त्व

रखी जाती है। देखिए, जरनल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट, जून १९३५। इसमें पूर्वोक्त लेखों का संकेत है।

३८. केम्परस, नं० ६०।

३९. यही, नं० ६२।

४०. यही, नं० ९६।

४१. यही, नं० ९७।

४२. यही, नं० १२८।

४३. यही, नं० ३४

४४. यही, नं० ५८, ५९।

४५. यही, नं० १९७।

४६. यही, नं० ११०, पुस्तक चित्र नं०

शिखाधर हैं। बायें हाथ में नीलकमल (उत्पल) है जिस पर पुस्तक हैं। कर्ण-कुंडल, हार, बाजूबन्द, कड़े तथा मेखला से आभूषित इस मूर्ति की दोनों हथेलियों में स्वस्तिक चिह्न बने हुए हैं। केम्परस के मतानुसार यह मूर्ति कदाचित् पाल राज्य से आयी है। बोधिसत्व पद्मपाणि,[४७] वज्रपाणि[४८] तथा मैत्रेय[४९] की मूर्तियां भी मिलीं। इनके अतिरिक्त हरीती[५०] और यक्ष अटवक चंडि मेन्दूत के अन्दर अंकित किये गये हैं और उनके साथ में बहुत-से बच्चे भी हैं। बौद्ध देवियों में प्रज्ञापारमिता[५१] और तारा की कई मूर्तियां मिलीं।[५२] अवलोकितेश्वर की शक्ति श्यामतारा नीले कमल (उत्पल) सहित वरमुद्रा में दिखायी गयी हैं। कांसे की एक श्रीदेवी की मूर्ति भी मिली है।[५३]

वोरोवुदूर चित्र

वोरोवुदूर में फलकों तथा स्तम्भों के बीच में जातकों एवं 'ललितविस्तर' से उद्धृत कथाएं चित्रित हैं। ये सब बुद्ध के सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन तक का वृतान्त ही बतलाती हैं। ये चित्र इतने अधिक हैं कि यदि एक साथ लगा दिये जायँ तो इनकी लम्बाई साढ़े तीन मील तक की हो जाती है।[५४]

कलाकार ने नाग, किन्नर, यक्ष, राक्षस, काल मकर, कल्पवृक्ष, पंजात (पारिजात, स्वर्ग का वृक्ष), हंस तथा अन्य पशु-पक्षियों का भी चित्रण किया।[५५] इनकी कला का स्रोत भारत ही था,[५६] पर स्थानीय कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कुशलता

४७. यही, नं० १७२।
४८. यही, नं० ६१, १७३।
४९. यही, नं० १७४।
५०. यही, नं० ५६।
५१. यही, नं० ५३, २२२।
५२. यही, नं० १२०, १२१, १६४, १६८।
५३. यही, नं० ११२।
५४. देखिए, पुस्तक चित्र नं०
५५. हलाड, चित्र नं० २५४, २७३।
५६. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए, फोगेल, दि आर्ट अफ इंडिया एण्ड जावा।

का परिचय दिया। कुछ विद्वानों का विचार है कि बौद्ध कला के प्रसार में बंगाल का बड़ा हाथ था, और यह माना भी जा सकता है कि शिल्पकार को उस क्षेत्र से सहायता मिली हो, पर कलाकारों ने भारतीय-जावानी कला को आगे चलकर केवल जावानी कला का रूप दे दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जावा की कला को केवल दो ही भागों में बांटा जा सकता है; एक में भारतीय प्रभाव ही श्रेष्ठ है, दूसरी में स्थानीय कला ने भारतीय विषय को अपने रंग में रँगा है। यह बात विशेषतया विचारणीय है कि जावानी कला उस समय पूर्ण रूप से विकसित हुई जब उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण और आगमन से राजनीतिक अशान्ति का वातावरण था। इन कलाकारों ने केवल पूर्व कृतियों से ही प्रेरणा ली, क्योंकि भारत की ओर से मध्य युग में किसी प्रकार का अंशदान मिलना कठिन था। जावा में ब्राह्मण और बौद्ध कला स्पर्द्धा के रूप में नहीं, वरन् एक दूसरी के सहायक रूप में विकसित हुई और इसी भावना ने प्रकृति की सहायता से यहां की कला-कृतियों को सुरक्षित रखा।

अध्याय १०

सुदूर पूर्व के अन्य उपनिवेश

द्वारवती, सुखोदय, आयुथ्या, श्रीक्षेत्र, अनोरथपुर

सुदूरपूर्व में हिन्दनेशिया, हिन्द-चीन तथा मलाया के अतिरिक्त स्थल मार्ग का अनुसरण करते हुए भारतीय पुरुषार्थियों ने अन्य स्थानों में भी अपने उपनिवेश स्थापित किये जिन्होंने छोट-छोटे राज्यों का रूप ग्रहण किया। ये राज्य वर्तमान स्याम में द्वारवती, सुखोक्षय और आयुथ्या तथा ब्रह्मा में श्रीक्षेत्र अनोरथपुर नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका इतिहास ईसा की सातवीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक का है और प्राचीन काल के भग्नावशेष तथा कुछ लेख और कला के प्रतीक उनके स्मृतिचिह्न के रूप में पर्याप्त हैं। इस अध्याय में इन पांचों राज्यों का इतिहास संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया जायेगा।

द्वारवती का मों राज्य

चीनी यात्री च्वान-चांग के मतानुसार[1] ईसा की सातवीं शताब्दी में ईशानपुर (कम्बुज) के पश्चिम में टो-लो-पो-टि नामक राज्य था, जिसकी समानता द्वारवती से की गयी है और इसका उल्लेख स्यामी वृतान्तों में मिलता है। यह आयुथ्या (१३५०) और बैंकाक (१७८१) से पहले स्याम की राजधानी थी। कदाचित् आयुथ्या की स्थापना सुपन क्षेत्र में उसी प्राचीन नगरी के अवशेषों पर हुई थी और द्वारवती का नाम मीनम के मुहाने पर स्थित अन्य राजधानियों के रूप में चलता रहा।[2] सिडो के मतानुसार द्वारवती राज्य का क्षेत्र लोपवुरि से लेकर दक्षिण में रतवुरि तक और प्रचिन में रखा जाता है, जहां प्राचीन पुराता-

१. बील, बुधिस्त रेकार्ड भाग २। सिडो, ए० हि०, पृ० १३२।
२. वेल्स, ज० ग्रे० इ० सो० ५, पृ० २४ से।

रिवक अवशेष और लेख मिले हैं।[३] लोपवुरि से प्राप्त प्राचीन भाषा के एक लेख से[४] यह ज्ञात होता है कि यहां के प्राचीन निवासी मों थे। एक किंवदन्ती के अनुसार लवो (लोपवुरि) से एक औपनिवेशिक जत्था राज्ञी चम्मदेवी के साथ आया था जिसने हरिपुंजय (लम्पुन) की स्थापना की थी, जैसा कि १२वीं शताब्दी के मों लेखों से प्रतीत होता है।[५] उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि द्वारवती में मों राज्य ७वीं शताब्दी में अवश्य था, जैसा कि च्वान-चांग के वृत्तांत से प्रतीत होता है और यह उत्तर में लोपवुरि तक था जहां से उत्तर-पश्चिम में एक जत्था हरिपुंजय गया।

द्वारवती के प्राचीन इतिहास का कुछ पता नहीं है। इस क्षेत्र पर फूनान का अधिकार तीसरी शताब्दी से रहा होगा। मेंकांग नदी के मुहाने पर स्थित फूनान राज्य ने हिन्द-चीन के सामुद्रिक मार्ग पर अधिकार कर लिया होगा। ईसा की छठी शताब्दी में फूनान के अधीन येन ला का इस क्षेत्र पर अधिकार था। द्वारवती और फूनान के बीच सम्बन्ध का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। ७वीं शताब्दी से प्रथम बार इसका उल्लेख चीनी स्रोतों में मिलता है। 'टंग-वंश का इतिहास' के अनुसार चेंग-कुअन काल (६२७–४९ ई०) में पो-लि-लो-य-से-लिन-यि (चम्पा) के राजदूतों के साथ यहां के राजदूत चीन गये।[६] उनके अनुसार टे-हुअन-लो-पो-टि ब्रह्मा के अधीन था। चीनी यात्री च्वान-चांग ने दक्षिण पूर्व के देशों में किअ-मों-लंग-किअ, उसके पूर्व में टो-ल-पो-टि, इसके पूर्व में इ-शंग-न-पु-लो और उसके भी पूर्व में मो-हो-येन-पो का उल्लेख किया है, जिन पर विस्तृत रूप से पहले ही विचार किया जा चुका है। इत्सिंग ने ट्-हो-लुओ-पो-टि का उल्लेख किया है जहां अनम से एक युवक आया था।[७] उपर्युक्त चीनी नाम पो-लि-लो-च, टे-हुअन-लो-पो-टि, टो-लो-पो-टि अथवा टो-हो-लुओ पो-टि वास्तव में द्वारवती के ही नाम हैं। च्वान-

३. ए० हि०, पृ० १३१।

४. बु० इ० फ्रा०, ३०, पृ० २२-८५।

५. सिडो, ए० हि०, पृ० १३२।

६. जे० ए० ओ० एस० ६५, पृ० १०२। व्रिग्स ने अपने इस लेख में द्वारावती के इतिहास को लिखने का प्रयास किया है।

७. तककुसु, पृ० ९।

चांग के वृत्तान्त के आधार पर द्वारवती का क्षेत्र श्रीक्षेत्र (प्रोम) और येन ला के बीच में था और इसमें ईरावदी और सितांग के मुहाने का क्षेत्र सम्मिलित था जिसे मों के रमञ्ञदेश के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

जैसा पहले कहा गया है, एक पालि लेख के अनुसार कुछ लोगों ने चमदेवी की अध्यक्षता में लोपवुरि से जाकर लम्पुन की स्थापना की और देश पर अधिकार करने के लिए उनका लवों के साथ संघर्ष हुआ। चमदेवी लोवो के राजा की पुत्री थी और कदाचित् रमञ्ञदेश के शासक की रानी अथवा विधवा थी। इस क्षेत्र में थटोन से भी बहुत-से व्यक्ति आये और यहां हरिपुंजय नाम से राज्य की स्थापना हुई। नंग-किअम-मह-त्तोवि के इतिहास के अनुसार चमदेवी के बाद अनेक राजाओं ने राज्य किया और यहां से हरिपुंजय का इतिहास आरम्भ होता है। द्वारवती और लोपवुरि में कुछ लेख मिले हैं।[८] गुप्तकालीन ईंटों पर लिखे एक लेख में 'ये धम्मा' लिखा है। यही लेख व्रह पढम के येतिय से मिली ईंट पर भी लिखा मिलता है। राजपुरि के निकट थम-रुसि के लेख में एक बुद्धमूर्ति की स्थापना का उल्लेख है जिसे श्री समाधिगुप्त ने स्थापित किया था। सिडो के मतानुसार[९] इस लेख के अक्षर ईसा की ६-७वीं शताब्दी के हैं। लोपवुरि से प्राप्त लेखों में एक अंकोर-युग के पहले का संस्कृत में है जो खड़ी हुई बुद्ध की मूर्ति पर अंकित है। यह मूर्ति वत मह धतु से प्राप्त हुई और इस मुनि (बुद्ध) मूर्ति का निर्माण नायक अरजव ने किया था जो तौग्गुर निवासी था और शम्भुक के शासक का पुत्र था। इस लेख की लिपि (अक्षर) भी सबसे प्राचीन है। एक और लेख लोपवुरि के निकट वट खोय से प्राप्त बुद्धमूर्ति पर अंकित मिला, पर इसे पढ़ा नहीं जा सकता है। एक और बौद्ध लेख एक खम्भे पर अंकित मिला जो सबसे प्राचीन प्रतीत होता है और इसके अक्षरों की समानता लिगोर (मलाया) के ७७५ ई० के लेख से की जा सकती है।[१०]

थाई वृत्तान्तों के अनुसार लोवो (जिस नाम से द्वारवती का राज्य ७वीं शताब्दी के बाद कहा जाता था) और हरिपुंजय (जो मों राज्य था) के बीच आरम्भ

८. जे० ए० ओ० से ६५, पृ० १०२।
९. ए० हि०, पृ० १३१।
१०. विस्तृत वृत्तान्त के लिए ब्रिग्स का लेख देखिए, पू० सं०।

से ही वहां के शासकों का पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। ब्रिग्स के मतानुसार[११] चेन ला राज्य का अधिकार सिमुन की घाटी, पूर्वी स्याम और लाओस तक रहा, यह भाग ख्मेर शासकों के अधीन भी रह चुका था। पर लोवो (द्वारवती) और हरिपुंजय के राज्य, जिनमें पश्चिमी स्याम और स्याम की खाड़ी के उत्तर में मेंकांग तक का भाग था, स्वतंत्र थे। १०वीं शताब्दी से लवो और हरिपुंजय के बीच पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। लोवो के शासक की अनुपस्थिति में तम्ब्रलिंग के शासक जीवक ने एक बड़ी सेना लेकर उस पर धावा कर दिया और उस राज्य पर अधिकार कर लिया। जीवक का पुत्र लोपवुरि से कम्वुज जाकर वहां का शासक वन वैठा। यही सूर्यवर्मन् था। पालि स्रोतों के अनुसार लोवो पर अधिकार के वाद, कम्वुजराज नामक शासक ने हरिपुंजय पर अधिकार करना चाहा, पर वह विफल रहा। ख्मेर लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम्वुज राज्य लोवो तक फैला हुआ था। उसके समय के तीन लेख भी लोपवुरि में मिले हैं। ११–१३वीं शताब्दी तक लोवो कम्वुज राज्य के अधीन रहा।[१२] द्वारवती भी इसी के अधीन थी, पर हरिपुंजय ब्रह्मा के निकट होने के कारण स्वतंत्र था। १३वीं शताब्दी के मध्य भाग में थाई लोगों ने मीनम के उत्तरी भाग में सुखोथई नामक राज्य स्थापित किया और इस शताब्दी के अन्त तक उनका मलाया के लिगोर तक के भाग पर अधिकार हो गया। चीनी स्रोतों के अनुसार १२८९, १२९१, १२९६, ९७ और ९९ में लो-हो (लो-वो) तथा सिएन (सुखोथई) से मंगोल शासक के यहां दूत भेजे गये।[१३] १४वीं शताब्दी में लोवो का राज्य सदा के लिए लुप्त हो गया। १३५० में आयुथ्या में नयी राजधानी बनायी गयी।

द्वारवती की कला

द्वारवती क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन द्वारा विद्वानों ने वहां की भारतीय शिल्पकला पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[१४] ये शिल्पकला के प्रतीक गुप्तकालीन

११. यही, पृ० १०४।

१२. सिडो, ए० हि०, पृ० २३१।

१३. ब्रिग्स, पू० सं०।

१४. सिडो, इ० आ० १ ले० १९३०, पृ० २९। इंडियन इन्फ्लूयेन्सेज अपान स्यामीज आर्ट, भाग ९, पृ० ३० से।

परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये और ये प्र-पतोम, लोपवुरि और प्राचन से प्राप्त हुए हैं। मीनम की घाटी और मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में भी ऐसी मूर्तियां मिली हैं। इन बौद्ध मूर्तियों की ऊपरी वेशभूषा और चुन्नट गुप्त कला की मूर्तियों से मिलती है। सिडो ने इन मूर्तियों को दो भागों में रखा है। प्राचीन कला की मूर्तियां पैर लटकाये हैं और बाद की ख्मेर कला की मूर्तियां पैर नहीं लटकाये हैं। प्राचीन मूर्तियों के मुख की बनावट आर्य है, बाद की मूर्तियों की नाक चपटी और चेहरा चौड़ा है। पुरानी मूर्तियों का काल ईसा की ४-५वीं शताब्दी रखा जा सकता है और बाद की दो मूर्तियों पर अंकित लेख ईसा की छठी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। द्वारवती शिल्पकला लगभग ११वीं शताब्दी में आरम्भ हुई जब ख्मेरों ने इस पर अधिकार कर अपना प्रभाव कला के क्षेत्र में भी डाल दिया। बौद्ध मूर्तियों के अतिरिक्त ब्राह्मण मूर्तियां भी बनीं, किन्तु उनका भारतीय परिपाटी के साथ सम्बन्ध दिखाना कठिन है।

सुखोथई राज्य

स्याम में ख्मेर साम्राज्य को धक्का १२३८ में लगा जब दो थाई सरदारों ने ख्मेर सेनापति को हराकर सुखोथई में एक स्वतंत्र राज्य कायम किया, जिसने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया। इसका श्रेय रमखमहेंग को था जिसने अपने पिता के बाद १२८३–१३१७ ई० तक राज्य किया। इसके समय में सुखोथई सभ्यता का केन्द्र था और थाइयों ने मों के अधिकृत प्रान्तों पर मीनम की घाटी और मलाया प्रायद्वीप के बीच के भाग पर अधिकार कर लिया। उत्तर में मेग्रे नामक एक थाई कुमार ने हरिपुंजय के मों राज्य पर अधिकार कर लिया था और चिएगमाई को अपनी राजधानी बनाया।[१५] इसके और रमखमहेंग के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्होंने कुवलईखन के साथ भी मित्रता रखी, जिसने १२५३ ई० में त-लि या नन-चाओ राज्य पर अधिकार कर लिया था। १३वीं शताब्दी में स्याम पूर्णतया ख्मेर अधिकार से मुक्त हो चुका था। उस समय जब कि ख्मेर राज्य का पश्चिमी भाग थाइयों के अधिकार में आ रहा था, लवो स्वतंत्र हो गया और उसने राजदूत चीन भेजे। इसी लिए यह रमखमहेंग के अधि-

१५. सिडो, ए० हि०, पृ० ३२७। हाल, हिस्ट्री आफ साउथ, ईस्ट एशिया, पृ० १४५।

कार में न आ सका, यद्यपि उसकी प्रजा में अधिकतर मों और ख्मेर लोग थे। थाई भाषा को लिखने के लिए उसने उन्हीं व्यक्तियों की लिपि को १२८३ ई० में अपनाया। १२९२ ईसवी के प्रसिद्ध लेख में इसके राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। इसी लेख में लिखा है कि रमखमहेंग सब थाइयों का शासक है और उसने बहुत-से शत्रुओं पर विजय पायी। लेख में उल्लिखित बहुत-से प्रान्तों की समानता दिखाना कठिन है। पर सिडो का कथन है[१६] कि ये वे देश थे जिन पर पहले ख्मेर शासकों का अधिकार था और दक्षिण मलाया में प्रायद्वीप तक इसका श्रीविजय भी अधिकृत देशों पर भी अधिकार हो गया। मलाया की विजय १२९४ ई० के लगभग हुई होगी। १२८५ में इसने सिसचनलै। (श्री सज्जनालय) सबनक-लोक के स्तूप का निर्माण किया जिसके बनने में छः वर्ष लगे। मंगोल दूत चाऊ-जू-कुआ के अनुसार १२९६ तक स्याम के साथ हुए ख्मेरों के युद्ध में देश को बड़ी क्षति पहुंची थी।[१७]

चीन के साथ में रम-खमहेंग का राजनीतिक सम्बन्ध अच्छा रहा, और चीनी सम्राट् ने स्याम के दूत के हाथ उसके सम्राट् के पास एक संदेश भेजा, जिसमें उससे म-लि-यू-चूल (मलयु) को कोई क्षति न पहुंचाने का आग्रह किया गया था। शुंग-वंश के इतिहास के आधार पर सुखोथई से १२९२, १२९४, १२९५, १२९७ और १२९९ में राजदूत चीन भेजे गये। किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जाता है कि रमखमहेंग स्वयं चीन गया था और अपने साथ में चीनी कलाकारों को लाया था जिन्होंने सुखोथई और सवनखलोक में कारीगरी की कृतियां रचीं। चीनी इस राज्य को 'सिएन' नाम से सम्बोधित करते थे और ख्मेर में इसको स्याम कहा गया है। रम-खमहेंग १३१८ ई० के पहले तक राज्य करता रहा। वह स्वयं बौद्ध था और स्याम में पालि बौद्ध धर्म, जिससे हीनयान का संकेत है, प्रचलित था। उसके पुत्र लो-टाई के समय (१३१७-१३४१) में सुखोथई राज्य का बड़ी शीघ्रता से पतन आरम्भ हो गया। लो-टाई का पुत्र लू-तै बड़ा विद्वान् था और १३६१ में सिंहासन को छोड़-

१६. ए० हि०, पृ० ३२६। हाल, पृ० १४९।
१७. सिडो, ए० हि०, पृ० ३४३।
१८. बु० इ० फ्रा० ४, पृ० २४०-३। सिडो, ए० हि०, पृ० ३४५।

कर वह भिक्षु हो गया। दक्षिण के एक थाई कुमार ने, जिसका मेंग्रे से सम्बन्ध था, मों शासक यू-टोंग की पुत्री से विवाह कर एक नये वंश की स्थापना की। पहले उसने लवो के प्राचीन राज्य पर अधिकार किया और फिर लू-तैं को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना चाहा। हैजे की महामारी के प्रकोप ने उसे अपने नगर को छोड़-कर दक्षिण जाने को बाध्य किया। ५० मील दक्षिण में मीनम के किनारे द्वारवती के बजाय अयोध्या नाम से उसने नयी राजधानी की स्थापना की। १३५० ई० में रमधिपति नाम से वह स्याम का प्रथम शासक घोषित हुआ। इस समय में सुखो-थई राज्य प्रायः अस्त हो चला और स्याम के नवीन राज्य का, जिसकी राजधानी आयुथ्या थी, निर्माण हुआ।

आयुथ्या

आयुथ्या अथवा अयुतिया नामक नवीन राज्य धीरे-धीरे शक्तिशाली बनने लगा, इसका मीनम की घाटी के मध्य और निचले भाग तथा मलाया प्रायद्वीप के अधिक भाग पर अधिकार हो गया था। रमधिपति ने कम्बुज राज्य को भी दवाने का प्रयास किया, पर स्याम को सुखोथई और चिएगमई राज्यों के उपद्रवों को दवाने में भी अपनी शक्ति लगानी पड़ी। स्याम के इतिहास में रमधिपति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। १३६९ में उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र रमेसुएन, जो उसकी ओर से लोपवुरि में शासक था, सिंहासन पर बैठा, पर शीघ्र ही उसे अपने चाचा के पक्ष में हटना पड़ा जो वोरोमोंरज प्रथम के नाम से सिंहासन पर बैठा। इसके राज्यकाल का प्रथम भाग उत्तरी मीनम घाटी पर पुनः सत्ता स्थापित करने में लगा। सुखोथई स्वतंत्र होना चाहता था। उसने कई आक्रमण किये और १३७८ में वहां के शासक तम्म रज द्वितीय को अपने राज्य का पश्चिमी भाग तथा स्वतंत्र अस्तित्व अयोथ्या के राजा को सोंपने पड़े। अब चिएगमई के साथ संघर्ष बाकी था जो कई शताब्दियों तक चला। १३८८ ई० में वोरोमोरज का देहान्त हो गया। उसका १५ वर्ष का पुत्र सिंहासन पर बैठा, पर पुराने शासक रमेसुएन ने सत्ता अपने हाथ में ले ली और उसने १३९५ तक राज्य किया। 'पोंगसवर्दन' के अनुसार उसने चिएंगमई पर अधिकार कर लिया था,[१९] पर इसमें सत्यता नहीं है।

१९. हाल, पृ० १५३।

१३९५–१४०८ का समय स्याम के इतिहास में कोई महत्व नहीं रखता है क्योंकि इसके बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। रमेसुएन का पुत्र रामराज वहां राज्य कर रहा था। १४०८ में वह सिंहासन से उतार दिया गया और वोरोमोरज प्रथम का एक पुत्र इन्द्रराज (१४०८-२४) वहां का शासक हुआ। उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन के लिए गृहयुद्ध हुआ और कनिष्ठ पुत्र वोरोमोरज द्वितीय के नाम से वहां का शासक हुआ। इसने १४२४–४८ ई० तक राज्य किया और यही अंकोर-विजेता था, पर वहां पर स्यामी शासन स्थापित करने का प्रयास विफल रहा और स्यामियों को कोई लाभ न हुआ। इसके बाद का स्याम का इतिहास वास्तव में वर्तमान युग से सम्बन्ध रखता है जिसमें पारस्परिक संघर्ष मुख्य रूप से था। डुआर्ते फेरन्डेज़ के १५१० में आयूथ्या आने के समय भी यह युद्ध जारी था।[२०]

श्रीक्षेत्र

ब्रह्मा में सबसे प्राचीन हिन्दू उपनिवेश की स्थापना प्रोम में हुई जहां का राज्य श्रीक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारत से सबसे निकट होने के कारण यहाँ स्थल और जलमार्ग से पहुंचना सरल था और कदाचित् ईसा से पहले यहां भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुका था। किंवदंतियों के आधार पर यह कहा जाता है[२१] कि कपिलवस्तु के शाक्यवंश का कुमार अभिराज एक सेना लेकर उत्तरी ब्रह्मा आया था और इरावदी के उत्तरी भाग पर उसने सेकिस्सा (तगौंग) नामक नगर बसाया। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य दो भागों में बांट दिया गया। उत्तरी भाग अराकान था जहाँ बड़ा भाई राज्य करता था और दक्षिणी भाग तगौंग पर छोटे भाई का अधिकार था। इसके बाद ३१ पीढ़ियों तक इस वंश का राज्य चलता रहा। बुद्ध के समय में क्षत्रियों का दूसरा दल गंगा की घाटी से उत्तरी ब्रह्मा आया और दशराज ने प्राचीन राजधानी पर अधिकार कर लिया। १६ पीढ़ियों के राज्य के बाद तगौंग पर विदेशी आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया। राजा गद्दी से उतार दिया गया और उसके ज्येष्ठ पुत्र ने वर्तमान प्रोम के

२०. सिडो, ए० हि०, पृ० ३७२, ३९२।
२१. मजुमदार, श्री क्षेत्र. . .भारतकौमुदी, पृ० ४११ से।

निकट नये राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र दुत्तवौंग ने थेर-खेत्तर (श्रीक्षेत्र) की स्थापना की और यहीं उसका राज्य हुआ। उसके बाद १८ राजाओं ने ८४ ई० तक राज्य किया जब गृहयुद्ध आरम्भ हो गया, जिनमें प्यू, कन्रन और भ्रम जातियां थीं। श्रीक्षेत्र पर प्यू का अधिकार रहा। प्रोम के निकट ह्मजा की खुदाई ने श्रीक्षेत्र राज्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है। एक लेख एक बौद्ध मूर्ति के पीढ़े पर संस्कृत में लिखा मिला है जो सातवीं शताब्दी के अक्षरों में है।[२२] इस मूर्ति की स्थापना अपने गुरु के आदेश पर जयेन्द्रवर्मन् और उसके छोटे भाई हरिविक्रम के बीच संधि और मित्रता स्थापित रखने के लिए की गयी थी। जयवर्मन् ने दो नगरों की स्थापना की। श्मशान के राख-पात्रों पर पयागी पगोडा के निकट ७ और छोटे लेख अंकित मिले हैं जिनमें हरिविक्रम, सिंहविक्रम और सुरिय (सूर्य) विक्रम का नाम मिलता है।[२३] ये लेख प्यू भाषा में हैं और कुछ भारतीय अक्षर पांचवीं शताब्दी के हैं, पर इनकी तिथि जो पूर्णतया निश्चित नहीं है, ६७३ और ७१८ ई० के बीच में रखी गयी है।[२४] एक स्तूप पर अंकित एक प्यू लेख में श्री प्रभुवर्मन् और श्री प्रभुदेवी का नाम है।[२५]

चीनी स्रोतों में भी श्रीक्षेत्र का उल्लेख मिलता है। च्वान यांग के वृत्तान्त के अनुसार द्वारवती के पश्चिम में शे-लि-च-त-लो (श्रीक्षेत्र) नामक एक राज्य था जो प्रोम का प्राचीन नाम है और इसे विर्मन् में 'थयेखेत्तय' कहा गया है। प्रोम के निकट मोज़ा नामक स्थान में इसी प्राचीन राजधानी के अवशेष मिले हैं। अन्तिम गुप्तकालीन मूर्तियां यहां मिलीं। इत्सिंग के मतानुसार श्रीक्षेत्र में मूल सर्वास्तिवादियों के हीनयान मत का केन्द्र था। पर थोड़े उत्तर में महायान मत ने अपना गढ़ बना लिया था और वह बंगाल के तंत्रवाद के प्रभाव में था।[२६]

प्यू और युंनान के नन-चाओ राजाओं के बीच में संघर्ष आरम्भ हुआ। इस थाई राज्य ने जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, ८-९वीं शताब्दियों में प्यू राज्य

२२. सिडो, ए० हि०, पृ० १५१।
२३. निहार रे, संस्कृत बुद्धिज्म इन बर्मा, पृ० १९।
२४. सिडो, ए० हि०, पृ० १५१। ए० इ० १२, पृ० १२७ से।
२५. अ० स० इ० एन० री० १९२६-२७, पृ० १७५।
२६. ए० हि०, पृ० १५१।

पर दबाव डाला और प्यू राजा को आत्मसमर्पण करना पड़ा। ननचाओ शासक या लोफोंग के पौत्र का अनुकरण करके प्यू के शासक ने भी ८०२ ई० से राजदूत चीन भेजना आरम्भ कर दिया। चीनियों को इन्हीं के द्वारा इस राज्य का ज्ञान हुआ। उनके वृत्तान्त के अनुसार इसका क्षेत्र, उत्तर से दक्षिण तक ७००-८०० मील लंबा और पश्चिम से पूर्व—५०० मील चौड़ा था। इसके पूर्व में कम्बुज और दक्षिण में समुद्र था। दक्षिण-पूर्व में द्वारवती और पश्चिम में भारत था।[२७] टंग-वंश के इतिहास के अनुसार यहां का शासक महाराज कहलाता था और उसका मुख्यमंत्री महासेन था। नगर के चारों ओर की दीवार का घेरा २७ मील था। वहां कोई १००० बौद्ध मठ थे। वहां के जीवन-वेश भूषा तथा मनोरंजन, नृत्य, गायन, वादन का उल्लेख टंगवंश के नवीन इतिहास में भी मिलता है। श्रीक्षेत्र राज्य के अन्त के विषय में कुछ कहना कठिन है। ८३२ ई० में ननचाओ के शासक ने इस पर आक्रमण किया था। मन-शु के अनुसार आक्रमणकारियों ने प्यू की राजधानी को लूटा और ३००० से अधिक बन्दी बनाये। पिलियो के मतानुसार[२८] प्यू राज्य इसके बाद भी स्थापित रहा और वहां से ८६२ ई० में एक राजदूत चीन गया। ९वीं शताब्दी में प्यू राज्य में उत्तरी और मध्य ब्रह्मा था, पर ९वीं शताब्दी के बाद से इसके विषय में कोई जानकारी नहीं है, यद्यपि प्यू जातिवालों का उल्लेख १५वीं शताब्दी तक मिलता है।[२९]

श्रीक्षेत्र राज्य का राजनीतिक इतिहास अंधकारमय है, पर खुदाई से प्राप्त चीजों के आधार पर यहां की संस्कृति के विषय में जानकारी प्राप्त है। प्रोम से ५ मील पूर्व में ह्मवज़ा स्टेशन के निकट यथेम्यो स्थान में १९०७ ई० से बराबर खुदाई हुई है। मिट्टी के टुकड़ों पर लिखे लेखों में 'ये धर्मा हेतुप्रभवा' सूत्र भी अंकित मिला है और बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की मूर्तियां भी मिलीं हैं। मुख्य लेखों का उल्लेख पहले ही हो चुका है। पालि बौद्ध मत के सूत्र भी दो सोने के पत्रों पर अंकित मिले हैं। मूर्तियों में बुद्ध की दो सोने की मूर्तियां विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण मूर्तियों में एक शिवलिंग, विष्णु की अनन्तनाग और गरुड़ पर आसीन मूर्ति भी मिली है,

२७. यही, पृ० १६४। मजुमदार, भारत कौमुदी, पृ० ४१७।
२८. मजुमदार, पू० सं०, पृ० ४१९।
२९. अ० स० इ० एन० री० १९३०-३३, पृ० १९०। १९३४-५, पृ० ४९।

जो भारतीय परम्परा पर बनायी गयी है। ह्मवज़ा के सम्पूर्ण क्षेत्र में बौद्ध स्तूप मिले जिनमें एक चांदी का भी स्तूप है। मन्दिरों के अवशेषों में लेम्येत ह्म और वे वे में ईंटों के बने मन्दिरों के अवशेष मिले। इन पुरातात्त्विक अवशेषों से प्रतीत होता है कि वहां भारतीय संस्कृति और साहित्य अच्छी तरह फैल चुका था तथा महायान, हीनयान, वैष्णव और शैव मत विकसित था। श्रीक्षेत्र ब्रह्मा में सबसे प्रथम भारतीय उपनिवेश था।[३०]

हंसावती

टंग-वंश के नवीन इतिहास के अनुसार ९वीं शताब्दी के आरम्भ में प्यू के अधीन कुछ राज्य थे जिनमें मि येन की ओर से एक राजदूत ८०५ ई० में चीन गया।[३१] चि येन इरावदी के मुहाने पर स्थित था। अरब भौगोलिकों ने इस समय के राज्यों का उल्लेख किया है। इनमें से एकर रह्मा था जिसकी समानता रमन्नदेश से की जा सकती है और यह विमर्नी के मों के अधीन था। इब्न खोरदादज़बे (८४४-४८) के अनुसार यहां के शासक के पास १५,००० हाथी थे और यहां कपास की पैदावार अधिक होती थी। एक स्रोत के अनुसार हंसावती (पेगू) की स्थापना ८२५ ई० में समल और विमल नामक दो भाइयों ने की थी जो थटोन निवासी थे। इसका इतिहास अधिक नहीं मिलता है। सुखोथई के राम खम्हेंग के अधीन यह १३वीं शताब्दी में था।

अनोरथपुर

८४९ और १०४४ ई० में पगान राज्य की स्थापना होने से पहले का उसका इतिहास अंधकारमय है। अनव्रथ ने १०४४ में सर्वप्रथम बर्मा को राजनीतिक एकता प्रदान की और उसने अपने देश पर अपनी महत्ता और कृत्यों की गहरी छाप डाल दी। उसने थटोन के मों राज्य को जीतकर उस पर अधिकार कर लिया। ब्रह्मा के धार्मिक इतिहास में पालि और हीनयान बौद्ध मत ने अपना प्रभाव स्थापित किया, पर इसमें स्थानीय महायान मत का भी सम्मिश्रण था। इसके समय में ब्रह्मा का सीलोन के साथ भी राजनीतिक सम्बन्ध था। चोलों के विरुद्ध उसने

३०. मजुमदार, पू० सं०।
३१. सिडो, ए० हि०, पृ० १८२।

सीलोन के विजयबाहु की सहायता की।[३२] उसका १०५९ ई० में बनाया हुआ श्वाइजिगोंन पगोडा मुख्य धार्मिक कलाकृति थी। ब्रह्मा के इतिहास में उसका थटोन पर अधिकार पारस्परिक युद्ध का कारण बना जो कई शताब्दियों तक चलता रहा। उसके वंशजों को मों के साथ बराबर युद्ध करना पड़ा। क्यन ज़िथा (१०८४-१११२) के समय में ब्रह्मा का राजनीतिक स्तर ऊंचा हो गया। उसने ब्राह्मणों से अपना अभिषेक कराया और चीन राजदूत भेजे। उसी के समय में आनन्द का प्रसिद्ध मन्दिर पगान में बना। इसके राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख इसके पौत्र और उत्तराधिकारी अलोंगसित्थु (१११२-६७) के लेख में मिलता है।[३३] उसके बाद ब्रह्मा में ६ वर्ष तक उपद्रव और विद्रोह रहा। पगान के इतिहास में नरपति सिथु का शासन काल (११७३-१२१०) सबसे लम्बा था और इसके समय में बहुत-से पगोडों का निर्माण हुआ। इसके बाद के शासकों में नरथिहपते (१२५४-८७) के समय में इस वंश का पतन हुआ। उसने मिंगल-जेदी पगोडा का निर्माण किया, पर अपने आचरणों से उसने अपने वंश का नाश किया। कुवलई-खन के राजदूत का वध कर उसने अपने वंश और राज्य के लिए आपत्ति मोल ली। १२८३ में वह अपनी राजधानी छोड़कर वसीन भाग गया। १२८७ में उसी के पुत्र ने उसका वध कर दिया।

सुदूरपूर्व में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का ब्रह्मा और स्याम में होना स्वाभाविक था। इनका अस्तित्व प्राचीन है, पर इनका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। हां, पुरातात्त्विक अवशेष इनकी प्राचीन संस्कृति पर अवश्य प्रकाश डालते हैं। यह प्रतीत होता है कि ये बौद्ध धर्म के ही नहीं, वरन् ब्राह्मण मत के भी केन्द्र थे। स्याम को उत्तर में टोंकिन और पूर्व में कम्बुज तथा दक्षिण में मलाया और श्रीविजय राज्यों के उत्कर्ष के कारण, अपनी राज्यसीमाओं को बढ़ाने का अवकाश नहीं मिला। पर १४वीं शताब्दी तक यह विशाल रूप ले चुका था। गृह-कलह तथा स्वयं स्याम में कई राज्यों के पारस्परिक संघर्ष ने इसको नष्ट कर दिया। ब्रह्मा में भी श्रीक्षेत्र, हंसावती और अनोरथपुर का इतिहास वहाँ के भारतीय उपनिवेशों की कहानी है जिनका अस्तित्व नष्ट हो गया। पर अवशेष प्राचीन स्मृति के लिए पर्याप्त हैं।

३२. हाल, हिस्ट्री आफ साउथ ईस्ट एशिया, पृ० १२६।
३३. यही, पृ० १२९।

अध्याय ११

सारांश

सुदूरपूर्व के लगभग १५०० वर्ष के इतिहास में भारतीय उपनिवेशों ने छोटे-छोटे राज्यों तथा विशाल साम्राज्यों के रूप में राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में अपना अंशदान दिया। व्यापारी, धर्मप्रवर्तक तथा राजवंशों के बहिष्कृत कुमारों ने इन देशों और द्वीपों में प्रवेश किया। वहाँ पर उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये, स्थानीय निवासियों को अपनी संस्कृति की देन दी और उनको भारतीय धर्मों के अनुसरण में प्रविष्ट किया। उनका ध्येय स्थानीय जनता को जागृत करना था और उन्होंने उन्हीं देशों को अपनी मातृभूमि बना लिया। भारत के साथ उनका सम्बन्ध केवल नाम मात्र का ही था। यहाँ से गये हुए नये आगन्तुकों का स्वागत होता था। वहाँ के शासकों का किसी भी भारतीय राजवंश के साथ सामन्त अथवा अधीनता के रूप में सम्बन्ध न था। चोल और शैलेन्द्र शासकों के बीच लगभग सौ वर्ष का लम्वा युद्ध इस बात का साक्षी है। उन्हें भारत से प्रेम था, पर वे अपनी स्वतंत्रता को इस प्रेम की वेदी पर बलिदान करने को तैयार न थे। राजनीतिक क्षेत्र में वे पूर्णतया स्वतंत्र रहे। छोटे राज्यों ने आगे चलकर विशाल साम्राज्यों का रूप धारण कर लिया जिनमें हिन्दनेशिया के शैलेन्द्र और हिन्द-चीन के वर्मन् साम्राज्य विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन साम्राज्यों का क्षेत्र विशाल था, इन्होंने अपनी कृतियों में वोरोवुदूर और अंकोरवाट-जैसे मन्दिर छोड़े, जो आज भी उनके वैभव के प्रतीक हैं। राजनीतिक उत्थान और पतन, इतिहास का अंग है। यहीं साम्राज्यों का भी अन्त हुआ, पर दो क्षेत्रों में इनका अन्त विभिन्न कारणों से हुआ। थाइयों ने कम्बुज राज्य का अन्त अंकोर को जीतकर किया और हिन्दनेशिया में हिन्दू-राज्यों का अन्त उनके अरब व्यापारियों के प्रयास से हुआ, जिन्होंने इस्लाम का प्रचार राजकीय वंशों में कर दिया था। यहाँ एक वात विशेषतया विचारणीय है कि सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय धार्मिक सहिष्णुता की भावना सदैव ही व्यापक रही और हिन्दू धर्म के दोनों अंग, शैव और

वैष्णव मत, तथा बौद्ध धर्म एक दूसरे के निकट रहे। स्पर्धा की मात्रा का अभाव रहा। बंगाल से तंत्रवाद ने उक्त देशों में प्रवेश किया और हिन्दू तथा बौद्ध धर्म को एक दूसरे के निकट ला दिया। भारतीय राजनीतिक अस्तित्व का अन्त हुए सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं। यूरोपियन औपनिवेशिकों ने भी इस क्षेत्र पर बहुत समय तक अधिकार रखा और थोड़े समय से यह क्षेत्र भी स्वतंत्र हुआ है, पर आज भी भारतीय संस्कृति के प्रतीक इन देशों के प्राचीन अवशेषों में ही नहीं प्रतीत होते हैं, वरन् वे वहाँ के सांस्कृतिक जीवन के अंग बन गये हैं, जिसका आभास कहीं-कहीं मिलता है।

सहायक ग्रन्थसूची

(1) *Published Books*

1. Aymonier. E.—Histoire de l' ancien Cambodge. Paris 1920.
2. ,, Le Cambodge 3 vols. Paris 1900-1904.
3. Bagchi. P. C.—Pre-Aryan and Pre-Dravidian India, Cal. 1929.
4. Briggs, L. P.—The ancient Khmer Empire. Philadelphia 1951.
5. Chhabra. B. C.—Expansion of Indo-Aryan culture. Cal. 1935.
6. Coedes. G.—Inscriptions du Cambodge. 6 vols. 1937 onwards
7. ,, Les Etats Hindouises Indochine et Indonesia Paris 1948.
8. ,, Pour Mieux Comprendre Angkor. Paris 1947.
9. Chatterji. B. R.—Hindu influences in Cambodia. Cal. 1927.
10. ,, & Chakravartty—India and Java.
11. Coomarswamy. A. K—Hitsory of Indian and Indonetian Art. London 1947.
12. Germi. G. F.—Researches in Ptolemy's Geography. London 1909.
13. Ghosh. M. R.—History of Cambodia. Cal 1959.
14. Goloubew. V.—Art et Archeologie de 1 Indo-chine. Hanoi 1938.
15. Grousset. R.—Histoire de l' extreme Orient 2. Vols. Paris 1929.
16. Hallade. : Arts de l' Asie ancienne Parts 1 & 2. Paris 1959.
17. Krom. N. J.—Hindoe-Javaansche Geschiedenis. Gravanhagen 1931.
18. Le May. R. S.—A History of South-east Asia, London 1958.
19. Hall. H. G. D.—A History of South-east Asia. London 1951.

30. Quartisch Wales—A newly explored route of ancient Indian cultural expansion. IA&L. IX 1ff.
31. " Some note on the kingdom of Dvaravati. JGIS. V. 24f.
32. Rangacharya. V.—Suvarnabhumi and Suvarnadvipa. Aiyangar Vol. 462.
33. Sarkar. H. B.—An old Javanese inscription of S. 801. JGIS. I. 39ff
34. " Literary and Epigraphic notes. JGIS IV.36ff.
35. " Indo-Javanese History. JGIS. XIII. 1ff.
36. Glimpses of Hindu-Javanese society. JGIS. VIII. 104ff.
37. Sastri. K. A. N.—Kataha. JGIS. V. 128ff.
38. " Note on the Historic geography of the Malay Peninsula & Archipelago JGIS. VIII. 15ff.
39. " Srivijaya. BEFEO. XL. 239ff.
40. " Origin of the Sailendras. Tsch. Bat. Ga. LXXV. 605ff.
41. Schnitger. F. M.—Three Indo-Javanese Ganga images. JGIS. IV. 121ff.
42. " Indo-Javanese images in Berlin, Amsterdam & London Museums. JGIS. V. 22ff.
43. Stein, Callen. P. V. Van—Recent discoveries of skulls of Pleistocenes stone implements in Java MAN. XXXVI.
44. Stutterheim. W. F.—Indian influenes in the lands of the Pacific. Rev JRAS. 1930 p. 664.
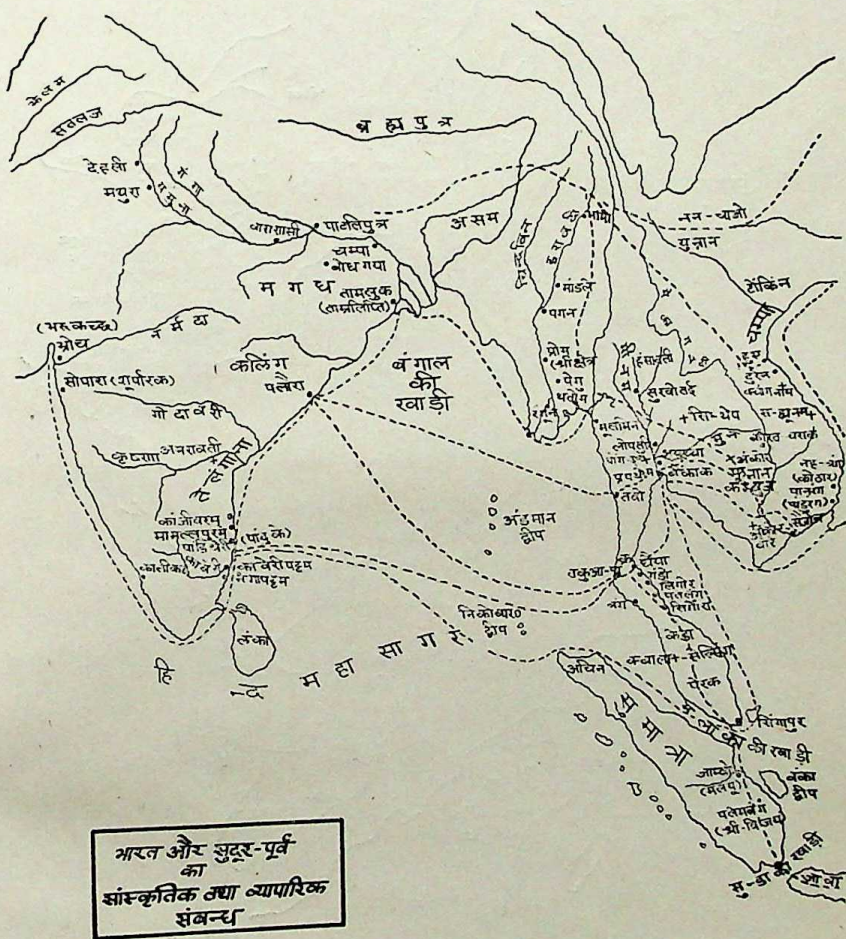
१—भारत और सुदूरपूर्व का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंध

२—मलाया तथा कम्बुज (कम्बोडिया)
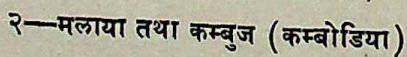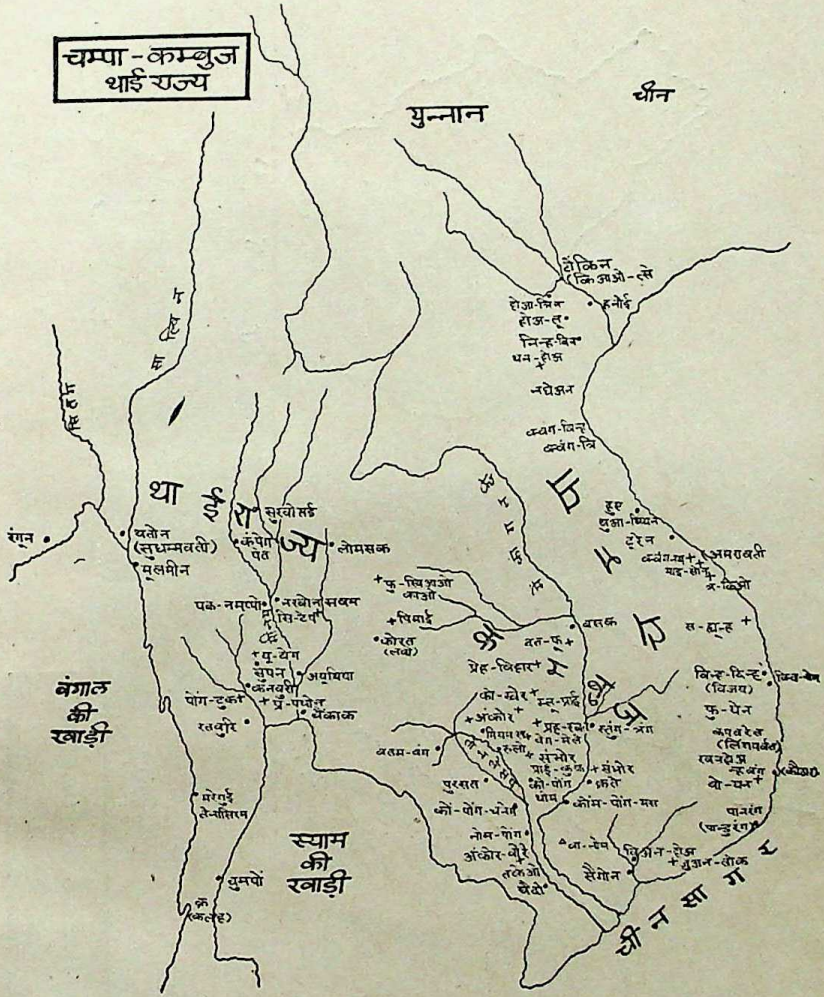
३—चम्पा, कम्बुज और थाई राज्य
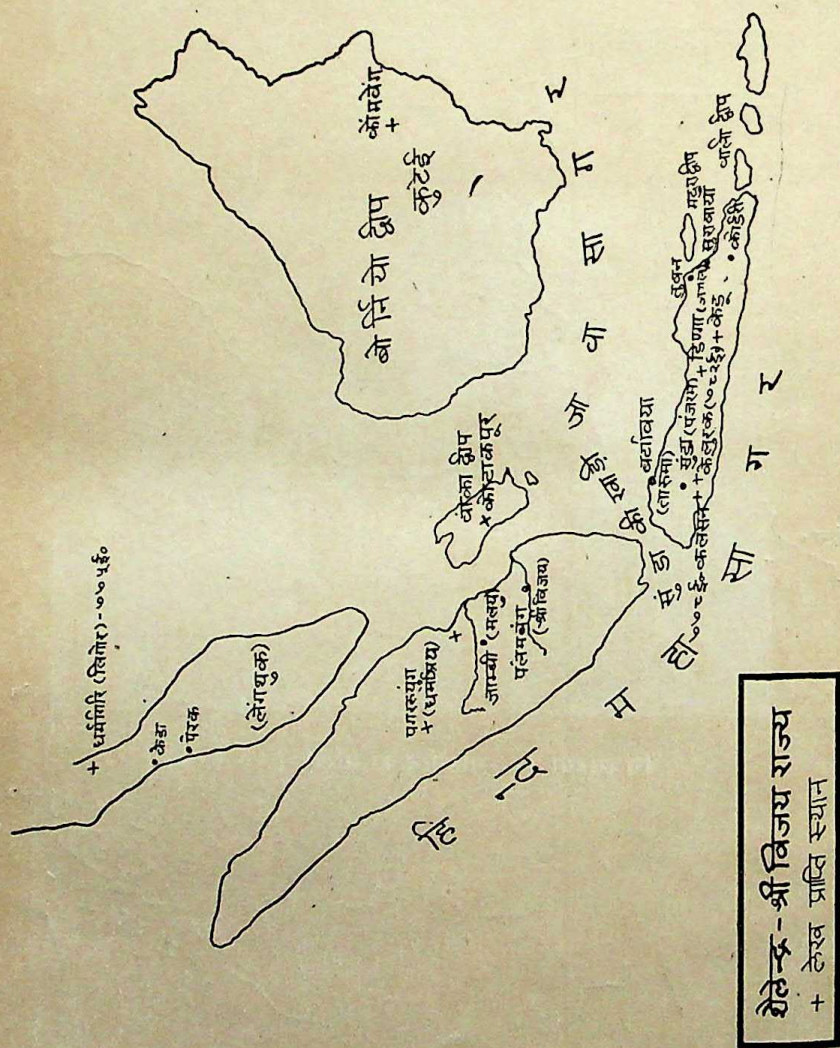
४—शैलेन्द्र-श्रीविजय राज्य
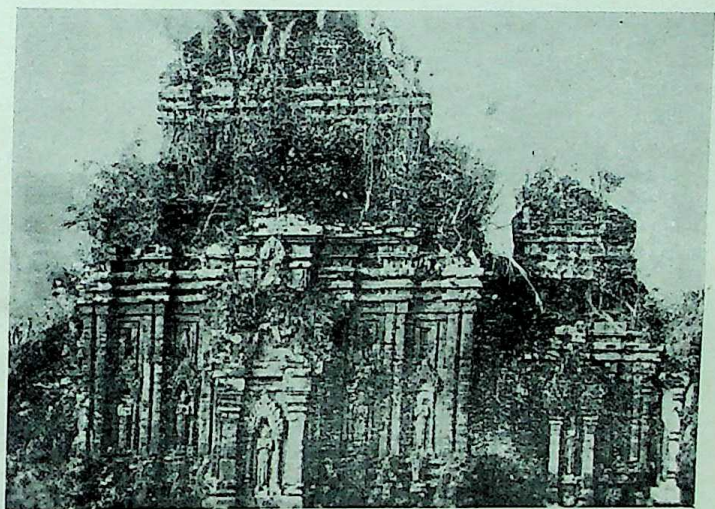
चित्रसंख्या १——माइसोन का मन्दिर (पृ० १५६)

चित्रसंख्या २——पो-रोम का मन्दिर (पृ० १६०)

चित्रसंख्या ३--पो-क्लोंग का मन्दिर (पृ० १६१)

चित्रसंख्या ४—विष्णु—अनन्तशयन अवस्था में, माइसोन (पृ० १६३)
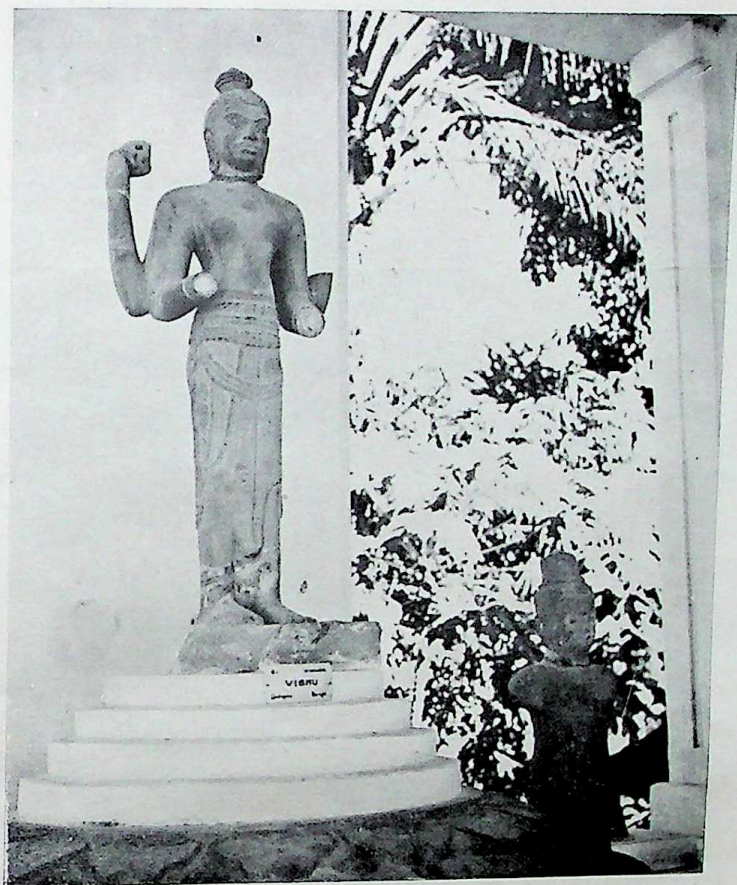
चित्रसंख्या ५--विष्णु की खड़ी मूर्ति (पृ० १६४)
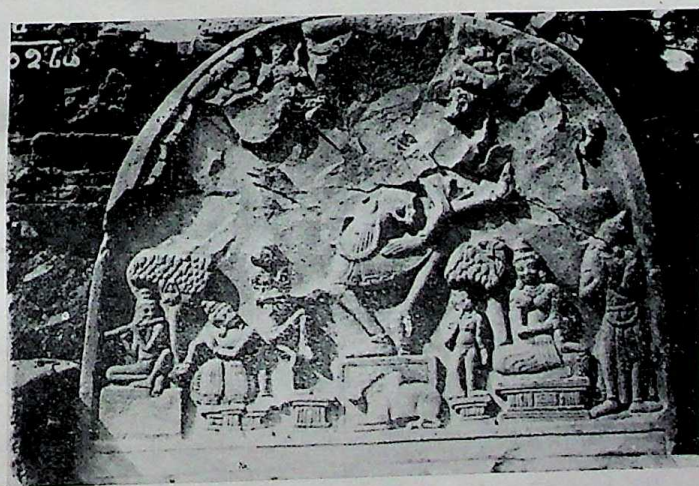
चित्रसंख्या ६--माइसोन--शिव के नृत्य का एक चित्र (पृ० १६५)

चित्रसंख्या ७——नर्तकी, टूरेन से प्राप्त (पृ० १६६)
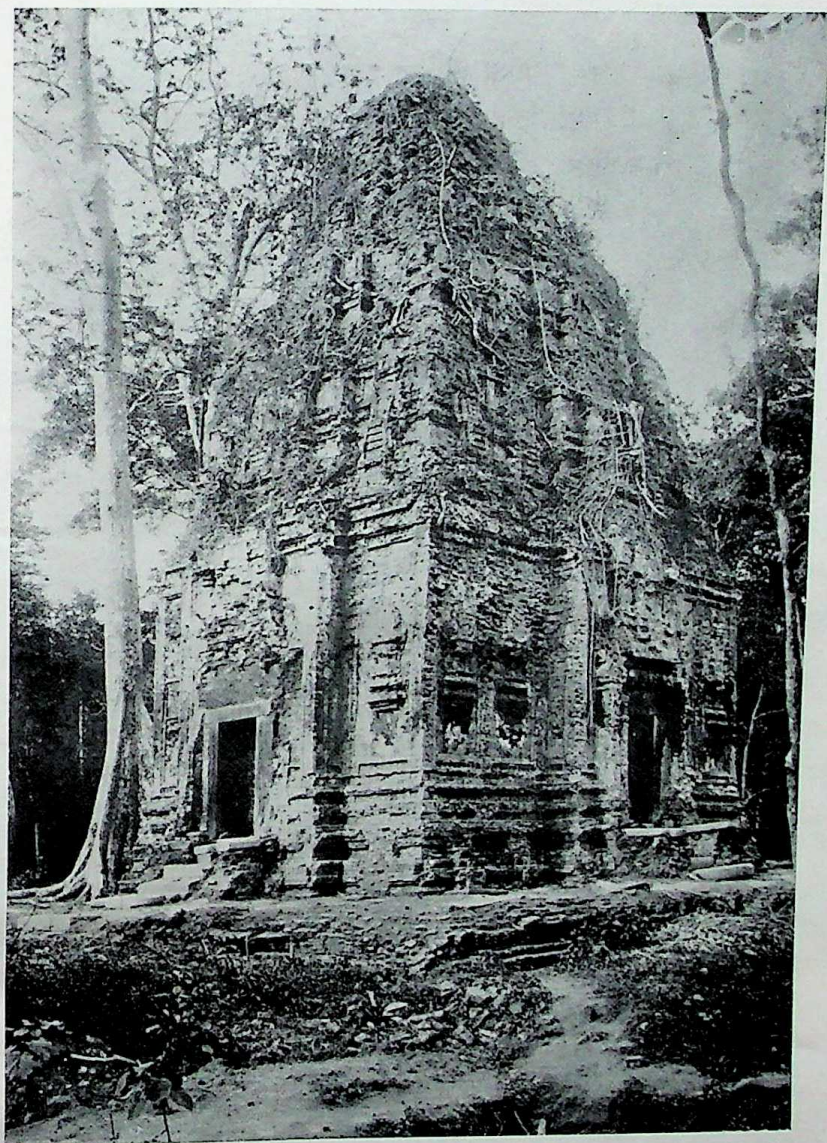
चित्रसंख्या ८--संभोर का मन्दिर (पृ० ३२६)
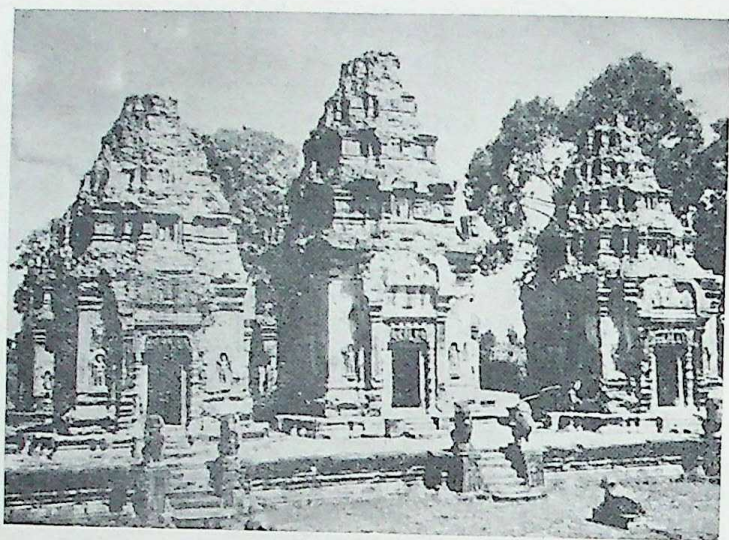
चित्रसंख्या ९—प्रह-खो (पृ० ३२९)

चित्रसंख्या १८—प्रामवान का मन्दिर (पृ० ४६०)
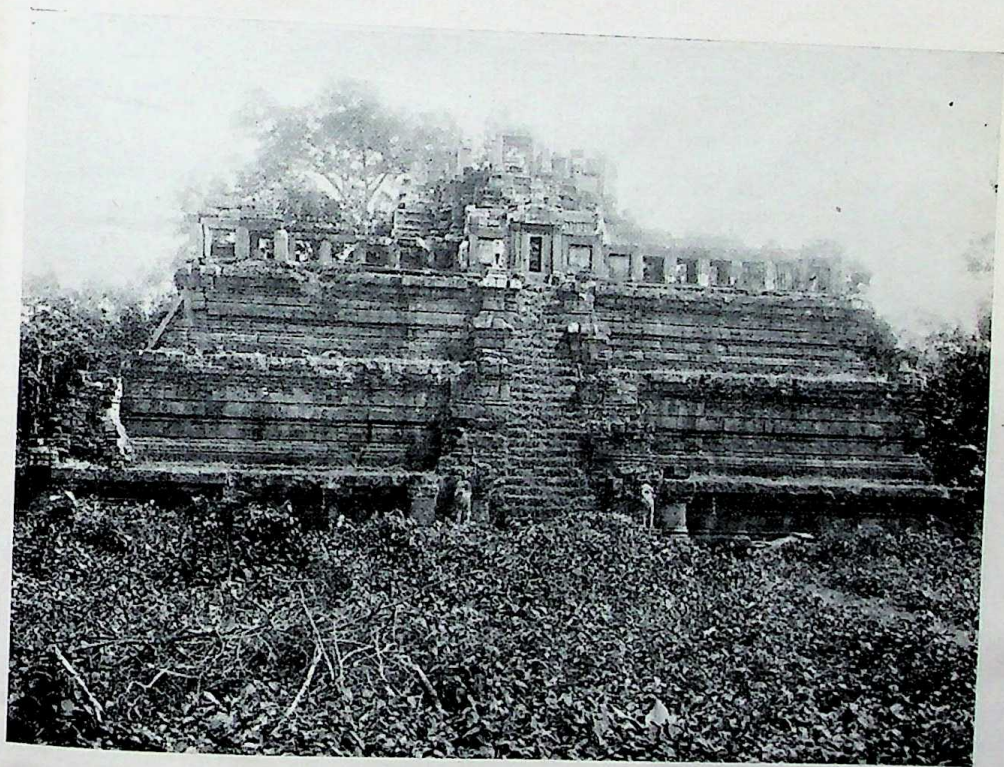
चित्रसंख्या १०--फिमानक (पृ० ३३३)
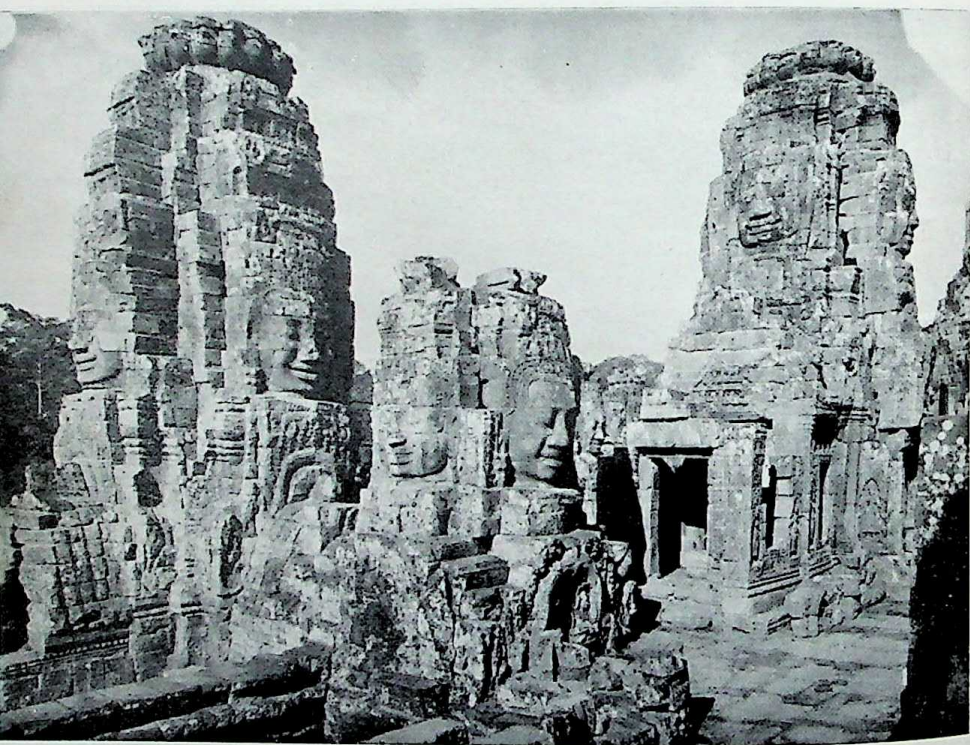
चित्रसंख्या ११--बेओन मन्दिर--शिवमुख (पृ० ३३४)
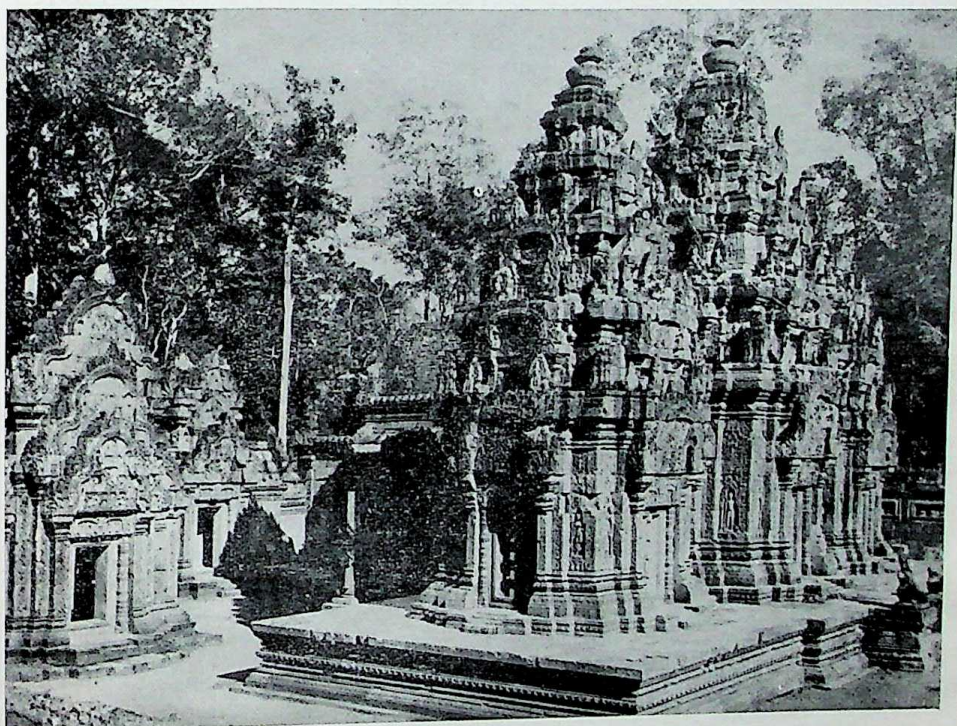
चित्रसंख्या १२——वन्ते श्राई का मन्दिर (पृ० ३३५)
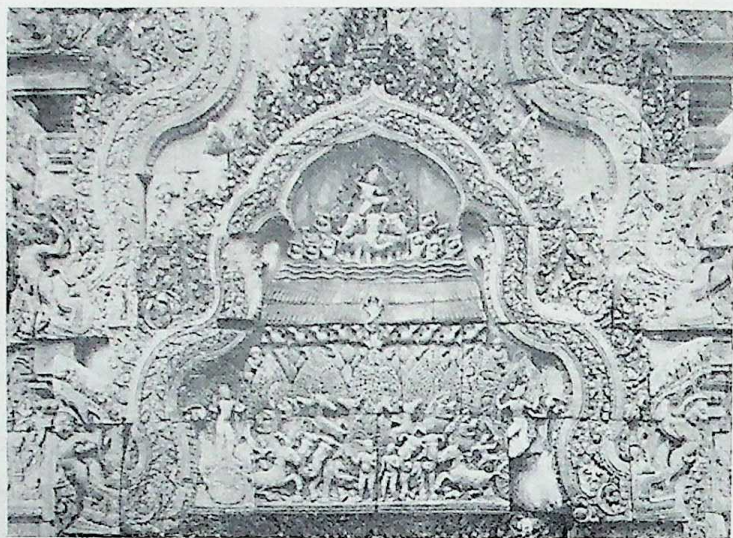
चित्रसंख्या १३––वन्ते श्राई––इन्द्र की वर्षा (पृ० ३३७)

चित्रसंख्या १४––वन्ते श्राई––रावण कैलास उठाता हुआ (पृ० ३४१)

चित्रसंख्या १५--वण्डी पुन्तदेव, जावा (पृ० ४५५)
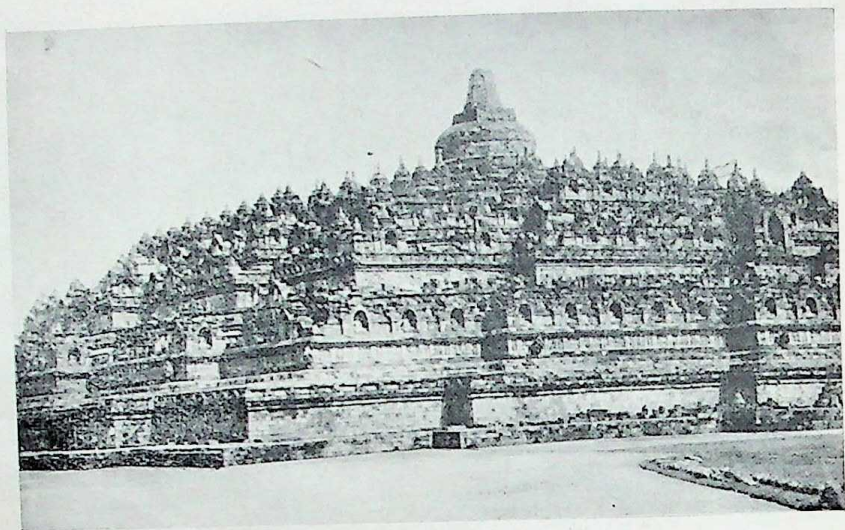
चित्रसंख्या १६--चण्डी बोरोबुदूर (पृ० ४५८)

चित्रसंख्या १७--चण्डी मेंदूत (पृ० ४५९)

चित्रसंख्या १९--चण्डी जावुंग (पृ० ४६१)

[चित्र १८, चित्र ९ के नीचे है]

चित्रसंख्या २०——वराहावतार (पृ० ४६८)

1657
दूरपूर्व में भारतीय संस्कृति
और उसका इतिहास